भारतीय समाज
मुद्दे और समस्याएँ
(Issues and Problems in Indian Society)

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा



पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्रथम संस्करण : 2004

ISBN 81-7056-269-4

मूल्य : पाँच सौ रुपये

प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर—302 003
e-mail . panchsheel_j@sify.com

शब्द-संयोजक :
पंचशील कम्प्यूटर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर

मुद्रक :
शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर

भूमिका

वर्तमान में भारतीय समाज अनेक सामजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं से जूझ रहा है। भारत के शिक्षकों से यह अपेक्षा की जाती है कि उन्हें इन विभिन्न समस्याओं एवं इनके समाधानों का यथोचित ज्ञान हो। इसी लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने समाजशास्त्र विषय में समस्याओं के अध्ययन से सम्बन्धित कुछ आधारभूत रूपरेखाएँ निश्चित की हैं। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं रूपरेखाओं के आधार पर लिखी गई है।

सर्वप्रथम आलोच्य पुस्तक मे सामाजिक संरचना से सम्बन्धित प्रकरणों : निर्धनता, जाति, लिंग, धर्म, नृजाति, क्षेत्र, अल्पसंख्यक, पिछड़े वर्ग एवं दलितों आदि की समस्याओं, असमानताओं और असामंजस्यताओं की विवेचना की गई है। इसके बाद पारिवारिक समस्याओं : दहेज, पारिवारिक हिंसा, विवाह-विच्छेद और अंत: एवं अन्तर पीढ़ी संघर्ष के कारणों, दुष्परिणामों एवं समाधान आदि का वर्णन और व्याख्या की गई है। विकासीय-क्षेत्रीय असमानताओं, विकासीय उत्प्रेरित विस्थापन, पारिस्थितिकी अवनति, पर्यावरण प्रदूषण, उपभोक्तावाद एवं मूल्यों का संकट जैसी समस्याओं को स्थानीय और प्रान्तीय संदर्भ में वर्णित किया गया है।

अपराध, बाल अपराध, श्वेतवस्त्रधारी अपराध, भ्रष्टाचार, अपराध और अपराधियों के परिवर्तित पार्श्वदृश्य, मादक द्रव्य व्यसन और आत्महत्या जैसी विघटनात्मक समस्याओं की विशद विवेचना की गई है।

पुस्तक के अन्त में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण किया गया है तथा भारतीय समाज की विभिन्न समस्याओं का व्याख्यात्मक विश्लेषण इन्हीं परिप्रेक्ष्यों के संदर्भ में किया गया है। इस प्रकार इस आलोच्य पुस्तक में यू.जी.सी. द्वारा प्रदान किए गए भारतीय समाज : मुद्दे और समस्याओं से सम्बन्धित सभी विषयो को अकादमिक आधार प्रदान करते हुए आधुनिकतम शैली मे प्रस्तुत करने का स्तुल्य प्रयास किया गया है। पुस्तक में प्रत्येक विषयों एवं प्रकरणो की विवेचना सरल, सुग्राह्य एवं बोधगम्य भाषा में की गई है। विषय से सम्बन्धित अधुनातन सामग्री, आँकड़े एवं सूचनाएँ मानव विकास प्रतिवेदन, विश्व विकास प्रतिवेदन, भारतीय आर्थिक समीक्षा, स्टेटिस्टिकल आउट लाइन ऑफ इण्डिया, भारत 2003 आदि से एकत्र करके दी गई है। लेखक उन सभी विद्वज्जनों के प्रति आभार व्यक्त करता है जिनकी कृतियों का इस पुस्तक के लेखन में सहयोग लिया गया है। पाठकों के सुझाव एवं प्रतिक्रियाएँ सादर आमंत्रित हैं।

लेखको और पाठकों के प्रति समर्पित पंचशील प्रकाशन के संस्थापक श्री मूलचन्द गुप्ता पुस्तक के यथाशीघ्र प्रकाशन के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

"नीडम्", 18-सी, गोविन्दपुरी-ए,
हवा सड़क,जयपुर-302 019
e-mail : vps38 @yahoo com

—वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा

विषय-सूची

अध्याय-1

निर्धनता

(Poverty)

भारत, ब्रिटेन तथा अमेरिका सहित संसार के सभी विकसित, विकासशील और अविकसित देश निर्धनता की समस्या से पीड़ित हैं क्योंकि बाजारतंत्र धनी को और अधिक धनी तथा निर्धन को और अधिक निर्धन बना देता है। जनसंख्या वृद्धि भी गरीब परिवारों में नए गरीब पैदा कर रही है। रुपए के अवमूल्यन तथा आए दिन वस्तुओं की बढ़ती हुई मूल्य-वृद्धि तथा आय का असमान वितरण भी निर्धनता की वृद्धि का प्रमुख कारण है। निर्धनता से पीड़ित लोगों को समाज एवं राज्य न्यूनतम आवश्यकताएँ—रोटी, कपड़ा और मकान भी उपलब्ध नहीं करा पाता है। सरल भाषा में निर्धनता ऐसी स्थिति है जिससे व्यक्ति इतनी भी आय अर्जित नहीं कर पाता है जो उसके जीवनयापन की अनिवार्य एवं मूलभूत आवश्यकताओं के क्रय की दृष्टि से पर्याप्त हो। निर्धनता को केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही नहीं देखा जाना चाहिए। इसका समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में भी अध्ययन किया जाना चाहिए। आज सम्पूर्ण विश्व भी दो भागों में स्पष्टतया विभाजित है—एक ओर वे राष्ट्र हैं, जिनमें उच्चस्तरीय सम्पन्नता है और दूसरी ओर उन राष्ट्रों को लिया जा सकता है जो विपन्नता से पीड़ित हैं। अतः निर्धनता एक तुलनात्मक अवधारणा है जिसको समझने के लिए इसकी परिभाषा, अर्थ, कारण, मापन, निवारण के उपायों आदि की विवेचना करना आवश्यक है।

निर्धनता की परिभाषाएँ एवं अर्थ (Definitions and Meaning of Poverty)—निर्धनता की परिभाषाएँ जो विद्वानो ने दी हैं उनको—(1) आर्थिक और (2) समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण मे विभाजित करके अग्र रूप में देखा जा सकता है—

(1) आर्थिक दृष्टिकोण (Economic Perspective)—अधिकतर विद्वानो ने निर्धनता को आर्थिक दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया है। इनको भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। एक वे जो निर्धनता को जीवित रहने के लिए न्यूनतम आय के संदर्भ मे परिभाषित करते हैं तथा दूसरे वे जो निर्धनता को निम्नतम जीवन-निर्वाह के स्तर और एक विशेष समय और स्थान पर प्रचलित जीवन-स्तर के संदर्भ में परिभाषित करते हैं। ये निम्न प्रकार से हैं—

1. जीवित रहने के लिए न्यूनतम आय का आधार (Basis of Minimum Income Required for Subsistence)— निर्धनता को इस आधार पर परिभाषित किया जाता है कि *एक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए न्यूनतम कितना पैसा चाहिए,* इससे कम आय वाले को निर्धन कहा जाएगा। वीवर और गोडार्ड ने इसी संदर्भ में निर्धनता को अग्र प्रकार से परिभाषित किया है—

वीवर ने लिखा है, "निर्धनता एक ऐसे जीवन-स्तर के रूप में परिभाषित की जा सकती है जिसमे स्वास्थ्य और शरीर सम्बन्धी दक्षता नहीं बनी रह सकती।"

गोडार्ड के मत मे, "निर्धनता उन वस्तुओं की अपर्याप्त पूर्ति की वह दशा है, जिनकी एक व्यक्ति को अपने तथा आश्रितों के स्वास्थ्य एवं शक्ति को बनाये रखने के लिए आवश्यकता होती है।"

इन परिभाषाओं के अनुसार न्यूनतम शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर पाने की असमर्थता की स्थिति ही निर्धनता है। न्यूनतम शारीरिक आवश्यकताओ में जीवित, सुरक्षित और निश्चिन्त रहने को अनिवार्य आवश्यकताएँ आती हैं जैसे—खाना और पोषण, तथा घर और स्वास्थ्य की। इस मत को मानने वालो ने व्यक्ति की प्रतिदिन कैलोरी की खपत-व्यय के आधार पर निर्धनता को परिभाषित किया है। इसके अनुसार भारत मे ग्रामीण क्षेत्रों मे प्रति व्यक्ति 2400 कैलोरी और नगरीय क्षेत्रों मे 2100 कैलोरी की व्यवस्था करने मे जो असमर्थ हैं उन्हे निर्धन माना गया है तथा इस पर प्रति व्यक्ति प्रति माह खर्च को **निर्धनता-रेखा** (Poverty-line) कहा गया है। **योजना आयोग** के 'संदर्श योजना प्रभाग' द्वारा 1962 मे अनुशंसित और 1961 के मूल्यों पर आधारित न्यूनतम खपत पर व्यय ग्रामीण क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति प्रति माह 20 रुपए तथा नगरीय क्षेत्रो मे 25 रुपए आँके गए। इस रेखा से कम आय वाले निर्धन तथा यह रेखा निर्धनता-रेखा कही गई। 1973-74 और 1993 में यह निर्धनता रेखा ग्रामीण क्षेत्र मे क्रमशः 49 09 रुपए, 76 रुपए और 107 रुपए और 130 रुपए तथा नगरीय क्षेत्रों मे क्रमशः 56 64 रुपए और 153 रुपए थे।

योजना आयोग गरीबो की सख्या का अनुमान लकडवाला समिति की रिपोर्ट मे दी गई विधियो के अनुसार लगाता है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण सगठन जुलाई, 1999-जून, 2000 के अनुसार गरीबी अनुपात ग्रामीण क्षेत्रो मे 27 09 प्रतिशत, शहरी क्षेत्रो में 23 62 प्रतिशत और सम्पूर्ण देश मे 26 10 प्रतिशत अनुमानित है। गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगो का प्रतिशत 1973-74 मे 55 प्रतिशत से निरन्तर गिरावट होकर यह वर्ष 1993-94 में 36 प्रतिशत तक तथा वर्ष 1999-2000 में 26 प्रतिशत तक हो गई है। जनसंख्या मे वृद्धि के कारण देश मे गरीबो की संख्या दो दशक (1973-1993) मे लगभग 320 मिलियन पर स्थिर रही। यह संख्या 1990-2000 मे 260 मिलियन हो गई है।

निर्धनता रेखा 5 सदस्यो के परिवार के आधार पर भी निश्चित की जाती है। नवम्बर 1993 मे पाँच सदस्यो के परिवार के लिए निर्धनता रेखा ग्रामीण क्षेत्रो में प्रतिमाह 650 रु एव नगरीय क्षेत्रो मे 765 00 रु निश्चित की गई थी।

नवम्बर 1993 मे निर्धनो का भी निम्न तीन श्रेणियो मे वर्गीकरण किया गया है, ये 1993 की दरो के अनुसार निम्न हैं—

	निर्धन का प्रकार	प्रतिमाह प्रति व्यक्ति व्यय
1	दीन-हीन व दरिद्र	77 00 रुपए
2	अत्यन्त निर्धन	92 00 रुपए
3	निर्धन	130 00 रुपए

2. निम्नतम जीवन-निर्वाह का स्तर और जीवन-स्तर (Minimum Subsistence Level and Living Standard)— कुछ विद्वानों ने निर्धनता को "एक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कितना पैसा चाहिए?" से भिन्न रूप में परिभाषित किया है। इनकी मान्यता है कि अगर व्यक्ति निम्नतम जीवन-निर्वाह के स्तर से निम्न स्तर पर जीवन व्यतीत कर रहा है तथा एक विशेष समय और स्थान पर प्रचलित जीवन-स्तर से निम्न स्थिति में है (चाहे वह जीवित रहने के लिए जुटा पाता है), तो निर्धन कहलाएगा। इस मत को मानने वाले आहार ग्रहण की न्यूनतम मात्रा, पर्याप्त आवास, कपड़े, शिक्षा और स्वास्थ्य की देखभाल के आधार पर निर्धनता को परिभाषित करते हैं। नवम्बर 1993 के आधार पर जीवित रहने के लिए ग्रामीण क्षेत्र में प्रति व्यक्ति प्रति माह 130 रु. तथा नगरीय क्षेत्र में 153 रु. से निम्न आय वाले निर्धन हैं वहाँ इस वित्तीय मतानुसार प्रति व्यक्ति प्रति माह ग्रामीण क्षेत्र में निर्धनता रेखा 153 रु. तथा शहरी क्षेत्र मे 193 रु. निश्चित की गई। इस निर्धनता रेखा में आहार ग्रहण की न्यूनतम मात्रा के अतिरिक्त पर्याप्त आवास, कपड़े, शिक्षा और स्वास्थ्य की देखभाल को भी सम्मिलित किया गया है।

पीटर टाउन सेण्ड ने **'मीनिंग ऑफ पॉवर्टी'** में निम्न शब्दों में इस दूसरे मतानुसार ही निर्धनता को परिभाषित किया है, "निर्धन वह व्यक्ति है, जो अपने समाज में रहते हुए उस समाज विशेष की रीति-रिवाज वाला भोजन प्राप्त नहीं कर सके एवं न ही जिसकी रहने की व्यवस्था एवं सुख-सुविधाएँ विशिष्ट समाज के रीति-रिवाजों के अनुकूल हों।"

गिलिन और गिलिन ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार निम्न शब्दों में व्यक्त किए हैं, "निर्धनता वह स्थिति है, जिसमें एक व्यक्ति या तो अपर्याप्त आय अथवा बुद्धिमत्ताहीन व्यय के कारण अपने जीवन-स्तर को इतना उन्नत नहीं रख पाता कि उसकी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता बनी रह सके, और उसको तथा उसके प्राकृतिक आश्रितों को अपने समाज के स्तरों के अनुसार उपयोगी ढंग से कार्य करने योग्य बनाये रख सके।"

(2) समाजशास्त्रीय परिभाषा (Sociological Definition)

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से निर्धनता की परिभाषा सापेक्षता, असमानता एवं वंचन के संदर्भ में दी गई हैं। सभी समाजों में निश्चित न्यूनतम जीवन-स्तर होता है और उस स्तर से नीचे की स्थिति में जीवनयापन करने वाले उस समाज में निर्धन कहलाते हैं। इस प्रकार निर्धनता का निर्धारण समाज के जीवन-स्तरों से सम्बन्धित मानदण्डों के अनुसार किया जाता है। **मिलर** और **रोबी** के अनुसार निर्धनता एक प्रकार की असमानता है जो निर्धनो की जीवन-दशा तथा उनके जीवित रहने की सम्भावनाओं पर आय की असमानता से पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट करती है। जिनके पास जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए साधन या पैसा या सामर्थ्य नहीं है, वे निर्धन कहलाते हैं। जो लोग आयक्रम के तल पर होते हैं उनको निर्धनो की श्रेणी में रखा जाता है।

कुछ विद्वानों ने निर्धनता को वंचन के आधार पर परिभाषित किया है। **माईकल हैरिंगटन** लिखते हैं कि—निर्धनता भोजन, स्वास्थ्य, घर, शिक्षा एवं मनोरंजन के उन न्यूनतम स्तरों का वंचन है जो कि एक विशेष समाज की समकालीन प्रौद्योगिकी, विश्वास तथा मूल्यों के अनुसार है।

निर्धनता की उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्धनता—(1) जीवित रहने के लिए न्यूनतम आय-निर्धनता रेखा, (2) निम्नतम जीवन निर्वाह का स्तर, (3) एक विशेष समय और स्थान पर प्रचलित जीवन-स्तर, (4) जीवित रहने के लिए अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति, (5) समाज में विद्यमान मानदण्डों के अनुसार निश्चित न्यूनतम जीवन-स्तर, (6) असमानता, एवं (7) वचन—के आधार पर देखी जा सकती है।

निर्धनता का मापन
(Measurement of Poverty)

किसी देश की निर्धनता का मापन तीन आधारो पर किया जा सकता है— (1) राष्ट्रीय आय, (2) प्रति व्यक्ति आय, और(3) प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च।

(1) राष्ट्रीय आय (National Income)

राष्ट्रीय आय ज्ञात करने के लिए किसी भी वर्ष में उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं को देखा जाता है, किन्तु कौनसी वस्तुएँ व तथ्य लिए जायें, इसके विषय में पीगू का मानना है कि राष्ट्रीय आय मे वह सम्पत्ति ली जाती है जो मुद्रा मे मापी जा सके। मार्शल के मत मे किसी देश की राष्ट्रीय आय में उस देश के श्रम और पूँजी द्वारा जो भौतिक एवं अभौतिक वस्तुएँ प्राकृतिक साधनों से उत्पन्न की जाती हैं, उनमे विदेशो से प्राप्त आय व सभी सेवाओ को सम्मिलित किया जा सकता है।

फिशर के अनुसार राष्ट्रीय आय मे सम्पूर्ण उत्पादन का केवल वह भाग जो किसी वर्ष में उपयोग में लिया जाता है, उसे सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार किसी देश की राष्ट्रीय आय के आधार पर उस देश की आर्थिक प्रगति बताई जा सकती है। राष्ट्रीय आय ही आर्थिक कल्याण का अनुमानित सूचकांक भी है। इससे देश की आय का वितरण, लोगो के रहन-सहन का स्तर व प्रति व्यक्ति आय को भी जाना जा सकता है और प्रति व्यक्ति आय के आधार पर कुल राष्ट्रीय आय ज्ञात की जा सकती है।

(2) प्रति व्यक्ति आय (Per Capita Income)

प्रति व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से प्राप्त आय भी समाज मे गरीबी को मापने के लिए पैमाना है। किन्तु यह थोड़ा विवादास्पद है क्योंकि इससे एक परिवार का खर्च पता लग सकता है और इसके आधार पर तुलनात्मक अध्ययन करके निर्धनता स्पष्ट की जा सकती है।

(3) प्रति व्यक्ति उपभोग खर्च (Per Head Consumption Expenditure)

लोगों द्वारा उपभोग पर किये जाने वाले खर्च के आधार पर भी निर्धनता को मापा जा सकता है। निर्धनता की माप के लिए आवश्यकताओं का कम-से-कम स्तर तय किया है अर्थात् जो व्यक्ति भौतिक जीवन की कम-से-कम आवश्यकताओ को पूरा करने में असमर्थ हो, उसे निर्धन की श्रेणी में रखा जायेगा।

इस प्रकार निर्धनता का प्रतिमान गरीबी की रेखा है और गरीबी की रेखा से आशय है ऐसे लोग जो इतनी भी पूँजी नहीं रखते जिससे वे प्रतिदिन की आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा न कर सकें। ऐसे लोग गरीबी की रेखा से नीचे माने जाते हैं।

निर्धनता के प्रकार
(Types of Poverty)

विभिन्न विद्वानों ने निर्धनता का वर्गीकरण अपने-अपने आधारों पर किया है जो निम्नलिखित रूप में हैं—

निर्धनता के प्रकार			
शेपर्ड व वॉस	वीवर	राउण्ट्री	डाकोस्टा
पूर्ण निर्धनता सापेक्ष निर्धनता	अल्पकालिक निर्धनता दीर्घकालिक निर्धनता	प्राथमिक निर्धनता द्वैतीयक निर्धनता	अत्यधिक अभाव अभाव निर्धनता

(1) वीवर ने दो प्रकार की निर्धनता बताई है—अल्पकालिक एवं दीर्घकालिक।

1. अल्पकालिक निर्धनता (Acute Poverty)—अल्पकालिक निर्धनता कुछ समय के लिए होती है। इसका कारण बीमारी, बेकारी, अचानक व्यापार में गिरावट अथवा दिवाला निकल जाना आदि हो सकता है, जिसके कारण आर्थिक अभाव का सामना करना पड़ सकता है। कभी व्यवसाय की खोज में घूमना पड़ता है तो खाने आदि की व्यवस्था न होने से स्थिति खराब हो जाती है किन्तु बाद में स्थिति में सुधार हो जाता है। शरणार्थियों मे प्रायः इसी प्रकार की निर्धनता पाई जाती है।

2. दीर्घकालिक निर्धनता (Chronic Poverty)—जब पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवार निर्धन रहे आते हैं तो दीर्घकालिक निर्धनता कहलाती है। ऐसी स्थिति मे लोग अपनी आवश्यकताओं को उसी रूप में ढाल लेते है और अपनी स्थिति से सन्तुष्ट भी होते हैं—भिखारियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी गरीबी मिलती है और उन्हें इस स्थिति से कोई कष्ट नहीं होता।

(2) बी. एस. राउण्ट्री ने निर्धनता के दो प्रकार बताए हैं—

1. प्राथमिकता निर्धनता (Primary Poverty)—जब लोगों की आय इतनी कम होती है कि वे अपने जीवन की कम-से-कम या अनिवार्य आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाते, तो यह प्राथमिक निर्धनता कहलाती है। इस प्रकार की 'निर्धनता की रेखा' में लोग 'निर्धनता की रेखा' के नीचे का जीवन जीते हैं—यह मूल्यों मे परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहती है।

2. द्वैतीयक निर्धनता (Secondary Poverty)—इस प्रकार की निर्धनता में कम-से-कम आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य आय तो होती है, किन्तु इस आय को व्यक्ति मूर्खता के कार्यों में खर्च कर देता है, इससे निर्धनता बनी रहती है। द्वैतीयक निर्धनता में आय निश्चित नहीं होती। व्यक्ति प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करके—मनोरंजन, यात्रा, शराब, जुआ, धूम्रपान आदि पर उसे व्यय कर देते हैं। राउण्ट्री के मत में द्वैतीयक निर्धनता में आय की सीमा निश्चित नहीं होती है और लोग मूल आवश्यकताओं को पूरा करने के उपरान्त बची हुई आय को किसी अन्य तरीकों से खर्च करते हैं। ग्वीइंग के मत में, "इस

प्रकार की निर्धनता जो आवश्यकताओं की कमी के रूप मे देखी जाती है, अपवादस्वरूप ही लाभदायक खर्च द्वारा जनित होती है तथा भोजन, किराया और कपड़ो पर गैर-अनुपात मे खर्च नहीं किया जाता है।"

(3) **सी. पी. डब्ल्यू. डाकोस्टा** ने तीन प्रकार की निर्धनता की व्याख्या 1963-64 मे भारत की स्थिति के सदर्भ मे वर्णित की है—

1 **अत्यधिक अभाव** (Severe Destitute)—इस प्रकार की निर्धनता मे लोगो का जीवन अत्यधिक अभाव-ग्रस्त होता है। इसमे ग्रामो मे प्रति व्यक्ति प्रतिमाह 0 से 10 रु. तक तथा शहरो मे मात्र 0 से 15 रु तक खर्च कर पाते हैं। भारत में इस स्थिति वाले 13% व्यक्ति विद्यमान हैं।

2 **अभाव** (Destitute)—इस प्रकार के अभाव की निर्धनता मे प्रति व्यक्ति प्रतिमाह गाँवों मे 0-13 रु तक तथा शहरों मे 0-18 रु. तक खर्च कर पाते हैं। भारत मे इस प्रकार की निर्धनता वाले व्यक्ति 22 4% हैं।

3 **निर्धनता** (Poverty)—ग्रामों मे 0 से 15 रु तक तथा शहरो मे 0 से 18 रु. तक प्रति व्यक्ति प्रतिमाह उपभोग करने वाले निर्धन व्यक्ति होते हैं। भारत मे इस प्रकार के व्यक्ति 34 6% हैं।

(3) **शेपर्ड** एवं **बॉस** ने—पूर्ण एव सापेक्ष—दो प्रकार की निर्धनता का वर्णन किया है—

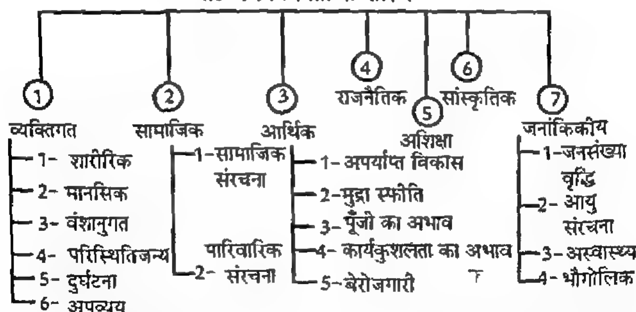
1. **पूर्ण निर्धनता** (Absolute Poverty)—पूर्ण निर्धनता में व्यक्ति के पास, भोजन, मकान, चिकित्सा सुविधा व अन्य जीवित रहने के लिए अनिवार्य आवश्यकताओं का अभाव होता है क्योकि उनके पास अनिवार्य आवश्यकताओं को खरीदने के लिए धन नहीं होता है। इसके अन्तर्गत निर्धनता की माप का आधार वार्षिक आय-स्तर तथा निर्धनता रेखा से मापा जाता है। जिन व्यक्तियो की आय निर्धारित वार्षिक आय से कम होती है, उन्हे निर्धन कहा जाता है। यह विधि पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है, क्योकि इनमे वे तत्त्व विद्यमान हैं जो परिवार की आवश्यकताओ को प्रभावित करते हैं, जैसे—परिवार मे आश्रितों की सख्या, सदस्यो की आयु एव लिग, भौगोलिक बनावट आदि।

2 **सापेक्ष निर्धनता** (Relative Poverty)—पूर्ण निर्धनता के सम्प्रत्यय की पर्याप्त आलोचना हुई है, क्योकि यह निर्धनता आवश्यकताओ व सुविधाओ के परिवर्तित मानदण्डों को सम्मिलित नहीं करती है, बल्कि स्थिर है किन्तु जो वस्तु आज सुविधा के रूप मे है वही आगे आवश्यकता बन जाती है— उदाहरणार्थ, भारत मे कुछ समय पूर्व टेलीविजन सुविधा की वस्तुओ मे सम्मिलित था, किन्तु अब वह प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता बनता जा रहा है। इस प्रकार देश के जीवन स्तर मे परिवर्तन आने के कारण निर्धनता का मानदण्ड भी बदलता है अत: सापेक्ष निर्धनता दो समयो मे, दो स्थानो मे एवं दो व्यक्तियो के बीच तुलनात्मक स्थिति का मूल्यांकन करती है, जैसे— अमेरिका मे जिस स्थिति को निर्धनता मे आँका जाता है, भारत के लिए वह स्थिति निर्धनता की नहीं है। इस प्रकार निर्धनता एक सापेक्ष तथ्य है।

निर्धनता के कारण
(Cause of Poverty)

डेविड इलेश ने अपने लेख **"पावर्टी थ्योरीज एण्ड इनकम मेंटीनेंस वेलिडिटि एण्ड पॉलिसी रेलेवेन्स,"** सोशियल साइन्स क्वार्टरली, 1973 में तीन कारणों—(1) व्यक्ति, (2) निर्धनता की संस्कृति या उपसंस्कृति और (3) सामाजिक संरचना की विवेचना की है। स्पेन्सर कार्नेज और लेन ने इसका कारण व्यक्तिगत बताया है। **रेयन और चिलमैन** निर्धनता की संस्कृति को प्रमुख कारण माना है। **फैरिस एवं गिलिन और गिलिन** ने निर्धनता के लिए वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक कारणों को उत्तरदायी माना है। **बी.एन. गांगुली ने दा चैलेन्ज ऑफ पॉवर्टी इन इण्डिया** में भारत मे निर्धनता के निम्न कारणों का विश्लेषण किया है: विदेशी शासन, वर्ग समाज का शोषण, अत्यधिक जनसंख्या, पूँजी का अभाव, उच्च निरक्षरता, आर्थिक प्रेरणा एवं महत्त्वाकांक्षा का अभाव, दुर्बल स्वास्थ्य और गर्म जलवायु में शारीरिक शक्ति का अभाव, प्रतिबद्ध और ईमानदार प्रशासकों का अभाव, सामाजिक और आर्थिक गतिशीलता का अभाव, प्रेरणा रहित और पुरानी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था और शोषणात्मक भूमि व्यवस्था जो कृषकों को पूर्ण रूप से गतिहीन अवस्था में रखती है। **फेरिस तथा गिलिन एवं गिलिन** ने निर्धनता के लिए वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, तथा सांस्कृतिक कारणों को उत्तरदायी माना है। इन विद्वानों द्वारा वर्णित निर्धनता के कारणों को चार्ट-1 के अनुसार क्रमबद्ध करके प्रस्तुत किया जा रहा है।

चार्ट-1 : निर्धनता के कारण



(1) व्यक्तिगत कारण (Personal Causes)—अनेक बार व्यक्ति अपनी वैयक्तिक अक्षमताओ के कारण अपनी व अपने परिवार की परवरिश अच्छी तरह नहीं कर पाता जिसके कारण उसे निर्धनता का सामना करना पड़ता है। ये व्यक्तिगत अक्षमताएँ भी अनेक प्रकार की हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. शारीरिक अक्षमताएँ—जब कोई व्यक्ति किसी लम्बी बीमारी के कारण अपनी कार्य करने की क्षमता को खो देता है जिसके कारण उसकी बीमारी पर बहुत रुपया खर्च हो जाता है और इस कारण से वह निर्धन हो जाता है। उसे न तो पौष्टिक भोजन मिल पाता है न

रहने को स्वच्छ स्थान। परिणामस्वरूप उसका स्वास्थ्य और खराब होता जाता है और कार्य क्षमता और घटती जाती है। इस तरह यह दुष्चक्र चलता रहता है और व्यक्ति निर्धन होता जाता है।

2. मानसिक अक्षमताएँ—मानसिक अयोग्यता भी निर्धनता के लिए उत्तरदायी है। जो व्यक्ति मानसिक रूप से पिछड़े हुए हैं, अक्षम हैं वे कोई कार्य उचित तरीके से नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी दूसरों पर निर्भर रहते हैं, इससे उनमें निर्धनता आ जाती है।

3. वंशानुगत अक्षमताएँ—कुछ अक्षमताएँ जन्म से ही व्यक्ति को प्राप्त होती हैं इससे वह कोई कार्य नहीं कर पाता और परिणामस्वरूप निर्धन हो जाता है। अन्धे, लँगड़े, कमजोर, कुशाग्र बुद्धि, अल्प बुद्धि जन्म से ही होते हैं। इस कारण वे अर्थोपार्जन भी उचित रूप में नहीं कर पाते और निर्धनता की वृद्धि उनमें होती जाती है।

4. परिस्थितिजन्य अक्षमताएँ—कभी-कभी परिस्थितियाँ भी व्यक्ति को अक्षम बना देती हैं जैसे—व्यापार मे घाटा चला जाना अथवा जन्म से ही बच्चे को उच्च आकांक्षाओं वाला बना देना—इससे भविष्य मे वह नाकारा हो जाता है, क्योंकि प्रारम्भिक जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप जब जीवन की आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो पातीं तो व्यक्ति स्वयं को अक्षम बना देता है, वह कोई कार्य नहीं कर पाता और इससे निर्धनता की स्थिति आ जाती है।

5. दुर्घटना—अनेक स्थितियो मे देखा गया है कि ट्रेन दुर्घटना, किसी उद्योग में अचानक मृत्यु आदि के कारण परिवार को आजीविका का कोई साधन नहीं हो पाता है। कभी-कभी फौज मे व्यक्ति मर जाते हैं या अपग हो जाते हैं। इससे उनका जीवन अन्धकारमय हो जाता है और वे निर्धन हो जाते हैं।

6. अपव्यय—कभी-कभी व्यक्ति किसी दुर्व्यसन (शराब, जुआखोरी, वेश्यावृत्ति, धूम्रपान) के शिकार हो जाते हैं जिसमे उनकी आय खर्च हो जाती है। परिणामस्वरूप वे निर्धन हो जाते हैं। व्यर्थ मे खर्च करने की आदत भी व्यक्ति को निर्धनता की ओर ले जाती है। आलस्य, शारीरिक श्रम की कमी भी व्यक्ति को निर्धन बना देती है। इस प्रकार व्यक्तिगत रूप में अनेक कारणो के परिणामस्वरूप व्यक्ति निर्धन होते हैं।

(2) सामाजिक कारण (Social Causes)—सामाजिक कारणो के अन्तर्गत उन कारकों को लिया जा सकता है, जो भारतीय सामाजिक व्यवस्था मे असमानता लाने के लिए उत्तरदायी हैं। भारत मे निम्न जातियो, वर्गों एवं जनजातियो में निर्धनता विद्यमान है। ये लोग समाज में इस रूप में विभाजित हैं कि वे उच्च व्यवसाय करने के लिए अयोग्य माने जाते हैं। इस तरह समाज उनके शोषण के लिए जिम्मेदार है। उनमें इसके विरोध मे सघर्ष करने की भी योग्यता नहीं है। जाति व्यवस्था के द्वारा पोषित धार्मिक अन्धविश्वास, संयुक्त परिवार प्रणाली एवं अनेक प्रतिबन्ध निर्धनता के लिए उत्तरदायी हैं।

गुन्नार मिरडल ने धर्म और उस पर आधारित जाति को निर्धनता का महत्त्वपूर्ण कारक माना है। इनका मानना है कि धर्म लोगों को निष्क्रिय बना रहा है। भाग्य को सर्वस्व मानकर लोग आगे बढ़ने का प्रयत्न ही नहीं करते। जाति को कारण मानते हुए आपका विचार है कि उच्च जाति वाले निम्न जातियों को आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से उन्नत होने देना ही

नहीं चाहते। **के. एन. पणिक्कर** ने भारत की सामाजिक रीतियों, परम्पराओं, जनजातियो और सांस्कृतिक मान्यताओं को निर्धनता का कारण माना है। **पं. नेहरू** ने अपनी कृति **'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया'** में इस बात पर विशेष बल दिया है कि निर्धन व्यक्ति बच्चे के जन्म, मुंडन, विवाह आदि पर उधार लेकर खर्च करते हैं इससे वे भविष्य में उस कर्ज को न उतार पाने के कारण और निर्धन होते जाते हैं, क्योंकि सूदखोर उनकी दुर्बलताओं का अधिकाधिक लाभ उठाता है। इस प्रकार, जातिवाद कमजोर वर्गों को और कमजोर बनाता है। साथ ही समाज में भेद-भाव को भी उत्पन्न करता है।

(3) आर्थिक कारण (Economic Causes)—अपर्याप्त विकास, मुद्रा स्फीति, पूँजी का अभाव, कार्यकुशलता का अभाव, तथा बेरोजगारी ऐसे आर्थिक कारण हैं जिनसे निर्धनता में वृद्धि होती है। ये निम्न प्रकार से निर्धनता को प्रभावित करते हैं।

1. अपर्याप्त विकास (Inadequate Development)—योजना आयोग के दिशा निर्देश में अप्रैल, 1951 से पंचवर्षीय योजनाएँ विकास का कार्य कर रही हैं। आठ पंचवर्षीय योजनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं। नौवीं पंचवर्षीय योजना चल रही है परन्तु इन 50 वर्षों की अवधि में विकास की दर 3.5% रही है। उत्पादन, यातायात, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, आवास, प्रति व्यक्ति प्रतिमाह आय, प्रति व्यक्ति कपड़ा, स्वास्थ्य सुविधाएँ, मानव संसाधन के विकास आदि सभी के लक्ष्य बहुत कम पूर्ण हो पाए हैं। जनसंख्या वृद्धि को ध्यान में रख कर योजनाएँ पूरी नहीं करने के कारण विकास कार्यक्रम वांछित परिणाम नहीं दे रहे हैं इससे निर्धनता में अनुमानित कमी भी नहीं हो पा रही है। आज भी देश में लगभग 26.32 करोड़ लोग निर्धन हैं।

2. मुद्रा स्फीति (Inflation)—मुद्रा स्फीति का सीधा सम्बन्ध निर्धनता के साथ है। जैसे-जैसे मुद्रा स्फीति बढ़ती है वैसे-वैसे निर्धनता भी बढ़ती है। मुद्रा स्फीति से रुपए की क्रय शक्ति घटती है, इससे निर्धन व्यक्ति की आय की क्रय शक्ति और भी घट जाती है और वह तल की ओर जाता चला जाता है। 1960-61 के आधार वर्ष के अनुसार रुपये का मूल्य मई 1994 में मात्र 7.60 पैसे रह गया जो अब मात्र 5 पैसे रह गया है। मुद्रा स्फीति या कीमत वृद्धि के कारण गरीबी रेखा के ऊपर वाले इस रेखा के नीचे तथा नीचे वाले और भी नीचे ही रह जाते हैं ऊपर नहीं उठ पाते हैं।

3. पूँजी का अभाव (Lack of Capital)—पूँजी के अभाव के कारण नए-नए उद्योग तथा कल-कारखाने नहीं खुल पाते हैं। इस अभाव के कारण औद्योगिक विकास में बाधा आती है जो व्यवसाय के नए-नए अवसरों की वृद्धि को रोकता है तथा पुराने उद्योगों को बन्द भी करवा देता है। पूँजी की वस्तुस्थिति सोचनीय है। भारत मे प्रतिवर्ष विदेशी ऋण की राशि में वृद्धि होती जा रही है। इस पर करोड़ों रुपए ब्याज अदा करना पड़ता है। पूँजी का अभाव, ब्याज का भुगतान आदि निर्धनता में वृद्धि करते हैं।

4. कार्यकुशलता का अभाव *(Lack of Efficiency)—निम्न वर्ग,* मजदूर, शिल्पकार तथा अन्य लोगों में अनेक कारणों से कार्यकुशलता का अभाव होता है, जैसे—उचित प्रशिक्षण, साक्षरता तथा शिक्षा का अभाव। गरीबी के कारण जनसंख्या का बड़ा भाग औसत शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त नहीं कर पाते हैं जिसके अभाव में उन्हें अच्छा रोजगार

नही मिल पाता है। अल्प वेतन का काम करने के कारण वे तथा उनकी भावी पीढ़ियाँ कार्यकुशलता के अभाव के कारण पीढ़ी-दर-पीढ़ी निर्धनता का जीवन व्यतीत करती हैं। प्रत्येक पीढ़ी का चक्र निर्धनता से प्रारम्भ होकर सर्वदा निर्धनता पर ही समाप्त होता है।

5. बेरोजगारी (Unemployment)—निर्धनता का एक प्रमुख आर्थिक कारक बेरोजगारी का विकराल रूप है। पिछले वर्षो मे देश में बेरोजगारी मे भयंकर वृद्धि हुई है। जून, 1991 के अन्त तक रोजगार कार्यालय के अनुसार 406 लाख बेरोजगारो के नाम पंजीकृत थे। अनुमान लगाया गया है कि 2002 तक देश में बेरोज़गारों की संख्या लगभग 9 करोड़ 40 लाख हो जाने की सम्भावना है। इन परिस्थितियो में शिक्षित बेरोजगारी का विकराल रूप प्रतिभा-पलायन को बढ़ावा दे रहा है तथा स्नातको, शिल्पकारों, किसानों, औद्योगिक श्रमिको, मजदूरो, साक्षरों आदि को निर्धनता का जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य कर रहा है।

(4) राजनैतिक कारण (Political Causes)—राजनैतिक अस्थिरता भी निर्धनता के लिए उत्तरदायी है। जब राष्ट्र के आर्थिक साधन देश के राजनीतिज्ञों के हाथ में आ जाते हैं तो वे स्वयं साधनसम्पन्न व्यक्ति बन जाते हैं और केवल थोथे नारों से, कि 'निर्धनता को समाप्त करो' से निर्धनता को बनाए रखना चाहते हैं। **इलीनर ग्राह्म** का मत है कि निर्धनता निवारण का राजनैतिक नारा उन लोगों की देन है जो स्वयं साधन-सुविधासम्पन्न हैं, निर्धन व्यक्तियो ने ऐसा नारा नहीं लगाया।

राजनैतिक अस्थिरता के परिणामस्वरूप भी निर्धनता उत्पन्न होती है। शक्तिशाली वर्ग निम्न वर्ग का शोषण करता है। भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, मुनाफाखोरी सब ओर व्याप्त हो जाती है, इससे असन्तोष हो जाता है, इस असन्तोष के कारण उत्पादन गिरता है, इसके फलस्वरूप व्यापार में उतार-चढाव आता है। कभी-कभी युद्ध के कारण भी अधिक आर्थिक खर्च हो जाता है और राष्ट्र भी दिवालिया हो जाता है। इस प्रकार, राजनीति अनेक रूपों में निर्धनता के लिए उत्तरदायी मानी जा सकती है।

(5) अशिक्षा (Illiteracy)—निर्धनता का कारण व्यक्तियो की अज्ञानता और अशिक्षा भी है। 1951 मे साक्षरता 18.3% से बढ़कर 2001 में 65.38 प्रतिशत हो गई। 2001 मे भारत मे विश्व मे सर्वाधिक निरक्षर 35.55 करोड़ हैं। शिक्षा की कमी के कारण व्यक्ति न तो तार्किक दृष्टिकोण से, और न ही भावात्मक स्तर पर अपनी स्थिति का मूल्यांकन कर पाते हैं। ग्रामीणों मे साहूकारो द्वारा सदियो से अपना शोषण होते देखकर भी उनमे चेतना उत्पन्न नहीं होती कि वे निरक्षरता का अन्त कर कम-से-कम अपने बच्चों को तो साक्षर बनाएँ। आज प्रत्येक कार्य के लिए शैक्षिक योग्यता आवश्यक है, कृषि, यांत्रिकी, उद्योग, अध्यापन, आयुर्वेद आदि सभी क्षेत्रों में प्रशिक्षण को महत्ता दी जा रही है। यदि समय रहते इस ओर जागरूकता नहीं लाई गई, तो भारत अज्ञानता के कारण और निर्धन होता जाएगा। लिख-पढ़ कर व्यक्ति में अपना भला-बुरा समझने का विवेक जागृत होता है कि उसे कैसे रोटी-रोजी कमानी है। अतः निर्धनता का महत्त्वपूर्ण कारण अशिक्षा है।

(6) निर्धनता की संस्कृति (Culture of Poverty)—डेविस इलेश ने निर्धनता का कारण दरिद्रों के रहने का तरीका या निर्धनता की संस्कृति बताया है। गरीबो के विश्वास, जीवन के तरीके, मूल्य, मानदण्ड, वर्तमान निर्धनता को पूर्वजन्म का फल मानना आदि

निर्धनों को आलसी, अकर्मण्य, दीनहीन बना देते हैं। आस्कर लेविस ने लिखा है कि निर्धनो की अपनी एक विशेष प्रकार की संस्कृति होती है जो निर्धनता को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करती रहती है। उनका आर्थिक विकास करने पर भी वह अपनी संस्कृति या उप-संस्कृति को छोड़ते नहीं है और निर्धन बने रहते हैं। वह अपनी आय को उन सामाजिक-सांस्कृतिक रीति-रिवाजों पर खर्च कर डालते हैं जो उनकी आय में वृद्धि के स्थान पर निर्धनता रेखा के नीचे ढकेल देती है। रेमन तथा चिलमेन की भी मान्यता है कि दरिद्रों के जीवन का तरीका ही निर्धनता का प्रमुख कारण है।

(7) जनांकिकीय कारण (Demographic Cause)—निर्धनता के जनांकिकीय कारणों के अन्तर्गत जनसंख्या वृद्धि, आयु संरचना, अस्वास्थ्य और भौगोलिक कारक आते हैं जो निम्न प्रकार से निर्धनता वृद्धि को प्रभावित करते हैं।

1. जनसंख्या वृद्धि (Population Growth)—जनसंख्या के घटने, स्थिर रहने या वृद्धि का सीधा प्रभाव प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के वितरण, बेरोजगार, शिक्षा, आवास और स्वास्थ्य-सुविधाएँ तथा अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति पर पड़ता है जो निर्धनता के निर्णायक कारक हैं। विभिन्न योजनाओं और कार्यक्रमों तथा उनके विभिन्न उद्देश्यों एवं प्राथमिकताओं की सफलताओं के उपरान्त 1990-91 में सरकारी आँकड़ों के अनुसार लगभग 30 करोड़ एवं विश्व बैंक तथा अर्थशास्त्रियों के अनुसार लगभग 41 करोड़ लोग निर्धनता रेखा से नीचे हैं तथा इन्हीं सरकारी और गैर-सरकारी आँकड़ों के संदर्भ में क्रमशः 54.43 करोड़ तथा 43.43 करोड़ निर्धनता रेखा से ऊपर हैं। अगर भारतवर्ष की 1951 की जनसंख्या 36.10 करोड़ में वृद्धि नहीं होती तो आज निर्धनता की रेखा के नीचे कोई भी व्यक्ति नहीं होता। 1971 में भारत की जनसंख्या 54.81 करोड़ थी वह भी 1991 के संदर्भ में देखें तो सरकारी आँकड़ों के अनुसार मात्र 38 लाख लोग ही गरीबी की रेखा से नीचे होते। इन तथ्यो से स्पष्ट हो जाता है कि निर्धनता का प्रमुख कारण जनसंख्या की वृद्धि है।

2. आयु संरचना (Age Structure)—आयु संरचना के आधार पर भी निर्धनता को देखा जा सकता है। विभिन्न संस्थाओं, राज्यों और केन्द्र में 55, 58 या 60 वर्ष की आयु के व्यक्ति को सेवानिवृत्त कर दिया जाता है चाहे वह काम करने योग्य क्यो न हो। जिन व्यक्तियों को सेवानिवृत्ति के बाद पेंशन, भविष्य निधि या कोई और आर्थिक सहायता नहीं मिलती है वे परिवार पर भार हो जाते हैं। परिवार की प्रति व्यक्ति आय का औसत घट जाता है तथा परिवार निर्धनता रेखा के नीचे भी चला जाता है। भारत में 1993 में 60 वर्ष से ऊपर की आयु के व्यक्ति 6.3 करोड़ थे जो जनसंख्या का 7% भाग था। ऐसा अनुमान है कि इन वृद्ध व्यक्तियों की संख्या 2000 के अन्त तक बढ़कर 7 56 करोड़ या 7.58% हो जाएगी। समाज के ये वृद्ध उत्पादन में क्रियाशील नहीं होने के कारण निर्धनता में वृद्धि करते हैं।

3. अस्वास्थ्य (Illhealth)—भारत की जनसंख्या का एक बड़ा भाग कुपोषण का शिकार है। लोग गन्दी बस्तियो में रहते हैं। अनेक बीमारियो के शिकार होते हैं। उनकी बीमारी पर काफी खर्च होता रहता है। बीमार होने के कारण व्यक्ति व्यवसाय, नौकरी या काम करने में असमर्थ रहते हैं। इस प्रकार इस अस्वस्थता के कुचक्र के कारण व्यक्ति और परिवार निर्धन हो जाता है तथा उससे कभी उभर नहीं पाता है।

4. भौगोलिक कारण (Geographical Causes)—भौगोलिक कारण भी निर्धनता लाने मे सहायक होते हैं। प्राकृतिक आपदाएँ, जैसे—अत्यधिक वर्षा या सूखा, भूकम्प व बाढ़, जलवायु, खनिज सम्पदा व मिट्टी की बनावट आदि के कारण व्यक्ति अपनी आजीविका कमाने मे असमर्थ हो जाता है। कृषको का तो जीवन ही प्रकृति पर निर्भर करता है। पहाड़ी क्षेत्रों में भौगोलिक परिस्थितियो के कारण ही निर्धनता का आधिक्य है। अकाल भी जन-धन की हानि करता है। अनेक लोगों को भोजन के लिए अपना सर्वस्व लुटाना पड़ता है उससे जो गरीबी आती है, वह करोड़ो की सम्पत्ति को तो नष्ट करती ही है, व्यक्तियों की चारित्रिक, मानसिक, भावात्मक व सामाजिक अस्मिता को भी समाप्त कर देती है। इस प्रकार भौगोलिक आपदाएँ निर्धनता के लिए उत्तरदायी होती हैं।

उपर्युक्त निर्धनता के कारणो के अतिरिक्त और भी अनेक कारण निर्धनता के लिए उत्तरदायी है। भारत में **प्राकृतिक साधनों का दोहन पूर्ण रूप से न होने** से अनेक लोगों को काम नहीं मिल पा रहा है। कोयला, लोहा, अभ्रक, सीसा, ग्रेफाइट तथा समुद्री खनिजों की प्रचुरता होने के उपरान्त भी अकुशलता के कारण इनका दोहन नहीं हो पा रहा—यह भी निर्धनता के लिए उत्तरदायी कारण है। औद्योगीकरण व पूँजीवाद भी निर्धनता को बढ़ा रहा है। अनेक लोग समय-समय पर बेकार हो जाते हैं क्योंकि छोटे कुटीर उद्योग समाप्त कर दिए गए और मशीनीकरण के लिए सभी लोगों मे योग्यता नहीं होती। दूसरी ओर पूँजीवाद भी इस निर्धनता को बढ़ावा देता है। सम्पन्न लोग गरीबो का शोषण करके और अमीर बन जाते हैं और निर्धनता बढ़ती जाती है। इन सबके अतिरिक्त **परिवार का आकार व आयु** भी निर्धनता के लिए उत्तरदायी है। जब व्यक्ति का परिवार बड़ा होता है, तो सभी को आवश्यकतानुसार भोजन, वस्त्र आदि नहीं मिल पाता, उनकी शिक्षा पर व्यय नहीं हो पाता, इससे कुशल व्यक्ति नहीं उत्पन्न किये जा सकते। परिणामस्वरूप निर्धनता आ जाती है। इस प्रकार निर्धनता के अनेक कारण हैं जो उपर्युक्त वर्णित हैं।

भारत में निर्धनता की समस्या
(Problem of Poverty in India)

भारत में निर्धनता की समस्या कोई नवीन नहीं है किन्तु इस पर सर्वप्रथम अध्ययन दादाभाई नौरोजी ने सन् 1869 मे किया था जिसमे भारत की वार्षिक औसत आय मात्र बीस रुपया प्रति व्यक्ति बताई थी। 1899 में दिग्बाई ने औसत आय 18 रुपए प्रतिवर्ष आँकी। 1945 मे राव ने एक अध्ययन के आधार पर वार्षिक औसत आय 204 रुपए बताई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर इस ओर अनेक प्रयास किए गए। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अनुमान के आधार पर 1953–54 में राष्ट्रीय आय का 17% भाग जनसंख्या के 5% भाग द्वारा उपभोग में लाया जाता था। शेष निम्न लोगों द्वारा उपयोग किया जाता था। 1956–58 मे मिन्हास के अध्ययन के अनुसार भारतीय जनसंख्या का 58% एवं 1973–74 में 39% लोग गरीबी की रेखा से नीचे थे। मुखर्जी ने 1961–62 मे अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष दिया कि उस समय की आवश्यकताओं के अनुसार ग्रामीण को कम-से-कम 15 रुपये प्रति माह एवं नगरीय को 22 रुपये प्रति माह आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यकता थी। इस दृष्टि से 38% ग्रामीण जनसंख्या व 44% नगरीय जनसंख्या गरीबी की रेखा के नीचे जीवन व्यतीत कर रही थी। सन् 1969-70 में **दाण्डेकर** व **रथ** के अध्ययन के अनुसार गाँव में प्रति

व्यक्ति 15 रुपए मासिक एवं नगरों में 22 रुपये मासिक न्यूनतम व्यय है। इनके अनुसार ग्रामीण जनसंख्या के 40% और नगरीय जनसंख्या के 41% व्यक्ति गरीबी की रेखा के नीचे जीवन-यापन करने को बाध्य थे।

योजना आयोग गरीबों की संख्या का अनुमान लकड़वाला समिति की रिपोर्ट में दी गई विधियों के अनुसार लगाता है। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन जुलाई, 1999-जून, 2000 के अनुसार गरीबी अनुपात ग्रामीण क्षेत्रों में 27.09 प्रतिशत, शहरी क्षेत्रों में 23.62 प्रतिशत और सम्पूर्ण देश में 26.10 प्रतिशत अनुमानित है। गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों का प्रतिशत 1973-74 में 55 प्रतिशत से निरन्तर गिरावट होकर यह वर्ष 1993-94 में 36 प्रतिशत तक तथा वर्ष 1999-2000 में 26 प्रतिशत तक हो गई है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण देश में गरीबों की संख्या दो दशक (1973-1993) मे लगभग 320 मिलियन पर स्थिर रही। यह संख्या 1990-2000 में 260 मिलियन हो गई है।

इतना ही नहीं भारत के विभिन्न प्रान्तों में ग्रामीण एवं शहरी गरीबी के मध्य एक भारी विषमता देखने को मिलती है। ग्रामीण गरीबी के प्रतिशत अनुपात में अन्तर का प्रमुख कारण क्षेत्रीय असन्तुलन है, उल्लेखनीय है कि किसी भी राज्य की अर्थव्यवस्था में कृषि, उद्योग, आधारभुत संसाधनों की उपलब्धता एवं उनके उपयोग पर आर्थिक विकास निर्भर करता है, जो गरीबी के स्तर को भी प्रभावित करता है।

विश्व बैंक द्वारा प्रकाशित विश्व विकास रिपोर्ट, 1981 में भारत को विश्व के सबसे अधिक निर्धन 10 राष्ट्रों में रखा गया है। 1990 मे यू.एन.डी.पी. द्वारा प्रकाशित **ह्यूमन डेवलपमेन्ट रिपोर्ट** में 174 देशों के मानव संसाधन विकास के विभिन्न पहलुओं पर तथ्यात्मक सूचना देकर देशों को वरीयता में दर्शाया है। इस रिपोर्ट के अनुसार मानव विकास सूचकांक में भारत का क्रम काफी नीचे 134 पर है। जबकि चीन 111, श्रीलंका 97 और पाकिस्तान 128 क्रमांक पर है। विडम्बना तो ये है कि भारत का संसार के औद्योगिक उत्पादन में 19वाँ स्थान है तथा कुल राष्ट्रीय उत्पादन में 12वाँ स्थान है। इसके उपरान्त भी भारत की बड़ी जनसंख्या निर्धन है।

विश्व बैंक एवं अर्थशास्त्रियों ने नितान्त साधनहीन समाज के तल के स्तर के निर्धन, बीमार, अपंग एवं वृद्धजनों के सम्बन्ध में लिखा है कि इन्हें सामाजिक सुरक्षा के लिए मासिक भुगतान की व्यवस्था की आवश्यकता है। शेष बचे निर्धनों के लिए रोजगार की व्यवस्था करनी आवश्यक है। नगरों में ये निर्धन सब्जी, फल-फूल बेचने वाले, दुकानों एवं घरों में काम करने वाले नौकर, असंगठित मजदूर तथा प्रतिदिन वेतनभोगी होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रो के निर्धन, भूमिहीन, सीमान्त किसान, लुहार, खाती, चमड़े का काम करने वाले श्रमिक अनियमित मजदूर आदि होते हैं।

भारत में गत चार दशकों में राष्ट्रीय आय में प्रभावशाली वृद्धि देखी जा सकती है। 1989-90 के मूल्यों के आधार से भारत की राष्ट्रीय आय 1950-51 में 8812 करोड़ रुपयों से बढ़कर 1987-88 में 2.91 लाख करोड़ रुपए हो गई जिससे 3.3% वृद्धि हुई। 1950-51 की तुलना में 1993-94 में यह वृद्धि 4.2% पाई गई। लेकिन जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय का प्रभाव प्रति व्यक्ति आय पर विशेष नहीं पड़ा।

1993-94 के मूल्यों के आधार पर प्रति व्यक्ति आय 1993-94 मे रुपये 7902 से बढ़कर 1997-98 में रुपये 9,660 हो गई है।

राज्यवार गरीबी अनुपातों में वर्ष 1973–74 से 1999–2000 तक तेजी से गिरावट देखी गयी। यद्यपि गरीबी में व्यापक स्तर पर गिरावट आई है, साथ ही ग्रामीण, शहरी तथा अन्तर्राज्यीय भिन्नताएँ भी स्पष्ट हैं। ग्रामीण गरीबी अनुपात अभी भी उड़ीसा, बिहार और उत्तर-पूर्वी राज्यों मे अपेक्षाकृत अधिक हैं। वर्ष 1999–2000 में उड़ीसा, मध्य प्रदेश, बिहार और उत्तर प्रदेश मे शहरी गरीबी अनुपात 30.89 से 42 83 तक के बीच थे। दोनों ग्रामीण और शहरी गरीब उडीसा मे 47 15 प्रतिशत और बिहार में 42.60 प्रतिशत है। वर्ष 1999-2000 मे मध्य प्रदेश, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश और असम राज्यों के लिए संयुक्त गरीबी अनुपात 33 47 से 37 43 प्रतिशत तक के बीच था। इस अवधि के दौरान केरल, जम्मू और कश्मीर, गोवा, लक्षद्वीप, दिल्ली, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल और अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूहों मे गरीबी मे उल्लेखनीय गिरावट हुई है। इस प्रकार, जबकि पंजाब और हरियाणा जैसे कुछ राज्यों ने उच्च कृषि उत्पादन द्वारा गरीबी को कम करने मे सफलता प्राप्त की है, वहीं अन्य राज्यों ने विकास के विशेष क्षेत्रों पर जोर दिया है—उदाहरणार्थ केरल ने मानव संसाधन विकास पर ध्यान केन्द्रित किया है तो पश्चिम बंगाल ने भूमि सुधार उपायो तथा पचायतो की अधिकारिता के सशक्त कार्यान्वयन पर और आन्ध्र प्रदेश ने खाद्यान्नो के सार्वजनिक वितरण के रूप में लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी पर जोर दिया है।

वितरण की दृष्टि से भी सम्पूर्ण देश मे असमानता मिलती है। भारत में सबसे निम्न 20% परिवार देश की कुल आय मे से 6 6%, पुन: 20% परिवार 10.7% तथा उसके बाद 20% परिवार 14 4%, इसके बाद 20% परिवार 19 1% तथा सबसे ऊपर के 20% परिवार 49.2% अंश लेते हैं। इस आय का वितरण की तुलना विकसित देशों से की जाय तो यहाँ भी उतनी ही निर्धनता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए निम्न तालिका से इसे स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका–2

आय का वितरण

क्र.सं.	जनसंख्या का वितरण (%)	राष्ट्रों में राष्ट्रीय आय का वितरण (% में)				
		भारत	जर्मनी	इंग्लैण्ड	अमरीका	अन्तर्राष्ट्रीय औसत
1.	उच्चतम वर्ग 20%	49.20	46.20	38.80	42.80	48 00
2	उच्च वर्ग 20%	19.10	22 00	23.90	24.70	22.00
3.	मध्यम वर्ग 20%	14 40	15.00	18 40	17 30	15 00
4	निम्न वर्ग 20%	10.70	10.30	12 60	10.70	10.00
5.	निम्नतम वर्ग 20%	06 60	06.50	06.30	04 50	05.00
	योग	100 00	100 00	100 0	100 00	100 00

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि विकसित देशों में भी आय-वितरण प्रणाली एक-सी ही है। अन्तर केवल इतना है कि इन देशों में भारत की तुलना में खाने के लिए पर्याप्त होता है किन्तु भारत में प्रति व्यक्ति आय अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है।

निर्धनता उन्मूलन कार्यक्रम
(Poverty Alleviation Programmes)

राज्य एवं केन्द्र सरकारों द्वारा निर्धनता के निवारण के लिए जो विभिन्न प्रयास किए गए हैं उन्हें निम्न चार भागों में विभाजित करके देखा जा सकता है—

(1) पंचवर्षीय योजनाएँ
(2) राष्ट्रीयकरण
(3) बीस-सूत्री कार्यक्रम, और
(4) विशेष रोजगार और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

(1) पंचवर्षीय योजनाएँ
(Five Year Plans)

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से भारत सरकार तथा राज्य सरकारों ने गरीबी उन्मूलन के लिए अनेक प्रयास किए हैं। उन प्रयासों में पंचवर्षीय योजनाओं का विशेष योगदान है। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से गरीबी हटाने के लिए जो प्रयास किए गए हैं उनमें सामुदायिक विकास योजनाएँ, एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम एवं स्वर्ण जयन्ती ग्राम रोजगार योजना तथा इसके अन्तर्गत कृषि, सिंचाई, पशुपालन, कुटीर उद्योग, लघु उद्योग, सहकारी समितियाँ, यातायात, सहकारी समितियाँ आदि प्रमुखतः उल्लेखनीय हैं। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा निर्धनता को दूर करने के लिए अनेक प्रकार से रोजगार उपलब्ध कराए गए जिससे लोगों को निर्धनता रेखा से ऊपर उठाया जा सके। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कितना रुपया खर्च किया गया; राष्ट्रीय आय तथा व्यक्तिगत आय में कितनी वृद्धि हुई, तथा रोजगार के साधन उपलब्ध करा कर निर्धनता उन्मूलन में इन पंचवर्षीय योजनाओं का क्या योगदान रहा, इनकी विवेचना प्रस्तुत है—

1.1. प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-56) (First Five Year Plan)—1 अप्रैल, 1951 से 31 मार्च, 1956 तक प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई। इस योजना का प्रमुख लक्ष्य ब्रितानिया सरकार से विरासत में प्राप्त शोषित अर्थव्यवस्था, द्वितीय विश्व युद्ध और देश विभाजन में हुई क्षतिग्रस्त अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना, स्फीतिकारी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करते हुए देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि एवं आधारभूत संसाधनों का विकास करना था ताकि आगे चलकर देश की गरीबी को पूर्ण रूप से दूर किया जा सके। मुख्य प्राथमिकताएँ कृषि एवं सिंचाई परियोजनाओं को दी गयीं। कुछ महत्त्व समाज कल्याण कार्यक्रमों, ग्रामीण और विद्युत विकास को प्रदान किया गया। इस योजना पर मात्र 1,960 करोड़ रुपया ही खर्च हो पाया। इस योजनावधि में राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि 3.6% और प्रति व्यक्ति आय में प्रतिवर्ष 1.7% की वृद्धि हुई। *बेरोजगारी निवारण के लिए 309 करोड़ रुपए की अतिरिक्त व्यवस्था की गई थी तथा 45 लाख लोगों को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार दिलाए गए, जिससे निर्धनता में कमी आ सके।*

1.2. द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61) (Second Five Year Plan)—इस योजना का उद्देश्य तीव्र गति से मूल उद्योगों के विकास द्वारा रोजगार में वृद्धि करके आय तथा सम्पत्ति की असमानता में कमी लाकर भारतीय समाज को समाजवादी समाज की व्यवस्था में बदलना था। *गरीबी उन्मूलन के लिए ग्रामों में लघु उद्योगों के विकास के लिए 200 करोड़ रुपए का प्रावधान किया गया जिससे गाँवों में रोजगार के अवसरों मे वृद्धि हो सके तथा लोग निर्धनता रेखा के ऊपर उठ सके।* इसके अतिरिक्त भूमि के पुनःवितरण, शिक्षा में विस्तार, श्रम सहयोग समितियो की स्थापना आदि के द्वारा गरीबी उन्मूलन के लिए प्रयास किए गए। 90 करोड रुपए पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए खर्च किए गए थे। आर्थिक विकास का लक्ष्य 4 5 के स्थान पर 3 9% पूर्ण हो गया। प्रति व्यक्ति आय मे वार्षिक वृद्धि 1.9% रही। इस योजना मे एक करोड़ लोगो को रोजगार प्रदान करने का लक्ष्य था लेकिन 65 लाख लोगों को ही गैर-कृषि कार्य मे रोजगार प्रदान किए जा सके। कुल 1 लाख 72 हजार लोगो को पुनः बसाया गया तथा उन्हें नौकरियो और मकान आदि के लिए ऋण दिए गए।

1.3 तृतीय पंचवर्षीय योजना-1961-66 (Third Five Year Plan)—इस योजना का प्रमुख उद्देश्य देश को आत्मनिर्भरता की ओर ले जाना रहा। इसके लिये पाँच लक्ष्यो की सूची निर्धारित की गई—राष्ट्रीय आय मे 5 प्रतिशत-दर से प्रतिवर्ष वृद्धि, कृषि मे आत्मनिर्भरता, रासायनिक उद्योग, इस्पात, ईंधन और बिजली आदि आधारभूत उद्योगो का विकास; मानव-शक्ति के साधनों का अधिकाधिक उपयोग; और आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण। इस काल मे कृषि और सिचाई को अधिक महत्त्व दिया गया। इस योजना मे खेतीहर श्रमिको के लिए कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास, ग्रामीण आवास, जल, सिंचाई, कृषि उत्पादन मे वृद्धि पर ध्यान दिया गया। योजना पर कुल 8,577 करोड़ रुपए खर्च हुए। राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य 5 6% रखा था लेकिन वृद्धि 2 3% हो पाई। प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि 0.1% रही। सभी लक्ष्य अधूरे रहे जिसके मुख्य कारण भारत-चीन और भारत-पाक युद्ध, प्रतिकूल मानसून, अकाल एवं रासायनिक उर्वरकों का न्यून प्रयोग था। इस योजना मे अर्थव्यवस्था अति दीन-हीन स्थिति में हो गई थी।

1.4 तीन एकवर्षीय योजनाएँ-1966-69 (Three Annual Plans)—भारत-चीन तथा भारत-पाक युद्ध, 1965-66 मे सूखा पड़ने, विदेशी सहायता के बन्द होने और कठिन आर्थिक परिस्थितियो के कारण चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को मार्च, 1966 में स्थगित करना पड़ा तथा इसके स्थान पर तीन एकवर्षीय योजनाएँ (1966-67, 1967-68 और 1968-69) चलाई गई। इस 1966-69 की अवधि को भारतीय नियोजन में *योजनावकाश या योजना की छुट्टी का काल* कहा जाता है। तीन एकवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य तृतीय पचवर्षीय योजना के बचे हुए कार्यों को पूर्ण करना था। राष्ट्रीय आय मे वार्षिक वृद्धि 3.7% तथा प्रति व्यक्ति वार्षिक आय मे वृद्धि 3 7% रही।

1.5 चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-1969-74 (Fourth Five Year Plan)—इस योजना के प्रारूप में प्रमुख लक्ष्य—स्थिरता के साथ 5.5 वार्षिक दर से आर्थिक विकास करना, आय के वितरण में असमानताओ को कम करना, समानता और सामाजिक न्याय में वृद्धि करना, देश का तीव्रता से विकास करना, जनसंख्या वृद्धि को रोकना, बेरोजगारी को

रोकना, आय की असमानता को कम करना और देश को आत्मनिर्भरता प्रदान करना था। इस योजनावधि में राष्ट्रीय आय में वृद्धि 3.3% रही। प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि 0.9% रही। योजना पर कुल खर्च 15,799 करोड़ रुपए हुआ था। 134 करोड़ 37 लाख रुपया पिछड़े वर्गों के कल्याण पर व्यय किया गया। 5.54 करोड़ रुपया भूमिहीन किसानों को बसाने पर व्यय किया गया। 1.20 करोड़ से 1.40 करोड़ लोगों को रोजगार देने की व्यवस्था की गई थी। चौथी पंचवर्षीय योजना ने न तो खाद्यान्नों में आत्म-निर्भरता प्राप्त की और न ही इस योजना में बेरोजगारी मे कमी हुई।

1.6 पंचम् पंचवर्षीय योजना-1974-79 (Fifth Five Year Plan)—इस योजना के प्रमुख उद्देश्य—गरीबी उन्मूलन, आत्मनिर्भरता की प्राप्ति एवं आय का समान वितरण—थे। रोजगार विस्तार को प्राथमिकता दी गई तथा उद्योगों के विकास पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त न्यूनतम मजदूरी की नीति, क्षेत्रीय असन्तुलन को हटाना और निर्यात को प्रोत्साहन देना था। योजना पर कुल 39,426 करोड़ रुपए खर्च किए गए। राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि 2.6% हुई। वास्तव में इस योजनाकाल में किसी भी क्षेत्र में कोई विशेष लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके। हाँ, खाद्यान्न के क्षेत्र में अवश्य सफलता हासिल की गई। फिर भी कृषि उत्पादकता और विकास की दृष्टि से पंचम्वर्षीय योजना सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

अनवरत योजना-1979-80 (Rolling Plan)—पाँचवी पंचवर्षीय योजना को जनता दल की सरकार ने 1979 के स्थान पर 1978 में ही समाप्त कर दिया तथा षष्ठम् योजना **अनवरत योजना** के रूप में शुरू की गई थी। जब काँग्रेस दल 1978 में पुनः सत्ता में आया तो उसने पुनः पाँचवीं योजना की अवधि को 1974 से 1979 प्रदर्शित किया। एक प्रकार से यह योजना वार्षिक विकास कार्यक्रमों का केवल संग्रह रही। इसकी विशेष उपलब्धि खाद्यान्न के क्षेत्र में वृद्धि थी। इस अनवरत योजना में राष्ट्रीय आय में -6.0% की कमी आई। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति आय में भी -8.2% की कमी आई।

1.7 षष्ठी पंचवर्षीय योजना-1980-85 (Sixth Five Year Plan)—इस योजना के प्रमुख लक्ष्य—निर्धनता को समाप्त करना, बेरोजगारी का उन्मूलन, आर्थिक विकास, आय एवं धन के वितरण की असमानता को दूर करना, प्रौद्योगिकी में आत्मनिर्भरता, समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के जीवन स्तर को ऊपर उठाना, सार्वजनिक वितरण प्रणाली मे सुधार करना, जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण को प्राथमिकता देना—थे। सर्वाधिक प्राथमिकता ऊर्जा क्षेत्र को प्रदान की गई। इस योजना पर कुल खर्च 1,09,292 करोड़ रुपए हुआ था। राष्ट्रीय आय में वृद्धि का लक्ष्य प्रतिवर्ष 5.2% रखा था तथा वृद्धि 5.4% की दर से हुई थी। प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि 3.2% की हुई थी। नेशनल सेम्पल सर्वे के अनुसार 1977-78 में निर्धनता रेखा से नीचे 48.3% जनसंख्या थी वह 1984-85 में घटकर 36.9% रह गई थी। इसी काल में ग्रामीण निर्धनता के निवारण के लिए *'एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम'* प्रारम्भ किया गया।

1.8 सप्तम् पंचवर्षीय योजना-1985-90 (Seventh Five Year Plan)—इस योजना के प्रमुख तीन उद्देश्य थे—खाद्यान्न, रोजगार तथा उत्पादकता में वृद्धि करना। उत्पादनकारी रोजगार में वृद्धि के द्वारा इस योजना का लक्ष्य निर्धनता को कम करना तथा

निर्धनो का जीवन-स्तर ऊँचा करना था। इस काल मे कृषि, ग्रामीण-विकास और सामाजिक सेवाओ पर विशेष बल दिया गया था किन्तु कृषि और ग्रामीण विकास आदि में आशा के अनुरूप सफलता नही मिल सकी। इस योजना मे गरीबी और बेरोजगारी को दूर करने, सभी को मकान प्राप्त कराने एवं स्वास्थ्य संरक्षा हेतु महत्त्वपूर्ण प्रयास किये गये। इस योजना पर कुल 2,18,730 करोड़ रुपया खर्च हुआ था। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि 5 8% हुई थी तथा प्रति व्यक्ति आय मे वार्षिक वृद्धि 3 6% रही।

1.9 वार्षिक योजना काल-1990-92 (Yearly Plan Period)—1 अप्रैल, 1990 से आठवी पचवर्षीय योजना को प्रारम्भ किया जाना था किन्तु केन्द्रीय स्तर पर राजनैतिक अस्थिरता के कारण इसे अप्रैल, 1992 से लागू करना पड़ा। इसके बीच के दो वर्षों के अन्तराल (1990-91 और 1991-92) को *'वार्षिक-योजना-काल'* माना गया। 1990-91 मे योजना-व्यय 61,523 1 करोड और 1991-92 मे योजना पर 2,316.8 करोड़ रुपये खर्च किए गये।

1.10 अष्टम् पंचवर्षीय योजना-1992-97 (Eighth Five Year Plan)—यह योजना केन्द्रीय स्तर पर राजनैतिक अस्थिरता के कारण 1 अप्रैल, 1992 में प्रारम्भ हो सकी। इस योजना के उद्देश्य थे—रोजगार वृद्धि, जनसंख्या वृद्धि पर नियत्रण, शिक्षा का सार्वभौमिकरण तथा आधारभूत ससाधनो का विकास करना। योजना मे ऊर्जा, प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि सम्बन्धी विकास को प्राथमिकता प्रदान की गई।

आठवीं पचवर्षीय योजना की उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं—(क) तीव्र आर्थिक विकास, (ख) निर्माण क्षेत्र तथा कृषि व सम्बद्ध क्षेत्र का तीव्र विकास, (ग) निर्यात और आयात मे महत्त्वपूर्ण विकास दरो, व्यापार तथा चालू खाता घाटे मे सुधार तथा केन्द्र सरकार के वित्तीय घाटे मे महत्त्वपूर्ण कमी होना है।

आठवीं योजना पर चालू मूल्यो के अनुसार 4,95,669 करोड़ खर्च आया, जबकि (1991-92 के मूल्यो को लेकर) सार्वजनिक क्षेत्र के लिए 4,31,100 करोड़ रुपये का अनुमान लगाया था, जिसके परिणामस्वरूप मामूली तौर पर 14 2 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई। आठवीं योजना के दौरान सकल घरेलू उत्पाद मे 6.2 प्रतिशत की औसत दर से वृद्धि हुई, जबकि लक्ष्य 5 6 प्रतिशत था।

1.11 नवम् पंचवर्षीय योजना-1997-2000 (Nineth Five Plan)—नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2000) भारतवर्ष की 50वीं वर्षगाँठ के अवसर पर शुरू की गई थी। इस योजना का उद्देश्य देश के सामाजिक-आर्थिक विकास को उचित दिशा और संतुलन प्रदान करना है। नौवीं योजना का प्रमुख कार्य सामाजिक न्याय के साथ-साथ एक नए युग में प्रवेश करना, जिसमे न केवल केन्द्र व राज्य सरकार, बल्कि आम लोग विशेषकर गरीब, आयोजन प्रक्रिया मे संस्था के रूप मे भागीदारी निभा सके। जीवन स्तर सुधारना, रोजगार के ठोस अवसर पैदा करना तथा क्षेत्रीय सतुलन मोटे तौर पर सरकार की नीति का प्रमुख पहलू है। इस योजना मे गरीबी दूर करने और रोजगार पैदा करने के तथा खाद्य और पोषण सुरक्षा सुनिश्चित करने मे कृषि क्षेत्र के विशेष महत्त्व को पहचाना गया है।

नौवीं योजना के उद्देश्यो मे निम्नलिखित बाते शामिल हैं—

(1) पर्याप्त अर्थपूर्ण रोजगार पैदा करने और गरीबी उन्मूलन के उद्देश्य से कृषि और ग्रामीण विकास को प्राथमिकता, (2) मूल्यों मे स्थिरता के साथ-साथ अर्थव्यवस्था की

विकास दर को तेज करना, (3) सबके लिए विशेषकर समाज के कमजोर वर्गों के लिए और खाद्य और पोषाहार की सुरक्षा सुनिश्चित करना, (4) सुरक्षित पीने का पानी, प्राथमिक स्वास्थ्य देखरेख सुविधा, सबके लिए प्राथमिक शिक्षा, (5) जनसंख्या की वृद्धि दर रोकना, (6) सभी स्तरों पर जनता की भागीदारी और सामाजिक जागरूकता के द्वारा विकास प्रक्रियाओं को ऐसा बनाना जो पर्यावरण के अनुरूप हों, (7) महिलाओं और अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ी जातियों व अल्पसंख्यकों जैसे सामाजिक रूप से अभाव वाले वर्गों का सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन कर उन्हें विकास के प्रतिनिधि के रूप में साधन सम्पन्न बनाना, (8) पंचायती राज संस्थाओं, सहकारी संगठन तथा स्वैच्छिक समुदायों जैसी जनता की भागीदारी वाली संस्थाओं को प्रोत्साहित करना और विकसित करना, (9) आत्मनिर्भरता के प्रयासों को मजबूत करना।

दसवीं पंचवर्षीय योजना-(2002-07) (Tenth Five Year Plan)—दसवीं पंचवर्षीय योजना में तथा उसके बाद में निर्धनता में कमी लाने के लिए अनेक लक्ष्य रखे गए। इसमें से एक लक्ष्य 2007 तक निर्धनता अनुपात को 5 प्रतिशतांक तक एवं 2012 तक 15 प्रतिशतांक तक कम करना है। निर्धनता उन्मूलन के लिए योजना गत प्रावधान के अन्तर्गत 2001-02 के 9,765 करोड़ रुपये और 2002-03 के लिए 11,170 करोड़ रुपये का परिव्यय उपलब्ध कराया गया है।

सभी पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश को आगे बढ़ाने के लिए अनेक कार्यक्रम सरकार द्वारा चलाए गए। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण महिला एवं बाल विकास कार्यक्रम, स्वच्छ पेयजल एवं स्वच्छता और भूमि सुधार एवं भू-अभिलेख आदि पर विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओ द्वारा पर्याप्त राशि व्यय की जाती रही है। इलेक्ट्रोनिकी, समन्वित ऊर्जा आयोजना कार्यक्रम और निर्धनता आदि पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इन सब कार्यक्रमों के परिणामस्वरूप देश अवश्य प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा। रोजगार के अवसर प्राप्त करना, कमजोर वर्गों का उन्नयन, निर्धनता की परिसमाप्ति और ऊँच-नीच का भेद मिटाकर समाज को समता की ओर ले जाने का लक्ष्य पूरा कर लिया जाएगा।

पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताएँ-असफलताएँ एवं विकास
(Success and Failure and Development of Five Year Plan)

देश के गणराज्य घोषित होने के वर्ष (1950-51 से 1997-98) तक पिछले 47 वर्षों में राष्ट्रीय आय-शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में 6.6 गुनी वृद्धि हुई है। यह 40,454 करोड़ रुपये से बढ़कर 2,67,551 करोड़ रुपये तक पहुँच गया है, अर्थात् सालाना 4 1 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। प्रति व्यक्ति आय में 2.9 गुनी वृद्धि हुई है। यह 1,127 रुपये से बढ़कर 3,212 रुपये तक पहुँच गई है। अर्थात् प्रत्येक वर्ष कुल 2.3 प्रतिशत की चक्रवृद्धि हुई है। सकल घरेलू उत्पाद में 7.3 गुनी वृद्धि हुई जो 42,871 करोड़ रुपए से बढ़कर 3,11,766 करोड़ रुपये हो गई अर्थात् 1980-81 के मूल्य आधार पर कुल चक्रवृद्धि दर 4 3 प्रतिशत रही। केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन के अग्रिम आकलन के अनुसार, 1998-99 मे राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय और 1998-99 के सकल घरेलू उत्पाद में, 1997-98 के मुकाबले, क्रमशः 5 7 प्रतिशत, 4 प्रतिशत और 5.8 प्रतिशत वृद्धि दर होने का अनुमान है।

कृषि के क्षेत्र मे विकास और वृद्धि का गरीबी उन्मूलन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। मुद्रास्फीति को रोकने, कृषि-मजदूरी में वृद्धि और रोजगार के अवसर पैदा करने में भी कृषि

में वृद्धि से काफी प्रभाव पड़ा है। स्वाधीनता के बाद से कृषि के विकास के लिए अपनाई गई नीति के अच्छे परिणाम सामने आए हैं।

आठवी योजनावधि में, कृषि क्षेत्र में औसतन लगभग 3.9 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर दर्ज की गई। अनाज का उत्पादन आठवी योजना के आधार वर्ष (1991-92) के 16 करोड़ 84 लाख टन से बढकर 1996-97 मे लगभग 19 करोड़ 40 लाख टन के रिकार्ड स्तर तक जा पहुँचा। नौवी योजना का लक्ष्य कृषि उत्पादों की प्रतिवर्ष 4 5 प्रतिशत वृद्धि दर प्राप्त करना और वर्ष 2001-02 तक 23 करोड़ 40 लाख टन अनाज पैदा करना है।

खाद्य तेलो मे अनुमानित 68 लाख टन का उत्पादन माँग के लिए कम पड़ेगा और इस कमी को 15 लाख टन खाद्य तेल के आयात से पूरा किया जाएगा। चीनी का उत्पादन 1997-98 के 12 करोड़ 82 लाख 70 हजार टन के मुकाबले 1998-99 में 15 करोड़ टन होने की आशा है, जबकि खपत की मात्रा 14 करोड़ 40 लाख टन होने का अनुमान है।

सिचाई के क्षेत्र मे बडी, मझोली और छोटी योजनाओ की क्षमता 1950-51 मे 2 करोड़ 26 लाख हेक्टेयर से बढ़कर आठवीं योजना के अन्त अर्थात् 1996-97 तक सिंचाई क्षमता 8 करोड 95 लाख 60 हजार हेक्टेयर तक प्राप्त करने और उसका उपयोग 8 करोड़ 7 लाख 50 हजार हेक्टेयर मे होने का अनुमान है।

बिजली के क्षेत्र में कुल स्थापित क्षमता (उपयोग मे न लाई गई उत्पादन क्षमता सहित) जो 1950 में सिर्फ 2,301 मेगावाट थी, मार्च, 1996 के अन्त में बढ़कर 95,183 मेगावाट (उपयोग मे न लाई गई उत्पादन क्षमता सहित) हो गई। आठवीं योजनावधि (1992-97) के दौरान 16,423 मेगावाट बिजली की अतिरिक्त क्षमता वास्तविक रूप से प्राप्त की गई।

ग्रामीण विद्युतीकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत सातवीं योजना के अन्त तक (1981 की जनगणना के अनुसार) 5 लाख 79 हजार गाँवों में से 4 लाख 70 हजार गाँवों में बिजली पहुँचाकर विद्युतीकरण का 81.3 प्रतिशत लक्ष्य प्राप्त किया गया। वर्ष 1998-99 के अन्त अर्थात् मार्च, 1999 तक 5 लाख 4 हजार गाँवों (86 4 प्रतिशत) को बिजली दी गई।

53वें राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के अनुसार साक्षरता का प्रतिशत 1991 के 52 प्रतिशत की तुलना में 1997 में बढकर 62 प्रतिशत हो गया है और 1998 में इसके 64 प्रतिशत होने का अनुमान है तथा 2001 तक साक्षरता दर के 68 प्रतिशत का अनुमान है। 73वें सविधान सशोधन को ध्यान मे रखते हुए, बदलते परिदृश्य के अनुरूप, जिला ग्रामीण विकास एजेंसियो को भी पुनर्गठित किया जा रहा है। इन एजेंसियों को जिला परिषदों के समग्र नियंत्रण और देखरेख मे काम करना होगा।

विकेन्द्रित विकास को सफल बनाने के लिए, पंचायती राज प्रणाली में शामिल नए प्रवेशार्थियों के लिए कई चरणो मे, प्रशिक्षण का एक समयबद्ध कार्यक्रम शुरू किया गया है ताकि उन्हे विभिन्न कार्यक्रमों, प्रौद्योगिकियो और अन्य आवश्यक जानकारी के क्रियान्वयन से परिचित कराया जा सके।

पचायती राज संस्थाओ को साधन सम्पन्न बनाने की दिशा में बड़े प्रयास के तहत, केन्द्र सरकार ने मानव विकास को आयोजना के प्रमुख लक्ष्य के रूप में रखकर विकेन्द्रित लोकतन्त्र प्रक्रिया को गति प्रदान करने के उद्देश्य से 1999-2000 को "ग्रामसभा वर्ष" घोषित किया है और निर्वाचित पंचायती राज संस्थाओं की संविधान के ग्यारहवी सूची मे निर्दिष्ट 29 विषयों के बारे में विकास कार्यक्रमो के क्रियान्वयन में सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है।

(2) राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation)

निर्धनता के निराकरण के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर अनेक कार्य किये जाते रहे हैं। सन् 1969 से राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत सर्वप्रथम 14 बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। उसके पश्चात् 1972-73 में कोयले की खानो का राष्ट्रीयकरण हुआ। इसके बाद सरकार ने बड़ी लोहे और स्टील कम्पनी और खाद्यान्न के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया। कमजोर वर्गो तथा निर्धन लोगों को ऋण देने के लिए राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई थी। किन्तु इन कार्यक्रमों से अत्यधिक लाभ नहीं हो सका। वास्तव में इस कार्य का उद्देश्य बैंकों के साधनों को बड़े उद्योगो के निजी उपयोग से बचाना था। किन्तु यह उद्देश्य पूरा न हो सका। बैंकों द्वारा दिए जाने वाले ऋण उन व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं जो राजनैतिक प्रभावों का उपयोग करने में सक्षम हैं। ये ऋण निर्धन लोगों को प्राप्त नहीं हो पाते हैं। बैंकों ने ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था के नवीनीकरण में योगदान किया है लेकिन इसके अनेक हानिकारक प्रभाव भी पड़े हैं, जैसे—अधिकांश ऋणों की वसूली नहीं होना, राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा 1990 में किसानों के 10,000 रुपए तक के ऋणों को माफ कर देना आदि हैं। ऋण माफी से केन्द्र सरकार पर 2,600 से 3,000 करोड़ रुपए का भार पड़ा। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने भी ऋण माफी को हानिकारक बताया था। कुल मिलाकर राष्ट्रीयकरण के द्वारा अपेक्षित उद्देश्य अपूर्ण ही रहे हैं। 118346

(3) बीस सूत्री कार्यक्रम
(20 Point Programme)

देश में गरीबी हटाना और लोगों का, विशेषकर (निर्धनता) गरीबी की रेखा से नीचे के लोगों का जीवन स्तर सुधारना, देश में नियोजित विकास के मुख्य लक्ष्य रहे हैं। हाल के वर्षों में आर्थिक विकास का अर्थ प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि से हटकर अवसरों के प्रसार पर रखा गया है। मानव क्षमता और योग्यता, मोटे तौर पर विकास प्रक्रिया के विशेष लक्षण के रूप में देखी जा सकती है। भारत सरकार विभिन्न कार्यक्रमों/योजनाओं के द्वारा नागरिकों को अपनी योग्यताएँ बढ़ाने में मदद कर रही हैं। गरीबी हटाने और जीवन का स्तर सुधारने के लिए 1975 से 20 सूत्री कार्यक्रम के तहत बृहत कार्यक्रम और योजनाएँ चलाई जा रही हैं। वर्ष 1982 और 1986 में इस कार्यक्रम में दो बार ढाँचागत परिवर्तन किए गए। बीस सूत्री कार्यक्रम के नाम से यह अप्रैल, 1987 से चल रहा है। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा बाजार उदारीकरण प्रक्रिया अपनाए जाने के बाद 20 सूत्री कार्यक्रम वंचित और विपरीत रूप से प्रभावित लोगो को सुरक्षा कवच प्रदान करता है, जिसकी उन्हें अधिक आवश्यकता है। इसलिए 20 सूत्री कार्यक्रम को निष्पक्षता और सामाजिक न्याय के साथ वृद्धि सुनिश्चित करने के लिए अहम भूमिका अदा करनी होगी। 20 सूत्री कार्यक्रम सरकारो/केन्द्रशासित प्रशासकों तथा केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागों के योजना और 'गैर योजना का अभिन्न अंग है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न मदों के लिए परिव्यय राज्य सरकारों/केन्द्र प्रशासकों तथा केन्द्र सरकार के प्रमुख मंत्रालयों विभागों के अन्तर्गत सम्बद्ध योजना शीर्ष से प्राप्त किया जाता है। परिवार कल्याण जैसी कुछ योजनाओं को केन्द्र पूरी तरह से धन उपलब्ध कराता है, जबकि समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम

(आई आर.डी पी) जवाहर रोजगार योजना तथा इंदिरा आवास योजना को केन्द्र और राज्य संयुक्त रूप से धन उपलब्ध कराते हैं।

20 सूत्री कार्यक्रम 86 के विषय से सम्बद्ध विभाग/मंत्रालय राज्य के साथ परामर्श से वार्षिक लक्ष्य निर्धारित करते हैं। 20 सूत्री कार्यक्रम के अन्तर्गत 119 मदों पर नजर रखी जानी है, 54 मद मूल्यांकन आधार पर आंके जाते हैं तथा 65 मदों पर भौतिक रूप से नजर रखी जाती है। परिमाणात्मक मूल्यांकन के लिए पहचाने गए 65 मदों मे 20 मदों के बारे में हर माह जवाबदेही जरूरी है।

(4) विशेष रोजगार और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम (Special Employment and Poverty Elimination Programmes)

राज्यों एवं केन्द्र सरकार द्वारा गरीबी उन्मूलन के लिए अनेक कार्यक्रम ग्रामों एवं नगरो में चलाए जाते रहे हैं। एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई आर डी पी) और इससे सम्बद्ध कार्यक्रम जैसे ट्राइसेम, डी डब्ल्यू सी आर ए, एम डब्ल्यू एस एस आई टी आर ए और जी के वाई का विलय अप्रैल, 1999 से शुरू की गई स्वर्ण जयन्ती ग्राम समृद्धि योजना (एस जी एम वाई) मे कर दिया गया है। समय-समय पर इसकी सफलताओं और असफलताओं का मूल्याकन भी किया जाता रहा है और उसके अनुसार गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रमों में विस्तार एवं संशोधन होते रहे हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(क) ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यक्रम (Programmes in Rural Areas)

1. छोटे किसान विकास एजेन्सी (SFDA)[1] **और सीमान्त किसान और खेतिहर मजदूर** (MFAL)[2]—निर्धनता निवारण का मुख्य लक्ष्य पाँचवीं योजना से माना जाने लगा। वैसे छोटे और सीमान्त किसानों को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के लिए चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाकाल (1969–74) में दो योजनाएँ—(1) लघु किसान विकास एजेन्सी, और (2) सीमान्त किसान और खेतिहर मजदूर प्रारम्भ की गईं। इन योजनाओं का उद्देश्य छोटे आकार के खेतो की उत्पादकता मे वृद्धि करना तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों की निर्धनता का उन्मूलन करने के लिए रोजगार एवं उप-रोजगार पैदा करना था। जिन क्षेत्रों में सूखे की स्थिति हमेशा बनी रहती है उन क्षेत्रो में रोजगार दिलाने के लिए ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम (RWP)[3], शुरू किया गया। बाद मे इस कार्यक्रम का नाम बदल कर सूखा प्रवृत्त क्षेत्र कार्यक्रम (DPAP)[4] रख दिया। आरम्भिक गहन ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम एवं काम के बदले अनाज कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए। ये सभी कार्यक्रम पूरे देश में व्यापक रूप से नहीं चल रहे थे। इन कार्यक्रमों की दीर्घकाल तक रोजगार प्रदान करने की सामर्थ्य भी नहीं थी क्योंकि ये किसी दीर्घकालीन नीति के अंग भी नहीं थे। ये कार्यक्रम मात्र आर्थिक सहायता के वितरण के माध्यम बन कर रह गए। अत: ऐसे विकास कार्यक्रम की आवश्यकता का अनुभव किया गया जो ग्रामीण निर्धनता पर सीधा प्रहार करे तथा वह देशव्यापी भी हो। इसी लक्ष्य की पूर्ति

1 S F D A —Small Farmers Development Agency
2 MFAL—Marginal Farmers and Agricultural Labour
3 R W P —Rural Work Programme
4 DPAP—Drought Prone Area Programme

के लिए **एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम** ने उपर्युक्त सभी कार्यक्रमों का स्थान 1978-79 में ले लिया। अब इन सभी कार्यक्रमों को स्वर्ण जयन्ती ग्राम समृद्धि योजना के अन्तर्गत रखा गया है।

2. एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP)[1]—इस कार्यक्रम का उद्देश्य अतिरिक्त रोजगार पैदा करके चयनित लक्ष्य-समूहों—सीमान्त किसान, बँटाईदार कृषि मजदूर, ग्रामीण कारीगर और अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के आय के स्तर को ऊँचा उठाना था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की रेखा के नीचे रह रहे सभी परिवार सहायता के लिए पात्र हैं। अनुसूचित जातियों/अनुसूचित जनजातियों के लोगों के लिए सहायता प्राप्त कुल परिवारों का 50% तक आरक्षण है। महिलाओं के लिए 40% और शारीरिक रूप से विकलांगों के लिए 3% आरक्षण है। यह योजना तीन प्रकार के कार्यों—प्रथम, कृषि, बागवानी और पशु-पालन; द्वितीय, बुनाई और दस्तकारी; तथा तृतीय, सेवा एवं व्यापारिक गतिविधियों द्वारा चयनित परिवारों को स्व-रोजगार उपलब्ध करवा कर निर्धनता रेखा से ऊपर उठाती है। यह योजना न्यूनतम निश्चित संख्या के परिवारों को निश्चित समयावधि में निवेश के लिए साधन उपलब्ध करवा कर निर्धन रेखा से ऊपर उठाती है।

केन्द्र सरकार ने सर्वप्रथम इस योजना को मार्च, 1976 में बीस चयनित जिलों में प्रारम्भ किया जिसे अक्टूबर, 1982 से देश के सभी 5,011 ब्लाकों में लागू किया। इस योजना द्वारा छठी पंचवर्षीय योजनाकाल 1980-85 में 1.65 करोड़ परिवारों को सहायता प्रदान की गई जिससे ये गरीबी रेखा से ऊपर उठ सकें। 1992-93 में 20.69 लाख, 1993-94 में 25.39 लाख, 1994-95 में लगभग 21.82 लाख तथा 1 अप्रैल, 1995 से नवम्बर, 95 तक 9.01 लाख परिवार इस योजना से लाभान्वित हो चुके हैं। 1997-98 में 17.1 लाख, 1998-99 में 16 6 लाख और 1 अप्रैल, 1999 से अक्टूबर, 1999 तक 0.96 लाख परिवार लाभान्वित हो चुके हैं। 1998-99 में इस योजना पर 701 करोड़ रुपए खर्च किए तथा 1999-2000 में 1100 करोड़ रुपए खर्च करने का प्रावधान रखा गया।

एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम के द्वारा निर्धन लोगों को नई परिसम्पत्तियाँ प्रदान करने की व्यवस्था है जिससे वे लोग परिसम्पत्तियों के द्वारा जीविकोपार्जन के लिए आय जुटा सकें। परिसम्पत्तियों में सिंचाई के साधन, खेती के लिए बीज व खाद, बैल और उपकरण, डेयरी तथा पशुपालन के लिए पशु एवं कुटीर उद्योगों में हस्तशिल्प के लिए औजार और प्रशिक्षण आदि आते हैं। यह एक स्वरोजगार कार्यक्रम है जिसके द्वारा निर्धन लोग उत्पादक परिसम्पत्तियों द्वारा रोजगार करके निर्धन रेखा से ऊपर उठें।

योजना का मूल्यांकन (Evaluation of the Programme)—इस एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम का मूल्यांकन योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संगठन, रिजर्व बैंक, कृषि तथा ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय बैंक एवं इन्स्टीट्यूट ऑफ फाइनेन्शियल मैनेजमेंट ने किया है तथा निष्कर्ष निम्न हैं—

---

1 IRDP—Integrated Rural Development Programme

(1) इस योजना में सम्मिलित 55 से 90 प्रतिशत लोगों को अतिरिक्त आय प्राप्त हुई है। (2) 40 प्रतिशत से अधिक लोग निर्धनता रेखा को पार नहीं कर पाए हैं। इन अध्ययनों मे यह संख्या 18% से 49 4% तक बताई गई है। (3) निर्धनता निवारण के दृष्टिकोण से यह कार्यक्रम कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर पाया है। (4) वित्तीय साधनों का आवंटन प्रत्येक विकास खण्ड की जनसंख्या के आकार, भौतिक लक्ष्यों तथा गरीबी की मात्रा को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता है। आवंटन सभी खण्डो मे एक-सा रखा गया है जो उचित नहीं है। (5) 15-20 प्रतिशत सहायता उन लोगों को दी गई है जो इसके पात्र नहीं हैं। (6) निर्धन लोग इस योजना से लाभ कई कारणो से नहीं उठा पाए—(i) ये निर्धन लोग गाँव के मुखिया को प्रभावित नहीं कर पाते, (ii) कार्यालय में पेचीदा आवेदन-पत्र भरना, गारन्टी करवाना इनके बस की बात नहीं। (7) बैंक अधिकारी निर्धनों को ऋण देने में डरते हैं कि ऋण की वसूली एक सिर-दर्द रहेगा। (8) निर्धनो को कार्यक्रम की जानकारी नहीं होती है तथा रुचि का उनमें अभाव होता है। (9) ऋण प्राप्त करना सरल काम नहीं है। इनमें भ्रष्ट नौकरशाही एक बडी बाधा है। इस तथा अन्य ऐसे कार्यक्रमो की सफलता के लिए सरकार को व्याप्त भ्रष्टाचार को मिटाना होगा तथा कार्यवाही का सरलीकरण करना होगा।

3. **जवाहर रोजगार योजना** (Jawahar Rozgar Yojna)—अप्रैल, 1989 में इस योजना की घोषणा की गई थी। इसका उद्देश्य था—ग्राम के प्रत्येक निर्धन परिवार के कम-से-कम एक सदस्य को एक वर्ष में उसके आवास के पास काम के स्थान पर 50 से 100 दिनो तक रोजगार दिलाना। इस योजना में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम और ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारन्टी कार्यक्रमो को भी सम्मिलित कर दिया गया है। इस योजना मे महिलाओ के लिए 30% काम आरक्षित हैं। ग्राम पंचायत के द्वारा यह योजना चलाई जाती है। केन्द्रीय सहायता 80% है। जिन पचायतो की जनसंख्या 4,000 से 5,000 होती है उनको 80 हजार से एक लाख रुपयो की वार्षिक वित्तीय सहायता दी जाती है। इस योजना पर 1989-90 तथा 1990-91 मे क्रमशः 2,000 करोड रुपए तथा 500 करोड़ रुपए व्यय किए गए थे। इस योजना के द्वारा 46% जनसख्या को निर्धन रेखा से ऊपर उठाने का प्रयास किया जाता है। इस योजना द्वारा 1992-93 मे 7821 02 लाख सृजित श्रम दिवस की व्यवस्था की गई थी तथा 1 अप्रैल, 1995 से नवम्बर, 1995 की अवधि में 3616 86 लाख श्रम दिवस सृजित किए गए हैं।

जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (जे.जी.एस.वाई.)—जवाहर रोजगार योजना को अप्रैल, 1999 से पुनर्गठित एवं कारगर बनाया गया है और इसका नाम जवाहर ग्राम-समृद्धि योजना (जे जी.एस.वाई.) रख दिया गया है। यह योजना केन्द्र और राज्यो के बीच 75 : 25 के लागत बँटवारे के अनुपात के आधार पर केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप मे कार्यान्वित की जा रही है। यह कार्यक्रम ग्राम पचायतो द्वारा कार्यान्वित है तथा इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ऐसे सभी कार्य शामिल किए जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप स्थायी उत्पादनकारी सामुदायिक परिसम्पत्तियो का सृजन होता है तथापि, इसका गौण उद्देश्य ग्रामीण बेरोजगार गरीबो के लिए मजदूरी वाले रोजगार का सृजन करना है।

4. रोजगार आश्वासन योजना (ई.ए.एस.)--सूखा प्रवण, रेगिस्तान जनजातीय और पर्वतीय क्षेत्रों में चुने गये। 1772 पिछड़े ब्लाकों में इस स्कीम को 2 अक्टूबर, 1993 से चलाया गया था और अप्रैल, 1999 से इसे एकल मजदूरी रोजगार कार्यक्रम के रूप मे पुन: तैयार किया गया है जिसके लिए एक वार्षिक परिव्यय निर्धारित किया गया है। इस समय इस कार्यक्रम को सभी 5448 ग्रामीण ब्लाकों में कार्यान्वित किया जा रहा है। ई.ए.एस. का प्राथमिक उद्देश्य गरीबी की रेखा से नीचे रह रहे ग्रामीण गरीबों के लिए शारीरिक परिश्रम के द्वारा मजदूरी रोजगार के अत्यधिक कमी की अवधि के दौरान अतिरिक्त मजदूरी रोजगार अवसरों का सृजन करना है। इसका द्वितीयक उद्देश्य भविष्य में रोजगार एवं विकास को बनाए रखने के लिए टिकाऊ सामुदायिक, सामाजिक और आर्थिक परिसम्पत्तियों का सृजन करना है। जिला परिषदों को इस स्कीम के कार्यान्वयन प्राधिकरणों के रूप में नामित किया गया है। इस योजना को एकल मजदूरी-रोजगार बनाने के लिए वर्ष 1999-2000 में इसकी पुनर्सरचना की गई और 75 : 25 के लागत बँटवारे के अनुपात के आधार पर इसे केन्द्रीय योजना के रूप में कार्यान्वित किया गया।

5. राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (एन.एस.ए.पी.)—चालू राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम अपने इस तीन घटकों अर्थात् (i) राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन स्कीम (ii) राष्ट्रीय परिवार लाभ स्कीम और (iii) राष्ट्रीय मातृत्व लाभ स्कीम के अन्तर्गत लाभ प्रदान करने हेतु यह योजना 15 अगस्त, 1995 को प्रारम्भ की गई थी। वर्ष 1999-2000 (बजट अनुमान) में राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम के उपर्युक्त तीन घटको के लिए 725 करोड़ रुपये की धनराशि प्रदान की गई है।

6. रोजगार बीमा योजना (Employment Assurance Scheme-EAS)—यह योजना 2 अक्टूबर, 1993 को शुरू की गई थी। रोजगार बीमा योजना देश के 1778 पिछड़े खण्डों में कार्यान्वित की गई है। इस योजना का उद्देश्य चयनित खण्डों के गाँवों में रहने वाले प्रत्येक परिवार के 18 से 60 वर्ष आयु के दो सदस्यों को 100 दिन का अकुशल शारीरिक श्रम कार्य उपलब्ध कराना है। इस योजना के द्वारा 1994-95 मे 2729 56 लाख, 1997-98 में 4717.7 लाख, 1998-99 में 4165.3 लाख तथा अप्रैल से सितम्बर 99 तक 724.9 लाख मानव श्रम दिवस सृजित किए गए थे।

7. स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवाओं को प्रशिक्षण (Training of Rural Youth for Self-Employment-TRYSEM)—यह योजना 15 अगस्त, 1979 को प्रारम्भ की गई। इसका लक्ष्य ग्राम के युवकों को तकनीकी प्रशिक्षण तथा ज्ञान देना है जिससे वे उद्योग, कृषि, नौकरियों और व्यापारिक कार्यो के क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त कर सकें। 18-35 आयु समूह एवं निर्धन रेखा से निम्न परिवार के युवा इस योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते हैं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, भूतपूर्व सैनिकों एवं नवीं कक्षा पास युवाओं को प्राथमिकता प्रदान की जाती है। महिलाओं के लिए एक-तिहाई स्थान आरक्षित हैं। प्रशिक्षणार्थियों को 75 रु. से 200 रु. तक की वित्तीय सहायता दी जाती है। 1992 से लेकर नवम्बर, 1995 तक कुल 11.24 लाख व्यक्तियों को प्रशिक्षण दिया जा चुका है। 1997-98 में 2.5 लाख, 1998-99 मे 1.7 लाख युवाओं को प्रशिक्षित किया गया है।

(ख) शहरी क्षेत्रों में कार्यक्रम (Programmes in Urban Areas)

8. नेहरू रोजगार योजना (Nehru Rozgar Yojna-NRY)—यह योजना अक्टूबर, 1989 मे प्रारम्भ की गई थी। बाद में इसमे तीन योजनाएँ सम्मिलित की गई थीं। पहली योजना का उद्देश्य शहरी बस्तियो में लघु उद्यम शुरू करने के लिए शहरी गरीब व्यक्तियों की सहायता करना, दूसरी योजना का उद्देश्य 10 लाख से कम आबादी वाली सभी शहरी बस्तियो में गरीब निर्धन लोगो के लिए मूल सुविधाओ की व्यवस्था करके मजदूरी रोजगार प्रदान करना और तीसरी योजना का उद्देश्य एक लाख से 20 लाख वाली आबादी वाली शहरी बस्तियों मे आश्रय उन्नयन के माध्यम से रोजगार प्रदान करना है। 1994-95 में 1.25 लाख परिवारो को सहायता प्रदान की गई। 63.96 लाख श्रम दिवस सृजित किए गए तथा 0.37 लाख व्यक्तियों को प्रशिक्षित किया गया। अप्रैल, 1995 से 31 12 1995 की अवधि में 0 87 लाख परिवारों की सहायता की गई। 56 25 लाख श्रम दिवस सृजित किए गए तथा 0.31 लाख व्यक्तियों को प्रशिक्षित किया गया है।

9. स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना—स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना जिसने पहले से तीन शहरी गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमो अर्थात् नेहरू रोजगार योजना गरीबो के लिए शहरी बुनियादी सेवाएँ और प्रदानमंत्री के एकीकृत शहरी ग्रामीण उन्मूलन कार्यक्रम को अपने मे शामिल कर लिया है, दिसम्बर, 1997 से सचालन मे आई। इसका उद्देश्य स्वरोजगार उद्यमों की स्थापना के प्रोत्साहन या मजदूरी रोजगार के प्रावधान के द्वारा शहरी बेरोजगारों या गरीबी की रेखा से नीचे के अल्प रोजगार वाले और नवे दर्जे तक शिक्षित गरीबो को रोजगार प्रदान करना है। यह योजना गरीब महिलाओ की अधिकारिता एवं उत्थान को विशेष गति प्रदान करती है और एक विशेष कार्यक्रम अर्थात् शहरी क्षेत्रो में महिलाओं एवं बच्चो का विकास (डी.डब्ल्यू सी यू ए.) नामक कार्यक्रम चलाती है जिसके अन्तर्गत स्वरोजगार उद्यम स्थापित करने वाली शहरी गरीब महिलाओ के समूह परियोजना लागत के 50 प्रतिशत तक की सब्सिडी पाने के पात्र हैं। वर्ष 1999-2000 (बजट अनुमान) में इसके लिए 181 करोड रुपये का आवंटन किया गया है। विशेष गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों की उपलब्धियों को सारणी मे दिखाया गया है।

10. शिक्षित बेरोजगार युवकों के लिए स्वरोजगार योजना (Self-Employment for Educated Unemployed Youth-SEEUY)—शिक्षित युवाओं के लिए स्वरोजगार योजना 1983-84 मे प्रारम्भ की गई थी। इसका लक्ष्य उन परिवारों, जिनकी वार्षिक आय 10,000 रु. से अधिक नहीं है, के 18 से 35 वर्ष की आयु वर्ग के शिक्षित युवाओ मे स्वरोजगार को प्रोत्साहित करना है। इसमें 10 लाख से कम जनसंख्या वाले शहरों को सम्मिलित किया गया है। केन्द्र सरकार बैंको द्वारा दिए गए ऋण के 25% की पूँजी की सहायता प्रदान करती है। 1983-84 से 1989-90 की अवधि मे इस योजना द्वारा 13 28 लाख लाभ-भोगियो को 2,620.15 करोड़ रुपए की राशि के ऋण स्वीकृत किए गए। 1990-91 मे 1 01 लाख लाभभोगियों को 204 15 करोड़ रुपए की राशि के ऋण स्वीकृत किए गये। 1992-95 से इस योजना को प्रधानमन्त्री रोजगार योजना के साथ जोड़ दिया गया है।

11. प्रधानमन्त्री रोजगार योजना (Prime Minister Rozgar Yojna-PMRY)—शिक्षित बेरोजगारो को स्वरोजगार प्रदान करने के लिए प्रधानमन्त्री की रोजगार योजना को

1993-94 में शहरी क्षेत्रों में चलाया गया था और 1994-95 से ग्रामीण क्षेत्रों में भी इसका विस्तार कर दिया गया था। इस योजना का उद्देश्य छोटे उद्यमों के लिए वित्तीय सहायता की व्यवस्था करना तथा इन उद्यमों के द्वारा रोजगार के अवसरों का सृजन करना है जिससे निर्धन लोग गरीबी की रेखा से ऊपर उठ सकें। 8वीं योजना (1992-97) के दौरान 7 लाख लघु उद्यमों की स्थापना करके 10 लाख से अधिक व्यक्तियों के लिए रोजगार उत्पन्न करने का इसने प्रयत्न किया। 9वीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) में कतिपय संशोधनों के साथ इस स्कीम को जारी रखा गया है। 1999-2000 के लिए 2 20 लाख लाभार्थियों का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। अक्टूबर, 1999 के अन्त तक 55395 ऋण के मामले में स्वीकृति दी गई है और 26070 मामलों में ऋण वितरण कर दिये गये हैं जैसाकि भारतीय रिजर्व बैंक ने सूचित किया है। वर्ष 1999-2000 के बजट में इस स्कीम के लिए 173 करोड़ रुपये का केन्द्रीय योजना परिव्यय प्रदान किया गया है।

12. अन्त्योदय कार्यक्रम (Antyodaya Programme)—इस कार्यक्रम को राजस्थान सरकार ने 2 अक्टूबर, 1977 से उन लोगों के लिए प्रारम्भ किया है जो निर्धनता रेखा से नीचे ही नहीं हैं बल्कि निर्धनों में भी निर्धनतम स्थिति में हैं।

इस योजना के अन्तर्गत राज्य के 33,000 गाँवों मे से प्रति वर्ष प्रत्येक गाँव में से पाँच सबसे अधिक निर्धन परिवारों का चुनाव किया जाएगा और उनकी आर्थिक उन्नति के लिये सहायता दी जाएगी। निर्धनतम परिवारों की पहिचान का कार्य ग्राम सभा को दिया गया है। निर्धन परिवारों के लिए प्राथमिकता के क्रम के आर्थिक मापदण्ड निम्न रखे गए—(1) परिवार निराश्रय हो, उत्पादन परिसम्पत्ति न हो, कमाने वाला कोई भी सक्षम सदस्य 15-29 आयु समूह में न हो, (2) परिवार के पास जमीन, पशु जैसी उत्पादक परिसम्पत्ति न हो परन्तु एक से अधिक सदस्य काम कर सकें और जिनकी प्रति व्यक्ति प्रतिमाह आय 20 रुपए हो; (3) परिसम्पत्ति हो परन्तु प्रति माह प्रति व्यक्ति आय 30 रुपए हो, और (4) परिवार, जिसकी प्रति व्यक्ति प्रतिमाह आय 20 रुपए हो।

चयनित निर्धनतम परिवारों को इस योजना के अन्तर्गत खेती के लिए भूमि का आवंटन, प्रतिमाह पेंशन, बैंक से ऋण अथवा रोजगार दिलाने मे सहायता की गई। ऐसे निर्धन परिवारों को 30-40 रुपए प्रतिमाह पेंशन दी गई। बैल, पशु-पालन, छबड़ी बनाने, खाती के औजार, दर्जी, चाय, नाई या पंसारी की दुकाने खुलवाने और साबुन बनाने एवं निवार बनाने आदि की गतिविधियो के लिए बैंक से ऋण की व्यवस्था की गई।

इस योजना के अन्तर्गत राजस्थान सरकार ने 1978 से 1982 तक की 5 साल की अवधि में 6.06 लाख परिवारों की सहायता का लक्ष्य निर्धारित किया था तथा 187 करोड़ रुपए का प्रावधान रखा। इस अवधि में 61 करोड़ रुपया पेंशन में, 47 करोड़ रुपए ऋण के रूप मे, 9 करोड़ रुपया खादी बोर्डों के माध्यम से सहायता के रूप मे खर्च किया गया था।

31 दिसम्बर, 1988 तक इस कार्यक्रम के द्वारा 2 61 लाख परिवारों में से 40.5% को ऋण दिया गया। 8 8% को रोजगार और अन्य लाभ प्रदान किए गए तथा 21.7% परिवारों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान की गई थी। अन्य राज्यों उत्तर प्रदेश और हिमाचल प्रदेश ने 1980 में तथा गुजरात राज्य ने 1992 मे इस कार्यक्रम को अपने यहाँ प्रारम्भ किया।

13. राष्ट्रीय ग्रामीण विकास कार्यक्रम (NREP)[1]—यह कार्यक्रम ग्रामीण क्षेत्रो मे अतिरिक्त रोजगार के अवसरो को उत्पन्न करने के लिए अधिशेष खाद्यान्न की सहायता से 1 अप्रैल, 1977 से प्रारम्भ किया गया। प्रारम्भ में यह कार्यक्रम *काम के बदले अनाज कार्यक्रम* कहलाता था। 1980 मे इसका नाम बदल कर *राष्ट्रीय ग्रामीण विकास कार्यक्रम* रख दिया गया। इस कार्यक्रम के द्वारा बाढ़ से बचाव, सड़को की मरम्मत, नई सम्पर्क सड़कों का निर्माण, सिंचाई सुविधाओ मे सुधार, पचायत भवनों, स्कूल भवनों, चिकित्सा और स्वास्थ्य केन्द्रो का निर्माण और ग्रामीण क्षेत्रो मे सफाई करने की व्यवस्था में सुधार आदि के कार्य किए गए। 1978 से 1980 की अवधि मे 13.29 करोड मानव दिवसो का सृजन किया गया तथा इसी अवधि में कुल 48.72 लाख टन खाद्यान्न खर्च किया गया। 1980 में जब इसका नाम बदला गया तब इसके उद्देश्यों मे भी संशोधन किया गया था। इस नूतन नामकरण वाले राष्ट्रीय ग्रामीण विकास कार्यक्रम के महत्त्वपूर्ण बिन्दु निम्न रखे गए—(1) आवंटन का 10% हरिजन बस्तियो के लिए पीने के पानी और सिचाई पर, (2) 10% सामाजिक वनविद्या, ईंधन की लकडी रोपने, (3) स्थायित्व के कार्यों को करना आदि था। यह छठी योजना में 7 करोड मानव दिवसो का सृजन कर पाई तथा 7वीं योजना 1985-90 में दो करोड़ परिवारों की सहायता की गई।

14. न्यूनतम आवश्यकता योजना (MNP)[2]—यह योजना पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के अभिन्न भाग के रूप में 1974-75 मे प्रारम्भ की गई। इस योजना का लक्ष्य प्रारम्भिक और प्रौढ़ शिक्षा, ग्रामीण स्वास्थ्य, पीने के पानी की व्यवस्था, सड़क निर्माण, बिजली, मजदूरों के लिए आवास, ग्रामीणो के लिए पोषण और नगरीय बस्तियों में सुधार करना है। पाँचवीं और छठी पंचवर्षीय योजनाओ में इस कार्यक्रम पर क्रमशः 1,518 करोड़ रुपये एवं 5,807 करोड़ रुपये आवंटित किये गये थे। छठी योजना में पानी की व्यवस्था पर 34 5%, सड़को पर 20%, शिक्षा पर 17 8%, स्वास्थ्य पर 9 8%, आवास पर 6.1%, बिजली पर 5 2%, पोषण पर 3 8% तथा शहरी गन्दी बस्तियों पर 2 6% राशि खर्च की गई।

15. गरीबी हटाओ और बेकारी हटाओ कार्यक्रम (Garibi Hatao aur Bekari Hatao Programme)—*गरीबी हटाओ* का नारा इन्दिरा गाँधी ने राष्ट्रीय चुनाव 1971 के समय दिया था तथा *बेकारी हटाओ* का नारा अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने अपने राष्ट्रीय सम्मेलन अप्रैल, 1988 के समय दिया था। काँग्रेस कमेटी 1950 से देश में *समाजवाद* स्थापित करने की घोषणा करती रही है। इसने अपने राष्ट्रीय सम्मेलनो—1951, 1964 और 1988 मे 'समाजवाद' को प्रमुख लक्ष्य के रूप में घोषित किया है। समय-समय पर अनेक कार्यक्रम भी इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चलाए गए हैं। परन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण यह लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पा रहा है। उपर्युक्त वर्णित कार्यक्रम इसी घोषणा की पूर्ति हेतु तथा गरीबी उन्मूलन हेतु केन्द्रीय सरकार चला रही है।

16. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (एएसजीएसवाई)—समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई आर.डी पी) ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास

1 NREP–National Rural Extension Programme
2. MNP–Minimum Need Programme

(डीडब्ल्यू सीआरए), स्वरोजगार हेतु ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण (ट्राइसेम), दस लाख कुएँ खुदवाने सम्बन्धी योजना (एमडब्ल्यूएस) आदि ग्रामीण नामक कतिपय भूतपूर्व कार्यक्रमों को एकल स्व-रोजगार कार्यक्रम में मिलाने के परिणामस्वरूप स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना को पहली अप्रैल, 1999 में शुरू किया गया था। इस योजना का उद्देश्य लघु उद्यमों को बढ़ावा देना तथा ग्रामीण निर्धनों को अपने स्वसहायता समूहों (एसएसजी) मे संगठित करने में मदद देना है। यह योजना ग्रामीण निर्धनों को अपने स्वसहायता समूहों के संगठन और उनकी क्षमता निर्माण, प्रशिक्षण, सामूहिक गतिविधियों का नियोजन, ढाँचागत विकास, बैंक ऋण तथा आर्थिक सहायता के माध्यम से वित्तीय सहायता और विपणन सम्बन्धी सहायता आदि जैसे स्वरोजगार के सभी पक्षों को कवच प्रदान करती है। इस योजना को केन्द्र और राज्यों के बीच 75 : 25 के लागत बँटवारे के अनुपात के आधार पर केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप में कार्यान्वित किया जा रहा है।

17. सम्पूर्ण ग्रामीण योजना (एसजीआरवाई)—यह योजना स्थिर सामुदायिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिसम्पत्तियों के सृजन सहित ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी रोजगार तथा खाद्य सुरक्षा भी मुहैया कराने के उद्देश्य से सितम्बर, 2001 मे शुरू की गई। यह योजना केन्द्र और राज्यों के बीच 75 : 25 के लागत बँटवारे के अनुपात के आधार पर कार्यान्वित की जा रही है। चल रही रोजगार आश्वासन योजना और जवाहर ग्राम समृद्धि योजना को बाद में पूर्णतः इस स्कीम के अन्तर्गत 1 अप्रैल, 2002 से समेकित किया जाएगा।

18. इन्दिरा आवास योजना (आई.ए.वाई.)—निर्धनों को मुफ्त दिए जाने वाले मकानों के निर्माण से सम्बन्धित यह एक बड़ी योजना है। इसमें बेकार कच्चे घरों को आधे-पक्के घरों में बदलने का एक अतिरिक्त घटक भी शामिल किया गया है। वर्ष 1999-2000 के लिए राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को निधियों के आवंटन का मापदण्ड निर्धनता अनुपात से राज्य में निर्धनता अनुपात और मकानों की कमी प्रतिबिम्बित करने के लिए बदल दिया गया। इसी प्रकार, किसी जिले को किए जाने वाले निधियों के आवंटन का मापदण्ड अनु जा./अनु जनजाति की जनसंख्या और मकानों की कमी प्रतिबिम्बित करने के लिए बदल दिया गया है।

19. समग्र आवास योजना—आश्रय, सफाई और पेयजल का समेकित प्रावधान सुनिश्चित करने के उद्देश्य से प्रत्येक 24 राज्यो में एक खण्ड तथा संघ राज्य क्षेत्र में एक खण्ड में प्रायोजित परियोजना के आधार पर वर्ष 1999-2000 मे एक व्यापक आवास योजना के रूप में यह समग्र आवास योजना शुरू की गई है। इसका बुनियादी सिद्धान्त मौजूदा आवास, सफाई तथा जलपूर्ति योजनाओ को लोगों की भागीदारी से प्रौद्योगिकी अन्तरण, मानव संसाधन विकास और आवास सुधार पर विशेष जोर देते हुए एकीकृत करना है।

20. काम के बदले अनाज कार्यक्रम—प्रारम्भ मे यह कार्यक्रम फरवरी, 2001 से 5 महीनों के लिए शुरू किया गया था और बाद में इसे बढ़ाया गया था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य आठ राज्यों अर्थात् गुजरात, छत्तीसगढ़, हिमाचल प्रदेष मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान और उत्तरांचल में सूखा प्रभावित ग्रामीण क्षेत्रों मे मजदूरी-रोजगार के माध्यम से खाद्य सुरक्षा को बढ़ाना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अतिरिक्त सहायता के रूप में केन्द्र प्रत्येक सूखाग्रस्त राज्य को मुफ्त खाद्यान्नों की उचित मात्रा उपलब्ध कराता है। राज्य सरकार द्वारा मजदूरी की अदायगी अंशतः वस्तु (प्रति कार्य दिवस के लिए 5 किलोग्राम खाद्यान्न

तक) तथा अंशतः नकद के रूप मे की जा सकती है। कामगरो को बकाया मजदूरी नकद मे अदा की जाती है ताकि उन्हे अधिसूचित न्यूनतम मजदूरी प्राप्त हो। यह कार्यक्रम अधिसूचित "प्राकृतिक आपदा प्रभावित" जिलों के सम्बन्ध में 31 मार्च, 2002 तक बढ़ा दिया गया है।

21. अन्नपूर्णा—यह योजना 100 प्रतिशत केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप मे पहली अप्रैल, 2000 से प्रभावी हुई। इस योजना का उद्देश्य वरिष्ठ नागरिको, जो राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन स्कीम के तहत पेंशन प्राप्त करने के पात्र हैं, लेकिन जिन्हें पेंशन मिल नहीं रही है, की आवश्यकता को पूरा करने के लिए खाद्य सुरक्षा प्रदान करना है। लाभानुभोगियो को उन्हे रियायती दर पर 2 रुपये प्रति किलो गेहूँ तथा 3 रुपये प्रति किलो चावल की दर पर खाद्यान्न मुहैया कराए जाते हैं। यह योजना 25 राज्यो तथा 5 संघ राज्य क्षेत्रों में चल रही है। इसके अन्तर्गत 6 08 लाख से अधिक परिवारो की पहचान की गई है तथा इस योजना के लाभ उन्हे पहुँचाये जा रहे हैं।

22. कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा—यह योजना जुलाई, 2001 में 18 से 60 वर्ष की आयु वर्ग मे खेतिहर व किराये पर मजदूरो को सामाजिक सुरक्षा लाभ देने के लिए शुरू की गई थी।

23. शिक्षा सहयोग योजना—इस योजना को अन्तिम रूप दे दिया गया है जो गरीबी की रेखा से नीचे रह रहे माता-पिता को अपने बच्चों को 9वीं से 12वीं कक्षा की शिक्षा प्रदान करने के लिए 100 रुपये प्रति माह शैक्षणिक भत्ता मुहैया कराएगी।

निर्धनता की समस्या के निराकरण हेतु निम्नलिखित उपचार भी किए जा सकते हैं—

निर्धनता समाप्त करने के लिए सुझाव
(Suggestions to Eradicate Poverty)

(1) रोजगार उत्पन्न करना (Creating Employment)—यह समस्या गाँवो मे अधिक है जहाँ कृषक 4-5 माह बेकार बैठा रहता है। कुटीर उद्योगो मे इसी प्रकार श्रमिक पर्याप्त समय तक निष्क्रिय रहते हैं। उनके लिए कुछ अतिरिक्त व्यवसायो की व्यवस्था की जाए।

(2) कृषि-व्यवस्था में सुधार (Reform in Agricultural System)—कृषि के नवीनतम साधनो का उपयोग बढाया जाए। कृषि-मजदूरो को न्यूनतम मजदूरी दी जाए। भूमि सुधार के नियम लागू किए जाएँ तथा भूमि-हीनो को कृषि योग्य भूमि वितरित की जाए। जॉन रसल ने कृषि सुधार के सम्बन्ध मे अपने सुझाव देते हुए कहा है— (i) उत्तम फसल बोई जाए, (ii) पेड़-पौधो को नष्ट करने वाले रोगो व कीड़ो की रोकथाम की जाए, (iii) सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार किया जाए, (iv) मिट्टी के कटाव को रोका जाए, (v) उर्वरको का प्रयोग किया जाए, (vi) कृषि का मशीनीकरण किया जाए, (vii) मिश्रित फसलों की व्यवस्था की जाए। इससे कृषि की स्थिति मे अवश्य सुधार होगा और अधिक उपज होने से निर्धनता के क्षेत्र में कमी होगी।

(3) तीव्र आर्थिक विकास (Fast Economic Development)—आर्थिक विकास की गति अति धीमी है, उसे तेज करने के प्रयास किए जाएँ। इसके लिए अधिकाधिक

औद्योगीकरण किया जाए, गाँवों में छोटे उद्योगो को बढ़ावा दिया जाये, सरकारी उद्योगो के प्रबन्ध में कुशलता लाई जाए तथा उद्योगपतियों के एकाधिकार को समाप्त करके उसका राष्ट्रीयकरण किया जाए। इससे निर्धनता मे अवश्य कमी होगी क्योंकि अनेक लोगो को रोजगार के अवसर प्राप्त होंगे।

(4) जनसंख्या वृद्धि पर नियत्रण (Control on Population Growth)— तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या जो हमारी भावी योजनाओं को कार्यान्वित नहीं होने देती, उस पर नियन्त्रण रखा जाए जिससे अधिकाधिक व्यक्तियो को उच्च शिक्षा व रोजगार मिल सके। इसके लिए परिवार नियोजन कार्यक्रम को अधिकाधिक महत्त्व दिया जाए।

(5) काले धन की समाप्ति (Elimination of Black Money)—अवैध भूमि को सरकार द्वारा अपने हाथ में लिया जाकर, कठोर कानून बनाकर काले धन को समाप्त किया जाए। इसके लिए राजनेताओं को अपना व्यक्तिगत लाभ छोड़कर निष्ठा से कार्य करना होगा। इससे धन का वितरण समान होने की सम्भावना है, जिससे निर्धनता की समाप्ति हो सकेगी।

(6) रक्षा-सेवाओं व पुलिस के बजट में कमी करना (Reduction in Defence and Police Budget)—वर्तमान में रक्षा-सेवाओं पर एवं पुलिस विभाग पर 25% से अधिक राष्ट्रीय आय खर्च हो रही है। इसे नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। इस धन को निर्धनता की समाप्ति के लिए उपयोग में लाया जा सकता है।

(7) शिक्षा का प्रसार (Extension of Education)—शिक्षा व्यवस्था मे सुधार की अधिक अपेक्षा है—आज सामान्य शिक्षा के साथ-साथ व्यवसायोन्मुख शिक्षा की अतीव आवश्यकता है, जिससे बढ़ती हुई बेरोजगारी पर नियन्त्रण किया जा सके। शिक्षा की योजना आर्थिक विकास से जुड़ी होनी चाहिए। इससे निर्धनता का निराकरण हो सकेगा।

(8) साधनों का उचित वितरण (Proper Distribution of Resoures)—निर्धनता की समाप्ति के क्षेत्र मे लाभ प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उत्पादन के साधनो को समाज के सभी लोगों मे उपयुक्त रूप से वितरित किया जाए। ऐसी व्यवस्था प्रारम्भ की जाए, जिसके द्वारा सम्पत्ति का वितरण इस प्रकार किया जाये, जिसका लाभ निर्धन वर्ग को मिले। कृषकों को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का उचित मूल्य मिले। इससे निर्धनता पर नियन्त्रण किया जा सकेगा।

(9) असामाजिक कुप्रथाओं का उन्मूलन करना (Eradication of Anti Social Customs)—भारत में अनेक सामाजिक कुरीतियाँ व कुप्रथाएँ व्याप्त हैं, जिन्हे व्यक्ति ऋण लेकर पूरा करता है। मृत्यु भोज व दहेज जैसी कुरीतियो के कारण निम्न वर्ग सदैव कर्ज मे डूबा रहता है। इन पर नियन्त्रण पाने के लिए सरकारी कानूनो को प्रभावशाली बनाये जाने की आवश्यकता है। इसके विरोध मे कड़ी दण्ड-व्यवस्था हो, साथ ही सामाजिक चेतना व जन-जागरण की आवश्यकता है जिससे इन कुरीतियो पर नियन्त्रण लाया जा सकता है जो व्यक्ति को निर्धन बनाने के लिए उत्तरदायी हैं।

(10) सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन (Change in Social Institutions)—अनेक सामाजिक व्यवस्थाएँ इस प्रकार की हैं जो व्यक्ति को कुंठित बनाती हैं, उसके विकास में बाधक हैं। संयुक्त परिवार-व्यवस्था व जाति व्यवस्था इसी श्रेणी में आती है। इनमें सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है जिससे निर्धनता को दूर किया जा सकेगा।

इन प्रयासों के अतिरिक्त अन्य कार्य भी निर्धनता के निराकरण के लिए किये जा सकते हैं, जैसे—मद्य-निषेध को प्रभावशाली ढंग से लागू किया जाए, स्वास्थ्य-संरक्षण की उचित व्यवस्था हो, देश के प्राकृतिक साधनों का उचित दोहन हो, बचत की आदत को प्रोत्साहित किया जाए, निर्धनों के लिए अनाथालय खोले जाएँ व प्राकृतिक आपदाओं, बीमारी व वृद्धावस्था आदि के समय उन्हें सहायता प्रदान करने के लिए सामाजिक बीमा-योजना प्रारम्भ की जाए, साथ ही गन्दी बस्तियों को समाप्त कर नियोजित मकान बनाये जाएँ। इस प्रकार राजनैतिक नेताओं का संरक्षण निर्धनता के क्षेत्र में सफलता प्रदान कराने में सहायक होगा, क्योंकि जब तक राजनेता स्वयं इस समस्या के प्रति जागरूक नहीं होंगे तब तक इसमें सफलता मिलना कठिन है। निर्धनता को दूर करने के लिए लोगों में कार्य के प्रति निष्ठा जागृत की जाये। ऐसे अवसर सँजोए जाएँ कि व्यक्ति कठिन परिश्रम करना सीखे, इससे उत्पादन की वृद्धि होगी, अभावों की समाप्ति होगी साथ ही वस्तुएँ सुगमता से उपलब्ध हो सकेंगी। ग्रामों में निर्धनता की समस्या अत्यधिक उग्र है अतः सरकारी योजनाओं का लाभ इन क्षेत्रों में उपलब्ध कराया जाए। इससे निर्धनता की समाप्ति हो सकेगी।



अध्याय–2

जाति की असमानता

(Inequality of Caste)

सम्पूर्ण विश्व का सार्वभौमिक सत्य यह है कि कोई भी दो वस्तुएँ एक समान नहीं होतीं। प्रकृति भी कभी दो समान वस्तुओ को उत्पन्न नहीं करती, यहाँ तक कि एक साथ जन्मे दो बालक (यमन) भी बिल्कुल एक समान नहीं होते। कहने का आशय यह है कि कोई भी दो प्राणी बिल्कुल समान नहीं होते, हर स्तर पर असमानता दिखाई देती है। व्यक्ति व समाज के स्तर पर भी असमानता मिलती है। असमानताएँ सभी समाजों मे विद्यमान थीं और हैं और भविष्य में भी रहेंगी—लोकतांत्रिक, साम्यवादी अथवा समाजवादी सभी राष्ट्रों में असमानताएँ विद्यमान हैं। मानवीय समानता के समर्थक सभी विद्वानों की धारणा है कि सभी प्राणी प्रकृति ने समान बनाये हैं, इसलिए सभी को समान समझना चाहिये, समान सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिये, और जो असमानताएँ समाज मे विद्यमान हैं, उन्हें दूर किया जाना चाहिए, *आंद्रे बेताई* ने अपनी पुस्तक *'इनइक्ववैलिटी अमंग मैन''* में कहा है, *''आधुनिक जगत् का महान् विरोधाभास यह है कि हर स्थान पर मनुष्य अपने को समानता के सिद्धान्त का समर्थक बताते हैं और हर स्थान पर वे अपने जीवन में तथा दूसरे के जीवन में असमानता की उपस्थिति का सामना करते हैं।''* इस बात का सभी समर्थन करते हैं कि समानता एक उच्च आदर्श है, किन्तु असमानता भोगा हुआ यथार्थ है।

असमानताएँ सर्वत्र विद्यमान है। कोई भी समाज समाजवादी दृष्टियों पर आधारित नहीं हो सकता। केवल कल्पना अवश्य की जा सकती है। समाजवादी विचारकों के मत मे निजी सम्पत्ति की समाप्ति होनी चाहिए जिससे सम्पूर्ण समाज में समानता लाई जा सके, जबकि लोकतन्त्रात्मक समाजों की दृष्टि से समानता का अर्थ आय और स्थिति का समान होना है। किन्तु कोई भी समाज हर दृष्टि से समान नहीं है, असमानताओं की व्याप्ति सर्वत्र है। ओकन का मानना है, *''पूर्ण समानता को, यदि यह विद्यमान है, मान्यता देना असम्भव हो सकता है परन्तु असमानता को मान्यता देना आसान है।''* कहने का अभिप्राय है कि हम केवल कल्पना कर सकते हैं कि समानता समाजों में हो, किन्तु यथार्थ यह है कि मनुष्य समान हो ही नहीं सकते। अतः हम समानता का आडम्बर करते हैं, वास्तव मे हम स्वयं भी नहीं चाहते—इसी तथ्य को *डेहरेन्डार्फ* ने अपनी कृति *''इनईक्वैलिटी'* में बड़े सारगर्भित शब्दों में व्यक्त किया है, *''समृद्ध समाज में भी, यह एक कठोर और उल्लेखनीय तथ्य है कि मनुष्य असमान स्थितियों में होते हैं। ऐसी सन्तान है, जो अपने माता-पिता से लज्जित हैं, क्योंकि वे समझती हैं, कि विश्वविद्यालय की डिग्री ने उन्हें बेहतर बना दिया है। ऐसे लोग हैं, जो टेलिविजन रखे बिना अपने मकान पर एन्टिना लगाते हैं, ताकि उनके पड़ौसियों को*

पता लग जाए कि वे टेलिविजन रख सकते हैं।" इससे निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि हर व्यक्ति दूसरे की तुलना मे स्वय को श्रेष्ठ व श्रेयस्कर समझने व बनाने का प्रयास करता है। असमानता व्यक्ति की मानवीय चेतना का अभिन्न अग बन चुकी है। असमानता को और विस्तार से समझने के लिए इसके अर्थ, परिभाषा, कारक व प्रकार आदि को समझना होगा।

असमानता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Unequality)—भिन्न-भिन्न विद्वानो द्वारा असमानता को विभिन्न दृष्टिकोणो से व्यक्त किया गया है। कुछ विद्वानो के मत मे सामाजिक वर्ग एवं सामाजिक संस्तरण असमानता के ही रूप हैं। इसी कारण इसकी एक स्पष्ट परिभाषा देना सम्भव नहीं है क्योकि असमानता के अनेक अर्थ हैं। 'कोलिन्स कोबिल्ड इगलिश लेंग्वेज डिक्शनरी' मे असमानता का अर्थ वह दशा या स्थिति है, जो समान नही है। विभिन्न व्यक्ति अथवा समूह इसे विभिन्न तरीकों मे व्यवहार करते हैं, जैसे—उदाहरण के लिए किसी एक व्यक्ति या समूह की तुलना में दूसरे व्यक्ति या समूह को अधिक धन, पद एव सुविधा प्राप्त हो अथवा दो वस्तुएँ आकार, शक्ति एवं योग्यता मे भिन्न प्रकार की हो, जैसे—उसके पैर असमान आकार के हैं।

ऑक्सफोर्ड शब्दकोश मे असमानता के अर्थ इस प्रकार बताए गए हैं—"**असमान होने की स्थिति या दशा या समानता का अभाव।**"

1 व्यक्तियो या वस्तुओ के बीच समानता का अभाव : (i) मात्रा, संख्या, गहनता अथवा अन्य भौतिक गुणो से सम्बन्धित असमानता, (ii) प्रतिष्ठा स्तर या स्थितियो से सम्बन्धित असमानता, सामाजिक असमानता, (iii) श्रेष्ठता, शक्ति या उपयुक्तता से सम्बन्धित अधिक या कम लाभप्रद स्थिति की प्राप्ति का होना। किसी वस्तु की तुलना मे उच्चता अथवा निम्नता की दशा, जैसे—किसी कार्य के लिए असमान होने की दशा का होना, अपर्याप्तता, अनुपयुक्तता सम्बन्धी असमानता का होना।

2 (i) व्यक्तियो द्वारा अन्य व्यक्तियों के साथ असमानता का व्यवहार, अनुचित व्यवहार, अनुपयुक्तता, पक्षपात का होना, (ii) वस्तुओ के उचित अंश की कमी, असमान वितरण का होना।

इस प्रकार असमानता अनेक रूपों में वर्णित की जा सकती है। सभी का सार—असमान या 'समान न होने की स्थिति' होता है। इसके आधार पर इसे इस रूप मे परिभाषित किया जा सकता है—असमानता दो वस्तुओ अथवा समाजो के असमान होने की दशा है। अर्थात् *जब एक समाज के सदस्य दूसरे समाज की तुलना में अधिक या कम लाभप्रद दशा मे होते हैं तो वह स्थिति असमानता की होती है।* अधिक या कम लाभप्रद स्थिति का अर्थ है—धन, वस्तुओ, पदों अथवा शक्ति के आधार पर भिन्नता का होना। शक्ति का असमान वितरण भी असमानता है और समाज के सदस्यो का सामाजिक सम्मान अथवा धन के आधार पर ऊँचा या नीचा होना भी असमानता है। सार रूप में समाज के सदस्यो का एक-दूसरे की तुलना मे कम अथवा अधिक सुविधाएँ प्राप्त करना ही असमानता है।

असमानता के प्रकार
(Types of Inequality)

प्रत्येक समाज मे किसी-न किसी रूप मे असमानता पाई जाती है जो समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सामाजिक स्थितियो की भिन्नता से सम्बन्धित है। रूसो जो प्रकृति के कट्टर समर्थक थे, उन्होने दो प्रकार की असमानता की चर्चा की है—(i) 'प्राकृतिक असमानता',

(ii) 'नैतिक असमानता'। प्राकृतिक असमानता का सम्बन्ध आयु, लिंग, शारीरिक शक्ति व मानसिक गुणों की भिन्नता से है और नैतिक असमानता का सम्बन्ध अधिकारों, सुविधाओं, धन-सम्पत्ति, प्रतिष्ठा एवं प्रभुत्व आदि की भिन्नता से है। **प्लेटो** जो आदर्शवादी दर्शन के समर्थक है, ने दो प्रकार की असमानता—(i) प्राकृतिक असमानता, व (ii) सामाजिक असमानता का उल्लेख किया है। उनके *मत में प्राकृतिक असमानता से आशय है*—मनुष्य की शारीरिक तथा बौद्धिक विशेषताओं में अन्तर होना। उनकी व्यावसायिक भिन्नता उनमें सामाजिक असमानता की उत्पत्ति करती है।

द्यूमिन ने अपनी कृति *'ऑन इनइक्वैलिटी'* में असमानता के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख किया है—(i) भूमिका की असमानता, (ii) भूमिका के आन्तरिक तत्त्वों की असमानता, (iii) सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों के अनुमान के सन्दर्भ में असमानता, (iv) कार्यात्मक योगदान के आधार पर असमानता, एवं (v) सम्पत्ति, शक्ति और सम्मान की असमानता।

डेहरेन्डार्फ ने असमानता के दो आधार बताए हैं—मानवीय एवं सामाजिक। मानवीय आधार पर असमानता वह है जो प्राकृतिक क्षमताओं की भिन्नता से उत्पन्न होती है और सामाजिक असमानता का आधार सामाजिक स्थिति होता है। सामाजिक स्थिति से सम्बन्धित असमानता भी दो प्रकार की होती है—एक मूल्यांकन पर आधारित होती है और दूसरी असमानता का आधार मूल्यांकन नहीं होता है। इस प्रकार डेहरेन्डार्फ ने चार प्रकार की असमानता की चर्चा की है जिनमें से प्रथम दो व्यक्ति से सम्बन्धित है और शेष दो का सम्बन्ध समाज से है, जो निम्नलिखित हैं—

(1) शारीरिक लक्षण, चरित्र और रुचियों की प्राकृतिक असमानता।

(2) बुद्धि, प्रतिभा और शक्ति की श्रेणी मे प्राकृतिक असमानता।

(3) समान श्रेणी वाले पदों में सामाजिक असमानता।

(4) सामाजिक स्थिति की पद-व्यवस्था में होने वाला सम्मान और धन पर आधारित सामाजिक संस्तरण।

सारांशतः असमानता विशिष्ट समाजों एवं परिस्थितियो से सम्बद्ध होती है और इसके अनेक स्वरूप होते हैं, जैसे—धन, सम्पत्ति, सामाजिक स्थिति, प्रतिष्ठा, स्वतन्त्रता, वर्ग, क्षमता, एस्टेट, जाति और लिंग आदि। यहाँ पर अब जाति और लिंग की असमानता का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

(1) जाति की असमानता
(Inequality of Caste)

भारतीय समाज व्यवस्था में असमानता का स्वरूप जाति व्यवस्था में देखा जा सकता है। भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार जातियाँ वर्णित है। इनके आधार और कर्त्तव्य अलग-अलग थे। सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से इनमें असमानता थी। ये असमानता पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती थी जो कर्म-फल पर आधारित थी, अर्थात् सर्वोच्च स्थिति ब्राह्मण की थी, जो अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते थे; क्षत्रिय समाज के रक्षक के रूप मे थे, वैश्य अर्थ से सम्बन्धित थे, शूद्रो का कार्य उपर्युक्त तीनों जातियों की सेवा करना था,

जिसने जिस जाति में जन्म लिया है, उसे वैसी ही स्थिति प्राप्त होती थी। जाति की सामाजिक असमानता को उचित और न्यायसंगत माना जाता है। जाति सामाजिक संस्तरण का स्वरूप भी है और स्थिति समूह भी है।

सेले, डेविस, घुर्ये व थाम्सन आदि के विचार से भारत के अतिरिक्त अरब, पोलिनेशिया, अफ्रीका, ग्वाटेमाला और जापान आदि देशों में भी जातीय समूह की स्थिति है। इस प्रकार पवित्रता, कर्मफल एवं मानवीय प्रकृति की दृष्टि से जातियों की सामाजिक असमानताएँ महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका अध्ययन जाति की परिभाषा, अर्थ, विशेषताओं, उत्पत्ति आदि के अध्ययन द्वारा निम्न रूप में किया जा सकता है—

जाति की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Caste)

1. जाति का शाब्दिक अर्थ (Etymological meaning of Caste)—जाति अँग्रेजी शब्द कास्ट (caste) का हिन्दी रूपान्तर है जिसे पुर्तगाली भाषा के 'casta' से व्युत्पन्न माना जाता है, जहाँ इसे विभेद या मत के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। संस्कृत की 'जन्' धातु से 'जाति' शब्द व्युत्पन्न है जिसका अर्थ जन्म या उत्पत्ति है अर्थात् जन्म के अनुसार अस्तित्व का रूप ही जाति है जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और अस्पृश्य वर्ण के स्तर की अनेक जातियाँ प्राथमिक रूप से हिन्दुओं में मानी जाती हैं।

जाति की परिभाषाएँ अनेक दृष्टियों से दी गई हैं जिनके आधार पर जाति की असमानताओं को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

'जाति' शब्द की उत्पत्ति पर सर्वप्रथम ग्रेसिया-डी-ओर्टा (Gracia de Orta) ने सन् 1665 में प्रकाश डाला था। इसके बाद फ्रांसीसी विद्वान् अब्बे दुब्बाय ने इस अवधारणा का प्रयोग प्रजाति के सन्दर्भ में किया था।

2. जाति जन्म/वंशानुक्रम पर आधारित होती है (Caste is based on birth/heredity)—सभी विद्वानों ने जाति के अर्थ तथा विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए इसकी विशिष्ट विशेषता—जन्म पर आधारित सदस्यता पर प्रकाश डाला है अर्थात् जो जिस जाति में जन्म लेता है वह जीवनपर्यन्त उसी जाति का सदस्य बना रहता है। सामान्यतया इसकी सदस्यता को परिवर्तित नहीं किया जा सकता है अर्थात् जाति में व्यक्ति की उच्चता या निम्नता की असमानता उसके जाति विशेष में जन्म लेने के साथ ही निश्चित हो जाती है। निम्न परिभाषाएँ जन्म पर आधारित जाति की असमानता को स्पष्ट करती हैं।

कूले के कथनानुसार—"जब एक वर्ग पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होता है तो उसे जाति कहा जा सकता है।" समाज में दो प्रकार की असमानताएँ होती हैं—स्थाई और परिवर्तनशील। स्थाई या प्रदत्त असमानता को व्यक्ति अपनी मेहनत, ईमानदारी, कार्यकुशलता, बुद्धिमत्ता, व्यवसाय आदि के द्वारा नहीं बदल सकता है। इसे बन्द वर्ग या जाति कहते हैं। जिस सदस्यता को व्यक्ति अपने प्रयासों से बदल सकता है और समाज उसे प्रस्थिति को परिवर्तित करने की अनुमति देता है उसे खुला वर्ग व्यवस्था कहते हैं। जाति की सदस्यता वंशानुक्रम या जन्म पर आधारित है इसलिए यह बन्द वर्ग है जो निम्न परिभाषा से स्पष्ट हो रहा है।

डी.एन. मजूमदार एवं टी.एन. मदान के अनुसार—"जाति एक बन्द-वर्ग है।" *बन्द-वर्ग से आपका तात्पर्य है कि जाति एक ऐसा वर्ग है जिसकी सदस्यता जन्म से निश्चित*

होती है। जाति के बाहर का कोई भी व्यक्ति इसका सदस्य नहीं बन सकता है। जाति के बीच जन्मे व्यक्ति ही इसके सदस्य बन सकते हैं। बन्द-वर्ग से तात्पर्य है—ऐसा वर्ग जिसकी सदस्यता त्यागकर बाहर नहीं जाया जा सकता।

3. जाति जन्म एवं अन्तर्विवाह पर आधारित होती है (Caste is based on birth and endogamy)—कुछ विद्वानों ने जाति का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी दो विशेषताओं—जन्म एवं अन्तर्विवाह पर प्रकाश डाला है। ये निम्नलिखित हैं—

केटकर के अनुसार—"जाति एक सामाजिक समूह है; जिसकी दो विशेषताएँ होती हैं—(1) सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो सदस्यों से जन्म लेते हैं और इस प्रकार से पैदा हुए व्यक्ति ही इसमें सम्मिलित होते हैं। (2) सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते है।"

हॉबेल की परिभाषा—"अन्तर्विवाह और आनुवंशिक पद के द्वारा सामाजिक वर्गों को एक स्थाई और अपरिवर्तनीय रूप दे देना ही जाति है।"

4. जाति व्यक्तियों/परिवारों की विशिष्ट विशेषताओं का संकलन है (Caste is an aggregation of individual group of distinctive characteristics)—कुछ विद्वानों ने जाति को व्यक्तियों या समूहों का ऐसा संकलन बताया है जिसकी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ हैं जो असमानताओं को अन्य समूहों के संदर्भ में निश्चित करती है।

मार्टिण्डेल और **मौनाचैसी** के अनुसार—"जाति व्यक्तियों का ऐसा समूह है जिनके कर्त्तव्यों तथा विशेषाधिकारों को जन्म से निश्चित होता है, जिनको जादू या/और धर्म की स्वीकृति और समर्थन प्राप्त होता है।" इस परिभाषा में जाति की कुछ महत्त्वपूर्ण असमानताओं का वर्णन अवश्य किया गया है लेकिन सभी असमानताओं का उल्लेख नहीं किया गया है।

हट्टन ने **'कास्ट इन इण्डिया'** में जाति की अनेक परिभाषाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के बाद निष्कर्ष निकाला है कि जाति की परिभाषा शब्दों या वाक्यों में देना सम्भव नहीं है। अगर जाति को समझना है तो हमें इसकी असमानताओं से सम्बन्धित विभिन्न विशेषताओं का अध्ययन करके ही समझना होगा। जाति की कुछ प्रमुख विशेषताओं—जन्म पर आधारित सदस्यता, अन्तर्विवाह एवं वंशानुगत व्यवसाय पर प्रकाश उपर्युक्त परिभाषाओं में दृष्टिगोचर होता है। इन असमानताओं से सम्बन्धित विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ और विशेषताएँ भी हैं जिनको समग्र रूप से एन.के. दत्त और जी.एस. घुर्ये ने प्रस्तुत किया है, जो जाति की असमानताओं को और अधिक स्पष्ट करती है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

एन.के. दत्त ने **'ऑरिजन एण्ड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इण्डिया'** में जाति के प्रमुख लक्षण निम्नांकित छः बताए हैं, जो जाति की असमानताओं के निर्धारक हैं—

(1) एक जाति के सदस्य अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते। (2) एक जाति के सदस्यों पर अन्य जातियों के सदस्यों के साथ खाने-पीने के सम्बन्ध में भी कुछ प्रतिबन्ध होते हैं। (3) अधिकतर जातियों के व्यवसाय निश्चित होते हैं। (4) सभी जातियों मे ऊँच-नीच का एक संस्तरण होता है, जिसमें ब्राह्मणों की स्थिति सर्वमान्य रूप से शिखर पर है। (5) व्यक्ति की जाति का निश्चय जन्म के आधार पर जीवनभर के लिए होता है।

यदि कोई व्यक्ति उसके नियमों का उल्लंघन करने के कारण निकाल दिया जाए तो एक जाति से दूसरी जाति की सदस्यता प्राप्त करना असम्भव है। और (6) सम्पूर्ण जाति-व्यवस्था ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा पर आधारित है।

ये विशेषताएँ जातियो की पारस्परिक असमानताओ (उच्चता और निम्नता) को भी निर्धारित करती हैं।

जी.एस. घुर्ये ने अपनी कृति 'जाति, वर्ग और व्यवसाय' में जाति के निम्न छः लक्षणो का उल्लेख किया है। आपका कहना है, हिन्दू समाज के विशिष्ट लक्षण तब के बताए जा सकते हैं जब यह जाति के सामाजिक-दर्शन के नियमों द्वारा शासित होता था तथा इस पर आधुनिक विचारधारा के अधिकार और कर्त्तव्यो का प्रभाव नहीं पडा था, ये प्रधानतः छः हैं—

1 समाज का खण्डात्मक विभाजन
2 संस्तरण
3 खान-पान एव सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध
4 विभिन्न जातियो की नागरिक तथा धार्मिक निर्योग्यताएँ तथा विशेषाधिकार
5 व्यवसाय के स्वतन्त्र चुनाव का अभाव
6. विवाह पर प्रतिबन्ध

जाति की विभिन्न परिभाषाओ तथा विशेषताओं के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जाति असमानताओ का निर्धारण जन्म से होता है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार यह एक विशिष्ट असमानताओं वाला समूह तथा व्यवस्था दोनो है। इसके द्वारा समाज का स्तरीकरण होता है तथा समाज के प्रत्येक सदस्य का अन्य सदस्यों, समूहों तथा जाति के सन्दर्भ में सस्तरण, खण्डात्मक विभाजन, व्यवसाय, खान-पान, सामाजिक, नागरिक और धार्मिक विशेषाधिकार एवं निर्योग्यताएँ, व्यवसाय, विवाह आदि अनेकानेक बातें नियन्त्रित, निर्देशित तथा सचालित होती हैं। जाति-व्यवस्था प्रदत्त व्यवस्था है। यह पवित्रता और अपवित्रता की अवधारणा पर आधारित एक ऐसा खण्डात्मक विभाजन है जिसमे विशिष्ट अधिकार और कर्तव्य तथा उच्च व निम्न असमान प्रस्थिति वाले अन्तर्विवाही समूह होते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण और जातीय असमानता
(Historical Perspective and Caste Inequality)

'जाति की असमानताओं' के शीर्षक के अन्तर्गत भारतीय हिन्दू समाज में जाति के कारण व्याप्त अनेक प्रकार की असमानताओं को देखा जा सकता है। अनेक सामाजिक वैज्ञानिको ने जाति की असमानताओं का अध्ययन समय-समय पर किया है। इनके अध्ययन के दृष्टिकोण और क्षेत्र भिन्न-भिन्न रहे हैं। प्रारम्भ मे समाजशास्त्रियो, भारतीय विद्याशास्त्रियो आदि ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण से जाति की असमानताओ का वर्णन और व्याख्या की है। बाद में कुछ विद्वानो ने अऐतिहासिक दृष्टिकोण से जाति के कारण समाज मे व्याप्त असमानताओं पर प्रकाश डाला है। कुछ अनुसधानकर्त्ताओं और सर्वेक्षणकर्त्ताओं ने स्थान की भिन्नताओं के आधार पर ग्रामों, कस्बो, नगरो, महानगरों और औद्योगिक केन्द्रो मे जाति से

सम्बन्धित असमानताओं का विश्लेषण एकत्र तथ्यों के आधार पर वस्तु करके स्थिति से अवगत करवाया है। इन्हीं विभिन्न उपलब्ध सामग्री के आधार पर जाति की असमानताओं का विवेचन प्रस्तुत है।

प्रारम्भ से ही भारतीय जाति व्यवस्थो ने सामाजिक वैज्ञानिकों का इस ओर ध्यान आकर्षिक किया है कि यह एक सामाजिक असमानता की विशिष्ट व्यवस्था है जो धार्मिक पवित्रता और अपवित्रता की धारणा पर आधारित है। जातियों की असमानता पर प्रकाश डालते हुए जी. डी. बरमन ने लिखा है, ''जाति व्यवस्था में निहित असमान अवसरों एवं प्रतिष्ठा का वितरण मुख्य रूप से सामाजिक स्वीकृतियों के द्वारा संचालित होता है जिसका नियन्त्रण उच्च स्तर (जाति) के हाथों में होता है।'' जाति की असमानताएँ जन्म के द्वारा नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित होती हैं। उच्चतम जातियों (ब्राह्मण) के पास अधिकतम विशेषाधिकार और न्यूनतम निर्योग्यताएँ (प्रतिबन्ध) होती हैं। इसके विपरीत निम्नतम जातियों (अस्पृश्य) के पास निम्नतम या नहीं के बराबर अधिकार एवं अधिकतम निर्योग्यताएँ होती हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर यही स्पष्ट होता है कि जातिगत असमानताओं की उत्पत्ति और विकास का आधार जन्म रहा है।

जातिगत असमानताओं को हम इसकी उत्पत्ति के सांस्कृतिक व्यवस्था पर आधारित सिद्धान्त और प्रजातिपरक व्याख्या पर आधारित सिद्धान्तों में भी देख सकते हैं। सोरोकिन ने लिखा है कि भारत के धार्मिक ग्रन्थों में लिखा है कि विभिन्न जातियाँ ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से उत्पन्न हुई हैं और उनमें मौलिक अन्तर है। परिणामस्वरूप रक्त का सम्मिश्रण या अन्तर्जातीय विवाह या प्रजातियो के मध्य किसी प्रकार का सम्पर्क सबसे बड़ा अपराध माना जाता है। प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक मान (समानता और असमानता) उसके माता-पिता के रक्त के आधार पर निर्धारित होता है। एच. ई. बार्न्स और हावर्ड बेकर ने लिखा है, ''भारतीय जाति व्यवस्था के आधार-स्तम्भ चार वर्ण हैं। ये वर्ण हल्के श्वेत से लेकर पूर्ण काले तक हैं। इस व्यवस्था में शीर्ष पर ब्राह्मण हैं जो लगभग 3,000 वर्ष ई पू. भारत पर आक्रमण करने वाले आर्यो के वंशज है।'' इसी मूल धारणा ने उच्च जातियों को शोषक और निम्न जातियों को शोषित की प्रस्थिति प्रदान की है, जो आगे चलकर घोर जातीय असमानताओं के रूप में पली, फैली और फूली।

वेस्टरमार्क की मान्यता है कि आर्यों की विजय के पहले भारत मे कृष्ण-वर्ण के लोगों की आबादी थी। कृष्ण-वर्ण की जनजातियों के प्रति आर्यों को घोर घृणा और शत्रुता थी, जिसे उन्होंने अपने और पराजित लोगों—शूद्रों के बीच में तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाकर अभिव्यक्त किया। उपरोक्त ऐतिहासिक अध्ययनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि जाति की असमानताओं का आधार और प्रमुख कारण आर्यों और द्रविडों की पारस्परिक सामाजिक शत्रुता रही है।

जाति की असमानताओं का स्रोत जाति की उत्पत्ति का परम्परागत सिद्धान्त भी रहा है। जाति व्यवस्था या इसकी असमानताओं का वर्णन सभी धर्मशास्त्रों, स्मृतियों और पुराणों मे वर्णित है। इसका सर्वाधिक प्रचलित सिद्धान्त ऋग्वेद के मण्डल 10, सूक्त 910, मन्त्र 11-12 मे मिलता है। ऋग्वेद के इस अंश को 'पुरुष-सूक्त' कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कई सिद्धान्त और छोटी-मोटी पौराणिक कल्पनाएँ भी प्रचलित हैं जो जाति की असमानताओ को

स्पष्ट करती हैं। नर्मदेश्वर प्रसाद ने लिखा है कि "इन सबका उल्लेख हिन्दुओं के विभिन्न ग्रन्थो में हुआ है जो कि समय-समय पर युग की आवश्यकताओ के अनुरूप रचे गए हैं।" इन रचनाओं ने समय-समय पर जाति की असमानताओ को समाज पर कठोरता से पालन करने पर जोर दिया है जिसका उद्देश्य ब्राह्मणों को उच्चतम प्रस्थिति प्रदान करना तथा शूद्रों को निम्नतम कोटि का ठहराना था।

जाति में असमानताओं की पराकाष्ठा का अनुमान वर्णों के कर्त्तव्य, ब्राह्मणों की गरिमा और 'शूद्रों का जन्म-दासता के हेतु' के निम्नलिखित वर्णन से स्पष्ट हो जाएगा—

एफ. मैक्समूलर के अनुसार सर्वाधिक ज्योतिर्मय ने विभिन्न वर्णों के लिए निम्न कर्त्तव्य और उप-जीविकाएँ निश्चित की थीं—"ब्राह्मणों के लिए वेदों का पठन और पाठन, अपनी और दूसरों की भलाई के लिए यज्ञ करना, दान देना और लेना आदि कर्म निश्चित किए गए।" "क्षत्रियों को उसने आज्ञा दी कि वे प्रजा की रक्षा करें, दान दें, यज्ञ करें, वेद-पाठ करें और ऐन्द्रिक सुखोपभोग मे अपने को लिप्त करने से बचाएँ।" "वैश्य पशुपालन करे, दान करें, यज्ञ करे, वेद-पाठ करे, व्यवसाय करे, ऋण दे और जमीन जोतें।" "शूद्रों के लिए एक ही कर्म निर्धारित था कि वे उपर्युक्त तीनों वर्णों की विनयपूर्वक सेवा करें।"

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता (Superiority of Brahmins)—एफ मैक्समूलर ने ब्राह्मणों की गरिमा का निम्न रूप में वर्णन किया है—

(1) "मनुष्य-नाभि के ऊपर (नीचे की तुलना मे) पवित्रतर कहा जाता है, इसलिए स्व में-अस्तित्वमान (भगवान) ने ब्राह्मण को अपना पवित्रतम अंग मुख घोषित किया है।" (2) "ब्राह्मण की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से हुई है। चूंकि वह अग्रजन्मा है और वेदो पर उसका अधिकार है, इसलिए वह (ब्राह्मण) अधिकारतः इस सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है।" (3) "ब्राह्मण का जन्म ही तब विधान की निधि की सुरक्षा के हेतु पवित्र विधान का एक शाश्वत अवतरण है और वह ब्रह्मा के साथ ही संयमित हो जाता है।" (4) "एक ब्राह्मण, जब अस्तित्व ग्रहण करता है, पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ और उच्चतम और सभी उत्पन्न प्राणियों के स्वामी के रूप में जन्म लेता है।" (5) "विश्व मे जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब कुछ उसकी सम्पत्ति की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण की सम्पत्ति है, वस्तुतः ब्राह्मण इस सबको अधिकारी है।" (6) "एक ब्राह्मण, चाहे मूर्ख हो या विद्वान्, एक महान् दिव्यता का स्वामी है, ठीक उसी प्रकार से है जैसे कि अग्नि चाहे वह (यज्ञ के हवन कुण्ड के लिए ले जाई जाए या किसी अन्य कार्य के लिए) एक महान दिव्यता है।"

ब्राह्मणों के लिए दण्ड (Punishment for Brahmins)—मैक्समूलर के अनुसार, "ब्राह्मण के लिए प्राणदण्ड के स्थान पर कपाल-मुण्डन उपयुक्त है। परन्तु दूसरे वर्णों के लोगों को प्राणदण्ड भुगतना ही पडेगा।" . किसी भी ब्राह्मण की हत्या नहीं की जाए, चाहे उसने सभी सम्भव अपराध कर्म किए हो, ऐसे अपराधी को वनवास दिया जाए और उसकी सारी सम्पत्ति उसके पास ही रहने दी जाए और उसके शरीर को कोई आघात नहीं पहुँचाया जाए। .... किसी ब्राह्मण की हत्या करने मे अधिक घोर अपराध पृथ्वी पर ज्ञात नहीं है। इसलिए एक राजा किसी ब्राह्मण को जान से मारने का विचार भी अपने मन मे नहीं लाए।"

शूद्रों की निम्नता (Inferiority of Shudras)—मैक्समूलर ने शूद्रों की दयनीय प्रस्थिति का वर्णन निम्न किया है—"परन्तु एक शूद्र, चाहे वह क्रीत हो या अक्रीत, दास कवि के लिए विवश किया जा सकता है, क्योंकि स्वयं अस्तित्वमान ने उसकी सृष्टि ब्राह्मणों के दास होने के लिए ही की है।" .. . "एक शूद्र यद्यपि वह अपने स्वामी से मुक्ति पा चुका हो, तथापि वह दासता से मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि यह उसके जन्म से ही उसके साथ लगा है। इससे उसे कोई भी स्वतन्त्र नही कर सकता। . .. एक ब्राह्मण आश्वस्त होकर अपने शूद्र (दास) के सामान को जब्त कर सकता है, क्योंकि उसे (दास को) सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है, उसका स्वामी उसके स्वत्वों पर अधिकार कर सकता है। . ... एक मात्र ब्राह्मण की सेवा ही शूद्र के लिए श्रेष्ठ उपजीविका घोषित है क्योंकि इसके अतिरिक्त वह जो भी करेगा, उसका उसे कोई फल नहीं मिलेगा। .... शूद्र को धन-संचय कदापि नहीं करना चाहिए, यद्यपि वह (ऐसा करने मे) समर्थ भी हो, क्योंकि धन संचित करके रखने वाला शूद्र ब्राह्मणों को पीड़ा देता है।"

शूद्रों के लिए दण्ड (Punishment for Shudras)—मैक्स मूलर ने शूद्रों के लिए जो दण्ड व्यवस्था प्रचलित थी उसका निम्न विवरण दिया है—"(1) एकज मनुष्य (एक शूद्र), जो एक द्विज मनुष्य को भद्दी गालियाँ देकर अपमानित करता है, उसकी जीभ काट दी जाएगी क्योंकि वह निम्न वंश का है। (2) यदि वह किसी (द्विज) का नाम और उसकी जाति का वर्णन तिरस्कार के साथ करता है तो उसके मुख में दस अंगुल लम्बी जलते लोहे की कील घुसा दी जाएगी। (3) यदि वह अहंकारवश ब्राह्मणों को कर्त्तव्य की शिक्षा देता है तो राजा उसके मुख और कानों मे गरम तेल डाल दिए जाने की व्यवस्था करेगा। (4) निम्न वर्ण का मनुष्य चाहे वह जिस किसी भी अंग से क्यो न (त्रि वर्णो में से किसी भी मनुष्य को) उच्चतम (वर्णो के) व्यक्तियों को चोट पहुँचाए, उसका वह अंग ही काट डाला जाएगा, यह मनु का उपदेश है। (5) वह जो हाथ या जिस हाथ से डण्डा उठायेगा उसका वह हाथ काट दिया जाएगा। (6) यदि अहंकारवश वह (अपने से उच्च जाति सदस्य पर) थूकता है, तो राजा उसके दोनों ही होठों को कटवाने की व्यवस्था करेगा।" इसी प्रकार के और भी बहुत से दण्ड विधानों की चर्चा मैक्स मूलर ने की है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से जाति की निम्न असमानताओं को उस काल या युग के रूप में बताया जा सकता है। जाति के सामाजिक-दर्शन नियमों द्वारा शासित होते थे तथा इन पर आधुनिक विचारधारा के अधिकार और कर्त्तव्यों का प्रभाव नहीं पड़ा था। घुर्ये के अनुसार जाति की असमानताओं के ये लक्षण प्रधानतः निम्न छः हैं—(1) समाज का खण्डात्मक विभाजन, (2) संस्तरण, (3) खान-पान एवं सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध, (4) विभिन्न जातियों की नागरिक तथा धार्मिक निर्योग्यताएँ तथा विशेषाधिकार, (5) व्यवसाय के स्वतन्त्र चुनाव का अभाव, और (6) विवाह पर प्रतिबन्ध।

1. समाज का खण्डात्मक विभाजन एवं असमानता (Segmental Division of Society and Inequality)—घुर्ये ने जाति व्यवस्था की प्रथम विशेषतः हिन्दू समाज को अनेक खण्डों मे विभाजित करना बताया है। प्रत्येक खण्ड एक जाति अथवा उपजाति कहलाता है। प्रत्येक खण्ड में सदस्यों की सामाजिक स्थिति, उनके उत्तरदायित्व और कार्य जाति द्वारा पूर्व-निश्चित होते हैं। एक जाति के सदस्य अपनी जाति के प्रति उत्तरदायी होते

हैं। घुर्ये के अनुसार नागरिकगण अपनी नैतिक निष्ठा के मामले में सम्पूर्ण समुदाय के स्थान पर अपनी जाति को प्रथम स्थान देते थे। आपका खण्डात्मक विभाजन से तात्पर्य इसी निष्ठा पर आधारित छोटे-छोटे अनेक जातीय समूहों में विभाजन से है जिनकी अपनी परिषदें होती हैं जिसे **'जाति-पंचायत'** कहते हैं। इस प्रशासनिक संस्था, जाति-पंचायत का कार्य अपनी जाति के सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना होता है। जातिगत उच्चता या निम्नता सम्बन्धी नियमों की अवहेलना करने पर जाति-पंचायत उन्हें दण्डित करती है। जिन अपराधों पर यह निर्णय देती है उनमें से कुछ ये हैं—निषिद्ध खान-पान या पारस्परिक व्यवहार का उल्लंघन, अवैध संभोग, स्त्री का अपहरण या उसके साथ व्यभिचार, विवाह निषेधों का उल्लंघन, ऋण नहीं चुकाना, ब्राह्मण का अपमान, जाति-सम्बन्धी रीति-रिवाजों का उल्लंघन करना तथा चुनौती देना।

इन विभिन्न खण्डों या जातियों में उच्चता और निम्नता मिलती है जो इनकी असमानताओं को इंगित करती है।

2. संस्तरण एवं असमानता (Hierarchy and Inequality)—भारतवर्ष में अनेक जातियाँ हैं परन्तु किन्हीं भी दो जातियों की प्रस्थिति समाज में समान नहीं होती है। समाज में विभिन्न खण्डों, जातियों, वर्णों या वर्गों की उच्चता और निम्नता के आधार पर आरोही अथवा अवरोही क्रमबद्धता को संस्तरण कहते हैं। संस्तरण के दृष्टिकोण से जाति की विशेषता को अनेक विद्वानों ने देखा और परखा है। हिन्दू समाज, जो जाति-व्यवस्था वाला है, उसमें ब्राह्मणों या खण्ड जाति की प्रस्थिति समाज में उच्चतम है तथा अस्पृश्य जातियों की प्रस्थिति निम्नतम होती है। इन दोनों उच्चतम और निम्नतम जातियों के मध्य अन्य सभी जातियाँ एवं उपजातियाँ समाज में ऊँची-नीची प्रस्थिति एवं असमानताओं के अनुसार स्थित होती हैं। जाति की उच्चता और निम्नता का निर्धारण सम्बन्धित समाज में इसकी धार्मिक प्रतिष्ठा, व्यवसाय, खान-पान, पवित्रता, अपवित्रता आदि से होता है तथा वह परम्परागत होती है। व्यक्ति जिस जाति या खण्ड में जन्म लेता है उसकी सदस्यता जीवनपर्यन्त उसी जाति की सदस्यता रहती है। व्यक्ति की जन्म पर आधारित सदस्यता को समाजशास्त्र में प्रदत्त-प्रस्थिति कहते हैं जो जाति की विशिष्टता है। पश्चिम के समाजों की वर्ग-व्यवस्था की तरह व्यक्ति जाति की सदस्यता को शिक्षा, सम्पत्ति, शक्ति के आधार पर बदल नहीं सकता था। परन्तु आजकल नगरों तथा महानगरों में इसमें परिवर्तन आ रहा है। जाति-व्यवस्था में संस्तरण का क्रम उच्चतम ब्राह्मण वर्ण के स्तर की जातियाँ, उसके बाद क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं अस्पृश्य वर्ण के स्तर की जातियों का है। उच्चतम ब्राह्मण और निम्नतम अस्पृश्य वर्ण के स्तर की जातियों के मध्य असंख्य अन्य जातीय खण्ड हैं। सदस्यता जन्म पर आधारित होने के कारण यह संस्तरण एवं असमानता स्थिर तथा अपरिवर्तनशील है। एक जाति के अन्दर कई उपजातियाँ होती हैं तथा उनमें भी परस्पर असमानताएँ होती हैं। निम्न जाति के लिए उच्च जाति में प्रवेश एवं सदस्यता पाना कठिन है।

3. खान-पान एवं सहभोज सम्बन्धी असमानताएँ (Inequalities related to feeding and commensality)—जाति-व्यवस्था में खान-पान एवं सहभोज से सम्बन्धित अनेक प्रतिबन्ध एवं असमानताएँ मिलती हैं। इन प्रतिबन्धों के द्वारा निश्चित किया जाता है कि एक विशिष्ट जाति का व्यक्ति क्या खा सकता है, किन-किन जातियों को कौनसा भोजन

खिला सकता है तथा उसके हाथ का खा सकता है। इस सम्बन्ध में **ई.ए.एच. ब्लंट** ने **सोशियल सर्विस इन इण्डिया** में निम्न सात निषेधो का उल्लेख किया है, जो जातियों मे असमानताओ को स्पष्ट करते हैं—

1. **पंक्ति-निषेध**—एक जाति के व्यक्ति को किन-किन जाति के लोगों की पाँत में बैठकर भोजन करना चाहिए और किनकी पाँत में नहीं।
2. **पाक-निषेध**—एक जाति किन-किन व्यक्तियों द्वारा पकाया हुआ भोजन ग्रहण कर सकती है और किन के द्वारा पकाया हुआ नहीं।
3. **भोजन-निषेध**—एक जाति के व्यक्ति को भोजन करते समय किन संस्कारों का पालन करना चाहिए।
4. **जल-निषेध**—किसके हाथ का पानी पीना चाहिए और किसके हाथ का नहीं।
5. **खाद्य-निषेध**—जाति क्या खाए और क्या नहीं खाए।
6. **हुक्का-पानी-निषेध**—किसका हुक्का-पानी पीना चाहिए और किसके साथ बैठकर पीना चाहिए।
7. **पात्र-निषेध**—खाने-पीने या भोजन पकाने के लिए किस प्रकार के बर्तन व्यवहार मे लाने चाहिए।

घुर्ये ने लिखा है कि समस्त भोजन 'कच्चा' तथा 'पक्का' दो वर्गों में विभाजित है। जल द्वारा बना भोजन कच्चा तथा घी या तेल द्वारा बना भोजन पक्का कहलाता है। घुर्ये ने इन निषेधों को निम्न रूप में प्रस्तुत किया है, जो जातिगत असमानताओं पर प्रकाश डालते हैं—

"नियमानुसार किसी भी व्यक्ति को अपनी ही जाति के सदस्य के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा बनाए गए भोजन को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। सामान्यतया अधिकतर जातियो को ब्राह्मण के हाथ से 'कच्चा' भोजन ग्रहण करने मे आपत्ति नहीं होती।"

ब्राह्मण कच्चा भोजन किसी भी अन्य जाति के हाथ से ग्रहण नहीं कर सकता। कनौजिया ब्राह्मणो में यह नियम अति कठोर है जिसे 'तीन कनौजिया तेरह चूल्हे' कहावत से लोग व्यक्त करते हैं।

ऊँची जाति का व्यक्ति नीची जाति के सदस्य के हाथ से 'कच्चा' भोजन ग्रहण नहीं कर सकता लेकिन नीची जाति का व्यक्ति ऊँची जाति से कच्चा भोजन ग्रहण कर सकता है। ब्राह्मण पक्का भोजन केवल कुछ ही जातियों के हाथ से ग्रहण कर सकते हैं।

खाद्य पदार्थ दो वर्गों में विभाजित किए गए हैं—शाकाहारी और माँसाहारी। खाद्य पदार्थ के अनुसार ब्राह्मण, वैश्य और कुछ शूद्र वर्ण के स्तर की जातियाँ शाकाहारी तथा क्षत्रिय वर्ण तथा शूद्र वर्ण एवं अस्पृश्य स्तर की जातियाँ माँसाहारी होती हैं। जाति में पात्र से सम्बन्धित निषेध भी कठोर रहे हैं। सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा, मिट्टी आदि पात्र क्रम से उच्च पवित्रता से निम्न पवित्रता में माने जाते रहे हैं। भारतवर्ष मे ये असमानताएँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में न्यून-अधिक मात्रा में अन्तर से मिलती हैं।

4. सामाजिक समागम सम्बन्धी असमानताएँ (Inequalities related to Social Intercourse)—जाति-प्रथा एक ऐसी प्रथा है जिसमें सामाजिक जीवन से सम्बन्धित भी

अनेक असमानताएँ मिलती हैं। व्यक्ति, जाति और समाज के स्तर पर जातियों मे परस्पर सामाजिक सम्पर्क, व्यवहार, समीपता अर्थात् सामाजिक समागम से सम्बन्धित अनेक चौंका देने वाले निषेध देखे जा सकते हैं।

घुर्ये ने लिखा है कि पवित्रता-अपवित्रता, छुआछूत आदि से सम्बन्धित असमानताओं सम्बन्धी विचार उत्तर भारत की तुलना मे दक्षिण भारत में अधिक फैले हुए हैं। दक्षिण भारत मे मान्यता है कि अगर अछूत की छाया उच्च जाति के व्यक्ति पर पड जाती है तो वह अपवित्र हो जाता है। कोई भी ऊँची जाति का व्यक्ति किसी चमार या डोम को नहीं छूता है। कुछ नीची जाति के लोग स्वय भी इस छुआछूत के विषय मे अत्यन्त कठोर हैं। नीची जाति का कोई व्यक्ति कुएँ मे से जल भर लेता है तो कुआँ अपवित्र हो जाता है। चूने-पत्थर का बना कुआँ सरलता से अपवित्र नहीं होता तथा गारे-मिट्टी का बना हुआ कुआँ सरलता से अपवित्र हो जाता है। बहुत-सी निम्न स्तर की जातियों को मन्दिरो के चौक मे प्रवेश नहीं करने दिया जाता है। निम्न जातियो को गाँव की बाहरी सीमा पर रहने के लिए बाध्य किया जाता है।

घुर्ये ने भारत के विभिन्न क्षेत्रो में सामाजिक समागम सम्बन्धी असमानताओं पर प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि सिद्धान्त रूप में ऊँची जाति का व्यक्ति अपने से नीची जाति के सदस्य द्वारा स्पर्श हो जाने पर अपवित्र हो जाता है लेकिन व्यवहार में इस नियम का दृढता से पालन नहीं किया जाता है।

महाराष्ट्र मे अछूत की परछाई किसी ऊँची जाति के व्यक्ति पर पड़ने पर वह अपवित्र हो जाता है। मद्रास मे इस नियम का कठोर रूप मिलता है। शानार चौबीस कदम, तियान छत्तीस कदम से कम दूरी होने पर ब्राह्मणो को अपवित्र कर देते हैं। ब्राह्मण किसी शूद्र के निवासस्थान के आसपास प्रक्षालन या शरीर-शुद्धि नहीं कर सकता। धोबी, नाई आदि अछूतो को अपनी सेवाएँ नहीं दे सकते हैं। ब्राह्मण डॉक्टर शूद्र की नब्ज देखते समय रोगी की कलाई रेशम के छोटे टुकड़े से लपेट देता है जिससे त्वचा को छूने से वह अपवित्र न हो जाए।

5. नागरिक और धार्मिक असमानताएँ (Civic and Religious Inequalities)—विभिन्न जातियों की नागरिक एवं धार्मिक असमानताएँ सम्पूर्ण भारत मे न्यूनाधिक रूप से अनेक रही हैं। अनेक क्षेत्रों मे जहाँ ब्राह्मणो तथा अन्य उच्च जातियों को उनके समाज मे उच्चता के स्तर के अनुसार विशेषाधिकार प्राप्त थे, वहीं दूसरी ओर निम्नतम जातियों—विशेष रूप से अस्पृश्य जातियों—की उनके स्तर के अनुसार अनेक निर्योग्यताएँ एवं असमर्थताएँ थी। घुर्ये, जेम्स फार्बस, स्लेटर, थर्सटन, रसेल, विल्सन आदि ने अपने-अपने अध्ययन के क्षेत्रो के आधार पर निम्न जातिगत असमानताओं का उल्लेख किया है।

बगाल जनगणना, 1901 के अनुसार, नीची जाति का व्यक्ति कुएँ से पानी निकाल लेता है तो कुआँ अपवित्र हो जाता है। अपवित्र जातियाँ गाँवो की बाहरी सीमा पर रहती हैं। तमिल तथा मलयालम में विभिन्न जातियाँ पृथक्-पृथक् भागो मे रहती है। अनेक क्षेत्रों में गाँवों के तीन भाग होते हैं—एक भाग में ब्राह्मण तथा उच्च जातियाँ, दूसरे भाग में शूद्र तथा तीसरे भाग मे पंचम (अछूत) रहते हैं। ऐसा भी देखने में आया है कि अछूत तो पृथक् स्थान मे रहते हैं और अन्य जातियाँ एक-दूसरे से सटकर रहती हैं। रसेल ने लिखा है कि मराठों तथा पेशवाओ के शासनकाल में महार और माँग जातियो को प्रातः 9 बजे से पहिले तथा

शाम 3 बजे के बाद पूना के दरवाजों के अन्दर प्रवेश करने की अनुमति नही थी। इस समय उनके शरीर की छाया लम्बी पड़ती थी जो ऊँची जाति के लोगो पर गिरकर उन्हें अपवित्र कर देती थी।

घुर्ये ने लिखा है कि सम्पूर्ण भारत देश में अछूत जातियों को गाँव के उन कुओं से जल निकालने की अनुमति नहीं होती, जहाँ से अन्य जातियों के लोग जल निकालते हैं। आपने बताया है कि महाराष्ट्र में अछूत सड़क पर थूक नहीं सकते थे क्योंकि थूक पर उच्च जाति का पैर पड़ने पर वह अपवित्र हो जाता। अस्पृश्य काँटेदार वृक्ष की शाखा लेकर चलते हैं और अपने पद-चिह्न मिटाते चलते हैं। पंजाब जनगणना, 1911 में वृत्तान्त मिलता है कि भंगी को अपने हाथ या बगल में झाड़ू रखनी होती थी जिससे पता चल जाए कि वह अस्पृश्य है। गुजरात में दलित जातियाँ अपने विशिष्ट प्रतीक के रूप में सींग पहना करती थीं। दक्षिण भारत के पूर्वी और पश्चिमी सीमा के ताड़ी बनाने वाले शानार और इझवाओ को एक मंजिल से ऊँचे मकान बनाने की अनुमति नहीं थी। इनको छाता, जूता तथा सोने के गहने पहनने, गायें दुहने तथा देश की सामान्य भाषा का भी उपयोग करने की अनुमति नही दी जाती थी। ऐसा भट्टाचार्य ने लिखा है।

विल्सन ने लिखा है कि ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी जातियों के सदस्यो को अपने शरीर को ढँकने का स्पष्ट रूप से निषेध था। मद्रास जनगणना, 1871 में उल्लेख मिलता है कि 1865 तक ऐसा कानून था कि स्त्रियाँ कमर के ऊपर अपने शरीर को नहीं ढँक सकती थीं। तियान तथा अन्य नीची जातियो की स्त्रियों को शरीर का ऊपरी भाग बिल्कुल खुला रखने को विवश होना पड़ता था। सश्रम कारावास तथा मृत्युदण्ड, सामान्यतया नीची जातियों के अपराधियों को ही दिए जाते थे।

ब्राह्मणो के संस्कार वैदिक क्रिया पद्धति, जो अधिक पवित्र मानी जाती है, के द्वारा सम्पन्न होते हैं एवं अन्य जातियो के संस्कार पौराणिक पद्धति, जो कम पवित्र मानी जाती है, के द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। सवाई माधवराव के जीवनकाल मे पेशवा सरकार ने एक आदेश निकाला था कि अतिशूद्र महार अपने विवाह के कृत्य नियमित ब्राह्मण पुरोहितो द्वारा सम्पादित नहीं करा सकते थे। आज भी कुछ पवित्र संस्कार ऐसे हैं जो केवल ब्राह्मण ही कर सकते हैं।

घुर्ये के अनुसार—"मन्दिर के अन्तरतम भागो में केवल ब्राह्मण ही जा सकते है, शुद्ध शूद्र तथा अन्य उच्चतर जातियों को उन पवित्र स्थानो के बाहर ही रहना पड़ता है। अपवित्र जातियाँ और विशेषतः अछूत लोग किसी मन्दिर के बाहरी भागो में भी प्रवेश नहीं कर सकते।"

ब्राह्मण अन्य जातियो के व्यक्तियों के समक्ष अपना मस्तक नही झुकाता। अन्य जातियों के सदस्य पहले प्रणाम करेगे तथा ब्राह्मण उन्हे केवल आशीर्वाद देता है। हिन्दू शासको के राज्यकाल में ब्राह्मणो को अनेक आर्थिक एवं नागरिक विशेषाधिकार अवश्य प्राप्त हुए होगे तथा अन्य जातियों को वंचित रखा गया होगा।

देश के कई क्षेत्रों में ब्राह्मण भूमिधरों की भूमि पर राजस्व-कर अन्य जातियो की अपेक्षा कम लगाया जाता था। ब्राह्मण मृत्युदण्ड से मुक्त होते थे। रानडे ने लिखा है कि जब

ब्राह्मणों को कारावास मे रखा जाता था तब अन्य वर्गों की तुलना मे उनके साथ अधिक उदारतापूर्वक व्यवहार किया जाता था।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि असमानता के आधार पर ब्राह्मणो तथा उच्च जातियों को विशेषाधिकार अधिकतम प्राप्त थे तथा असमर्थताएँ न्यूनतम तथा इसके विपरीत निम्नतम जातियों पर धार्मिक एवं नागरिक प्रतिबन्ध एवं निर्योग्यताएँ अधिकतम थी तथा विशेषाधिकार न्यूनतम प्राप्त थे। ये विशेषाधिकार एवं असमर्थताओ के क्षेत्र ग्रामीण आवास क्षेत्र, भवन निर्माण की सामग्री एवं मंजिलें, वस्त्र, आभूषण, संस्था, कुओ से पानी लेना, अपराध एवं दण्ड-निर्धारण, पवित्रता-अपवित्रता के कारण एवं क्षेत्र, राजस्व-कर आदि हैं।

6. व्यवसायों में असमानताएँ (Inequalities in Occupations)—जाति-व्यवस्था में व्यवसाय परम्परागत होते थे। सामान्यतया जो जिस जाति में जन्म लेता है वह बड़े होने पर उस जाति का व्यवसाय अपनाता है। जाति मे व्यवसाय पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं, जैसे—नाई, धोबी, स्वर्णकार, चर्मकार आदि अपना व्यवसाय परम्परागत रूप में करते रहते हैं। घुर्ये ने लिखा है कि जाति समूह कुछ व्यवसायों को पैतृक व्यवसाय मानता था जिसे किसी दूसरे लाभकारी व्यवसाय के लिए भी छोड़ना उचित नहीं माना जाता था। आपने स्पष्ट किया है कि कोई भी जाति अपने सदस्यो को ऐसा व्यवसाय ग्रहण करने की अनुमति नहीं देती थी जो या तो ताड़ी या शराब बनाने जैसा प्रतिष्ठाघातक होता था या मल-मूत्र या कूड़ा-करकट उठाने या चमड़ा कमाने जैसा गन्दा होता था। व्यक्ति अपना पैतृक व्यवसाय जाति बन्धुओ के नैतिक नियन्त्रण तथा सामाजिक प्रतिबन्ध के कारण छोड नहीं सकता था तथा अन्य जाति वाले भी अपना पैतृक व्यवसाय दूसरी जाति वालों को अपनाने नहीं देते थे।

जन्मजात ब्राह्मण के अतिरिक्त पुरोहित का कार्य अन्य व्यक्ति नही कर सकते थे। व्यवसाय सम्बन्धी प्रतिबन्ध मे समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहे हैं। **केम्पबेल एथनालॉजी ऑफ इण्डिया** के अनुसार महाराष्ट्र में कोकणस्थ तथा देशस्थ ब्राह्मण अनेक लौकिक कार्यो को करते थे। गाँव का हिसाब-किताब रखने के अतिरिक्त अनेक कार्य करते थे। अनेक ब्राह्मणो ने सेना मे नौकरियाँ की। विल्सन के अनुसार भारतीय क्रान्ति से पूर्व अनेक कनौजिया ब्राह्मण बगाल की सेना मे सिपाही थे।

रसेल ने लिखा है कि अनेक जातियों का एक-सा ही परम्परागत व्यवसाय होता है। सन् 1798 मे कोलब्रूक ने लिखा था—"दैनिक अवलोकन से यह प्रकट होता है कि ब्राह्मण भी शूद्रो की भाँति निम्न कोटि का कार्य करते हैं।" एक ओर पुरोहित का कार्य तथा दूसरी ओर अस्पृश्य जातियो के कार्य को छोड दे तो पाएँगे कि जाति के परम्परागत व्यवसाय होने पर भी अन्य व्यवसायो, जैसे—कृषि, सेना में नौकरी, व्यापार आदि मे सभी जाति के लोग पाए जाते हैं। इसी बात को बेन्स ने निम्न शब्दो में व्यक्त किया है, "व्यवसाय जाति के लिए परम्परागत-सा है, फिर भी वह आवश्यक रूप से किसी भी प्रकार से वही नहीं है जिससे उस समूह के सभी या अधिकांश सदस्य वर्तमान समय मे अपनी जीविकोपार्जन करते हैं।" हालाँकि नेसफील्ड ने जाति का प्रमुख लक्षण व्यवसाय माना था परन्तु अब व्यवसाय सम्बन्धी असमानताओं में परिवर्तन हो रहे हैं।

7. विवाह सम्बन्धी असमानताएँ (Inequalities related to Marriage)—जाति-व्यवस्था की एक प्रमुख असमानता विवाह पर प्रतिबन्ध है। जिसका अर्थ है कि प्रत्येक जाति

के सदस्य अपनी जाति में ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। सिद्धान्ततः जाति या उप-जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित करने पर वर-वधु तथा उनके माता-पिता को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। **वेस्टरमार्क** ने तो अन्तर्विवाह को जाति-व्यवस्था का सार माना है। **घुर्ये** के अनुसार अन्तर्विवाह अर्थात् अपनी ही उपजाति में विवाह करने के इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं और उसका कारण आपने अनुलोम-विवाह-प्रथा का होना बताया है। घुर्ये ने महाराष्ट्र तथा गुजरात के उदाहरण देकर इस विशेषता को समझाया है। आपने बताया कि महाराष्ट्र में कोंकणस्थ ब्राह्मण को कोकणस्थ ब्राह्मण परिवार में जन्मी कन्या से विवाह करना होता है। गुजरात में विवाह का क्षेत्र और भी छोटा होता है। व्यापार करने वाली बनियाँ जाति में माली, पोरवाल, मोड़ आदि की अनेक शाखाएँ होती है, जैसे—दस्सा पोरवाल, बीसा पोरवाल आदि। इनमे भी सूरत के दस्से सूरत वालों मे तथा बम्बई के दस्से बम्बई वालों में ही विवाह करते हैं। जाति की विशेषता यही है कि विवाह अपने निज के समूह में ही होना आवश्यक है। इस नियम का उल्लंघन करने पर समूह से बहिष्कृत कर दिया जाता है। इस नियम में परिवर्तन अन्य विशेषताओं की तुलना में बहुत कम हो पा रहा है।

8. प्रदत्त सदस्यता एवं असमानता (Ascribed Membership and Inequality)—जाति की सदस्यता प्रदत्त होती है अर्थात् जो जिस जाति में जन्म लेता है जीवनपर्यन्त वह उसी जाति का सदस्य बना रहता है। जाति-व्यवस्था मे व्यक्ति अपनी सदस्यता व्यक्तिगत गुणो—शिक्षा, बुद्धिमत्ता, कार्य-कुशलता, व्यवसाय, ईमानदारी, धर्म आदि के द्वारा परिवर्तित नहीं कर सकता है। **हट्टन** ने जाति की इस विशेषता पर आपत्ति उठाई है तथा कुछ जाति की सदस्यता के परिवर्तन के उदाहरण भी प्रस्तुत किए है। लेकिन बाद मे आपने लिखा है कि सामान्य रूप से जाति की सदस्यता को परिवर्तित करना सरल कार्य नहीं है। जाति के नियमो का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को जाति की सदस्यता से बहिष्कृत कर दिया जाता है तथा उसकी समाज मे प्रस्थिति गिर जाती है। आज भी जाति की सदस्यता व्यक्ति के स्तर पर बदलना कठिन है। जाति व्यवस्था मे असमानता का नियन्त्रण, संचालन एवं निर्धारण जन्म के आधार पर जीवन भर के लिए होता है।

असमानता का निराकरण (Eradication of Inequality)—वर्तमान समाज की कल्पना—समानतावादी समाज की स्थापना करना है। किन्तु सामाजिक असमानताएँ सदैव से समाजों की विशेषता रही है। अतः यह प्रश्न सदैव बना रहता है कि क्या सामाजिक असमानता की समाप्ति की जा सकती है? कुछ विद्वानो का मानना है कि आदिकालीन समाजों मे असमानताएँ विद्यमान नहीं थीं। इनकी उत्पत्ति ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया से हुई है और चूँकि असमानताएँ परिस्थितियों मे परिवर्तन आने के परिणामस्वरूप हुई हैं, अतः यदि परिस्थितियो मे परिवर्तन लाया जा सके, तो असमानताओं का निराकरण हो सकता है।

मार्क्सवादियों को भी मान्यता है कि आर्थिक संरचना ही असमानता का मौलिक कारण है, अतः आर्थिक जीवन मे यदि निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाये, तो असमानता का निराकरण किया जा सकता है।

डेहरेन्डार्फ के मत में असमानताओ की उत्पत्ति सामाजिक आदर्शों और अभिमतियों के कारण हुई है अतः यदि सामाजिक आदर्शों व अभिमतियो को समाप्त कर दिया जाये तो

असमानता भी समाप्त हो सकती है। उनके अनुसार, ''जब एक बार आदर्शों की स्थापना हो जाती है, जो लोगों के व्यवहार पर अपरिहार्य अपेक्षाएँ लागू करते हैं, और एक बार जब इन आदर्शों के आधार पर उनके व्यवहार का मूल्यांकन होने लगता है, तब सामाजिक स्थिति का एक सोपानक्रम अनिवार्य रूप से उत्पन्न हो जाता है।''

अर्थात् आदर्श और अभिमतियाँ सामाजिक-जीवन के मूल आधार हैं। बिना इन आदर्शों व अभिमतियो के सामाजिक जीवन की कल्पना भी नही की जा सकती अतः समाज मे से असमानताएँ नहीं हटाई जा सकती, क्योंकि उसके लिए समाज को ही समाप्त करना पड़ेगा। अतः *डेहरेन्डार्फ* के मत मे असमानताओं का निराकरण नही किया जा सकता।

एक और संघर्षवादी विचारक *शूम्पीटर* भी असमानताओ का निराकरण असम्भव मानते हैं। इनके मत मे असमानताओं की उत्पत्ति मनुष्यों की असमान क्षमताओ, योग्यताओ और प्रतिभाओ के कारण होती है, परिवारों का उत्थान-पतन असमानताओं का स्रोत होता है। अत जब व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता समान स्तर की नहीं है, तो सामाजिक असमानताओं की समाप्ति कैसे की जा सकती है?

डेविस व पारसन्स आदि असमानताओ को प्रकार्यात्मक कहते है, जो समाज के लिए अत्यावश्यक है। अतः चूँकि प्रकार्यात्मकता की समाप्ति नही की जा सकती अतः असमानताएँ भी समाज मे विद्यमान रहेगी।

लिण्टन के मत मे सामाजिक जीवन के स्थायित्व के लिए असमानता अनिवार्य है। उपर्युक्त सभी विद्वानो के अनुसार यह कहा जा सकता है कि जब तक समाज का अस्तित्व है असमानता व्याप्त रहेगी क्योंकि सामाजिक व्यवस्था के लिए असमानता का होना आवश्यक है।



118346

अध्याय-3

लिंग असमानता

(Gender Inequality)

समाज की संरचना, संगठन और व्यवस्था मे लिंग की समानता और असमानता का विशेष महत्त्व है। लिग की असमानता पर समाज के संरचनात्मक, सस्थागत और संगठनात्मक ढाँचे का प्रभाव पड़ता है। लिंग की असमानता भी समाज के संतुलन, व्यवस्था और विकास को प्रभावित करती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह अध्ययन करना होगा कि लिंग की असमानता किसे कहते है? इस असमानता के कारण कौन-कौन से हैं? लिंग की असमानता के कारण स्त्री और पुरुष मे से किसका शोषण हो रहा है? असमानता का शिकार कौनसा वर्ग (स्त्री वर्ग या पुरुष वर्ग) है? लिंग के अनुसार समाज की धारणाएँ क्या हैं? भेदभाव के क्षेत्र कौन-कौनसे हैं? लिंग की असमानता को दूर करने के लिए क्या प्रयास और प्रावधान किए गए हैं? संवैधानिक अधिकारो और उनके व्यवहार में कितना अन्तर है? आदि की विवेचना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत है—

लिंग की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Gender)—लिंग और यौन अवधारणाएँ एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसलिए लिग और लिंग भेद को यौन और यौन भेद के सन्दर्भ मे समझना अधिक सरल है। इसी सन्दर्भ में लिंग की परिभाषा और अर्थ की विवेचना प्रस्तुत है।

प्राकृतिक विज्ञानों में विशेष रूप से प्राणी-विज्ञान स्त्री-पुरुष के जैविक लक्षणो का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं। इनका जैविक और पुनर्जनन कार्यो पर ही ध्यान केन्द्रित रहता है। विगत वर्षो मे ऐसे अध्ययनों को योनि-भेद (सेक्स) से सम्बन्धित किया जाने लगा है। सामाजिक विज्ञानो मे विशेष रूप से समाजशास्त्र मे स्त्री-पुरुषो का अध्ययन लिग-भेद (Gender) के आधार पर किया जाता है जिसका तात्पर्य है कि उन्हे सामाजिक अर्थ प्रदान किया जाता है। 'स्त्री' और 'पुरुष' का अध्ययन सामाजिक सम्बन्धो को गहराई से समझने के लिए किया जाता है। योनि-भेद जैविक-सामाजिक (Bio-Social) है और लिगभेद सामाजिक सास्कृतिक (Socio-Cultural) है। योनि-भेद (सेक्स) शीर्षक के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष का नर-मादा के बीच भिन्नताओं का अध्ययन करते है जिसमें जैविक लक्षणो जैसे पुनर्जनन कार्य पद्धति, शुक्राणु-अण्डाणु एवं गर्भाधान क्षमता, शारीरिक बल क्षमता, शरीर-रचना की भिन्नता आदि पर ध्यान किया जाता है। लिंग भेद मे 'स्त्री' और 'पुरुष' का अध्ययन पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री के रूप मे अर्थात् सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से किया जाता है। उनको समाज में 'प्रस्थिति' और 'भूमिकाएँ' क्या

हैं? उनके कर्त्तव्य और अधिकार क्या हैं? का अध्ययन किया जाता है। लिंगभेद (Gender) की अवधारणा का उद्देश्य 'स्त्री' और 'पुरुष' के बीच सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि भिन्नताओं, समानताओ और असमानताओं का वर्णन और व्याख्या करना है।

समाजशास्त्र मे लिंग भेद (सेक्स) शब्द का प्रयोग अन्न ओकेल ने 1972 में अपनी कृति 'सेक्स जेन्डर एण्ड सोसाइटी' में किया था। आपके अनुसार, 'यौन-भेद' (सेक्स) का अर्थ स्त्री और पुरुष का जैवकीय विभाजन से है और 'लिंग-भेद' (Gender) से आपका तात्पर्य स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व के रूप मे समानान्तर एवं सामाजिक रूप में असमान विभाजन से है। लिंग-भेद की अवधारणा के अन्तर्गत स्त्री और पुरुष के बीच में सामाजिक दृष्टिकोण से जो भिन्नताएँ है उनका अध्ययन किया जाता है। लिंग-भेद शब्द का प्रयोग सांस्कृतिक आदर्शों, स्त्रीत्व और पुरुषत्व से सम्बन्धित धारणाओं के लिए किया जाता है। इस अवधारणा का प्रयोग स्त्री और पुरुष के बीच शारीरिक क्षमताओं के आधार पर जो सामाजिक संस्थाओ तथा संगठनों मे श्रम-विभाजन होता है उसके लिए भी किया जाता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि लिंग (Gender) असमानता एक समाजशास्त्रीय महत्त्वपूर्ण अवधारणा है जिसका प्रयोग स्त्री-पुरुषों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षिक तथा अन्य ऐसी ही विशेषताओ और लक्षणों के आधार पर भिन्नताओं के क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन, विश्लेषण और व्याख्या करने के लिए किया जाता है।

लिंग असमानताएँ (Gender Inequality)—1970 तक स्त्री और पुरुषो मे जैवकीय लक्षणो (योनि-भेद) के आधार पर असमानताओ का अध्ययन किया जाता था, लेकिन बाद मे समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में लिंग-भेद के अध्ययनों की ओर वैज्ञानिको का ध्यान गया जिसमे स्त्री और पुरुषो मे सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक यथार्थताओं के आधार पर भिन्नताओ की खोज की जाने लगी। वैज्ञानिकों में इनमें संस्कृति के कारण अनेक भिन्नताएँ और असमानताओं का विश्लेषण किया। समाजशास्त्रियों ने विभिन्न समाजो में ऐतिहासिक और स्थैतिक अध्ययनो के आधार पर लिंग असमानताओ को उजागर किया। विद्वानों ने स्पष्ट किया कि लिग-भेद सभी समाजों मे और सभी कालों में तथा सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान रहा है। लिग-भेद या स्त्री-पुरुषों में असमानताएँ इनकी समाज मे प्रस्थिति और भूमिकाओ के आधार पर देखी जा सकती हैं। इतना ही नहीं प्रस्थिति के महत्त्वपूर्ण सूचकों—काम मे सहभागिता, सामाजीकरण, स्वास्थ्य सुविधाएँ प्राप्त करने की क्षमता, साक्षरता दर, सम्पत्ति मे हिस्सेदारी, आदि के आधार पर पाया गया है कि स्त्रियों की प्रस्थिति सभी क्षेत्रो में खराब है। समाज पुरुष प्रधान है तथा पुरुषो की प्रस्थिति सभी क्षेत्रो मे अच्छी है।

लिंग असमानता के सिद्धान्त (Theories of Gender Inequality)—लिंग असमानता के प्रमुख तीन सिद्धान्त हैं—उदारवादी, मार्क्सवादी एवं उग्र-उन्मूलनवादी (रेडिकल)। उदारवादियो के अनुसार लिंग असमानता का प्रमुख कारण सामाजीकरण में भेदभाव है। बालक और बालिका के सामाजीकरण मे पक्षपात किया जाता है जो आगे चलकर पुरुष को विशेषाधिकार प्रदान करता है और स्त्री को विभिन्न प्रकार के शोषण और

निर्योग्यताओ में ढकेल देता है और पुरुष प्रधान सामाजिक-मूल्यों को सिखाता है। स्त्रियों के प्रति हीन भावना को विकसित कर देता है। सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथाएँ भी नारी शोषण को बढ़ावा देती हैं और लिंग असमानता का पोषण करती हैं। मार्क्सवादियों की मान्यता है कि लिंग असमानता अर्थात् नारी शोषण का प्रमुख कारण पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था एवं पूँजीवाद है। इनका कहना है कि समाज पुरुष प्रधान है। सत्ता पुरुष के पास रहती है। पिता से पुत्र को सत्ता हस्तान्तरित होने के कारण नारी का समाज मे निम्न स्थान है। पूँजीवादी समाज होने के कारण नारी पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। उग्र उन्मूलनवादी सम्प्रदाय समाज में नारी की दयनीय प्रस्थिति का कारण पूँजीवाद, समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था और सामाजीकरण की प्रक्रिया का परिणाम नहीं मानता है। उग्र उन्मूलनवादियों या रेडिकल समाजशास्त्रियों का कहना है कि लिंग असमानता अर्थात् नारी की निम्न स्थिति का कारण अज्ञानता एवं परतन्त्रता है। लिंग असमानता पुरुषों के द्वारा महिलाओं पर नियन्त्रण करने का सोचा-समझा सामूहिक प्रयासों एवं योजनाओं का परिणाम है। पुरुषों ने महिलाओं पर अपनी सत्ता को सामूहिक रूप से थोपा है। पुरुषों ने नारियों पर अनेक प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण लागू करके उनकी प्रस्थिति दयनीय कर दी है।

भारत में लिंग असमानताएँ (Gender Inequalities in India)—समकालीन भारत में विकास योजनाओं के द्वारा अनेक सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं। संविधान के द्वारा अनेक क्षेत्रो में समानताओं के अधिकार दिए गए हैं। चुनाव प्रक्रियाओं ने मतदान के अधिकार के माध्यम से स्त्री-पुरुषो में जन चेतना का विकास किया है। कृषि का आधुनिकीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण, आर्थिक विकास, शिक्षा के प्रचार और प्रसार के व्यापक परिवर्तनो की प्रक्रियाओं को गति प्रदान की है। परन्तु इनसे अनेक असमानताएँ, क्षेत्रीय असंतुलन वर्ग-संघर्ष तथा लिंग असमानताएँ भी बढ़ी है। इन सभी परिवर्तनों ने भारतीय समाज मे लिंग असमानता अर्थात् नारी की प्रस्थिति को दयनीय बनाया है। प्रस्थिति के आधार शिक्षा का स्तर, स्वास्थ्य, व्यवसाय एवं राजनैतिक क्षेत्रो मे अवसरों की सहभागिता सम्पत्ति का हस्तान्तरण एवं अधिकार, विभिन्न संस्थाओं मे प्रतिनिधित्व के अधिकार आदि हैं। समाज मे सभी सदस्यों को समान अधिकार प्राप्त नही होते हैं। अधिकारो की भिन्नता का प्रमुख कारण लिंग असमानता भी है। समाज की सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं, प्रथाओं, रूढ़ियों एवं जनरीतियों के कारण स्त्रियों के विरुद्ध अनेक भेदभाव किए जाते हैं। गर्भ में भ्रूण परीक्षण से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक महिलाओं के प्रति भेदभाव और असमानताओ की क्रूर शृंखला देखी जा सकती है। निम्नलिखित कुछ लिंग असमानताओं के सूचक एवं क्षेत्र हैं जो समकालीन भारत मे नारी वर्ग की बढ़ती हुई असमानताओं के ज्वलत प्रमाण हैं—

(1) लिंग की सामाजिक-सांस्कृतिक असमानताएँ (Socio-Cultural Inequalities of Women Gender)—समाज की संरचना पुरुष और स्त्रियो से मिलकर बनती है। ये परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया करके सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं। समाज की परम्परा के अनुसार प्रत्येक स्त्री-पुरुष की निश्चित प्रस्थिति और भूमिकाएँ होती हैं। ये प्रस्थिति और भूमिकाएँ समाज की परम्परा के अनुसार लिंग-भेद पर आधारित होती हैं तथा असमान होती हैं। इन्हें निम्न क्रमानुसार देखा जा सकता है।

(2) स्थान, सत्ता, वंश तथा लिंग असमानता (Locality, Authority, Lineage and Gender Inequality)—स्थान असमानता से तात्पर्य है कि विवाह के बाद वर या वधु मे से कौन अपना जन्म आवास त्याग कर जीवन साथी के आवास में जाकर रहता है। भारत मे अधिकतर परम्परा यही है कि विवाह के बाद वधु अपने पति के माता-पिता के यहाँ जाकर रहती है। उसे अपने पिता का घर छोडना पडता है। सत्ता का पिता से पुत्र तथा वंश परम्परा पिता से पुत्र की दिशा मे हस्तान्तरित होती है। भारत मे अधिकतर समाज और परिवार इसी परम्परा के हैं चाहे उनकी जाति और धर्म कुछ भी हो। केरल के नायर एवं मेघालय से खासी जनजातियाँ अपवाद हैं जहाँ पर मातृवंश और मातृस्थानीय परम्पराएँ प्रचलित है। भारत के अधिकाश परिवार पुरुष प्रधान है। सभी प्रकार के निर्णय पुरुष लेते हैं। सास, बहु, पत्नी, बहिन और बेटी की परिवार मे निम्न प्रस्थिति होती है।

(3) गृहस्थी के कार्य और लिंग असमानता (House Hold Functions and Gender Inequality)—गृहस्थी या कुटुम्ब के लगभग सभी कार्य जैसे खाना बनाना, बच्चो को पालन, कपडे धोना, घर की साफ-सफाई करना, आदि कार्य स्त्रियाँ करती है। परिवार के सभी कष्टप्रद कार्य दादी, माँ, बेटी, बहू, बहिन आदि अपनी आयु, शारीरिक क्षमता तथा सामर्थ्य के अनुसार करती हैं। गाँवों मे स्त्रियाँ पुरुषों के लिए खेत पर खाना ले जाती है। अर्थशास्त्री इन कार्यों को जिसमे समय और श्रम दोनो लगाने पड़ते हैं उसे 'कार्य' या 'रोजगार मे गणना नहीं करते हैं। आजकल स्त्रियाँ घर के बाहर नौकरी करती हैं तब भी गृहस्थी के कार्यों को उसी कर्तव्यपरायणता के साथ पूर्ण करने की उनसे अपेक्षा की जाती है। भारतीय समाज की यह परम्परागत धारणाएँ है कि कुटुम्ब के सभी कार्यो को सम्पन्न करने का दायित्व गृहणियो का है। कई परिवारो मे तो रात्रि को पत्नी अपने पति के और बहू अपनी सास के पैर, सिर आदि भी दबाती हैं।

(4) भोजन में असमानता (Food Inequality)—अनेक सर्वेक्षणो के निष्कर्ष हैं कि भारतीय परिवारो मे गृहणियो और लडकियो को खाने से सम्बन्धित अनेक प्रकार की असमानताओ को सहन करना पडता है। पुरुष वर्ग भोजन पहिले करता है और स्त्रियाँ एव कन्याएँ बाद मे। बाद मे खाना कम पडने पर स्त्रियो को कम खाने को मिलता है तथा उन्हे उसमे सतोष करना पड़ता है। अधिक पौष्टिक भोजन पुरुष एवं लड़को को परोसा जाता है और महिलाओ एव लडकियो को रूखा-सूखा खाना पडता है। गर्भवती एव स्तनपान करवाने वाली महिलाओ के लिए पौष्टिक भोजन का भी ध्यान नहीं रखा जाता है। इसके परिणामस्वरूप कन्या शिशु मृत्यु दर एवं प्रसव के समय महिला मृत्यु दर की अधिकता है।

(5) भ्रूण हत्या और लिंग असमानता (Foeticide and Gender Inequality)—एम्नियोसेंटिसिस एक प्रक्रिया एव परीक्षण है जिसका दुरुपयोग गर्भस्थ शिशु के लिग को ज्ञात करने के लिए किया जाने लगा है। बम्बई मे 1985 मे एक सर्वेक्षण के समय ज्ञात हुआ कि वहाँ एम्नियोसेंटिसिस के बाद 40,000 मादा-भ्रूणो का गर्भपात करा दिया गया। ऐसा गर्भपात करवाने वाली अधिकतर महिलाएँ महाविद्यालय शिक्षा प्राप्त एवं मध्यम वर्ग की थी। इससे पता चलता है कि एक अजन्मी कन्या एक लड़के की तुलना मे कोई महत्त्व नही रखती है। बालिका भ्रूण हत्या से स्पष्ट हो जाता है कि लडकी का महत्त्व लड़के से कम होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण दहेज भी है। एक अध्ययन के अनुसार

तमिलनाडु के मदुरई जिले की कल्ले जाति समुदाय के निर्धन लोग दहेज के बोझ से बचने के लिए बालिका शिशु हत्या कर देते हैं। गरीब परिवारों के लिए पुत्री एक दीर्घकालीन समस्या है इसलिए गरीब लोगों के लिए कन्या अनचाही सन्तान मानी जाती है। लेकिन मध्यम एवं धनी परिवारों में भी पुत्र जन्म पर खुशी एवं कन्या जन्म पर मातम का सा वातावरण बन जाता है जो लिंग असमानता का प्रमाण है। अगर किसी स्त्री के लगातार कन्याएँ ही पैदा होती हैं तो उसका जीवन नर्कमय हो जाता है। पुत्र प्राप्ति की इच्छा के कारण उसे अनेक कन्याओं को जन्म देना पड़ता है व समाज की प्रताड़ना सहनी पड़ती हैं। समाज में मोक्ष के लिए पुत्र प्राप्ति आज भी विवाह का प्राथमिक उद्देश्य है।

(6) पारम्परिक अपेक्षाएँ एवं लिंग-असमानता (Traditional Expectations and Gender Inequality)—लिंग भेद के आधार पर देखा जाए तो स्त्री और पुरुषों से सम्बन्धित अनेक असमान परम्परागत अपेक्षाएँ एवं सीमाएँ है। कन्या, लड़की और स्त्री से यह अपेक्षा की जाती है कि वे रात देर तक घर के बाहर नहीं रहे। अकेली एकान्त तथा सूनसान स्थान में नहीं जाएँ। आयु में छोटी हो अथवा बड़ी, किन्तु नारी वर्ग से यह अपेक्षा की जाती है कि वे पुरुष वर्ग की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखे। अगर औरत कुछ दिनों के लिए घर-परिवार से चली जाए तो वापिस आने पर उस पर कई दोष लगा दिए जाते हैं। उसे शंकालु दृष्टि से देखा जाता है। अगर किसी निम्न जाति की औरत का बलात्कार हो जाता है तो यही कहा जाता है कि वह देर रात मे सुनसान जगह से क्यों गुजर रही थी? पुरुष स्त्रियों के साथ शारीरिक छेड़छाड़ इसलिए करते हैं कि स्त्रियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे बदला नहीं लेगी। तलाक शुदा स्त्री-पुरुष में सामान्यतया स्त्री को ही दोषी ठहराया जाता है। ऐसी अन्य अनेक पारम्परिक एवं परिस्थितिगत अपेक्षाएँ हैं जो स्त्री वर्ग की दयनीय प्रस्थिति को स्पष्ट करती है और जो लिंग असमानता के प्रमाण भी हैं।

(7) दहेज एवं लिंग-असमानता (Dowry and Gender Inequality)—भारत की अधिकांश जातियों और वर्गों में विवाह के समय वर पक्ष वाले कन्या-पक्ष से दहेज की माँग करते हैं। वर जितना अधिक सुन्दर, कद-काठी से हृष्ट-पुष्ट, उच्च शिक्षा प्राप्त एवं उच्च जाति और वर्ग का होगा उसका दहेज मूल्य भी उतना ही अधिक होगा। इसके विपरीत लड़की के माता-पिता एवं सगे-सम्बन्धियों का प्रमुख उद्देश्य अपनी जाति में उसका विवाह करना होता है चाहे लड़का-लड़की से निम्न प्रस्थिति का ही क्यों न हो।

दहेज के दम पर अच्छा वर उपलब्ध नहीं होने पर लड़की का बेमेल विवाह कर दिया जाता है। लालची वर पक्ष वाले अच्छा-खासा दहेज लेने के बाद भी वधु हत्या में कोई संकोच नहीं करते है। दहेज की पूर्ति नहीं होने पर वधु के दरवाजे से बारातें वापिस लौट जाती हैं और इससे वधु का विवाह नहीं हो पाता है। आज भी विधुर दूसरा, तीसरा या और भी विवाह कर लेते हैं परन्तु विधवा के लिए यह सम्भव नहीं है। दहेज निरोधक कानून तथा विधवा पुनर्विवाह के कानूनी प्रावधानो के उपरान्त भी नारी की स्थिति दयनीय बनी हुई है तथा लिंग असमानता के घटने के स्थान पर वृद्धि ही होती जा रही है।

(8) छोटी आयु में विवाह एवं लिंग असमानता (Marriage at Younger-Age and Gender Inequality)—छोटी आयु मे विवाह का हानिकारक प्रभाव लडके की तुलना में लड़की पर अधिक पड़ता है। छोटी या कम परिपक्व आयु मे गर्भाधान के कारण प्रसव के

समय स्त्रियों की मृत्यु हो जाती है। पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य की देखभाल एवं समय-समय पर डॉक्टरी जाँच के अभाव पहले से ही रहते हैं। ऐसी स्थिति मे महिलाओं का छोटी उम्र में विवाह एक पाप-पूर्ण अभिशाप सिद्ध हो जाता है। सामान्यतया पति की आयु पत्नी से एक दो वर्ष से लेकर 15 वर्ष तक अधिक देखी गई है। ऐसे में स्त्री को विधवा का जीवन तो जीना ही पड़ता है।

(9) सामाजीकरण और लिंग असमानता (Socialization and Gender Inequality)—सभी समाजों मे सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा उन भूमिकाओं एवं कर्त्तव्यों को पाला-पोसा जाता है जिसकी वयस्क होने पर सम्बन्धित समाज उससे आशा और अपेक्षा करता है। व्यक्ति की अपेक्षित भूमिकाएँ और कर्त्तव्य लिंग, जाति, वर्ग, परिवार आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। सामाजीकरण की प्रक्रिया में यौन (सेक्स) भेद तो मात्र स्त्री-पुरुष के शारीरिक अन्तर को स्पष्ट करता है लेकिन इससे कही अधिक महत्त्वपूर्ण लिंग (Gender) है जो यौन-भेद से सम्बन्धित अनेक असमानताओ को स्पष्ट करता है। परिवार और समाज लिंग-भेद एवं इससे सम्बन्धित अनेक विशेषताओं के कारण पुत्र जन्म का स्वागत करता है और कन्या जन्म को अभिशाप मानता है। कई उदाहरण तो ऐसे हैं जिसमें कन्या जन्म से पहले ही उसकी भ्रूण हत्या कर दी जाती है। उसे संसार में आने ही नहीं दिया जाता है। ये योन-भेद पर आधारित लिंग-असमानता का कारण लिंग से सम्बन्धित सामाजिक-सास्कृतिक परम्पराओ, मूल्यों, धारणाओ आदि मे सब पुरुष प्रधान एवं कन्या अप्रधान मूल्य एव धारणाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सामाजीकरण के द्वारा हस्तान्तरित एव प्रसारित होते रहते हैं। पुरुष और स्त्री का योनि भेद या शारीरिक अन्तर जन्मजात है। लेकिन लिंग-असमानता सामाजीकरण के द्वारा सिखाया गया तथ्य है। ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा एवं इसी प्रकार की अन्य क्षमताओ और आदतों का परिणाम है। शिकारी अवस्था वाले समाज में पुरुष वर्ग शिकार करता है। शिकार के लिए हथियार और औजार बनाते हैं। महिलाएँ बच्चों की देखभाल करती हैं तथा शिकारी गतिविधियो मे प्रायः निष्क्रिय रहती हैं।

सामाजीकरण की प्रक्रिया लगभग सभी समाजों में स्त्रियों और पुरुषों के मध्य अन्तर विकसित करती है जिसे पुरुषोचित (मर्दाना) और स्त्रियोचित (जनाना) भूमिकाओ के रूप मे देखा जा सकता है। सामाजीकरण के द्वारा स्त्रियों में आज्ञाकारिता, विनम्रता, पराश्रितता और दुर्बलता शील-संकोच जैस लक्षणो को सशक्त बना दिया जाता है। इसके विपरीत पुरुषों में बहादुरी, साहस, निर्भयता, स्वावलम्बन, शक्तिशाली, कठोरता, आदेश देने वाला बना दिया जाता है। समाजीकरण के द्वारा स्त्री-पुरुष को श्रम-विभाजन सम्बन्धी जानकारी भी दी जाती है। घर से बाहर के कार्य, सार्वजनिक कार्य उत्पादन सम्बन्धी गतिविधियाँ—चौकीदारी, पुलिस, शिकार, युद्ध, सीमा-सुरक्षा आदि जैसे कार्य पुरुषो को सिखाए जाते है और घर के कार्य—बच्चो का पालन-पोषण, खाना बनाना, वृद्धों की सेवा करना, बीमार की देखभाल करना जैसे कार्य स्त्रियो को सिखाए जाते हैं। माता-पिता, भाई-बहिन के आदेशो का पालन करने की शिक्षा दी जाती है।

(10) शिक्षा और लिंग असमानता (Education and Gender Inequality)—लड़को की शिक्षा पर अधिक ध्यान और अधिक खर्च किया जाता है और लड़की पर कम।

कन्याओं को अनेक परिवारों में कठिन श्रम साध्य विषय जैसे गणित, विज्ञान, इंजीनियरिंग, डॉक्टरी आदि लेने के लिए निरुत्साहित एवं मना किया जाता है। इसके विपरीत लड़कों को ऐसे विषय लेने के लिए उत्साहित किया जाता है चाहे वो अपनी बहिनों से पढ़ने में कमजोर ही क्यो न हो। लड़कों पर शिक्षा खर्च अधिक किया जाता है तथा लड़की पर कम। लड़की के लिए यह कहा जाता है कि विवाह के बाद उसे घर गृहस्थी की देखभाल करनी है। वह ज्यादा पढ़-लिख कर क्या करेगी। इन उपरोक्त वर्णित लिंग भेदभाव पूर्ण मूल्यों एवं परम्पराओं को दादा-दादी, नाना-नानी, माता-पिता, भाई, मित्र, शिक्षक, पड़ोसी आदि सभी नई पीढ़ी को सिखाते हैं। यह सीखने-सिखाने की प्रक्रिया निरन्तर चल रही है जिससे लिंग-असमानता में लगातार वृद्धि हो रही है।

(11) संचार माध्यम और लिंग-असमानता (Communication Media and Gender Inequality)—आजकल सामाजीकरण के प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण साधन आधुनिक संचार माध्यम जैसे दूरदर्शन, आकाशवाणी, चलचित्र, टेपरिकार्डर, वीडियो फिल्म, समाचार पत्र-पत्रिकाएँ, पुस्तके हो गए हैं। इनमें भी सर्वदा औरतों को घर पर काम करते दिखाया, बताया एवं वर्णित किया जाता है। निम्न वर्ग की महिलाओ को सदैव ही कार्य करते दिखाया जाता है। विज्ञापनों में स्त्रियों के गंदे दृश्य दिखाए जाते हैं। इससे पुरुष वर्ग पर महिलाओं का सम्मान घट जाता है। ये संचार माध्यम भी लिंग असमानता को बढ़ावा देकर महिलाओ की छवि को विकृत कर रहे हैं।

(12) आर्थिक क्षेत्र में लिंग असमानता (Gender Inequality in the Economic Field)—भारत की श्रम शक्ति में स्त्रियों का प्रमुख हिस्सा है। परन्तु रोजगार के स्तर और गुणवत्ता के दृष्टिकोण से ये पुरुषों से पीछे हैं। वर्तमान में देश मे महिला श्रमिकों की संख्या 22.73 प्रतिशत है। महिलाओं की कुल संख्या 40 करोड़ 70 लाख में से 9 करोड़ महिला श्रमिक है। इनमें से भी अधिकांश श्रमिक महिलाएँ ग्रामीण क्षेत्रो में हैं। ग्रामीण क्षेत्रों की महिला श्रमिकों में 87 प्रतिशत खेतीहर मजदूर हैं। शहरी क्षेत्रों में 80 प्रतिशत श्रमिक महिलाएँ घरेलू उद्योगों, छोटे-मोटे व्यवसायों और नौकरी तथा भवन निर्माण जैसे असंगठित क्षेत्रों में कार्य कर रही हैं। संगठित क्षेत्र (निजी और सार्वजनिक दोनों मे) 31 मार्च, 1999 को महिला श्रमिकों की संख्या लगभग 48 लाख 26 हजार थी। यह देश मे संगठित क्षेत्र में कल रोजगार का 16 8 प्रतिशत है। फैक्ट्री, खान और वृक्षारोपण प्रतिष्ठानो में कुल संख्या का क्रमशः 12 प्रतिशत, 6 प्रतिशत और 51 प्रतिशत महिलाएँ हैं। इन उपर्युक्त वर्णित आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषों की तुलना में महिलाओं की स्थिति कितनी भिन्न है? प्रमुख उद्योगों में महिला कर्मचारियों की संख्या के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अधिकांश महिलाएँ सामुदायिक, सामाजिक और निजी सेवा क्षेत्र मे कार्यरत हैं। बिजली, गैस और पानी जैसे क्षेत्रों मे सबसे कम संख्या में महिलाओं को रोजगार मिला है।

इलेक्ट्रॉनिको का सामान बनाने वाली छोटी-छोटी इकाइयों, बीड़ी तम्बाकू, काँच की फैक्ट्रियों, घरेलू नौकरी, सिले कपड़ों में निर्यात उद्योग मे महिलाएँ प्रमुखतः कार्यरत मिलती हैं। इन क्षेत्रों मे महिलाएँ सर्वदा छँटनी के डर के दबाव में काम करती हैं और उनका अक्सर लैंगिक शोषण भी किया जाता है। इन क्षेत्रों में महिलाओं को अपर्याप्त मजदूरी मिलती है।

स्त्रियाँ एक बार नौकरी मिल जाने पर अपना सम्बन्ध नौकरी के साथ कैसे जोड़ती हैं, यह उनके प्राथमिक सामाजीकरण पर निर्भर करता है। वे अच्छी नौकरी की तलाश नहीं करती हैं। अपनी योग्यता बढ़ाने का भी प्रयास नहीं करती हैं। उनका पदोन्नति के प्रति भी विशेष रुझान नहीं होता है। महिलाएँ पुरुषों की तुलना में अपनी योग्यताओं, विशेषताओं आवश्यक सेवा के अधीन परीक्षाओं को पास करने के सम्बन्ध में अपने को असुरक्षित समझती हैं। अधिकांश महिलाएँ पदोन्नति के लिए इसलिए आवेदन नहीं देती कि उससे कार्यालय में अधिक समय तक रुकना पड़ेगा और हो सकता है, दूसरे शहर में स्थानान्तरण हो जाए।

ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाएँ अपने पति और पुरुषों को अन्नदाता मानती हैं। जिन स्त्रियों के पुरुष रोजगार नहीं करते हैं और स्त्री स्वयं रोजगार करती है ऐसी स्थिति में भी परम्पराओं के प्रभाव के कारण पति को सर्वस्व मानती हैं। परिवार के सम्बन्ध में प्रमुख निर्णय पुरुष लेते हैं, महिला की उसमें कोई भूमिका नहीं होती है।

नगरों में पुरुष वर्ग के पास कार्य के बहुत से विकल्प, जैसे—मिस्त्री, बावर्ची या ड्राइवर जैसे कार्य मिल जाते हैं लेकिन स्त्रियों को घरेलू नौकर के रूप में ही कार्य मिल पाता है। अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि पुरुष वर्ग अपने पारम्परिक व्यवसाय से हटकर अन्य कार्य प्राप्त करने के लिए अति गतिशील हैं।

पतियों के उज्ज्वल भविष्य के लिए पत्नियाँ सहयोग करती हैं। इसके विपरीत पुरुष वर्ग अपनी जाति विशेष के संदर्भ में स्त्रियों को परम्परा से हटकर अन्य व्यवसाय नहीं करने देता। अधिकांश लड़कियाँ 8-10 साल की आयु से ही अपनी माँ के साथ कार्य पर जाने लग जाती हैं। घर की सफाई व खाना पकाने का कार्य भी करने लग जाती हैं। लड़कियों का घर के बाहर खेलने के लिए नहीं जाने दिया जाता है। लड़के घर के काम-काज में हाथ नहीं बटाते, घर के बाहर खेलकूद कर अपना समय बिता देते हैं।

पुरुष की तुलना में स्त्रियों के पास व्यावसायिक विकल्प कम होते हैं। स्त्रियों में व्यावसायिक गतिशीलता सीमित होती है। जब एक भी प्रकार का कार्य स्त्री व पुरुष दोनों करते हैं तो स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में अधिक श्रम साध्य और समय साध्य कार्य करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त समान कार्य के बदले में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को कम वेतन मिलता है। स्त्रियों को सदा जमींदार व ठेकेदार द्वारा शोषण एवं शारीरिक दुर्व्यवहार किए जाने का ही डर बना रहता है।

(13) महिलाएँ और उत्पादन (Women and Production)—आधुनिक अर्थशास्त्री देश के कुल उत्पादन का आकलन करते समय उन सेवाओं को भी ध्यान में रखते हैं जिनका वस्तुओं के उत्पादन के साथ सीधा सम्बन्ध तो नहीं है लेकिन परोक्ष रूप में उनका उत्पादन की प्रक्रिया में योगदान अवश्य है। इस प्रकार से सेवाएँ भी वस्तुओं की भाँति उत्पादन मानी जाती हैं और समाज उन्हें मूल्यवान मानता है। वर्ष के कुल उत्पादन की गणना में सेवाओं को उत्पादन में सम्मिलित किया जाता है जैसे श्रमिकों का श्रम या सेवा। बौद्धिक कार्यकलाप, अनुसंधान, शिक्षण, राजनैतिक [illegible]तियाँ आदि। इसी प्रकार से पेशेवर और

प्रदर्शन-कलाकारों की सेवाएँ परोक्ष रूप में श्रमिकों के कल्याण और उनकी उत्पादिता की वृद्धि करने मे योगदान देती हैं जिसे उत्पादन मात्र गिना जाता है। अर्थशास्त्री वर्ष के कुल उत्पादन की गणना में गृहिणी की सेवाओं की उपेक्षा कर देते है। गृहिणी अनेक घरेलू कार्य करती है, जैसे बच्चो को पालना, कपड़े धोना-सुखाना, खाना बनाना, परिवार के वयोवृद्ध और बीमार सदस्यों की देखभाल करना, गृहस्थी का संचालन करना आदि। ग्रामों में तो महिलाएँ अपने पतियों के साथ खेती के काम में यथासम्भव सहायता भी करती हैं। लेकिन अर्थशास्त्री इन गृहिणियों को आश्रितों के रूप मे मानते हैं। राष्ट्र की वार्षिक आय के उत्पादन के कुल मूल्य की गणना करते समय सांख्यिकीवेत्ता एवं अर्थशास्त्री उनकी सेवाओं को सम्मिलित नहीं करते हैं। क्योंकि महिलाओं को ऐसी सेवाओं के बदले में पैसे से भुगतान नहीं किया जाता है।

नारीवादियों का कहना है कि वर्ष के कुल उत्पादन के आकलन करने की कार्य पद्धति में महिलाओं की इस प्रकार की सेवाओ के योगदान की उपेक्षा की जाती है जो गलत एवं पक्षपातपूर्ण है। इन नारीवादियों ने उदाहरण दिया कि सांख्यिकीवेत्ता उस अनाज की मात्रा को तो आकलन में सम्मिलित कर लेते हैं जो 'पुरुष किसान' स्वयं अपने परिवार के उपभोग के लिए पैदा करता है लेकिन महिला की सेवाओं की उपेक्षा करता है। गृहिणियों की सेवाओ की उपेक्षा करना पुरुष प्रधान समाज के पूर्वाग्रह एवं नारी के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त प्रमाण है।

वास्तविकता तो यह है कि गृहिणियों के द्वारा सम्पन्न किए गए घरेलू कार्य मूल्यवान ही नहीं हैं बल्कि इनका राष्ट्र की वार्षिक आय में महत्त्वपूर्ण योगदान भी है। इतना ही नहीं गृहिणियाँ गृहस्थी के उपर्युक्त वर्णित कार्यों का प्रबन्ध पूर्ण निष्ठा, कर्त्तव्य परायणता, स्नेह और अपनेपन के साथ करती हैं कि जिससे पति एवं पुरुष वर्ग पारिवारिक चिन्ताओं से पूर्ण मुक्त होकर अपने-अपने व्यावसायिक कार्य क्षेत्रों, जैसे—खेत, फैक्ट्री, कार्यालय, व्यापार व वाणिज्य आदि में कार्य करते हैं और इस प्रकार से परोक्ष रूप में महिलाएँ राष्ट्र के उत्पादन में अमूल्य योगदान करती हैं। लेकिन विडम्बना ये है कि पुरुष प्रधान समाज के मूल्य गृहिणियो की सेवाओं को उत्पादन नहीं मानकर असमानता को बढ़ावा देते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राणिशास्त्रीय यौन-भेद के लक्षणो पर आधारित लिंग-असमानता सुखी समाज के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण अध्ययन का विषय है। लिंग असमानता, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, आर्थिक एवं राजनैतिक कारकों से नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित होती है जिसमें पुरुष प्रधान होते हैं और स्त्रियाँ अप्रधान एवं पराश्रित होती हैं। सामाजीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप सभी क्षेत्रों में पुरुष प्रधान सम्बन्धी मूल्यों का हस्तान्तरण होता है और स्त्री को सभी क्षेत्रों में दयनीय स्थिति निर्धारित होती है। सुझाव रूप में यह कहा जा सकता है कि लिंग समानता लाने के लिए सामाजीकरण की प्रक्रिया को परिवर्तित करना होगा। सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रो में शिक्षा के प्रचार-प्रसार द्वारा स्त्री-पुरुष की समानता स्थापित करने के लिए भागीरथ प्रयास करने होगे।

❑

अध्याय-4

धार्मिक असामंजस्यता

(Religious Disharmony)

भारतीय समाज धर्म प्रधान समाज कहलाता है। धर्म ने सदैव ही व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। भारत की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था ही धर्म पर आधारित है। यहाँ पर अनेकानेक धर्मों का उद्‌भव, प्रसार और प्रचार रहा है जिन्होने समाज के प्रत्येक क्षेत्र—दर्शन, साहित्य, कला, प्रशासन एवं राजनीति आदि को प्रभावित किया है। भारत मे प्रमुख धर्मावलम्बी हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, जैन, फारसी आदि निवास करते है। इन विभिन्न धर्मावलम्बियो की अनेक इच्छाएँ और आवश्यकताएँ होती हैं जिनके पूर्ण नहीं होने पर ये लोग स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर असामजस्य की स्थिति पैदा कर देते है। राष्ट्रीय सामजस्य और एकीकरण मे इन धर्मावलम्बियो के कारण अनेक प्रकार की असामंजस्यताओं की स्थिति पैदा हो जाती है। इन विभिन्न धर्मों के उद्देश्य, आवश्यकताएँ आपस मे एक-दूसरे से टकराते हैं। धर्म सम्बन्धी समस्याओं के निवारण के लिए धर्म की परिभाषा, विशेषताएँ, धर्मावलम्बियों के परस्पर सम्बन्ध आदि का अध्ययन करना आवश्यक है जिसके ज्ञान की सहायता से धार्मिक असामंजस्यता को दूर किया जा सकता है। पिछली कुछ शताब्दियो से तो धार्मिक असामंजस्यता और संघर्ष विशेष रूप से हिन्दू और मुसलमानों के बीच रहा है लेकिन पिछले कुछ दशकों से इनके अतिरिक्त हिन्दू-सिक्ख, हिन्दू-ईसाई, नृजाति समूहो, अल्प समुदायों मे धार्मिक भेद, कलह तथा विवाद काफी पनपे हैं। इन विभिन्न धर्मावलम्बियो में पारस्परिक घृणा, तनाव, झगड़े, मारपीट आदि होते रहते है जिससे स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर तनाव की स्थिति पैदा होती रहती है। इसलिए धार्मिक सामंजस्य स्थापित करने के लिए धर्म का अर्थ और परिभाषा धार्मिक असामंजस्यता की विशेषताएँ, धार्मिक संघर्ष के कारण, धार्मिक असामंजस्यता के दुष्परिणाम, असामंजस्यता निवारण के सुझाव आदि का अध्ययन आवश्यक है, जो निम्नलिखित हैं—

धर्म का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Religion)

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत भाषा के 'धृ' शब्द से मानी गई है, जिसका अर्थ है—'धारण करना'। "धारणाद् धर्ममित्याहुः" अर्थात् 'धारण करने वाले तत्त्व को धर्म कहा गया है।' वेदो में 'धर्म' शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है। सात्विक गुणों को धारण करना धर्म है अर्थात् सभी जीवो के प्रति मन में दया धारण करना ही धर्म है।

मजूमदार और मदन ने धर्म की परिभाषा के सम्बन्ध में लिखा है, "व्युत्पत्ति विषयक दृष्टिकोण, जैसाकि बुके ने स्पष्ट किया है, Religion (धर्म) शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द relligio (रेलिजिओ) से हुई है। स्वयं जिसकी उत्पत्ति या तो मूल Leg- से हुई है, जिसका अर्थ 'to gather, count or observe' 'साथ-साथ मानना या पालन करना' है, या मूल शब्द Lig- (लिग), जिसका अर्थ है 'to bind' सहबंध है।"

'धर्म' शब्द का प्रयोग वेद, उपनिषद् एवं धर्म-ग्रन्थो आदि में प्रचुरता से किया गया है। वेदो मे ऋत के अर्थ में धर्म का प्रयोग हुआ है। 'ऋत' ऐसा अमूर्त सिद्धान्त है जो सभी लोको में समुचित व्यवस्था बनाए रखता है। 'ऋत' को सामान्यत: 'सत्य' माना जा सकता है। धर्म की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

एडवर्ड टायलर के मत में, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है।"

जेम्स फ्रेजर ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है, "धर्म को मै मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे मानव जीवन को मार्ग दिखाती और नियन्त्रित करती हैं।"

हॉनिगशीम के अनुसार, "प्रत्येक उस मनोवृत्ति को धर्म कहेगे जो इस विश्वास पर आधारित है कि अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व है तथा उनसे सम्बन्ध स्थापित करना न केवल महत्त्वपूर्ण है, वरन् सम्भव भी है।"

मैलिनोव्स्की के मत में, "धर्म क्रिया का एक तरीका है, और साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी, और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"

जॉनसन के अनुसार, "धर्म कम या अधिक मात्रा में अलौकिक शक्तियों, तत्त्वों तथा आत्मा से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणो की एक संगठित व्यवस्था है।"

हॉबल के अनुसार, "धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है जिसमें आत्मावाद और मानावाद दोनों सम्मिलित हैं।"

राधाकृष्णन ने लिखा है, "जिन सिद्धान्तों का हमे अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करना है, वे उस वस्तु द्वारा नियत किए गए हैं जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन मे मूर्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है।"

पी वी काणे ने लिखा है, "धर्मशास्त्रों के लेखको ने *धर्म* का *अर्थ* एक मत या विश्वास नहीं माना है, अपितु उसे जीवन के एक ऐसे तरीके या आचरण की एक ऐसी संहिता माना है, जो व्यक्ति के समाज के रूप में और व्यक्ति के रूप मे कार्य एवं क्रियाओं को नियमित करता है और जो व्यक्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से किया गया है और जो उसे मानव अस्तित्व के उद्देश्य तक पहुँचाने मे सहायता करता है।"

स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है, "धर्म वह है जो मानव को इस संसार और परलोक में आनन्द की खोज के लिए प्रेरित करे। धर्म कार्य पर प्रस्थापित है। धर्म मानव को रात-दिन इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कराता है।"

इस प्रकार धर्म की व्याख्या अनेक विद्वानों द्वारा वर्णित है जिनके आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि धर्म मानव के कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है, उसे सत्य की ओर उन्मुख

करके उसे उचित–अनुचित का बोध कराता है जिससे वह अपने परिवार, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों की पूर्ति कर सके। धर्म सामाजिक जीवन का आधार है, शाश्वत् सत्य है, और उसका उद्देश्य व्यक्ति के श्रेष्ठ विकास में सहयोग देना है, उसमें उन मानवीय गुणों को जागृत करना है जिससे वह अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के सफल समायोजन मे योग दे सके। अन्ततः कहा जा सकता है, "एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।" अर्थात् एक धर्म ही परम कल्याणकारक, एक क्षमा ही शान्ति का श्रेष्ठ उपाय है। लेकिन जब एक ही समाज में एक से अधिक धर्मावलम्बी रहते हैं तो सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि असामंजस्यताएँ पैदा होती हैं जिनका अध्ययन करना आवश्यक है।

भारतवर्ष के प्रमुख धर्म—(1) हिन्दू धर्म, (2) जैन धर्म, (3) बौद्ध धर्म, (4) इस्लाम धर्म, (5) ईसाई धर्म, (6) सिक्ख धर्म एवं (7) पारसी धर्म आदि हैं। सन् 2000 की जनगणनानुसार भारत में इन धर्मावलम्बियों की जनसंख्या एवं कुल जनसंख्या का प्रतिशत निम्न तालिका द्वारा प्रदर्शित है—

धर्म के अनुसार जनसंख्या

क्रम संख्या	धर्म का नाम	कुल जनसंख्या (दस लाख में)	कुल जनसंख्या का प्रतिशत
1	हिन्दू धर्म	672.6	82.41
2	इस्लाम धर्म	95 2	11 67
3	ईसाई धर्म	18 9	2.32
4	सिक्ख धर्म	16 3	1.99
5	बौद्ध धर्म	6 03	0 77
6	जैन धर्म	3 4	0 4
7	पारसी धर्म एवं अन्य	3.5	0.43

धार्मिक असामंजस्यता
(Religious Disharmony)

आर. के मर्टन (R K Merton) ने अपनी कृति 'सोशियल थ्योरी एण्ड सोशियल स्ट्रक्चर' में लिखा है कि पूर्व के अनेक समाजशास्त्रियो और सामाजिक मानवशास्त्रियो—दुर्खीम, रेडक्लिफ ब्राउन, मेलिनोव्स्की, किंग्स्ले डेविस आदि की मान्यता थी कि धर्म समाज मे सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करता है। समाज मे एकता स्थापित करता है। समाज को संगठित रखता है। अर्थात् धर्म समाज मे सामंजस्य स्थापित करता है तथा उसे नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करता है लेकिन मर्टन प्रथम समाजशास्त्री है जिन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट किया कि जब तक समाज मे एक से अधिक धर्मावलम्बी साथ-साथ रहते हैं तो उनमें साम्प्रदायिक झगड़े पैदा होते हैं। धर्म उनमे संघर्ष करवाता है अर्थात् बहुधर्मीय समाज में धर्म असामजस्य की स्थिति पैदा करता है। समाज की एकता को भंग करता है आदि ....।

भारतीय समाज विभिन्न धर्मावलम्बियों का देश है इसलिए स्वाभाविक है कि यहाँ पर धार्मिक झगड़े, संघर्ष और अनेक प्रकार की असामंजस्यताएँ पैदा होंगी। पिछली कुछ शताब्दियों से हिन्दू और इस्लाम धर्मावलम्बियों के बीच निरन्तर सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक संघर्ष होते रहे है जिससे स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर असामंजस्यता बनी हुई है। पिछले कुछ दशको से अन्य धर्मावलम्बियो हिन्दू, सिक्ख, ईसाई तथा नृजातीय समूहो के धर्मों के मध्य कलह, विवाद, अलगाव, घृणा, संघर्ष, तनाव, झगड़े, मार-पीट, आगजनी के कारण असामंजस्यता देखी जा सकती है। भारत की राष्ट्रीय सामंजस्यता एवं एकीकरण की स्थिरता एवं निरन्तरता के लिए आवश्यक है कि धार्मिक असामंजस्यता के कारणों, हानियों एवं निवारण के उपायों का अध्ययन किया जाये जो निम्नलिखित है—

धार्मिक असामंजस्यता की विशेषतायें (Characteristics of Religious Disharmony)—धार्मिक असामंजस्य की उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर इसकी निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

1. धार्मिक समूहों से सम्बन्धित (Related to Religious Groups)—धार्मिक असामंजस्यता धार्मिक संगठन, समूह अथवा सम्प्रदाय से सम्बन्धित होता है। एक धर्म के व्यक्ति अपने को एक धार्मिक संगठन का सदस्य मानते हैं। अगर धर्म मे छोटे-छोटे विभिन्न मत के गुट हैं तो व्यक्ति अपने को और अधिक सकीर्ण स्थिति मे पाता है तथा धर्म की एक शाखा-विशेष तक अपने को सीमित कर लेता है, जैसे—हिन्दुओ मे वैष्णव, शैव आदि, तथा इस्लाम मे शिया और सुन्नी।

2. श्रेष्ठता की भावना (Feeling of superiority)—एक धर्म के सदस्यों मे अपने धर्म के प्रति श्रेष्ठता की भावना बहुत प्रबल होती है तथा दूसरे धर्म के प्रति उनमें घृणा की भावना होती है। वे अपने धर्म, देवी-देवता, मूल्य-आदर्श, रीति-रिवाज आदि को श्रेष्ठ मानते हैं। ये भावनाएँ धार्मिक असामंजस्य को बढ़ावा देते हैं।

3. उपेक्षा की भावना (Feeling of Indifference)—धार्मिक असामंजस्य का आभास तभी होता है जब यह देखा तथा पाया जाता है कि एक धर्म वाले दूसरे धर्म के संस्कार, मूल्य, आदर्श, देवी-देवता, वेश-भूषा, जीवन के तरीके अर्थात् संस्कृति तथा धार्मिक विशेषताओं को उपेक्षा, तिरस्कार, घृणा के भाव से देखते हैं। धार्मिक असामंजस्य का यही मूल कारण भी है।

4. अलगाव की भावना (Felling of Alination)—धर्मावलम्बियो में अलगाव की भावना बहुत तीव्र होती है। एक धार्मिक समूह दूसरे धार्मिक समूहो से अलग-थलग तथा दूर रहना पसन्द करते हैं। उनमें परस्पर प्रेम, स्नेह, सहयोग एवं सामंजस्य के स्थान पर सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक अलगाव एवं असामंजस्य मिलता है।

5. क्षति का डर (Fear of Loss)—एक धर्म के लोग निरन्तर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरे धर्म के लोगों से डरते रहते हैं कि कहीं वे लोग उन्हे क्षति नहीं पहुँचा दें। ये लोग एक-दूसरे से हमेशा डरते रहते हैं कि कोई उनकी सम्पत्ति, मकान, दुकान, मोहल्ला, धार्मिक स्थल को नष्ट नहीं करदें।

6. घृणा की भावना (Feeling of Hate)—साम्प्रदायिकता की उग्र भावना के कारण एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगो से घृणा करते हैं।

7. अनुकूलनता का अभाव (Lack of Adaptation)—विभिन्न धर्मों के लोगों मे परस्पर समझौता या अनुकूलन करने का अभाव होता है।

8. धार्मिक कट्टरता (Religious Dogmatism)—एक धर्म के लोग अपने धर्म, कर्म और आचार-विचार के प्रति कट्टर निष्ठा रखते हैं।

धर्म की उपर्युक्त परिभाषाओं तथा विशेषताओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म एक धार्मिक समूह ऐसा तथ्य है जिसमे अनेक सकीर्णताएँ होती हैं, अपने धर्म के प्रति कट्टर निष्ठा तथा भक्ति-भाव होता है तथा दूसरे धर्मों के प्रति घृणा, अलगाव, क्षति का डर, उपेक्षा आदि की भावना होती है जिसके कारण विभिन्न धर्मावलम्बियों में परस्पर तनाव, सघर्ष, झगडे आदि होते हैं, जो समाज मे असामंजस्य पैदा करते हैं।

धार्मिक असामंजस्यता के कारण
(Causes of Religious Disharmony)

धर्म साम्प्रदायिकता को जन्म देता है जो सकीर्णताओ का योग है तथा स्वार्थ-पूर्ति उसका उद्देश्य है। अन्य देशो की तुलना मे भारतवर्ष मे आजकल धार्मिक असामंजस्यता एक जटिल तथा असन्तोषजनक समस्या बनी हुई है जिसने देश की एकता को खतरे मे डाल दिया है। इस समस्या के अनेक कारण हैं जो ऐतिहासिक तथा समकालीन दोनों हैं। इसके प्रमुख उल्लेखनीय कारण निम्नांकित हैं—

1. ऐतिहासिक कारण (Historical Causes)—भारत का इतिहास उठाकर देखे तो पायेगे कि प्राचीन काल मे अनेक आक्रमणकारी, जैसे —शक, हूण, कुषाण, मुगल, पठान आदि भारत मे आते रहे तथा सघर्ष होता रहा। जब मुसलमान भारत में आये तो संघर्ष की स्थिति ज्यादा तनावपूर्ण हो गई। कुछ कट्टर धार्मिक मुसलमान शासको ने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। अंग्रेजो ने '**फूट डालो और राज करो**' नीति के अन्तर्गत हिन्दू-मुसलमानो में साम्प्रदायिकता को उकसाया जिससे धार्मिक असामंजस्यता मे वृद्धि हुई। उनके कारण हिन्दू-मुसलमान हमेशा लड़ते रहे। इसी धार्मिक असामंजस्यता के परिणामस्वरूप सन् 1947 में हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान बने, जो धार्मिक असामजस्यता की पराकाष्ठा है।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. **राजेन्द्रप्रसाद** का कहना है, "जिस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों के विरुद्ध खडे किये गये उसी प्रकार मुसलमान भी हिन्दुओ के विरुद्ध समान रूप से खडे किये गए। उद्देश्य था एक की सहायता से दूसरे को पराजित कर पहले के साथ भी वही व्यवहार करना।" इस प्रकार की नीतियो से हमेशा देश मे धार्मिक असामजस्य को बढावा मिलता रहा है।

पहले धार्मिक असामंजस्यता हिन्दू-मुसलमानों के बीच थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद यह शिया-सुन्नियो, हिन्दू-जैन, अकाली-निरकारी सिक्खो आदि मे भी फैल गई। सन् 1978-79 मे अलीगढ तथा जमशेदपुर मे धार्मिक दगे हुए थे।

2. मनोवैज्ञानिक कारण (Psychological Causes)—भारत में मुसलमान अल्पसंख्यक हैं तथा हिन्दू बहुसंख्यक हैं। मुसलमानो के मन मे बैठ गया है कि हिन्दू हमारा आर्थिक शोषण करते हैं। विकास के उचित अवसर नहीं देते हैं। उन्हें डर रहता है कि हिन्दू लोग कभी भी हमें मार सकते हैं, बरबाद कर सकते हैं। उनमें एक-दूसरे के प्रति घृणा, द्वेष,

विरोध, हीन भावना, प्रतिकार भर गया है। ये सब मनोवैज्ञानिक लक्षण धार्मिक असामंजस्यता के कारण हैं। हिन्दू आज भी मुसलमानों की राष्ट्रीय निष्ठा के प्रति शंका रखते हैं जबकि अनेक मुसलमानों ने पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध में अपनी जान न्यौछावर करदी थी। असामंजस्यता का यह प्रमुख कारण है जो व्यक्ति के स्तर पर कार्य करता है।

3. धार्मिक कट्टरता (Religious Dogmatism)—असामंजस्यता को नियन्त्रित तथा संचालित एक प्रकार से तो धार्मिक कारण ही करते हैं। धार्मिक असामंजस्यता की उत्पत्ति और विकास का कारण भी धार्मिकता ही रहा है। सभी धर्मों के मठाधीश अपने धर्म को सर्वोपरि, श्रेष्ठ तथा अच्छा मानते हैं तथा दूसरे धर्मो को हीन भावना से देखते है। धर्म के पालक, प्रतिनिधि, प्रचारक तथा अनुयायी दूसरे धर्मो की आलोचना करते हैं। अन्य के प्रति द्वेष, तनाव, वैमनस्य तथा घृणा पैदा करते हैं। इससे धर्मो मे परस्पर साम्प्रदायिकता पैदा होती है तथा झगड़े होते हैं जो आगे चलकर विभिन्न क्षेत्रों में असामंजस्यता पैदा करते हैं।

4. भौगोलिक कारण (Geographical Causes)—भारत मे एक जाति, प्रजाति, वर्ण, भाषा-भाषी समूह, धर्म आदि के लोग एक ही स्थान पर निवास करते हैं। उनमे परस्पर अहम की भावना विकसित हो जाती है तथा दूसरी बस्ती, धर्म, संस्कृति वालो के प्रति घृणा पैदा हो जाती है। यही धार्मिक भौगोलिक संकीर्णता आगे चल कर असामजस्यता को बढ़ावा देती है। झगड़े पैदा करती है।

5. धार्मिक संगठन (Religious Organisations)—जब से आधुनिक यातायात के साधन, संचार के साधन, प्रिंटिंग प्रेस, समाचार पत्र-पत्रिकाएँ उपलब्ध हुई हैं तब से धार्मिक संगठन भी ग्राम, कस्बा, जिला, प्रान्त तथा अखिल भारतीय स्तर पर संगठित तथा व्यवस्थित हो गये हैं जो अपने-अपने मतावलम्बियो की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अपने स्वार्थों की रक्षा करते हैं। दूसरे धर्मावलम्बियो के प्रति भड़काने वाली भावना पैदा करते हैं। अपनी रक्षा के लिये हथियार एकत्र करते हैं। सदस्य उन्हें चलाने का प्रशिक्षण देते हैं और कभी-कभी विभिन्न सम्प्रदायों मे दंगे होने पर इन हथियारो का उपयोग भी करते हैं जो बहुत निन्दनीय है। इस प्रकार के संगठन साम्प्रदायिक दगों, तनावों तथा संघर्षो को बढावा देते हैं, जिससे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रो मे असामंजस्यता पैदा होती है।

6. सांस्कृतिक भिन्नता (Cultural Differences)—हिन्दू और मुसलमानों की संस्कृति मे बहुत भिन्नता के कारण उनमे एक-दूसरे के प्रति सांस्कृतिक दूरियाँ हो गई हैं। इनका खान-पान, वेशभूषा, धर्म, रहन-सहन, रीति-रिवाज, परम्परायें, देवी-देवता आदि भिन्न हैं। दोनों ही धर्मावलम्बी अपने-अपने विवाह के तरीके, प्रकार, तलाक, विधवा-विवाह आदि से सम्बन्धित परम्पराओ को एक-दूसरे से उच्च मानते है। यही दृष्टिकोण सांस्कृतिक भेद, वैमनस्य, तनाव, संघर्ष, लड़ाई-झगड़े पैदा करता है।

7. राजनैतिक स्वार्थ (Political Interest)—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में सरकार का चयन मतदान के द्वारा किया जाता है। जिसका बहुमत होगा वही चुनाव जीतकर सरकार बनाता है। चुनाव में जातिवाद और धार्मिक भावना का सहारा लिया जाता है। अनेक राजनैतिक दलो का निर्माण धर्म के तथा साम्प्रदायिकता के आधार पर किया जाता है। ग्राम पचायत से लेकर लोक सभा तक के चुनावों में धर्म के आधार पर उम्मीदवार खड़े किये जाते हैं तथा मत माँगे जाते हैं। चुनावों में धार्मिक भेदभाव का सहारा लिया जाता है। एक-दूसरे के

प्रति भड़काया जाता है। इससे समाज में झगड़े बढते है तथा संघर्ष भी पनपता है जिससे अनेक क्षेत्रो मे असामंजस्यता की स्थिति पैदा हो जाती है।

8. असामाजिक तत्त्वों का स्वार्थ (Interest of non-Social elements)—समाज मे असामाजिक तत्त्व भी धर्म की आड़ मे साम्प्रदायिकता को बढ़ाने के लिए लूट-पाट, चोरी इत्यादि करते हैं। जब भी कभी धार्मिक त्यौहार या उत्सव होता है तब उसमे समाज-कंटक लोग दो धर्मावलम्बियो मे झगडा करा देते हैं। जुलूस आदि पर पत्थर फेंक देते है। झगड़ा बढ़ जाता है। भगदड मच जाती है। इस मौके का फायदा उठाकर गुण्डे लोग दुकाने लूट लेते हैं। आग लगा देते हैं। उपद्रव करने वाले भाग जाते है तथा अन्य मारे जाते हैं। लोग समझते है कि दूसरे धर्मावलम्बियों के कार्य हैं। ऐसा अनेक बार देखा गया है।

यह कहना तो बहुत कठिन है कि धार्मिक असामंजस्यता के लिए कौनसा कारक कितना जिम्मेदार है। सामाजिक घटनाओ के अध्ययन में तार्किक क्रम तो कोई-न-कोई-सा रखना होगा। उसी को ध्यान मे रख कर धार्मिक असामंजस्यता के विभिन्न कारणो का वर्णन उपर्युक्त क्रम मे किया गया है। जैसी परिस्थिति होती है उसके कारणो का क्रम बदल जाता है। असामंजस्यता के और भी कारण हो सकते है। मुख्य रूप से धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक, साम्प्रदायिक सगठन, भौगोलिक आदि इसके प्रमुख कारण हैं। इससे समाज को अनेक हानियाँ होती हैं।

धार्मिक असामंजस्यता के दुष्परिणाम (हानियाँ)
(Evil Consequences (Demerits) of Religious Disharmony)

भारत मे धार्मिक सघर्ष का उद्‌भव मुसलमानो के आगमन से जोड़ा जाता है। वैसे हिन्दू और मुसलमानो के बीच उपनिवेशवादी शासन से पूर्व ही तनाव बना रहा है। बाद मे अँग्रेजो की साम्राज्यवाद की नीति "फूट डालो और राज्य करो" ने इस प्रकार के तनावो को और महत्त्व दिया और अपनी-अपनी राष्ट्रीय-पहचान बनाए रखने की दृष्टि से प्रतिस्पर्द्धा और शत्रुता की भावना और प्रबलतर होती गई। धर्म को लेकर किए गए कुछ दगे इस प्रकार है—(1) 1980 में ईद की नमाज के अवसर पर हिन्दू-मुसलमानो मे एक सूअर के आ जाने के कारण साम्प्रदायिक दगे भडके और परिणामस्वरूप उन्मत्त भीड़ ने लूटपाट, आगजनी और बलात्कार जैसे दुराचरण किए। यहाँ तक कि क्रोधावेश में आकर हत्याएँ भी की गईं। (2) पंजाब मे हिन्दुओ और सिक्खो के बीच संघर्ष हुए हैं। 'स्वर्ण मन्दिर' की घटना इसका उदाहरण है। पंजाब मे लगातार अनेक हिसात्मक घटनाएँ हुई हैं। सिक्खो की व्यापक रूप से हत्याएँ की गईं। उन पर पाशविक आक्रमण किए गए।

इस प्रकार के अनेक सघर्ष मुरादाबाद, अलीगढ, जमशेदपुर, मेरठ, अहमदाबाद आदि में किए गए हैं। इस प्रकार छोटे-छोटे स्वार्थो को लेकर एव धर्म की आड़ लेकर उसे अपनी राष्ट्रीय-पहचान बनाकर धार्मिक तनाव समय-समय पर होते रहते है। अकाली सिक्ख उच्च वर्ग की आकांक्षाओ के प्रतिनिधि हैं और उनका पंजाब के उच्च वर्ग के हिन्दुओ से संघर्ष है। इस प्रकार अपनी राष्ट्रीय-पहचान को लेकर वे सघर्ष करते रहते हैं।

भारत को धार्मिक असामंजस्यता से गम्भीर हानियाँ हुई हैं। सबसे बड़ी हानि सन् 1947 में देश का बँटवारा हिन्दू-मुसलमानो के धार्मिक संघर्ष का ही दुष्परिणाम है। कुल

मिलाकर धर्म अनेक प्रकार की बाधाएँ तथा हानियाँ पहुँचाता है, जैसे—राष्ट्रीय एकता में बाधा, राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष उत्पन्न करना, पारस्परिक तनाव पैदा करना, सार्वजनिक धन-जन की हानि, विभिन्न क्षेत्रों में अस्थिरता पैदा करना आदि-आदि। धर्म के दुष्परिणामों, हानियों तथा बाधाओं का ज्ञान होना भी आवश्यक है जो निम्न प्रकार से हैं—

1. राष्ट्रीय एकता में बाधक (Hindrance in National Unity)—राष्ट्रीय एकता में अनेक बाधाएँ हैं परन्तु सबसे गम्भीर बाधा धर्म की कट्टरता है। सभी धार्मिक संगठन, मठ तथा समूह अपना-अपना लाभ देखते हैं। पारस्परिक हितों का ध्यान नहीं रखते हैं। धार्मिक समूह केवल अपने धर्म वालों को अधिक से अधिक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि लाभ पहुँचाने का ध्यान रखते हैं तथा दूसरे धार्मिक समूहों से घृणा तथा ईर्ष्या करते है। ये पृथक्करण की भावना विभिन्न समूहों को एक-दूसरे के विरुद्ध कर देती है जो राष्ट्रीय एकीकरण की बाधा है।

2. राष्ट्रीय स्तर का संघर्ष (Conflict at National Level)—धार्मिक कट्टरता लोगों में राष्ट्रीय स्तर का संघर्ष तक पैदा कर देती है। राम-जन्मभूमि तथा बाबरी मस्जिद का झगड़ा धीरे-धीरे स्थानीय संघर्ष से आज राष्ट्रीय स्तर का संघर्ष हो गया है जिसका मूल कारण हिन्दू-मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता है। स्वतन्त्रता आन्दोलन धीरे-धीरे धर्म के कारण गृह-युद्ध (Civil war) में परिवर्तित होने की स्थिति में आ गया था जिसको रोकना हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो राष्ट्रों के निर्माण के द्वारा ही सम्भव हो सका।

विनोबा भावे के अनुसार, "हिन्दू और मुसलमान आपस में लड़ कर यह सोचते हैं कि वे अपने धर्म को लाभ पहुँचा रहे हैं। परन्तु वास्तव में दोनो ही अपने धर्म को नष्ट कर रहे हैं। मैं यह भी मानता हूँ कि यह संघर्ष और हत्याएँ धर्म की रक्षा नहीं करतीं।"

3. असुरक्षित जीवन (Insecure Life)—धार्मिक असामंजस्यता राष्ट्रीय जीवन को असुरक्षित कर देती है। प्रत्येक समूह में दूसरे के प्रति शका की भावना रहती है तथा दूसरा समूह भी मौका मिलने पर अन्य समूहों को जान-माल का नुकसान पहुँचाता रहता है तो ऐसे में सुरक्षित जीवन नहीं रह पाता है तथा सुरक्षा की भावना समाप्त हो जाती है। जब राष्ट्र के सभी समूह एक-दूसरे से लड़ते रहेंगे, परस्पर एक-दूसरे से घृणा तथा ईर्ष्या करेंगे तो ऐसी स्थिति में राष्ट्र बाहरी आक्रमणों से कैसे रक्षा करेगा। राष्ट्र ही जब खतरे में रहेगा तो राष्ट्र के नागरिकों का जीवन भी असुरक्षित बना रहेगा। धार्मिक संघर्ष राष्ट्र को स्वस्थ चरित्र तथा अच्छा नागरिक प्रदान नहीं कर पाएगा।

4. पारस्परिक तनाव (Mutual Tension)—धार्मिक सकीर्णता की भावना के कारण विभिन्न छोटे-बड़े धार्मिक संगठन एक-दूसरे से घृणा, द्वेष, अविश्वास आदि करने लग जाते हैं। एक-दूसरे की बस्ती में रहना, मकान खरीदना, दुकान खोलना, उनकी पाठशाला में बच्चों को प्रवेश दिलाना भी पसन्द नहीं करते हैं। इस प्रकार धार्मिक संकीर्णता एक-दूसरे धर्मावलम्बियो में पारस्परिक तनाव पैदा कर देती है तथा यह तनाव इतना बढ़ जाता है कि वे मिलते हैं तो एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते हैं। यह राष्ट्रीयता के लिए खतरनाक स्थिति पैदा कर देती है जो झगड़े-फसाद में बदल जाती है जिससे अनेक प्रकार की हानियाँ एवं असामंजस्यताएँ पैदा हो जाती हैं।

5. धन-जन की हानियाँ (Loss of Life and Wealth)—धार्मिक संघर्ष के कारण विभिन्न धर्मावलम्बियों में परस्पर मन-मुटाव, तनाव या संघर्ष रहता है जो प्रत्यक्ष झगड़ो,

आगजनी, लूटपाट, दुराचरण, बच्चों, महिलाओं, पुरुषों की हत्याओं आदि में बदल जाता है। अनेक हत्याएँ कर दी जाती हैं। कई स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं। परिवार के पालक मारे जाते हैं। बच्चे अनाथ हो जाते हैं। अनेक घर बरबाद हो जाते हैं। माताओं और बहिनों की इज्जत चली जाती है। धन और जन की इतनी हानि हो जाती है कि उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। आदमी इतना पतित हो सकता है जो अकल्पनीय भारत में धार्मिक दंगो के कारण जान और माल की बहुत हानि होती है, इसका हिसाब लगाया जाना चाहिए तथा जनता को बता कर उन्हे ऐसा करने से रोकना चाहिए।

6. राजनैतिक अविश्वास तथा अस्थिरता (Political Unstability and Unreliability)—भारत एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है। प्रजातन्त्र के लिए आवश्यक है कि एक-दूसरे पर विश्वास किया जाए। धार्मिक असामजस्यता विभिन्न राजनैतिक दलों मे फूट, संघर्ष, घृणा, तनाव आदि पैदा कर देती है। राजनैतिक दल भी साम्प्रदायिकता के आधार पर चुनाव लडते हैं। सरकार तथा अन्य राजनैतिक दलों की आलोचना करते हैं। राजनैतिक दलों के द्वारा धार्मिक ईर्ष्या को फैलाया जाता है। इससे तनाव बढ जाता है। जगह-जगह दंगे-फसाद होते हैं तथा होने की आशका रहती है, इसे नियन्त्रण मे रखने के लिए कानूनी व्यवस्था करनी पडती है, उसमे राष्ट्र का धन, श्रम और समय नष्ट होता है, उसका अपव्यय होता है। आज भारत मे अनेक स्थान धार्मिक दगों के स्थाई स्थल है जहाँ पर जरा-सा अवसर मिलने पर तनाव बढने पर धार्मिक दगे हो जाते हैं। समय-समय पर कर्फ्यू लगाया जाता है। पुलिस को कहा जाता है कि वह दगाइयो को देखते ही गोली मार दे। जन-साधारण अपने जीवन को असुरक्षित समझता है। इससे राजनैतिक अस्थिरता पैदा हो जाती है। सरकार पर झूठे-सच्चे दोषारोपण किए जाते हैं, प्रदर्शन किए जाते हैं। धार्मिक सघर्ष का यह भयंकर दुष्परिणाम राजनैतिक अव्यवस्था तथा अविश्वास के रूप मे सामने आता है।

7. साम्प्रदायिकता एकीकरण में बाधक (Communality is Hindrance in the Integration)—भारत विकासशील देश है। देश के विकास के लिए अनेक कार्यक्रम, जैसे—पचवर्षीय योजनाएँ, कल्याण कार्यक्रम, शिक्षा के विकास के कार्यक्रम आदि चल रहे हैं जिससे विभिन्न सम्प्रदायो मे परस्पर एकीकरण हो सके, सामंजस्य स्थापित हो सके। साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए सास्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं जिससे सभी नागरिको का विकास हो तथा राष्ट्र का एकीकरण हो सके परन्तु साम्प्रदायिकता के झगड़ो के कारण कई माह तथा वर्षों की साम्प्रदायिक एकीकरण की उपलब्धि एकाएक झगड़ों से समाप्त हो जाती है। राष्ट्रीय एकता के लिए किए गए प्रयासो मे साम्प्रदायिकता की एक बड़ी बाधा है जिसके दुष्परिणाम कुछ ही पलों में एकीकरण के सारे प्रयास नष्ट कर देते हैं और अविश्वास तथा घृणा का वातावरण बना देते हैं।

8. अराजकता मे वृद्धि (Increase in anarchy)—धार्मिक असामजस्यता समाज-कंटको तथा अराजक तत्त्वों को तोड़-फोड, आगजनी, लूट, मार-पीट करने के अवसर प्रदान करके उनकी संख्या में दिनो-दिन वृद्धि कर रही है। लुटेरे, गुण्डे, चोर, बदमाश आदि जब भी अवसर मिलता है, धर्म के नाम पर तोड़-फोड कर देते हैं। धार्मिक जुलूस को झगड़ों मे पत्थर आदि फेक कर विरोधी नारे लगा कर दंगा-फसाद में बदल देते हैं। दुकानो तथा मकानो मे आग लगाकर अव्यवस्था फैला कर लूट-पाट कर लेते हैं। इस प्रकार धर्म अराजक

तत्त्वों में वृद्धि करने में सहायक कारक का कार्य करती है जो कि एक समाज के लिए हानिकारक दुष्परिणाम है।

9. **औद्योगिक विकास में बाधक** (Hindrance in Industrial development)—धर्म ने देश में औद्योगिक विकास में एक बाधक के रूप में कार्य किया है तथा कर रहा है। मिलों, कारखानों, उद्योग-धन्धों, खानों आदि में धर्म के कारण गुट बन जाते हैं। अपनी-अपनी माँगें अलग-अलग रखते हैं। मिल मालिकों तथा श्रमिक संगठनों मे समझौता नहीं होने देते हैं। कई-कई दिन तक हड़तालें करवा देते हैं। धार्मिक दंगों के डर से कारीगर मूल निवास स्थान छोड़ कर अन्यत्र चले जाते हैं। कारीगरों के घर उजड़ जाते हैं। धार्मिक दंगों के कारण परिवार छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इन कारणों से कुटीर उद्योग भी नष्ट हुए हैं। धार्मिक संघर्ष आर्थिक विकास में एक बाधा बन गए हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि धार्मिक असामंजस्यता राष्ट्र के सभी क्षेत्रों—आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सार्वजनिक आदि में देखी जा सकती है। एक समृद्ध तथा विकसित राष्ट्र के निर्माण के लिए धार्मिक असामंजस्यता को तुरन्त समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इसको समाप्त करने के लिए विभिन्न प्रयास तुरन्त करने चाहिए।

धार्मिक असामंजस्यता के निवारण के सुझाव
(Suggestions to Eradicate Religious Disharmony)

भारत मे धार्मिक सामंजस्यता को समाप्त करने के लिए अनेक प्रयास समय-समय पर किए जाते रहे हैं। इस समस्या को समाप्त करना एक कठिन कार्य है। लेकिन निम्नलिखित सुझावों के द्वारा इसका निराकरण करने के लिए तुरन्त कदम उठाने आवश्यक हैं—

1. **साम्प्रदायिक संगठनों पर प्रतिबन्ध** (Restriction on Communal Organisations)—अगर कोई संगठन धर्म, शिक्षा, राजनीति या अन्य आधार पर धार्मिक भेदभाव का किसी भी रूप में प्रसार या प्रचार करता है तो ऐसे संगठनो पर रोक लगानी चाहिए। सरकार द्वारा कठोर कार्यवाही की जानी चाहिए तथा तुरन्त दण्ड देना चाहिए। इससे धार्मिक असामंजस्यता को कम किया जा सकता है। सगठनों के नामों में हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, जैन, सिख या ऐसे ही शब्दों के प्रयोग पर विधान द्वारा रोक लगानी चाहिए जिसमे धार्मिक असामंजस्यता के फैलने का आभास मिलता है।

2. **राष्ट्रीय एकीकरण की शिक्षा** (Education of National Integration)—शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण, राष्ट्रीय भावना, राष्ट्रीय-चरित्र-निर्माण आदि का प्रसार और प्रचार करना चाहिए। पाठ्यक्रमों में राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय एकीकरण आदि को रखना चाहिए। धार्मिक संघर्ष की हानियाँ शिक्षा द्वारा विद्यार्थियो को बतानी चाहिए। शिक्षण सस्थाओ मे ऐसे विषयो को अनिवार्य कर देना चाहिए जो राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन देने वाले हों तथा धर्मवाद, जातिवाद, प्रान्तीयता, भाषावाद आदि की संकुचित भावनाओ को पैदा नहीं होने दे।

3. चुनावों में धार्मिक प्रचार-प्रसार पर रोक (Restriction on Religious Publicity in Election)—चुनावो मे सरकार को किसी भी प्रकार के धर्म के प्रसार और प्रचार तथा उपयोग पर रोक लगानी चाहिए। अगर कोई धर्म के आधार पर चुनावजीतता है तो उसे अवैध घोषित करने का प्रावधान होना चाहिए। चुनावों के प्रचारो मे सबसे अधिक प्रोत्साहन धर्म को मिलता है। चुनावों मे किसी भी प्रकार से धर्म का, जैसे—नारो, पोस्टरों, पैम्पलेटो, फोटो, टेपरिकार्डरो आदि के रूप में उपयोग किया जाता है तो ऐसे प्रत्याशी राजनैतिक दल को गैर-कानूनी घोषित किया जाए। उस दल को चुनावों मे खड़े होने का अधिकार नही दिया जाए। ऐसे कानूनो का निर्माण किया जाए जो चुनावों में धर्म के प्रचार तथा प्रसार को रोक सके।

4. राष्ट्रीयता की शिक्षा (Education of Nationality)—धार्मिक असामंजस्यता को समाप्त करने के लिए एक व्यावहारिक और कारगर उपाय शिक्षण संस्थाओं द्वारा छात्रों को राष्ट्रीयता की शिक्षा देकर किया जा सकता है। शिक्षा के पाठ्यक्रम में धर्म के दोष तथा हानियाँ, राष्ट्रीयता का अर्थ, परिभाषा, एकता के लाभ आदि विषय रखे जाएँ जैसा कि राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, अजमेर विश्वविद्यालय, वनस्थली विद्यापीठ के समाजशास्त्र विषय मे रखे गए हैं। शिक्षा के द्वारा पारस्परिक एकता, संगठन, राष्ट्रीय-चरित्र-निर्माण, राष्ट्रीय एकीकरण आदि का ज्ञान विद्यार्थियो को करा कर धार्मिक असामंजस्यता को मिटाया जा सकता है।

5. साम्प्रदायिकता फैलाने वालों को कठोर दण्ड (Regrious Punishment to People who spread Communality)—सरकार को साम्प्रदायिकता फैलाने वालों को ऐसा कठोर दण्ड देना चाहिए कि दूसरे देखने वाले लोग भी भविष्य मे साम्प्रदायिकता फैलाने का साहस नहीं कर सके। साम्प्रदायिकता को अराजक तत्व और धर्म-कट्टरपंथी ही फैलाते हैं। वे लोग धार्मिक सघर्ष पैदा करते हैं अपने को समाज का नेता बनाना चाहते हैं। दंगे होने पर असामाजिक तत्व लूट-पाट करते हैं, उन्हे पकड कर कठोर दण्ड देना चाहिए। ऐसे क्षेत्रों में विशेष सुरक्षा दल रखने चाहिए। विशेष न्यायालयो की स्थापना करनी चाहिए। दोषी व्यक्तियो या जिन पर शक है उन पर कार्यवाही करनी चाहिए। ऐसा करने से धार्मिक असामंजस्यता मे कमी आएगी।

6. नैतिक शिक्षा (Moral Education)—सभी समाजो के शाश्वत नियम तो यही हैं—सच बोलो, दूसरो पर दया करो, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, नशा मत करो, गरीबो तथा कमजोरो की सहायता करो। धर्मों के मूल्य भी यही होते हैं। कोई भी धर्म हिंसा नहीं सिखाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक स्तर पर सस्थाओ द्वारा बच्चो, युवा, प्रौढ आदि को नैतिक शिक्षा दी जाए कि धार्मिक कट्टरता बुरी चीज है। नैतिक शिक्षा द्वारा संकीर्णता, पृथक्करण, घृणा, द्वेष आदि को दूर किया जाए। नैतिक शिक्षा मे प्राथमिक, माध्यमिक तथा उच्च-स्तरीय शिक्षा में सभी धर्मों की मूल बातो, विचारो, मूल्यों को पढाया जाए, उनकी समानताओं से अवगत कराया जाए और भाईचारे से रहना सिखाया जाए। जाति,

धर्म, भाषा आदि संकीर्णताओं को दूर किया जाए। बच्चे जब बड़े हो जाएँगे तो उनके विचार, आचार-व्यवहार उदार होंगे तथा धार्मिक असामंजस्यता को दूर करने में सहायक सिद्ध होंगे तथा ऐसी क्रियाओं में भाग नहीं लेंगे।

7. धार्मिक संगठनों की सुविधाओं पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Facilities to religious Organisations)—जो धार्मिक संगठन असामंजस्यता फैलाते हैं अथवा फैलाने वालों को संरक्षण या आश्रय देते हैं उन संगठनों पर रोक नहीं तो कम-से-कम सरकार को उन्हें सुविधाएँ तो नहीं देनी चाहिए। ऐसे कई धार्मिक संगठन हैं जिन्हें सरकार अप्रत्यक्ष रूप से अनेक सुविधाएँ विभिन्न मदों के अन्तर्गत देती है जो असामंजस्यता फैलाते हैं, जैसे—शिक्षण संस्थाओं को वित्तीय सहायता देना, आवासों के लिए जमीन देना आदि। धर्म के नाम पर अल्पमत की आड़ लेकर सुविधाएँ प्राप्त करते हैं, उससे भी असामंजस्यता बढ़ती है। धार्मिक संगठनों को तब तक सुविधाएँ बन्द कर देनी चाहिए जब तक धार्मिक असामंजस्यता पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो जाती है।

8. प्रशासकीय सुधार (Administrative Reforms)—सरकार तथा जनता के सहयोग से अनेक प्रशासकीय सुधार करके भी धार्मिक असामंजस्यता को समाप्त करने में मदद मिल सकती है। जो व्यक्ति या समूह धार्मिक असामंजस्यता फैलाता है उसका जनता की सहायता से पता लगाना चाहिए तथा पकड़ कर सजा देनी चाहिए। जहाँ-जहाँ पर धार्मिक दंगे अधिक होते हैं वहाँ पर स्थाई रूप से सतर्कता दल की स्थापना करनी चाहिए। धार्मिक स्थलों के आसपास सुरक्षा प्रबन्ध उन दिनों विशेष करने चाहिए, जब कोई धार्मिक उत्सव हो या जुलूस निकले। आकाशवाणी, समाचार-पत्र, चल-चित्रों, दूरदर्शन आदि के द्वारा धार्मिक सामंजस्यता का प्रचार करना चाहिए। एकता तथा समन्वय की भावना समय-समय पर प्रसारित करने के लिए प्रशासन को ध्यान रखना चाहिए।

9. सुरक्षा व्यवस्था (Security Arrangements)—सुरक्षा व्यवस्था के अभाव के कारण लोग धार्मिक अथवा अन्य संगठनों को बना कर अपनी सुरक्षा व्यवस्था करते हैं जो साम्प्रदायिक दंगे-फसाद में बदल जाते हैं। उनको बन्द करके सरकार द्वारा सम्पूर्ण जनता के लिए पूर्ण सुरक्षा व्यवस्था होनी चाहिए। जनता समाज-कंटकों की शिकायत करने से डरती है क्योंकि उनका जीवन असुरक्षित है। अगर जनता को पूर्ण सुरक्षा का विश्वास हो जाए तो वह स्वयं भी धार्मिक असामंजस्यता का मुकाबला करने में मदद दे सकती है। ऐसा कुछ करने वालों की सूचना देना, ऐसी तैयारी कहीं चल रही हो तो उसका पता लगाना तथा बताना आदि तभी हो सकता है जब सुरक्षा व्यवस्था अच्छी हो। सुरक्षा व्यवस्था अच्छी होने पर ऐसे संगठन धार्मिक असामंजस्यता फैलाने से डरेंगे। धार्मिक असामंजस्यता को समाप्त करने के लिए सुरक्षा व्यवस्था का अच्छा होना आवश्यक है।

10. गाँधीजी तथा विनोबा जी का सुझाव (Suggestions of Gandhi Ji and Vinoba Ji)—गाँधी जी तथा विनोबा जी ने धार्मिक असामंजस्यता को समाप्त करने के लिए वैसे तो अनेक कार्य किए हैं। अपना सम्पूर्ण जीवन ही इसे समाप्त करने तथा शान्ति और

अमन-चैन लाने में समर्पित कर दिया लेकिन उन्होंने एक सुझाव शान्ति-सेना बनाने का दिया था। शान्ति-सेना का कार्य विभिन्न स्थानों मे शान्ति स्थापित करना, दंगे रोकना, पारस्परिक एकता लाना, परस्पर लोगो में विश्वास तथा मित्रता स्थापित करना है।

11. राष्ट्रीय एकता परिषद् का गठन (Organisation of National United Council)—केन्द्रीय स्तर पर राष्ट्रीय एकता परिषद् का गठन साम्प्रदायिकता की समस्याओं को हल करने के लिए किया गया है। सन् 1969 में तय किया गया कि देश के सभी राजनैतिक दलो को धार्मिक सद्भाव पैदा करना चाहिए। इस पर वे विचार करें तथा व्यापक कार्यक्रम बना कर जनता में सद्भाव पैदा करें। इस परिषद् की बैठक मे तय किया गया कि प्रशासनिक इकाइयों को धार्मिक दंगों को समाप्त करने के लिए कठोर कदम उठाने चाहिए। अल्पसंख्यको की समस्याओं के निराकरण पर विशेष ध्यान देने पर भी इस परिषद् ने जोर दिया था।

धार्मिक असामंजस्यता एक जटिल तथा बहु-कारकीय समस्या है इसलिए इसके निराकरण के लिए भी वृहद् स्तर पर अनेक प्रकार से प्रयास करने आवश्यक हैं, तभी यह समस्या देश से मिट सकती है।



118346

अध्याय-5

नृजाति असामंजस्यता

(Ethnic Disharmony)

राष्ट्रीय एकता, एकीकरण, संगठन आदि में नृजाति का विशेष महत्त्व होता है। राष्ट्रीय निर्माण में भी नृजातियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। विभिन्न नृजातियों मे जब पूर्ण सामंजस्य होता है तब राष्ट्र भी पूर्ण रूप से एकीकृत होता है। भारत जैसे राष्ट्र में सदियों से विभिन्न नृजातियाँ आती रहीं और बस गयीं। राष्ट्र निर्माण और राष्ट्रीय एकीकरण मे इनका योगदान रहा है। राष्ट्रीय एकीकरण के लिए विभिन्न नृजातियो मे सामंजस्य होना मौलिक आवश्यकता है। अगर इनमें असामंजस्य होगा तो उससे राष्ट्रीय एकीकरण में तो रुकावट आयेगी ही साथ ही समाज में अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक, प्रजातीय, भाषाई, आर्थिक, राजनैतिक समस्याएँ भी आयेगी। यहाँ पर नृजातीय असामंजस्यता का विवेचन राष्ट्रीय एकीकरण, राष्ट्र निर्माण, सामाजिक व्यवस्था आदि के संदर्भ मे किया जायेगा। सर्वप्रथम नृजाति की परिभाषा एवं अर्थ को देखेंगे।

नृजाति की परिभाषा एवं अर्थ (*Definition and Meaning of Ethnic*)—नृजाति का अर्थ देखने के लिए इसका शाब्दिक अर्थ और परिभाषाओ का अध्ययन करेंगे जो निम्नलिखित हैं—

नृजाति का सामान्य अर्थ 'राष्ट्र' है। यह ग्रीक शब्द है और प्रारम्भ में जनजातियो या आदिम समाजो के लिए इसका प्रयोग होता था, जिसमें सरकार और अर्थव्यवस्था के आधार पर अपने राष्ट्र का निर्माण किया जाता था। कालान्तर में 'नृजातीय' का अर्थ ऐसे लोगों का समूह हो गया जिन्हें उनकी प्रजाति, भाषा और संस्कृति के आधार पर अन्य लोगों से पृथक् किया जा सकता है। भारत मे भी प्रजाति भाषा और संस्कृति राष्ट्र-निर्माण मे अपनी भूमिका स्पष्ट करती है। नृजातीयता को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है।

के. एस सिंह के अनुसार, "नृजाति का अर्थ उन लोगों से लिया जाता है जिनमें निश्चित रूप से एक समान जैविकीय-सांस्कृतिक और जैविकीय-सामाजिक लक्षण पाए जाते हैं।"

पौलब्रास ने नृजाति को जहाँ एक ओर एक सांस्कृतिक प्रघटना माना है, वहीं दूसरी ओर राजनैतिक शक्ति में भी इसके महत्त्व को स्वीकारा है। आपने नृजाति-विश्लेषण को एक सिद्धान्त के रूप में लिया है और कहा है कि समाज को नृजातीय प्रतियोगता ही नृजाति संघर्ष को जन्म देती है।

थियोडोरसन एवं थियोडारेसन ने नृजातीय समूह की परिभाषा देते हुए इनकी निम्न व्याख्या की है—

"नृजातीय समूह सामान्य सांस्कृतिक परम्परा और अलग पहचान की भावना रखने वाला एक समूह होता है जो वृहद् समाज में उप-समूह के रूप में विद्यमान होता है। नृजातीय समूह के सदस्य अपने समाज के अन्य सदस्यों से कुछ निश्चित सांस्कृतिक लक्षणों से भिन्न होते है। उनकी अपनी भाषा और धर्म के साथ-साथ कुछ विशिष्ट प्रथाएँ भी होती हैं। सम्भवत: सबसे महत्त्वपूर्ण उनकी परम्परागत विशिष्ट समूह की पहचान की भावना है। सामान्यतया इस अवधारणा का प्रयोग अल्प समूहों के लिए किया जाता है। लेकिन अगर समाज में अनेक विशिष्ट सांस्कृतिक समूह होते हैं तो कुछ लेखक नृजाति समूह को प्रभुत्व सांस्कृतिक समूह से भी सम्बन्धित करते हैं।" आपने सतर्क किया है, "नृजातीय समूहों को प्रजातीय समूह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।" एक नृजाति समूह को प्रजाति समूह समझना सम्भव है लेकिन सामान्यतया यह बात गलत है।

नृजाति समूह दूसरे से अनेक प्रकार से भिन्न हो सकता है, जैसे उसकी उत्पत्ति और नस्ल में से कोई एक हो सकती है। लेकिन इस भिन्नता के आधार पर उसे प्रजाति कहेंगे न कि नृजाति। नृजाति भी एक समूह या समुदाय है जो अन्य समूहो या समुदायो से धर्म, संस्कृति, भाषा आदि के आधार पर या इन सभी गुणो की संयुक्तता के आधार पर ही भिन्न होने पर नृजाति कहलायेगी।

नृजाति की परिभाषा देना कठिन है क्योंकि इस अवधारणा मे विभिन्न जीवन मूल्यों, अर्थो और पूर्वाग्रहों का समावेश होता है। वर्तमान मे नृजाति शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक हो गया है। नृजाति अवधारणा का प्रयोग ऐसे परस्पर निकटता से सम्बन्धित समूह की आत्मचेतना को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है जिनके धार्मिक विश्वास, भाषा और सास्कृतिक विरासत एक सी होती है, नृजाति समूह की सृजनात्मकता को प्रदर्शित करता है।

भारत के सदर्भ मे इसे इस रूप में देखा जा सकता है कि प्रारम्भ मे शक, हूण, पठान, मुसलमान अनेक प्रजातियाँ यहाँ आईं। सबके अलग-अलग धर्म थे। कालान्तर मे ब्रिटिश शासन मे हिन्दू-मुसलमान विरोध धर्म के आधार पर हुआ और देश के विभाजन का भी यही कारण रहा। इसी प्रकार स्वतन्त्र भारत में राज्यो का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया गया और वही भाषा-संघर्ष का कारण भी बनी, किन्तु नृजातीयता सदैव सघर्ष का कारण ही नहीं बनती, बल्कि वह राष्ट्र-निर्माण में सहायक भी होती है, जैसे—भारत का स्वतन्त्रता-आन्दोलन, धर्म के माध्यम से ही हुआ और 'असहयोग आन्दोलन' एवं 'भारत छोड़ो आन्दोलन' मे धर्म का पूरा सहयोग लिया गया। अन्त में विजय प्राप्त की, वही दूसरी ओर देश का विभाजन भी धर्म के आधार पर हुआ। नृजातीय का अर्थ वास्तव में 'पहचान' से है और नृजाति-पहचान मे व्यक्ति अपने समूह से सम्बद्धता स्थापित करते हैं और दूसरे समूह से स्वयं को पृथक् करते हैं।

इस प्रकार नृजाति में जाति, भाषा, धर्म आदि के आधार पर एक समूह दूसरे समूह से अलग अपनी पहचान बनाता है, जिसे उसकी प्रजाति, भाषा, धर्म एवं संस्कृति की विशेषताओ के आधार पर अलग किया जा सकता है। नृजातीयता की दो विशेषताएँ हैं—(1) समानता और (2) अनन्यता। इसी नृजाति की पहचान के कारण स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर असामजस्य की स्थिति पैदा हो जाती है। राष्ट्रीय एकीकरण मे प्रजातियों की

असामंजस्यता के कारण अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं जिनका अध्ययन निम्न विशेषताओं के बाद किया जाएगा।

नृजाति की विशेषताएँ (Characteristics of Ethnic)—नृजाति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) नृजाति एक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और भाषाई समूह है।
(2) एक नृजाति समूह दूसरे नृजाति समूह से संस्कृति, भाषा, धर्म आदि आरोपित पहचानों से भिन्न होता है।
(3) जनसंख्या के दृष्टिकोण से नृजाति समूह की जनसंख्या एक पृथक् समूह के रूप में इतनी होती है कि वह क्षेत्रीय स्तर पर अपना प्रतिनिधित्व करता है।
(4) दो या अधिक नृजाति समूहों के बीच सत्ता की हिस्सेदारी और भेदभाव के कारण संघर्ष होते हैं।
(5) नृजाति समूह किसी भी प्रकार के असंतोष के कारण नृजाति आन्दोलन करने का सामर्थ्य रखते हैं।
(6) नृजाति समूह सामान्यतया अपने हितों को पूर्ण करने के लिए राजनीति में सक्रियता के साथ व्यस्त रहते हैं। इनकी राजनीति स्वार्थों की राजनीति होती है।
(7) भारतीय राजनीति में नृजाति का उद्भव और विकास राजनैतिक सत्ता एवं निहित स्वार्थों के कारण हुआ है।

संजातीय अथवा नृजातिकी विविधता (Ethnic Diversity)—संजातीयता अथवा नृजातिकी समूह को किसी समाज की जनसंख्या के एक भाग के रूप में समझा जा सकता है, जिसकी भाषा, धर्म, संस्कृति एवं प्रथा आदि किसी दूसरे समूह से अलग हो अथवा सजातीयता लोगों का वह समूह होता है जिसके सदस्यों की भाषा, धर्म, प्रजाति, वेश-भूषा, खान-पान व रहन-सहन आदि समान हों। इन समस्त लक्षणों में से केवल कुछ ही लक्षण किसी समूह में पाए जाने पर उसे एक 'संजाति-समूह' की संज्ञा दी जा सकती है।

यदि किसी समाज के कुछ सदस्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक हितों की अभिव्यक्ति और उसका संरक्षण होता हो तो उसे भी संजातीयता के अन्तर्गत लिया जा सकता है। उसी भाँति जब कोई समूह समाज में किसी विशिष्ट स्थिति और मान्यता को प्राप्त करने का प्रयास करता है तो उसे संजातीय-चेतना के नाम से अभिहित किया जा सकता है। एक संजातीयता समूह की अपनी एक संस्कृति होती है। अतः संजातीयता को एक सांस्कृतिक-तथ्य के रूप मे भी लिया जा सकता है। इससे यह अर्थ भी निकलता है कि संजातीयता एक सांस्कृतिक समूह भी है।

कभी-कभी नृजातीयता—सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस रूप में यह 'उद्देश्य प्राप्ति का एक साधन' भी माना जा सकता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि संजातीयता को समूह के रूप में, हितों की अभिव्यक्ति के रूप में, उद्देश्यों की प्राप्ति के रूप मे और सांस्कृतिक-समूह या तथ्य के रूप में देखा जा सकता है।

एक नृजातीय समूह के लोग परस्पर प्रेम, सहयोग और संगठन की भावना से रहते हैं और दूसरे संजातीय समूह से स्वयं को श्रेष्ठ बताते हैं। उनमें अहं की भावना पाई जाती है

इसलिए वे अपनी वेश-भूषा, भाषा, रहन-सहन, संस्कृति, रीति-रिवाजों और संस्कारों आदि को दूसरे से श्रेयस्कर मानते हैं जिसे 'संजातीय केन्द्रित प्रवृत्ति' कहा जाता है। नृजातीयता के आधार पर एक शक्तिशाली समूह दूसरे कमजोर संजातीय-समूह का शोषण करता है, भेदभाव का व्यवहार करता है तो समाज में असमानता, संघर्ष व तनाव का वातावरण बनता है। भारत में समय-समय पर भाषा, धर्म, सम्प्रदाय आदि के आधार पर अनेक झगड़े हुए हैं।

कभी सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नृजातीय-समूह एक हो जाते हैं और दूसरे समूह के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करते हैं। इसी भाँति एक भाषा-भाषी समूह दूसरे भाषा-भाषी समूह से असमानता का व्यवहार करते हैं। परिणामस्वरूप आन्दोलन होते हैं। ग्राम और नगर के आधार पर भी संजातीय समूहों में परस्पर टकराव हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नृजातीयता लोगों में प्रेम, सहयोग और संगठन को बढ़ावा देती है और साथ ही दूसरे समूह के साथ भेदभाव की भावना को भी जन्म देती है।

नृजाति और असामंजस्यता
(Ethnic and Disharmony)

सामाजिक वैज्ञानिकों ने विशेष रूप से समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि नृजाति समूह अपनी आदिकालीन प्रतिष्ठा के लिए राजनैतिक पहचान बनाना चाहते रहे हैं। इस उद्देश्य के कारण भारत में विभिन्न नृजाति समूहो मे असामंजस्य और संघर्ष बने रहते हैं। नृजाति अपने हित के लिए आन्दोलन करती है जिससे समाज में असामंजस्य पैदा होता है। नृजाति से सम्बन्धित असामंजस्य को तब भी देखा जा सकता है जब नृजाति समूह ने अपने नए रूप और अर्थों के साथ-साथ साम्राज्यवाद और आधुनिकता जैसे आयाम प्रस्तुत किए हैं। कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार जो नृजाति समस्याएँ है वो असामंजस्य इसलिए पैदा करती है कि वे राष्ट्र की मुख्य धारा के समूह से अथवा देश के प्रमुख नृजातीय समूह के साथ आत्मसातकरण और एकीकरण करके मिलना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में आत्मसातकरण के प्रभाव से सजातीय राष्ट्र का निर्माण होता है। राष्ट्रीयकरण की प्रक्रिया में प्रजातीय समूह अपने-अपने प्रमुख समूहो की रक्षा के लिए प्रयास करते हैं। जब तक एकीकरण नहीं होता है तब तक असामंजस्य की स्थिति बनी रहती है। उदाहरण के रूप में जब तक झारखण्ड, उत्तरांचल और छत्तीसगढ़ देश के पृथक राज्य नहीं बन गये तब तक इनके आन्दोलन अलग राज्य की मांग के लिए चलते रहे और असामंजस्य की स्थिति बनी रही।

अनेक विद्वानों का यह मत है कि नृजाति समूह को अपने हितों को पूरा करने के लिए सामूहिक कार्यवाही करने के लिए उकसाया और प्रेरित किया जाता है तो उनसे सम्बन्धित सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रो मे असामंजस्य की स्थिति बनी रहती है। इसके अतिरिक्त विद्वानों का यह मत भी है कि नृजाति समूह मे जो भी अन्तर होते हैं वो उनकी अलग पहचान बनाते हैं जिसके आधार पर प्रत्येक नृजाति समूह की क्रिया-कलापों का प्रमुख केन्द्र राजनैतिक होता है।

सभी नृजाति समूह विभिन्न स्तरों पर इसलिए असामंजस्य की स्थिति पैदा करते हैं क्योंकि प्रत्येक नृजाति समूह का ध्यान हमेशा इस बात पर रहता है कि किस नृजाति समूह

को कैसे और कितना लाभ प्राप्त हुआ है और वैसा लाभ प्राप्त करने के लिए वे प्रयासरत रहते हैं।

नृजाति समूह सर्वदा अपनी विशिष्ट पहचान को बनाए रखने के लिए जो प्रयास करते हैं उससे सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, क्षेत्रीय आदि असामंजस्यताएँ पैदा होती हैं।

सांस्कृतिक आधार पर भारत के चारों ओर नृजाति समूह की चेतना के उद्‌भव और विकास के कारण सीमा पर बहुत अधिक दबाव पड़ा है जिसने राजनीति असामंजस्य को बढ़ावा दिया है। भारतवर्ष में भौगोलिक दृष्टि से विभिन्न नृजाति समूह रहते हैं जो अलग-अलग भाषाएँ और भिन्न-भिन्न संस्कृति वाले हैं।

भारत का एक राष्ट्र के रूप में उद्‌भव
(Origin of India as a Nation)

भारत में भौगोलिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले और भिन्न-भिन्न संस्कृति वाली अनेक नृजातियाँ रहती हैं। कई वर्षों से ये नृजातियाँ साथ-साथ निवास कर रही हैं। लेकिन इनकी भिन्नताएँ आज भी विशिष्ट हैं। इनमें विभिन्न वर्गों ने आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में साथ-साथ रहने के कारण मनोवैज्ञानिक एकता का विकास हुआ है। इन भिन्नताओं के उपरान्त भी हिन्दू धर्म का अखिल भारतीय स्वरूप बना रहा है। विभिन्न नृजातियो को एक-दूसरे को जोड़ने में पहले संस्कृत भाषा ने और उसके बाद उर्दू, अँग्रेजी और हिन्दी भाषा ने सेतु का काम किया। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अखिल भारतीय संस्कृति के साथ-साथ दूसरी अनेक भिन्न-भिन्न नृजातियाँ और उनकी संस्कृति भी बनी रही। समाजशास्त्र में अखिल भारतीय संस्कृति को वृहद् परम्परा और क्षेत्रीय व स्थानीय नृजातियों की संस्कृतियों को लघु परम्पराएँ कहा गया।

यदि इतिहास को उठाकर देखें तो स्पष्ट होता है कि सम्राट अशोक के समय मे राजनैतिक और प्रशासनिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत पर एक ही केन्द्रीयकृत शासन था। इसके बाद मुगल शासनकाल के समय सशक्त केन्द्रीयकृत राजतन्त्र ने अखिल भारतीयता की भावना का विकास किया। मुगल शासनकाल में महाराष्ट्र मे मराठा साम्राज्य उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र के पंजाब के अधिकतर भाग में सिक्खों का शासन उभरकर सामने आया लेकिन ये राजनैतिक शक्तियाँ छोटी-छोटी शक्तियों के रूप में ही रहीं।

अँग्रेजो ने भारत में अपने शासनकाल में अनेक परिवर्तन किए जिसके द्वारा भारत का एक राष्ट्र के रूप में उद्‌भव और विकास में उल्लेखनीय योगदान रहा। अँग्रेजों ने नवीन शिक्षा प्रणाली का श्रीगणेश किया। संचार और परिवहन के क्षेत्र मे अनेक विकास किए जिनके प्रभाव से स्वाधीनता और भाईचारे के विचार विकसित हुए। 1857 में ब्रिटिश शासन की नीतियों के विरुद्ध क्रान्ति हुई जिसकी असफलता के बाद शिक्षित भारतीयों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए पुनर्विचार किया। शिक्षित भारतीयो ने भारतीय राष्ट्रीय पहचान को प्रोत्साहित करने के लिए निश्चय किया कि नई शिक्षा प्रणाली और प्रौद्योगिकी को अपना लेना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय शब्द का प्रचलन व्यवहार में आया। इन उपर्युक्त वर्णित विभिन्न नवाचारों, परिवर्तनो, संरचनात्मक सुविधाओ के प्रसार आदि से भारतीय राष्ट्रवाद की भावना का विकास हुआ। समय-समय पर नृजातियो और राष्ट्रवाद में परस्पर विरोध और टकराव भी हुए। भारत में मात्र इण्डियन नेशलन काँग्रेस ही अखिल भारतीय

संस्था थी। मद्रास मे जस्टिस दल जैसे क्षेत्रीय स्तर के संगठन थे जिनमें नृजातीय विचारधारा को भी देखा जा सकता है। धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवाद मे हमेशा नृजातीय और जातीय पहचान से सम्बन्धित असामंजस्यता को नियन्त्रित रखा। राष्ट्रवाद ने क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर सामंजस्य बनाये रखने के लिए नृजातियों के विरोध और संघर्ष को कुचला नहीं। राष्ट्रवाद ने विभिन्न नृजातियों के साथ समझौता करके परिस्थितियों पर नियन्त्रण रखा।

1947 में स्वाधीनता प्राप्ति और 1950 मे लोकतान्त्रिक गणराज्य बनने के बाद भारत में नृजातियों सहित अनेक संगठनो ने अपनी मांगों को पूरा करने के लिए पुनः सक्रियता दिखाई। सभी दबी हुई ताकतों ने राजनैतिक शक्ति को आधार बनाया और सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक लाभ के लिए प्रयास किए। इसी समय विभिन्न नृजातियों ने भी आवाज उठायी। अनेक संगठनों ने नृजातियो को उकसाया। राजनैतिक दलों ने नृजातियों की आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, क्षेत्रीय, सांस्कृतिक आदि मांगों के साथ समझौता किया। इस प्रकार से नृजातियो ने क्षेत्रीय राष्ट्रीय स्तर पर असामंजस्यता की स्थिति पैदा की जिसके प्रभावों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रक्रियाओं के विकास मे देखा जा सकता है। अग्रलिखित पृष्ठों मे छोटे-बड़े नृजातीय संगठनों के सामाजिक, राजनैतिक आन्दोलनों के माध्यम से असामंजस्यता की स्थिति को देखा जा सकता है।

भारतीय नृजातियों में सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलन
(Social Political Movement in Indian Ethnics)

सन् 1991 की जनगणना के अनुसार समस्त भारत में अनुमानतः 6 करोड़ 70 लाख से अधिक जनजातीय लोग निवास करते हैं जो भारत के विभिन्न भागो में फैले हुए हैं। प्रमुखतः इन जनजातियो के नाम इस प्रकार हैं—मुण्डा, कोल, भील, खस, मोटिया, गारो, संथाल, भुरिया, गोंड, खासी, उराँव, थारू, कूकी, चेचू, कोरवा, बैंगा, गरासिया, लोहार, जुआंग व नागा आदि। क्षेत्र की दृष्टि से ये लोग क्रमशः छोटा नागपुर के पठार; राजस्थान की दक्षिणी सीमा, हैदराबाद, उत्तर प्रदेश, गढ़वाल व कुमायूँ, असम, बिहार के संथाल व रांची परगनों में, बस्तर प्रदेश, राजस्थान व विन्ध्याचल की पर्वत श्रेणी, खासी पहाड़ियों पर, हैदराबाद, मध्यप्रदेश, उड़ीसा व नागालैण्ड आदि में बहुतायत से निवास करते हैं।

इन लोगों की एक पृथक् संस्कृति है, किन्तु इन्होंने भारतीय सामाजिक-राजनैतिक जीवन मे अपना अमूल्य योगदान दिया है। इतिहास साक्षी है कि मीणा, भील आदि जातियाँ, जो आज अनुसूचित जातियो की सूची मे आती हैं, कभी राजस्थान की रियासतों की अधिकारी थीं। डूँगरपुर, जयपुर, बांसवाड़ा व बूँदी आदि में इन भील-मीणा लोगों का शासन था जिन्हें बाद मे राजपूतों ने हराकर अपना शासन स्थापित किया था। कहने का आशय यह है कि पिछले 200 वर्षों से जनजातियों के सामाजिक-राजनैतिक जीवन मे अनेक परिवर्तन आये हैं जिन्होने अनेक आन्दोलनों को जन्म दिया है, जिसे पुनर्जागरण का नाम दिया जा सकता है। घुर्ये, विद्यार्थी, सच्चिदानन्द, एडवर्ड नायक, बेली, मुखर्जी व एन.के. बोस आदि अनेक विद्वानों ने नृजातियो में हुए आन्दोलनों का उल्लेख किया है। वैसे अनेक समाज वैज्ञानिक इन आन्दोलनों के प्रति रुचिशील नहीं रहे हैं, इसका कारण स्टीफेन फच्स के अनुसार यह हो सकता है कि आन्दोलनों से सम्बन्धित स्रोत न मिले हों, मानवशास्त्रियों की इतिहास में रुचि न रही हो तथा वे स्वयं को राजनीति से अलग मानते रहे हों अथवा अन्य

विरोध अथवा विवाद रहे हों। नृजातियों में हुए आन्दोलनो पर निम्नलिखित रूप मे प्रकाश डाला जा सकता है जिसमें आन्दोलनों का क्षेत्र, जनजाति व उद्देश्य आदि को प्रमुख आधार माना गया है।

1. पूर्वी क्षेत्र की नृजातियों में आन्दोलन —नागा, खासी, गारो, मिजो, मिकर, कूकी, डफला व कचारी आदि नृजातियाँ पूर्वी क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। इन नृजातियों मे राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना अधिक रही है। इस क्षेत्र में अनुमानत: डेढ़ सौ वर्ष पूर्व से धार्मिक एवं राजनैतिक आन्दोलन साथ-साथ चले हैं, क्योकि इस क्षेत्र में सांस्कृतिक भाषायी भिन्नता पाई जाती है। अंग्रेजो से पूर्व स्थानीय राजाओं के विरोध में इन लोगों ने राजनैतिक आन्दोलन किये हैं।

ईसाई मिशनरियों के प्रभाव के फलस्वरूप अनेक नृजातियाँ ईसाई धर्म को अपनाने लग गईं, इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ की नृजातियों में हिन्दूवाद, बुद्धवाद एवं इस्लाम के प्रति राजनैतिक जागृति उत्पन्न हो गई। वे भारतीय जीवन की मुख्य धारा से कट गईं और अपने-अपने धर्म के अनुसार सांस्कृतिक एवं राजनैतिक स्वायत्तता की माँग करने लगीं, जिसके परिणामस्वरूप अनेक आन्दोलन हुए। नागा राष्ट्रवाद के लिए भी यहाँ अनेक आन्दोलन हुए जिनका संचालन नागा क्लब, नागा नेशनल कौन्सिल, नागा वूमैन सोसायटी व नागा यूथ मूवमेण्ट द्वारा किया गया। राजनैतिक स्वायत्तता की माँग करते हुए नागा क्लब ने साइमन कमीशन से सन् 1929 में कहा कि, "आपने हमें जीता है, अब आप भारत से जायें तो पहले की भाँति हमें स्वतन्त्र कर दें।"

स्वायत्तता की माँग नागाओं की ओर से बराबर होती रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति के अनन्तर भी नागा राष्ट्रीय परिषद्, आसाम हिल ड्राइव यूनियन, ऑल पार्टी हिल कौंसिल एवं ईस्टर्न इण्डियन ट्राइबल यूनियन आदि ने अनेक बार हत्या, आगजनी, तोड़फोड़ आदि को अपनाते हुए राजनैतिक स्वायत्तता की माँग को और तीव्रतर किया। चीन, बर्मा और पाकिस्तान ने भी इसमे अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही। उन्होंने इन लोगों को भड़काया, छुपकर अस्त्र-शस्त्र और धन दिया। पाकिस्तान के पास होने के कारण यह देश आक्रमण करने के उपरान्त, इन लोगों को छुपा भी लेते थे।

इनकी समस्या के शान्ति-पूर्ण हल के लिए अनेक प्रयास किये गये। अशोक मेहता कमीशन, पटासकर कमीशन एवं जय प्रकाश पीस कमीशन ने इनके लिए विशेष कार्य किए हैं और फरवरी, 1961 में नागालैण्ड राज्य की स्थापना, त्रिपुरा एवं मणिपुर को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया जाना और 1972 में मेघालय राज्य की स्थापना इसी का परिणाम है।

2. छोटा नागपुर की नृजातियों में आन्दोलन—इन नृजातियों में अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक आन्दोलन हुए हैं, जो स्थानीय शासकों और भू-स्वामियों के विरोध में किये गये हैं। इन आन्दोलनों का कारण विद्रोही जनजाति-नेताओं द्वारा समय-समय पर रखी गई माँग को पूरा नहीं करना रहा है इस प्रकार इस क्षेत्र के सभी आन्दोलन क्रान्तिकारी व सुधारवादी पृष्ठभूमि को लेकर हुए हैं और चमत्कारिक नेताओं से सम्बन्धित रहे हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण आन्दोलन इस प्रकार हैं—

2.1. बिरसा आन्दोलन—मुण्डा नृजाति के एक व्यक्ति बिरसा ने सामाजिक-आर्थिक स्वतन्त्रता एवं धार्मिक सुधार के लिए यह आन्दोलन किया था। बिरसा को मुण्डा लोग भगवान का अवतार मानते थे।

सरदार नाम के व्यक्ति के नेतृत्व में सरकार के विरुद्ध सन् 1870 मे मुण्डा लोगों ने आन्दोलन किया और यह सैनिक विद्रोह सन् 1890 तक चलता रहा। इसे 'सरदार आन्दोलन' कहा जाता है। बिरसा ने मुण्डा लोगो को लगान देने के लिए खुला विद्रोह करने को कहा। इस आन्दोलन ने छोटा नागपुर के अंग्रेजी शासन को हिला दिया था। बिरसा हिन्दूवाद और ईसाइयत दोनों मे विश्वास रखता था।

2.2. तनाभगत आन्दोलन—ओरांव जनजाति मे जात्रा नाम व्यक्ति ने सन् 1913-14 मे बदलते समय के साथ ओरांव लोगों के समाज में सुधार लाने की दृष्टि से एक आन्दोलन किया। उसने शराब और माँस का विरोध किया व जादू-टोने व भूत-प्रेत की अपेक्षा ईश्वर में विश्वास करने को कहा। सभी तनाभगत खादी पहिनते थे और भूमि का लगान न देकर उन्होंने असहयोग आन्दोलन में भाग लिया था।

2.3. वीरसिंह आन्दोलन—संथालो में वीरसिंह नामक एक व्यक्ति ने सन् 1854 में स्थानीय भू-स्वामियों के विरोध मे एक खुला आन्दोलन किया।

2.4. भागीरथ आन्दोलन—सन् 1871 में भागीरथ नामक व्यक्ति ने भागीरथ आन्दोलन चलाया।

2.5. बेनगाव आन्दोलन—*सन् 1930 मे बेनगाव आन्दोलन चला जो गाँधीजी के* विचारों पर आधारित था।

'**2.6. 'हो' आन्दोलन**—सन् 1882 में 'हो' लोगो में बुद्धो और भूमिज लोगों ने गंगा नारायण के नेतृत्व में स्थानीय राजाओं के विरोध गे आन्दोलन किया। असुर नृजाति में जनजाति-विश्वासो और हिन्दू धर्म के मिश्रण के रूप में अनेक धार्मिक आन्दोलन हुए।

इस प्रकार अनेक आन्दोलन—भूमि पर स्वामित्व, वनो का उपयोग एवं धार्मिक व सांस्कृतिक सम्पर्क की समस्याओ को लेकर हुए हैं। **घुर्ये** के अनुसार इनका कारण नृजातियों का हिन्दूकरण रहा है। **एडवर्ड राय** ने इन्हे पुनर्जीवित आन्दोलन कहा है। **विद्यार्थी** के मत में ये प्रतिरोधात्मक आन्दोलन हैं, जबकि **फच्स** इन्हें मसीहा आन्दोलन की संज्ञा देते है, किन्तु *सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि ये सभी आन्दोलन अपनी सांस्कृतिक धरोहर व मूल्यो* को प्राप्त करने के लिए किए गये।

3. मध्य भारत की अन्य नृजातियों में आन्दोलन—मध्य भारत की नृजातियों मे गौंड व भील प्रमुख जनजातियाँ है। सन् 1929 मे माइसिंग व राज नेगी ने सुधारवादी आन्दोलन चलाए जो गौंड लोगों में शराब के निषेध के उद्देश्य से किए गए थे। 1951 में सरगूजा अकाल से प्रेरित होकर देवी ने गौंड लोगों को सगठित किया। यह महात्मा गाँधी की अनुयायी थी और इसने गोविन्दपुर में आन्दोलन के संचालन के लिए आश्रम बनाया था।

4. राजस्थान, गुजरात व मध्य प्रदेश में आन्दोलन—इन क्षेत्रों के भीलों मे अनेक स्थानीय आन्दोलन हुए हैं जिनका उद्देश्य हिन्दूकरण ही है। खानदेश मे गुलिया महाराज तथा *रेवकन्या में विश्वनाथ द्वारा आन्दोलन किए गये। कई आन्दोलनों का नाम लसोड़िया,* गोविन्दगिरि, गुलिया, विश्वनाथ तथा मावजी के आधार पर रखा गया। 1933 में भीलो द्वारा मालगढ़ी मे पृथक् राज्य के लिए आन्दोलन किया गया। अभील नेता मोतीलाल तेजावत एवं

भाभा भालेश्वर दयाल ने भी भीलों की सामाजिक व राजनैतिक मुक्ति के लिए आन्दोलन का संचालन किया।

इन सबके अतिरिक्त **बेली** ने उड़ीसा की गौंड नृजाति मे राष्ट्रीयकरण एवं सस्कृतिकरण के आन्दोलनो की चर्चा की है। महायान ने पूर्वी भारत व उड़ीसा की नृजातियों मे सामाजिक आन्दोलनों की बात कही है। राघवीया ने आन्ध्रप्रदेश की रामभूपति नृजाति मे रामया विद्रोह के विषय में चर्चा की है जिसके कारण सन् 1802 से सन् 1870 तक इन क्षेत्रों में स्थिति सन्तोषप्रद नही रही।

5. **वर्तमान स्थिति**—उपर्युक्त आन्दोलन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व के है। वर्तमान समय मे अब स्थिति में परिवर्तन हुआ है—इस समय जो आन्दोलन हुए हैं उनमें से कुछ निर्माणकारी उद्देश्यों को लेकर हुए हैं व उनका उद्देश्य भी सकारात्मक रहा है। कुछ आन्दोलनो मे विद्रोह के स्वर भी उभरे हैं तथा वे नकारात्मक हैं। नृजातियों ने या तो स्वयं को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ लिया है, अथवा वे अपने लिए पृथक् राज्य की माँग करने लगी है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अपनी निम्नस्तरीय, आर्थिक व सामाजिक स्थिति के लिए वे जागरूक हैं और वे अपनी पृथक् सांस्कृतिक विशिष्टता बनाए रखना चाहती हैं। सरकार इन नृजातियो के लिए निरन्तर उन्नति के प्रयास कर रही हैं, फिर भी इनमे असन्तोष व्याप्त है। भीलों ने सदैव स्वायत्त शासन की माँग की है। मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र मे भी आन्दोलन हुए हैं। दक्षिणी गुजरात की नृजातियो ने अलग राज्य की माँग के लिए आन्दोलन किए हैं। सन् 1962 में महाराष्ट्र के भण्डारा जिले में भी स्वायत्तता की माँग की जा रही थी।

आन्ध्रप्रदेश के श्रीकाकुलम जिले में नक्सलवादी आन्दोलन ने जनजातियों में असन्तोष को बढ़ावा दिया है। श्रीकाकुलम मे असन्तोष के लिए कुशल प्रशासन का अभाव, राज्य व केन्द्र द्वारा संवैधानिक सुरक्षा प्रदान करने के प्रति उपेक्षा भाव, पुलिस की उदासीनता, अधिकारियों द्वारा शोषण, जनजातियों के भूमि-अधिकारो की रक्षा न करना, जनजातियो की भूमि पर अवैध कब्जा करना, व्यापारियों द्वारा इनका शोषण किया जाना आदि कारणों को नायडू ने प्रमुखता प्रदान की है।

नृजाति आन्दोलन की ऐतिहासिक घटनाएँ *(Historical Events of Ethnic Movements)*—वर्षों से चले आ रहे नृजातीय आन्दोलनों के परिणामो को ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में देखें तो हमारे सामने भारत के 26वे राज्य छत्तीसगढ 1 नवम्बर, 2000 में; 27वे राज्य उत्तरांचल 9 नवम्बर, 2000 मे और 28वे राज्य झारखण्ड 15 नवम्बर, 2000 का अस्तित्व में आना है। ये तीनों ही राज्य नृजातियों के आन्दोलन और असामजस्य की स्थिति को पैदा करने के परिणाम हैं।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि अखिल भारतीय स्तर पर अनेक लघु एवं वृहद् स्तरीय नृजातियाँ हैं जो राष्ट्रीयता के एकीकरण और सामंजस्य मे सहयोग एवं विरोध करती रहती है। वर्तमान में ये अपनी पहचान बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय एकीकरण में असामजस्यता पैदा करती हैं और सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक आरक्षण सम्बन्धी लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए आन्दोलन करती हैं एवं लक्ष्य प्राप्ति के उपरान्त सामंजस्यता की वृद्धि करने में सहयोग करती हैं।

❑

अध्याय-6

क्षेत्रीय असामंजस्यता

(Regional Disharmony)

समाजशास्त्रियो ने भारतीय समाज की संरचना और कार्यों का क्षेत्रीय अध्ययन करके समझने का प्रयास किया है। किसी भी समाज को पूर्ण रूप से समझने के लिए उसका क्षेत्रीय अध्ययन करना भी आवश्यक है। जहाँ इतिहासकार, भारतीय विद्याशास्त्री और ऐतिहासिक अध्ययनों को प्राथमिकता देने वाले समाजशास्त्री भारतीय समाज के पाठीय अध्ययन को महत्त्व देते हैं वहीं दूसरी ओर सामाजिक वैज्ञानिको का एक वर्ग ऐसा भी है जो क्षेत्रीय सामंजस्य और क्षेत्रीय असामंजस्य के अध्ययन को प्राथमिकता देते हैं। ये क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य से भारतीय समाज की भौगोलिक संरचना और उसके प्रकार्यों के अध्ययन को महत्त्व देते हैं। अगर वर्तमान भारतीय समाज की राष्ट्रीय एकता, एकीकरण और सामंजस्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है तो भारत के क्षेत्रीय असामंजस्यता का अध्ययन एवं व्याख्या करना अत्यावश्यक है। क्षेत्रीय असामंजस्यता का अध्ययन भारत की वर्तमान भौगोलिक सीमाओं, उससे सम्बन्धित तथ्यो, आंकड़ो, प्राकृतिक संसाधनो आदि का अध्ययन करना होगा।

क्षेत्रीय असामंजस्यता का अर्थ (Meaning of Regional Disharmony)—क्षेत्रीय असामंजस्यता वह असामंजस्यता है जो एक निश्चित क्षेत्र मे बसे समाज की विभिन्न बस्तियो में व्याप्त है तथा दो या अधिक क्षेत्रो में बसे समाजो के बीच में विद्यमान अव्यवस्था, संघर्ष या असंतुलन है अर्थात् क्षेत्रीय असामंजस्यता अन्तः क्षेत्रीय और अन्तर्क्षेत्रीय के रूप में विद्यमान होती है। भारतवर्ष मे एक ही क्षेत्र मे बसे विभिन्न धर्मावलम्बी, भिन्न भाषाई समूह, नृजातियाँ आदि मे जो परस्पर संघर्ष, झगडे, ईर्ष्या, विघटनकारी स्थितियाँ होती हैं उसे अन्तः क्षेत्रीय असामंजस्यता कहते हैं। इसी प्रकार से भारत में विभिन्न प्रादेशिक या आंचलिक क्षेत्रों मे रहने वाले भाषाई, नृजातीय समूह एवं धर्मावलम्बियों के पारस्परिक संघर्ष को अन्तर्क्षेत्रीय असामजस्य कहलाते है। पिछले अध्यायों मे धार्मिक असामंजस्यता और नृजाति असामंजस्यता का सविस्तार विवेचन किया जा चुका है। यहाँ पर क्षेत्रीय आधार पर भौगोलिक, प्रजातीय, धार्मिक, भाषाई, सांस्कृतिक आदि असामजस्यता की विवेचना की जायेगी।

क्षेत्रीय असामंजस्यता के अध्ययन के उद्देश्य
(Aims of the Study of Regional Disharmony)

क्षेत्रीय असामंजस्यता के अध्ययन का उद्देश्य भारतीय समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे बसे लोगो मे विद्यमान असामंजस्यता का अध्ययन करके इसके कारणों को ज्ञात करके विभिन्न क्षेत्रीय, नृजातीय, भाषाई एवं सास्कृतिक समूहो में सामंजस्य स्थापित करना है। संक्षिप्त मे

क्षेत्रीय असामंजस्यताओं को दूर करके राष्ट्रीय एकता स्थापित करना तथा सामाजिक अव्यवस्था को दूर करके सामंजस्य व्यवस्था स्थापित करना है।

क्षेत्रीय असामंजस्यता के अध्ययन का उद्देश्य किसी निश्चित भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई एवं राजनीतिक क्षेत्र में निवास करने वाले लोगो के पारस्परिक भेदभाव एवं संघर्ष आदि से सम्बन्धित सूचना एकत्र करके असामंजस्यता की स्थिति को दूर करने की योजना प्रस्तुत करना है। भारतीय समाज के सन्दर्भ में क्षेत्रीय असामंजस्यता के अध्ययन का उद्देश्य भारतीय समाज या उसकी किसी सुनिश्चित क्षेत्र विशेष के समुदाय का विधिवत् एवं क्रमबद्ध रूप से असामंजस्यता सम्बन्धी जानकारी को प्रस्तुत करना है।

राधा कमल मुकर्जी ने लिखा है, "किसी प्रदेश की प्राकृतिक विशेषताएँ वहाँ के निवासियों की मनोवृत्तियों, प्रथाओं, आचारों, संस्थाओं और चरित्र को निभाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।" क्योंकि प्रादेशिकता मानव व्यवहार की एक विशेष अभिव्यक्ति है जो अपने क्षेत्र विशेष को परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती है। इससे प्रादेशिक भिन्नताओं के कारण उनमें परस्पर संघर्ष होते हैं। क्षेत्रीय सामंजस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि प्रादेशिक भिन्नता से सम्बन्धित निम्न पक्षों का अध्ययन किया जाए।

(1) प्रादेशिक जीवन के जाल का अध्ययन।

(2) प्रदेश तथा प्रादेशिक समूह के सन्दर्भ मे मानव परिस्थितियो का अध्ययन।

(3) सामाजिक प्रारूपो के प्रादेशिक आधार का अध्ययन।

(4) आर्थिक एवं सामाजिक प्रारूपों के बीच अनुकूलतम अध्ययन।

(5) राजनैतिक सम्बन्धों पर आर्थिक परिस्थितियों के प्रभाव का अध्ययन, तथा

(6) प्रादेशिक समाजशास्त्र की प्रवृत्तियों का अध्ययन।

मुखर्जी के अनुसार प्रत्येक प्रदेश वहाँ के निवासियों के लिए एक विशिष्ट पर्यावरण को प्रस्तुत करता है जो समान तथा स्थिर होता है। प्रत्येक क्षेत्रीय समाज की विशिष्ट संरचना होती है जो दूसरे क्षेत्रीय समाज से भिन्न होती है। भारत देश में इस प्रकार की विविधता वाले अनेक क्षेत्र हैं और उनमें भिन्नता के कारण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक असामंजस्यता पैदा होती रहती है। आर्थिक दृष्टि से देखे तो प्रत्येक क्षेत्र का आर्थिक विकास और अवरोध निम्न दो कारणों से प्रभावित होता है—(1) उस क्षेत्र में प्राप्त प्राकृतिक सम्पदा और साधन, तथा (2) उस सम्पदा का उपयोग करने की मानव की क्षमता और संगठन का स्तर।

कृषि अथवा उद्योग पशुपालन आदि सभी आर्थिक विकास के साधन मानव के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व मानसिक गतिविधियों को प्रभावित करते हैं और मानव को अपने प्रदेश की जलवायु, पशु-पक्षी, वनस्पति व खनिज पदार्थ आदि से अनुकूलन करना पड़ता है। प्रत्येक क्षेत्र की संस्कृति, धर्म आदि अलग होते है और इस कारण कोई भी दो प्रादेशिक क्षेत्र परस्पर समान नहीं होते हैं। यह भिन्नता और विशिष्टता उन्हे राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग कर देती है जिसके कारण राधाकमल मुखर्जी का कहना है कि प्रान्तवाद व संकुचित प्रादेशिकता की भावना विकसित होती है। यह समुचित प्रादेशिकता की भावना अपने प्रदेश की भाषा और संस्कृति को श्रेष्ठ और अन्य को हीन मानती है। परिणाम स्वरूप

उस प्रदेश के लोग अपने लिए राजनैतिक और आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और राष्ट्रीय हितों को महत्त्व नहीं देते हैं। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए मुखर्जी ने लिखा, ''परिणाम यह होता है कि प्रादेशिक भक्ति तो बढ़ जाती है और राष्ट्रवाद की भावना कमज़ोर होती जाती है। क्षेत्रीय असामंजस्यता का प्रमुख कारण प्रादेशिक भिन्नता है। भारत बहु प्रादेशिक राष्ट्र होने के कारण अनेक प्रकार की असामंजस्यताओं से जूझता रहता है।

भारत मे जब प्रदेशवाद की भावना बलवती हो जाती है तो वह नियन्त्रण के बाहर हो जाती है और एक विद्रोह के रूप में उभरती है। भारत के इतिहास में क्षेत्रीय असामंजस्यता के कारण अनेक परिवर्तन हुए हैं जिसके ज्वलंत उदाहरण 1 नवम्बर, 2000 को छत्तीसगढ़ संघ के 36वे राज्य, 9 नवम्बर, 2000 को भारत के 27वे राज्य उत्तरांचल और 15 नवम्बर, 2000 को 28वे राज्य झारखण्ड का अस्तित्व में आना है।

क्षेत्र एवं क्षेत्रीय असामंजस्यता की विशेषताएँ
(Characteristics of Region and Regional Disharmony)

क्षेत्र एवं क्षेत्रीय असामजस्यताओ की विशेषताओ का वर्णन अनेक विद्वानो ने किया है। लुण्डबर्ग, बोगार्डस, राधाकमल मुखर्जी आदि ने जो उल्लेख किया है, वे सार रूप मे निम्नांकित हैं—

1. सीखा हुआ व्यवहार (Learned Behaviour)—एक विशिष्ट क्षेत्र के नेता लोग अपने क्षेत्र की योजनाओ, सस्कृति की विशेषताओं, समस्याओ आदि के आधार पर क्षेत्रीय भावनाओ का प्रचार और प्रसार करते हैं। स्थानीय लोग उन नेताओं की भावनाओं, विचारो, दृष्टिकोणो आदि का अनुकरण करते हैं तथा क्षेत्रवाद की भावना को एक-दूसरे मे प्रसारित करते हैं। इस प्रकार से क्षेत्रवाद एक सीखा हुआ व्यवहार है।

2. स्थानीय देशभक्ति (Local Patriotism)—एक निश्चित, सीमित भौगोलिक क्षेत्र के लोगो की अपने स्थान, संस्कृति, समाज आदि के प्रति निष्ठा तथा भक्ति की भावना होती है तथा वे राष्ट्र की तुलना मे अपने स्थानीय हितों को विशेष प्राथमिकता देते हैं। इससे असामजस्यता पैदा होती है।

3. पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण (Partial Attitude)—एक क्षेत्र के लोगों की यह धारणा तथा दृष्टिकोण होता है कि उनका धर्म, भाषा, संस्कृति, भौगोलिक स्थान, जलवायु, खान-पान, रहन-सहन, प्रथायें, रीति-रिवाज आदि सर्वश्रेष्ठ हैं। एक क्षेत्र के लोग कभी भी अपनी उपलब्धियो की तुलना किसी दूसरे क्षेत्र से नहीं करते हैं। सदैव यह मानकर चलते हैं कि वे उच्च हैं। क्षेत्रवाद में ऐसा पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण एकपक्षीय तथा चरमवादी होता है, जो क्षेत्रीय असामजस्यता को बढ़ावा देता है।

4. शोषक-शोषित की भावना (Feeling of Exploiter and Exploitee)— एक छोटे क्षेत्र के लोग अपने को शोषित मानते हैं। उनमे यह भावना व्याप्त होती है कि उनका सरकार द्वारा दमन और शोषण हो रहा है। सरकार शोषक है तथा वे शोषित हैं जो उनमे असतोष की भावना को हमेशा पोषित करती रहती है। एक क्षेत्र के लोग अपने को अलग सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इकाई के रूप में मानते हैं तथा अपनी

आवश्यकताओं और अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं जिससे वह क्षेत्रीय असामजस्यता का रूप धारण कर लेती है।

5. संस्कृति की भिन्नता (Differences of Culture)—क्षेत्रीय भिन्नता सभी स्थानो मे विद्यमान होती है। कुछ विद्वानो का मानना है कि क्षेत्रीय भिन्नता का सीधा सम्बन्ध सांस्कृतिक भिन्नता के साथ है। सांस्कृतिक विरासत की जितनी अधिक भिन्नता होगी क्षेत्रीय असामंजस्य उतना ही अधिक होगा।

उत्तर भारत और दक्षिण भारत की संस्कृतियों में अधिक भिन्नता के कारण क्षेत्रीय असामंजस्यता भी दोनों क्षेत्रो में अधिक है। पूर्वी राजस्थान तथा पश्चिमी राजस्थान की संस्कृतियो में अधिक समानता के कारण असामंजस्यता भी नहीं मिलती है। विभिन्न क्षेत्रों में संस्कृति की भिन्नता, इतिहास और प्रजातीय भिन्नता आदि जितनी अधिक होगी क्षेत्रीय संघर्ष भी उतना ही उग्र होगा। क्षेत्रीय असामंजस्यता की एक प्रमुख विशेषता सांस्कृतिक विरासत की भिन्नता भी है।

6. राजनीति में प्रतिनिधित्व (Representation is Politics)—क्षेत्रीय संघर्ष का सीधा सम्बन्ध सरकार और राजनैतिक संगठनो में प्रतिनिधित्व की मात्रा के साथ है। जिस क्षेत्र का इन संगठनो में जितना अधिक प्रतिनिधित्व होता है, उस क्षेत्र के लोगों में क्षेत्रीयता की भावना उतनी ही कम मिलती है। लेकिन जिस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व सरकार और राजनैतिक संगठनों मे जितना कम होता है उन क्षेत्रों में असामंजस्यता उतनी ही अधिक होती है।

7. क्षेत्रीय संगठन (Regional Organisation)—लोगो का ऐसा मानना है कि जब तक क्षेत्रीय संगठन नहीं होगा सरकार उनकी समस्याओ पर ध्यान नहीं देगी। सरकार से अधिक सुविधाये प्राप्त करनी हैं तो क्षेत्रीय संगठन बनाना चाहिये तथा जितना हो सके क्षेत्रवाद को उतना ही प्रभावशाली बनाना चाहिये। क्षेत्रीय असामंजस्यता के पनपने में क्षेत्रीय संगठन की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

भारत में क्षेत्रीय असामंजस्यता के कारण
(Causes of Regional Disharmony in India)

भारत में क्षेत्रीय असामंजस्यता के प्रमुख कारण विभिन्न समाजशास्त्रियों तथा विद्वानों ने भौगोलिक पृथकता, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक भिन्नताएँ, आर्थिक विषमताएँ, राजनैतिक तथा सामाजिक बताए हैं। ये निम्न हैं—

1. भौगोलिक भिन्नताएँ (Geographical Variations)—भारतवर्ष मे विभिन्न प्रकृति के भौगोलिक क्षेत्र हैं। अलग-अलग क्षेत्रो की भिन्न-भिन्न तथा विशिष्ट समस्याएँ हैं। एक क्षेत्र विशेष के लोगों की अपनी अलग-अलग समस्याएँ होती हैं—जिन कठिनाइयों को वे अधिक ठीक से समझते है, उन पर जब सरकार ध्यान नही देती है तो क्षेत्रीय असामंजस्यता तीव्रतम का उदय हो जाता है तथा वह एक संगठन के रूप मे अपनी माँगों के साथ सामने आता है।

2. सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत (Socio-Cultural Heritage)—दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत है। संस्कृति में जितनी अधिक भिन्नता तथा

विशिष्टता होगी असामंजस्यता उतनी ही अधिक स्पष्ट तथा संगठित होगी। भारत विभिन्न संस्कृतियो, भाषाओ, रीति-रिवाजों का देश है। यहाँ पर अनेक उप सांस्कृतिक समूह होने के कारण उनमें परस्पर सामाजिक भिन्नताएँ हैं जो कई स्थानों पर तो बहुत भिन्न हैं। कश्मीर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, केरल आदि में सांस्कृतिक-सामाजिक भिन्नताएँ तथा समानताएँ मिलती हैं। भौगोलिक दूरी के साथ सांस्कृतिक भिन्नता बढ़ जाती है और उसका परिणाम क्षेत्रीय असामंजस्यता के रूप में विकसित होता रहता है।

3. राजनैतिक कारण (Political Cause)—स्थानीय नेता लोग अपना राजनैतिक प्रभाव बढ़ाने के लिए अनेक तरीके अपनाते हैं, उसमें से एक महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावशाली साधन राजनैतिक आधार पर क्षेत्रवाद का प्रचार करना है। अनेक स्थानीय नेता अपने क्षेत्रों मे राजनैतिक स्वार्थों तथा दल का प्रचार करने के लिए जनता को भड़काते हैं। उनमे क्षेत्रीयता की भावना को उकसाते हैं। सरकार के विरुद्ध प्रचार करते हैं कि वह उस क्षेत्र के विकास में ध्यान नहीं दे रही है। सरकार उनकी समस्याओ को सुनती नहीं है। ध्यान नहीं देती है। नेता लोग कहते हैं कि हम सबको एक होकर आवाज उठानी होगी। समय-समय पर आन्दोलन करते हैं। बन्द का आयोजन करते हैं। हड़ताल करवाते हैं। इस प्रकार से एक क्षेत्र-विशेष में उपर्युक्त प्रक्रिया असंतुलन और असामंजस्यता को बढ़ावा देती है।

4. आर्थिक कारण (Economic Cause)—एक क्षेत्र के लोग आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े होते हैं। वहाँ पर कल-कारखानों का अभाव होता है। जीविकोपार्जन के साधन सीमित होते हैं तो उनको भड़काया जाता है कि अगर अपना क्षेत्र अलग हो जाता तो यहाँ पर विकास के कार्यक्रम चलाए जाएँगे। कल-कारखाने खोले जायेंगे। उनसे कहा जाता है कि अगर एक अलग क्षेत्रीय सरकार बन जाए तभी ऐसा सब कुछ करना सम्भव हो सकता है तथा जीवन सुखी और खुशहाली का हो सकता है। उद्योग-धन्धे खोले जायेंगे। रोजगार के अवसर बढ़ जायेंगे। यह सब आर्थिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों में असंतुलन को बढ़ावा देते हैं।

5. भाषा की समस्या (Language Problem)—भारत मे असामंजस्यता का सबसे बड़ा कारण भाषा की समस्या रहा है। भारत में भाषा के आधार पर प्रान्तों का निर्माण किया गया है। राज्य सरकारो की भौगोलिक सीमाओं का निर्णय भाषा के आधार पर किया गया है तथा केन्द्र सरकार को ऐसा करने के लिए मजबूर किया गया था। इसके उदाहरण पंजाब और हरियाणा का विभाजन, महाराष्ट्र और गुजरात का विभाजन, तमिलनाडु आदि का निर्माण है।

क्षेत्रीय असामंजस्यता के दुष्परिणाम
(Ill-effects of Regional Disharmony)

क्षेत्रीय असंतोष ने भारत मे अनेक समस्याओ को जन्म दिया है। सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या राजनैतिक है जो पृथक्करण के रूप में कई वर्षों से कई क्षेत्रों मे विद्यमान है। इसके कई दुष्परिणाम भी सामने आए हैं। इसने देश की शान्ति को भंग कर रखा है। सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक विकास मे यह एक बड़ी बाधा बन कर विकास को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता रहा है। विद्वानों ने मुख्य रूप से भारत मे क्षेत्रीय असामंजस्यता के निम्नांकित दुष्परिणाम बताए हैं—

1. विध्वंसक एवं संकीर्ण नेतृत्व का विकास (Development of Destructive & Narrow-Minded Leadership)—क्षेत्रीय असामंजस्यता का लाभ उठा कर स्थानीय लोगों में प्रभावशाली व्यक्ति बनने की लालसा पैदा हो गई है। छोटे-छोटे क्षेत्रो मे नेताओं की संख्या में वृद्धि हो गई है। क्षेत्रीय असामंजस्यता को लेकर ये नेता लोगों को भड़काते हैं। नारे लगाते हैं, निवासियों को गुमराह करते हैं, सरकार पर दबाव डालते हैं, स्थानीय अधिकारियो को काम नहीं करने देते हैं। पृथक् क्षेत्र की माँग को लेकर हड़ताल, आगजनी, मारपीट, तोड़फोड़ करके स्थानीय लोग नेता बनने का सपना देखते हैं। क्षेत्र की समस्याएँ तथा उनके समाधान की माँग करना इन बरसाती नेताओं का व्यवसाय-सा बन गया है जो कि क्षेत्रीय संघर्ष का ही एक परिणाम है।

2. भाषावाद की समस्या (*Problem of Linguism*)—क्षेत्रीय भिन्नता ने भाषा की समस्या पैदा की है तथा कुछ विद्वानों का कहना है कि भाषावाद ने क्षेत्रवाद को जन्म दिया है। क्षेत्रवाद तथा भाषावाद दोनों ही समस्याएँ एक-दूसरे के कारण और प्रभाव हैं। भाषावाद से क्षेत्रवाद पनपा है और बाद में क्षेत्रवाद ने अनेक छोटे-छोटे स्थानो मे अल्प भाषा की माँग करके भाषावाद की समस्या को उग्र बना दिया है। सभी क्षेत्रो के निवासी अपनी-अपनी भाषा को केन्द्र सरकार से मान्यता की माँग करने के लिए आन्दोलन करते रहते हैं।

3. राष्ट्रीय एकता में बाधक (*Obstacle in National Unity*)—राष्ट्रीय एकता के लिए पूरे देश का संगठन, तथा एकीकरण होना आवश्यक है। राष्ट्रीयता की विशेषताओं से बिल्कुल भिन्न विशेषताएँ क्षेत्रवाद की हैं। इसलिए राष्ट्रीय एकता के विकास में बड़ी बाधा बना हुआ है। राष्ट्रीय एकता के आधार—सांस्कृतिक एकता, आदर्शात्मक एकता, भौगोलिक एकता, धार्मिक एकता, सामाजिक एकता, एक राष्ट्रीय भाषा के प्रति आदर-सम्मान, राजनैतिक एकता आदि हैं जबकि क्षेत्रवाद के आधार भौगोलिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, भाषा, राजनैतिक आदि पृथक्करण हैं। इस प्रकार से क्षेत्रवाद राष्ट्रीयता के विकास में एक बड़ी बाधा के रूप में कार्य करता है।

4. सामाजिक न्याय में बाधक (Obstacle in Social Justice)—स्वतंत्र भारत के संविधान के अनुसार लिंग, भाषा, जाति, प्रजाति, रंग, धर्म, क्षेत्र आदि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करने की बात कही गई है। लेकिन क्षेत्रवाद की प्रथम माँग यही है कि व्यक्ति की कार्यकुशलता तथा गुणों का मूल्यांकन क्षेत्रीय आधार पर किया जाए। क्षेत्रवाद की इस माँग के कारण कुशल और योग्य व्यक्तियों का चयन नहीं हो पाता तथा ऐसे पुरुषों के चयन नहीं होने से अकुशल अधिकारी नियुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार क्षेत्रवाद के कारण सभी को सामाजिक न्याय नहीं मिल पाता है तथा क्षेत्र का अच्छा विकास भी नहीं हो पाता है।

5. क्षेत्रीय तनावों को बढ़ावा (Encouragement to Regional Tensions)—जब एक क्षेत्र के लोग किसी विशेष माँग या सुविधा को प्राप्त करने के लिए आन्दोलन करते हैं या प्रदर्शन करते हैं तो दूसरे क्षेत्र उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करते हैं। इससे क्षेत्रीय तनाव होते हैं। क्षेत्रीय आधार पर अनेक कार्य केन्द्र सरकार ने किए हैं। किसी क्षेत्र का राज्य या केन्द्रीय मन्त्री, मुख्यमन्त्री या प्रधानमन्त्री बन जाता है तो वह अपने चुनाव क्षेत्र, जिला या राज्य को विशेष सुविधाएँ प्रदान करता है, उससे भी परस्पर क्षेत्रीय तनाव बढ़ते हैं। क्षेत्रवाद से हमेशा

कोई-न-कोई क्षेत्रीय तनाव, संघर्ष या झगडे अखबारो मे प्रकाशित होते रहते हैं। इन सब से सामाजिक असामजस्यता को बढावा मिलता है।

6. प्रगति में बाधा (Hindrance in Progress)—क्षेत्रीय असामंजस्यता के कारण सरकार पर दबाव पडता है और सरकार उन क्षेत्रों में सामाजिक और आर्थिक विकास पर ज्यादा ध्यान देती है जहाँ पर माँग के लिए आन्दोलन, हड़ताल, तोड़फोड़, आगजनी आदि अधिक होती हैं। चाहे वहाँ पर उन विकास योजनाओ की आवश्यकता हो अथवा नहीं। दूसरे क्षेत्र, जिनकी जनता अनुशासित तथा शान्ति से रहती है उनका विकास रुक जाता है चाहे उन क्षेत्रो का विकास अत्यावश्यक होता है। क्षेत्रीय असामंजस्यता सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, सास्कृतिक आदि के सतुलित विकास में एक बडी बाधा है। कई बार क्षेत्रीय आन्दोलन के सम्बन्ध मे विकास योजनाओ को हानि पहुँचाने का भी डर रहता है। क्षेत्रीय असामंजस्यता के अनेक दुष्परिणाम हैं, उनका तुरन्त निवारण करना अति-आवश्यक है। यह देश की गम्भीर समस्या है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि विकास मे बाधक है। देश इतना बड़ा तथा गरीब है कि उसमे पारस्परिक क्षेत्रीय तनाव, पृथक्करण, राष्ट्रीय एकता आदि समस्याओं को अधिक समय तक नहीं बने रहने देना चाहिए। क्षेत्रीय असामंजस्यता की समस्या का तुरन्त समाधान करना समय की विशेष माँग है।

क्षेत्रीय असामंजस्यता के निवारण के उपाय एवं सुझाव
(Measures & Suggestions to Solve Regional Disharmony)

क्षेत्रीय असामजस्यता को समाप्त करने अथवा निराकरण के लिए दो बाते करनी होगी—पहिले उन कारणो का निवारण करना होगा जिनकी वजह से इसको बढ़ावा मिलता है तथा दूसरा वे सुझाव जिनके अभाव मे असामंजस्यता पनपती है। ये निराकरण के उपाय तथा सुझाव निम्नलिखित हैं—

1. राष्ट्रीय नीतियों का निर्धारण (Finalization of National Policies)— केन्द्र तथा राज्य सरकार को राष्ट्रीय हित मे नीतियो, विकास योजनाओं तथा उद्देश्यों को निश्चित करना चाहिए, निश्चित करने के उपरान्त किसी भी प्रकार के दबाव या सुझाव के कारण उसमें परिवर्तन नहीं करना चाहिए। होता ये है कि मन्त्रियो, विधान सभा या संसद के सदस्यों, सरकारी अधिकारियो के दबाव मे आकर क्षेत्रीयता का विशेष ध्यान रखा जाता है जो क्षेत्रीय असामंजस्यता को बढाता है। सरकार को इसके लिए कठोर होना होगी।

2. केन्द्र की सक्रिय नीति (Active Policy of the Centre)—क्षेत्रीयता के आधार पर विभिन्न राज्यों मे परस्पर अनेक विवाद चलते रहते हैं, जैसे—पानी का बँटवारा, विकास कार्यक्रमो मे विभिन्न मदो पर व्यय आदि। केन्द्र सरकार ऐसे मामलो में तुरन्त निर्णय लेने के स्थान पर मूकदर्शक बनी रहती है। इससे क्षेत्रवाद मजबूत होता है तथा और राज्यो मे भी फैलता है। केन्द्र सरकार को सक्रिय तथा निर्णायक भूमिका पूरी करनी चाहिए तथा राज्यो पर नियंत्रण रखना चाहिए। इससे क्षेत्रीय असामंजस्यता उत्पन्न ही नहीं होगी।

3. दबावपूर्ण नीति का त्याग (Avoid Pressure Policy)—केन्द्र तथा राज्य सरकारे क्षेत्रो के द्वारा माँग करने पर दबाव मे आ जाती हैं। कई बार क्षेत्रीय नेता आमरण अनशन या आत्मदाह की धमकी देते हैं और सरकार अपने निर्णय बदल देती है। सरकार को

इस कमजोरी से असामंजस्यता बढ़ती है। इसलिए सरकार को कठोर नीति अपनानी चाहिए तथा दबावपूर्ण नीति का त्याग करना चाहिए जिससे क्षेत्रीय असामंजस्यता समाप्त हो सकेगी।

4. सांस्कृतिक एकीकरण (Cultural Integration)—सरकार को चाहिए कि वह देश के संस्कृतिकरण के लिए प्रयास करे। शिक्षा के पाठ्यक्रम, सांस्कृतिक कार्यक्रमों, आकाशवाणी, दूरदर्शन, यातायात के साधन, संस्कृति के प्रसार आदि के द्वारा देश की विभिन्न संस्कृतियों में एकता, समन्वय तथा सौहार्द्र की भावना पैदा करके एकीकरण करें। संस्कृतियों में जितनी कम भिन्नता होगी क्षेत्रीय असामंजस्यता उतनी ही कम होगा।

5. देश का सन्तुलित विकास (Balance Development of the Country)—सरकार को देश का सन्तुलित विकास करना चाहिए। विकास की योजनाएँ ऐसी बनानी चाहिएँ कि जिससे देश के सभी क्षेत्रों को समान रूप से लाभ मिले। सर्वप्रथम सभी क्षेत्रों की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करना चाहिए। किसी एक या कुछ क्षेत्र विशेषों का ध्यान विकास योजना में प्रावधान रखने के कारण अन्य क्षेत्र आन्दोलन करते हैं। उनमें तनाव पैदा होता है। इस सब को समाप्त करने के लिए देश का सन्तुलित विकास उत्तम समाधान है।

6. सामान्य आधार की खोज (Discovery of Common Base)—क्षेत्रीय संघर्ष का मुख्य कारण विभिन्न क्षेत्र के लोगों में कोई सामान्य लक्षण या आधार का नहीं होना है जिससे उनमें परस्पर एकता पैदा नहीं हो पाती है। क्षेत्रीय असामंजस्यता को समाप्त करने के लिए किसी सामान्य आधार की खोज करना अनिवार्य है जैसे एक भाषा हो। राष्ट्र की कोई एक भाषा की घोषणा तथा व्यवहार में लाकर एक सामान्य आधार का निर्माण किया जा सकता है। राष्ट्र भाषा के अभाव में भाषावाद एक जटिल समस्या बनी हुई है। इसी ने क्षेत्रीय असामंजस्यता को भी विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

7. क्षेत्रीय भाषाओं का सम्मान (Honour to Regional Languages)—राष्ट्रभाषा के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषाओं का विकास तथा आदर होना चाहिए। राष्ट्रभाषा का अध्ययन, मातृभाषा का अध्ययन तथा एक अन्य क्षेत्रीय भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर देना चाहिए। ऐसा करने से क्षेत्रीय असामंजस्यता कम-से-कम भाषा के आधार पर तो समाप्त हो ही जाएगी।

8. क्षेत्रीय राजनैतिक दलों पर प्रतिबन्ध (Restrictions on Regional Parties)—सरकार को ऐसे क्षेत्रीय राजनैतिक दलों पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए जो क्षेत्रीय असामंजस्यता को भड़काते हैं। ऐसे व्यक्ति को मन्त्री तथा अन्य महत्त्वपूर्ण पद नहीं देने चाहिए जो क्षेत्रीय असामंजस्यता में विश्वास करता है तथा उसे बढ़ाता है।

क्षेत्रीय असामंजस्यता एक ऐसी सामाजिक समस्या है जिससे देश का विकास रुक जाता है। इससे राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा पड़ती है। देश को समृद्ध बनाने के लिए आवश्यक है कि इस समस्या का तुरन्त समाधान करना चाहिए। इस समस्या ने देश को विघटित किया है जिसे तुरन्त रोकना चाहिए।

❑

अध्याय-7

अल्पसंख्यक, पिछड़े वर्ग एवं दलित
(Minorities, Backward Classes and Dalits)

भारतीय समाज में जहाँ कुछ लोग समृद्ध हैं, सुख-सुविधाओ से सम्पन्न हैं तो वहीं अनेक लोग ऐसे भी हैं, जिनके पास आवश्यक सुख-सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। वे अन्धविश्वासों, परम्पराओं और जड़मान्यताओं पर निर्भर हैं और राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से कटे हुए है, सामान्यतः अल्पसंख्यक, कमजोर वर्ग के लोग अनुसूचित जातियों, जनजातियो, श्रमिको व भूमिहीन श्रमिको को लिया जाता है। इन कमजोर वर्ग के लोगों, दलितो, अल्पसंख्यको के लिए भी योजनाएँ बनाकर इनका विकास किया जा रहा है। इन सभी को पिछड़े वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है, जिसे 'अन्य पिछड़े वर्ग' शीर्षक से सम्बोधित किया जाता है। भारतीय संविधान के भाग 16 में अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के साथ 'अन्य पिछड़े वर्ग' शब्द प्रयुक्त किया गया है और जहाँ अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लोगों के लिए सामाजिक, शैक्षिणक व आर्थिक उन्नयन की अनेक कल्याणकारी योजनाएँ बनाई गई हैं, वहीं इन 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए पहले कोई विशेष कल्याणकारी व्यवस्थाएँ नहीं की गई हैं। अब इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। इन 'अन्य पिछड़े वर्गों' में कौनसी जातियाँ हैं, उनके निर्धारण के क्या आधार हैं, और उनके उन्नयन के क्या प्रयास किये जा रहे हैं—इन पर अग्रांकित पृष्ठों मे निम्न क्रम से विवेचना की जाएगी। (1) कमजोर, दलित और अल्पसंख्यक, (2) भूमिहीन श्रमिक एवं सीमान्त कृषक, और (3) बन्धुआ मजदूर।

कमजोर वर्ग, दलित और अल्पसंख्यक का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition Weaker Section, Dalits and Minorities)

भारतीय समाज में कमजोर वर्ग, दलित और अल्पसंख्यक की अवधारणा बहुत अस्पष्ट है। समाज के ये लोग जो विभिन्न प्रकार की सुविधाओ से वंचित हैं; आर्थिक, राजनैतिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हैं, साथ ही जाति, लिग व धर्म के भेदभाव के कारण शोषित हो रहे हैं, उन्हे 'पिछड़े वर्ग' मे स्थान दिया जा सकता है। विभिन्न आयोगों में इनकी की क्या अवधारणा मानी गई है, इस पर विचार करने के उपरान्त ही कोई सर्वमान्य परिभाषा दी जा सकती है।

विधिक और कानूनी सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से इस *कमजोर वर्ग* का पता लगाने के लिए *वी आर कृष्णा अय्यर* की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गई थी। कमेटी ने भौगोलिक रूप से वंचित, ग्रामीण, खेतिहर मजदूर, औद्योगिक व श्रमिक आदि को

कमजोर वर्ग का कहा। भारतीय समाज मे जिन जातियो के जन्म या अन्य सामाजिक आधार पर सदियो से शोषण होता रहा है उन्हें इस वर्ग में रखा जाता है क्योंकि वास्तव मे जो लोग गरीबी की रेखा से नीचे जीवन जीते हैं, राजनैतिक दृष्टि से भी जो अक्षम माने जाते हैं, सामाजिक दृष्टि से जिन्हे वे भूमिकाएँ या सुविधाएँ नहीं दी जातीं जिनसे उन्हें समाज मे सम्मान मिले, शिक्षा, धन और योग्यता की दृष्टि से जो दुर्बल होते हैं, उन्हें ' कमजोर या पिछड़े वर्ग' मे सम्मिलित किया गया है।

सन् 1934 मे *'पिछड़े वर्ग संघ'* की स्थापना **'मद्रास'** मे की गई थी जिसमें 100 से अधिक जातियों को पिछड़े वर्गो में माना गया था और यह संख्या मद्रास की जनसंख्या का अनुमानतः 50 प्रतिशत थी। **ट्रावनकोर** राज्य ने सन् 1937 मे 'पिछड़े समुदाय' मे शैक्षणिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े समुदाय को माना था। उसके बाद 1948 में हिन्दुओ और मुसलमानों मे सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से कमजोर, दलित और पिछड़े वर्गो का पता लगाने के लिए एक आयोग गठित करने का विचार किया गया। इस आयोग का कार्य इन पिछड़े वर्गो के लोगों के समक्ष आने वाली कठिनाइयों को जानकर केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार से उन समस्याओं के सुधार के लिए प्रयत्न करने की सिफारिश करने का भी था। ऐसे आयोग की नियुक्ति 1953 में हुई।

1947 में *बिहार सरकार* द्वारा 'अन्य पिछड़े वर्गो' के लिए मैट्रिक के बाद के अध्ययन के लिए कुछ प्रावधान किए गए। बिहार सरकार ने विभिन्न जातियों के 'पिछड़े वर्गो' की एक सूची भी 1951 मे घोषित की, जो राज्य की जनसख्या का 60 प्रतिशत थी। 1948 मे *उत्तर प्रदेश* सरकार ने भी इनके लिए शैक्षणिक सुविधाएँ प्रदान कीं। इस सरकार ने 56 जातियों की एक सूची बनाई जो उत्तर प्रदेश की जनसंख्या का 65 प्रतिशत थी। *विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग* (1948-49) ने पिछडे समुदाय के छात्रो के लिए आरक्षण रखने की बात कही। अनेक संगठन पिछड़े वर्गों के लिए बनाए गए, जैसे— *'बिहार राज्य पिछड़ा वर्ग महासंघ* 1947 मे बनाया गया, *'अखिल भारतीय पिछड़ा वर्ग महासंघ'* 1950 में स्थापित हुआ। 1954 में 15 राज्यों में पिछड़े वर्गों के लिए 88 संगठन बने। अनेक सूचियाँ बनाई गई। कर्नाटक की सूची मे ब्राह्मणो को छोडकर सभी गैर-हिन्दू लिए गए, किन्तु अभी तक स्थिति स्पष्ट नहीं हो सकी है कि 'पिछड़े वर्ग' मे किन्हे स्थान दिया जाए। भारत के संविधान के अनुसार सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि को पिछड़ेपन का आधार बनाया जाना चाहिए। भारत के राष्ट्रपति को संविधान की धारा 340 के आधार पर आयोग का गठन करके पिछड़े वर्गो की स्थिति की जानकारी लेने का अधिकार दिया गया है। धारा 15 (4) और 16 के आधार पर राज्य सरकारें भी इनकी सही स्थिति का पता लगा सकती हैं। सर्वोच्च न्यायालय के नियमानुसार 'पिछड़ा वर्ग' की सूची में विभिन्न वर्गों कमजोर वर्ग, दलित और अल्पसख्यकों को सम्मिलित करने एवं हटाने के लिए राज्य सरकार को जो प्रार्थना-पत्र प्राप्त हुए हैं उनके सम्बन्ध में नेशनल कमीशन व अन्य राज्यो के 'पिछड़ा वर्ग' आयोगों मे रखे मापदण्ड, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय, मण्डल कमीशन के मापदण्ड, सर्वेक्षण और विचार-विमर्श करके तय किए जायेंगे, क्योंकि संविधान मे 'जाति' शब्द का उल्लेख नहीं है, वर्ग का है और आयोग को पिछड़े वर्गों की सूची बनाते समय उच्चतम न्यायालय के निर्देशों के अनुसार वर्गों के सामाजिक और शैक्षिक पिछडेपन पर विचार करना है। पिछड़ेपन का निर्धारण

सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से किया जाता है। इसमें उन सभी समूहों व जातियों को लिया जाता है जो व्यवसाय, शिक्षा आदि में अन्य उच्च वर्गों से पीछे रह रहे हैं। कृषि-जीवनयापन करने वाले भी इसी श्रेणी में हैं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि *'अन्य पिछड़ा वर्ग' के अन्तर्गत उन वर्गों को लिया जा सकता है, जिन्हें अछूतों से ऊँचा और ब्राह्मणों से नीचा समझा जाता है और जो लोग सामाजिक, शैक्षिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं।*

कमजोर, दलित और अल्पसंख्यकों से सम्बन्धित आयोग (Commission on Weaker, Dalit and Minoritity)

पिछड़े लोगों का निर्धारण करने, उनकी सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक स्थिति को जानने और जानकर केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों से उनके उन्नयन के लिए प्रयास करने की सिफारिश करने के लिए देश में अब तक दो आयोग गठित किये गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. काका कालेलकर आयोग— पिछड़े लोगों से सम्बन्धित *'अखिल भारतीय स्तर का प्रथम आयोग'* काका कालेलकर की अध्यक्षता में 1953 को स्थापित किया था। इसमें निर्देश दिया गया था कि वह सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि को ध्यान में रखकर पिछड़े वर्गों का निर्धारण करे और उनकी सूची तैयार करे और उनकी सामाजिक और शैक्षिक समस्याओं का भी पता लगाए।

आयोग ने भारत की 70 प्रतिशत जनसंख्या को पिछड़ा माना, जिसके निम्नलिखित आधार माने—

(1) जातीय-संस्तरण में निम्न सामाजिक स्थिति।

(2) शैक्षिक-प्रगति का अभाव।

(3) राजकीय सेवा में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

(4) व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

आयोग ने जाति समूहों के पिछड़े व्यक्तियों को आधार न मानकर 'सम्पूर्ण जाति' को पिछड़ेपन का आधार माना, बाद में 'निर्धनता, मकान और व्यवसाय' को भी पिछड़ापन-निर्धारण का महत्त्वपूर्ण कारक माना। केन्द्र सरकार ने जाति को आधार मानने से इन्कार कर दिया और उसने 1961 में राज्य सरकारों से उनके यहाँ पिछड़े वर्गों की पहचान के लिए सर्वेक्षण कराने के आदेश दिए जिसका आधार आर्थिक हो, न कि जाति। इस आदेशानुसार राज्यों ने आय और व्यवसाय को आधार मानकर पिछड़े वर्गों के लोगों की सूची तैयार की, और उन्हें वर्गीकृत किया।

राज्यों में पिछड़ेपन के आधार एवं संवैधानिक प्रावधान (Bases of Backwardness in States and Constitutional Provisions)

संविधान के अनुच्छेद 15 (4) में राज्यों को, नागरिकों के सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लोगों के उत्थान के लिए एक विशेष उपाय करने का अधिकार प्रदान किया गया है। इसके अलावा, अनुच्छेद 16 (4) में राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह सरकारी सेवाओं तथा पदों में ऐसे किसी भी पिछड़े वर्गों के लिए, जिन्हें इनमें पर्याप्त आरक्षण नहीं मिला, आरक्षण

की व्यवस्था कर सकता है। अनुच्छेद 16 या 38, 46 और अनुच्छेद 38 के भाग 16 के खण्ड (I) के अन्तर्गत संविधान में दिए गए अन्य प्रावधानों के अन्तर्गत राज्य के लिए अनिवार्य कर दिया गया है कि वह सामाजिक व्यवस्था को जहाँ तक सम्भव हो सके, लाए और प्रभावी ढंग से प्रेषित कर जन-कल्याण को बढ़ावा दे, जिनमें न्याय, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक राष्ट्रीय जीवन की भी सभी संस्थाओं को सूचित करे। अन्य कमजोर पिछड़े वर्गों के शैक्षिक और आर्थिक हितों को बढ़ावा देने और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उन्हें बचाने के लिए अनुच्छेद 46 में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्देश हैं। संविधान के भाग 16 में 'कुछ वर्गों से सम्बन्धित विशेष प्रावधान' है। इसी भाग के अनुच्छेद 340 में पिछड़े वर्गों की स्थिति का पता लगाने के लिए आयोग गठित करने की व्यवस्था की गई है।

1961 में केन्द्र ने स्वयं पिछड़े वर्गों की सूची तैयार न करने का निर्णय लेकर, राज्यों को सूची तैयार करने के आदेश दिए। केन्द्र स्वयं पिछड़ेपन का निर्धारण नहीं कर सका अतः उसने राज्यों को अपनी कसौटी निर्धारित कर, सूचियाँ बनाने के आदेश दिए। राज्यों ने स्थानीय, सामाजिक और आर्थिक आधारों को प्रमुखता देकर अपनी सूचियाँ बनाईं। अनेक जातियों ने इसमें समावेश होने के लिए माँग की।

'कर्नाटक सरकार' ने 1960 से *जाति, धर्म और प्रजाति* को पिछड़ेपन का आधार न मानकर **परिवार की आय और व्यवसाय** को पिछड़ेपन का आधार माना। 1960 तक **'ब्राह्मणों'** के अतिरिक्त सभी जातियों को पिछड़ी माना गया। 1972 में एल.जी. हवानूर की अध्यक्षता में कर्नाटक सरकार ने पिछड़े वर्गों के लिए एक आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने आय और व्यवसाय के स्थान पर *'आर्थिक और जातीय आधार'* पर पिछड़ी जातियों की एक सूची बनाई और इनके लिए 32 प्रतिशत नौकरियों के लिए आरक्षण की सिफारिश की। कर्नाटक में लिंगायत और वोकालिंगा जातियाँ पिछड़े वर्ग में आने की माँग कर रही हैं। कर्नाटक सरकार ने 40 प्रतिशत आरक्षण किया है किन्तु वर्तमान समय में कर्नाटक विधान सभा ने 20 सितम्बर, 1994 को आरक्षण विधेयक पारित कर दिया। इसमें *आरक्षण तिहत्तर प्रतिशत* करने का प्रावधान है। *'अन्य पिछड़े वर्ग'* के लिए पचास और अनुसूचित जाति-जनजाति के लिए तेईस प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान है। विधानसभा में दो प्रस्ताव पारित किए गए हैं—एक तो यह कि राज्य केन्द्र से अनुरोध करेगा कि राज्य के आरक्षण विधेयक को संविधान की नौवीं अनुसूची में शामिल किया जाए और दूसरा यह कि राज्य केन्द्र को उन परिस्थितियों का ब्यौरा देगा जिनके कारण पिछड़ा और दलित वर्ग को सामाजिक-न्याय दिलाने के लिए राज्य को 73 प्रतिशत आरक्षण लागू करना पड़ा।

आन्ध्र प्रदेश सरकार ने 1966 में जाति के बजाय **'परिवार'** को पिछड़े समूहों के वर्गीकरण का आधार माना। किन्तु यह निर्णय कुछ कानूनी कठिनाइयों के कारण त्यागना पड़ा। 1970 में 92 समुदायों की एक सूची 'पिछड़े वर्गों' की बनाई गई। इन जातियों के लिए **25 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की गई है।**

बिहार सरकार ने 'काका कालेलकर आयोग' और 'मुंगेरी लाल आयोग' द्वारा प्रस्तुत की गई सिफारिशों के आधार पर 1978 में 128 पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण की घोषणा की। बिहार की अहीर, कुर्मी और कोइरी जातियाँ जो बहुत पिछड़ी न होने पर भी पिछड़े वर्गों की कुल जनसंख्या का पाँच में से तीसरा हिस्सा हैं, आरक्षण का अधिकतम लाभ ले लेती

हैं। इस नीति से लाभ लेने के लिए 12,000 रु. प्रतिवर्ष परिवार की आय-सीमा निश्चित की गई है। बिहार मे *"26 प्रतिशत आरक्षण"* दिया गया है।

तमिलनाडु में 50 प्रतिशत आरक्षण किया गया। अब तमिलनाडु में '69 प्रतिशत आरक्षण' करने का प्रस्ताव रखा गया है। इस आरक्षण के कानून को संविधान की नवीं अनुसूची मे शामिल करने सम्बन्धी संविधान संशोधन विधेयक को 24 अगस्त, 1994 को राज्य सभा ने आवश्यक बहुमत से पारित कर दिया। सरकारी नौकरियों व शिक्षण संस्थाओं मे 69 प्रतिशत आरक्षण जारी रखने का प्रावधान है जिसे संविधान की नवीं अनुसूची में शामिल किए जाने से किसी न्यायालय में इसे चुनौती नहीं दी जा सकती।

केरल सरकार ने पिछड़े वर्ग आयोग की स्थापना की और 1970 में इसकी रिपोर्ट मिली। इसमें शैक्षिक, आर्थिक स्थिति, सामाजिक पिछड़ापन और सरकारी सेवाओं में हिस्सा—कसौटियाँ मानकर सिफारिश की और आज *'25 प्रतिशत आरक्षण'* पिछड़े वर्गों के लिए रखा गया है।

उत्तर प्रदेश सरकार ने 58 समुदायों की जातियो को पिछड़ा माना है—वहाँ पर कुर्मी, अहीर और कोईली भी स्वयं को आरक्षित माने जाने के लिए प्रयासरत हैं। वहाँ 15 प्रतिशत नौकरियाँ आरक्षित हैं। अब उत्तर प्रदेश में उत्तराखण्ड राज्य बनाने व वहाँ 27 प्रतिशत आरक्षण लागू किए जाने के लिए आन्दोलन किए जा रहे हैं।

महाराष्ट्र सरकार ने 14 प्रतिशत आरक्षण पिछड़े वर्गों के लिए किया है।

जम्मू-कश्मीर राज्य मे पिछड़े समुदायों और जातियों के लिए 40 प्रतिशत नौकरियाँ आरक्षित की गई हैं।

राजस्थान- पंचायती राज संस्थाओं में आरक्षण सीमा 50 प्रतिशत—पंचायती राज संस्थाओं मे और नगरपालिका चुनावों में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए कुल आरक्षण की मात्रा 50 प्रतिशत रखने का प्रस्ताव किया गया। महिलाओं को इन चुनावों में एक तिहाई आरक्षण का लाभ दिया जा रहा है। वर्तमान में अनुसूचित जाति के लिए 16 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति के लिए 12.5 प्रतिशत आरक्षण है। इस स्थिति में यह ध्यान रखा जा रहा है कि इन तीनों वर्गों के लिए घोषित आरक्षण की मात्रा 50 प्रतिशत से अधिक न हो—इस स्थिति मे 'अन्य पिछड़े वर्ग' के लिए आरक्षण का प्रावधान यह है कि इन दोनो संख्याओ को मिलाने के बाद 50 प्रतिशत होने में जितना हिस्सा बचता है, वह 'अन्य पिछड़े वर्गों' के लिए होगा।

मण्डल आयोग
(Mandal Commission)

सरकार ने अनुच्छेद 15 और 16 पर गम्भीरता से विचार किया और 1979 में द्वितीय पिछड़ा वर्ग आयोग (मंडल आयोग) का गठन किया। आयोग ने जिन बातों पर विचार करना था, ये हैं—

(1) सामाजिक और शैक्षिक दृष्टिकोण से पिछड़े वर्गों को परिभाषित करने के आधार तय करना।

(2) सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के विकास हेतु किए जा सकने वाले कार्यों के बारे में सुझाव प्रस्तुत करना।

(3) केन्द्र और राज्य सरकार तथा केन्द्र शासित प्रदेशो में उन नौकरियों में आरक्षण की सम्भावनाओं की जाँच करना जिनमें पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व कम है।

(4) प्राप्त तथ्यों के आधार पर रिपोर्ट प्रस्तुत करना और सिफारिशें देना।

आयोग ने 31 दिसम्बर 1980 को अपनी रिपोर्ट निम्न सुझावों के साथ प्रस्तुत की—

(1) सभी स्तरों पर 27 प्रतिशत नौकरियों का आरक्षण किया जाए।

(2) पदोन्नति के लिए भी 27 प्रतिशत का सिद्धान्त लागू किया जाए।

(3) यदि आरक्षित कोटा भरा नहीं जाता तो तीन वर्ष की अवधि के लिए इसे बढ़ा दिया जाए, उसके बाद ही उसे हटाया जाए।

(4) पिछड़े वर्गों को भी आयु में छूट अनुसूचित जाति- जनजातियों के समान दी जाए।

(5) आरक्षण का सिद्धान्त केन्द्रीय और राज्य सरकारों से सहायता प्राप्त करने वाले निजी प्रतिष्ठानों, विश्वविद्यालयों, बैंकों और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों में लागू किया जाए।

(6) इन सिफारिशों को लागू करने के लिए सरकार आवश्यक कानूनी प्रावधान करे।

(7) अनुसूचित जाति-जनजातियों के समान ही पिछड़े वर्गों की सूची तैयार की जानी चाहिए।

13 अगस्त, 1990 को तत्कालीन प्रधानमंत्री वी पी. सिंह ने पिछड़ी जातियों के लिए केन्द्रीय सरकार की नौकरियो में 27 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा कर दी। इस घोषणा के फलस्वरूप युवाओं में कुण्ठाएँ जागृत हुई और प्रतिक्रिया स्वरूप पूरे देश में इसके विरोध में आत्मदाह, आत्महत्या और आन्दोलन होने लगे। आत्मदाह करने वाले छात्र अधिकांशतः 25 वर्ष की आयु से कम ही थे। छात्रों के आत्मदाह और पुलिस की कार्यवाही से अनेक छात्र मृत्यु को प्राप्त हुए। पंजाब; उत्तर प्रदेश में जौनपुर व लखनऊ; राजस्थान मे कोटा; और बिहार में अनेक आत्मदाह हुए। इसका अत्यधिक विरोध होने के कारण 1 अक्टूबर, 1990 को मण्डल आयोग की सिफारिशों पर न्यायालय को स्थगन आदेश देना पड़ा।

अन्य पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने के खिलाफ व्यापक विरोध प्रकट किया गया और कथित आरक्षण पर प्रश्न उठाते हुए उच्चतम न्यायालय में कई याचिकाएँ दाखिल की गई। उच्चतम न्यायालय ने 16 नवम्बर, 1992 के अपने आदेश द्वारा सभी याचिकाओं का फैसला किया उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से फैसला किया कि 13 अगस्त, 1990 के सरकारी ज्ञापन को लागू करते समय अन्य पिछड़े वर्गों में सामाजिक दृष्टि से आगे बढे हुए 'अति समृद्ध तबके' को आरक्षण के दायरे से बाहर रखा जाएगा। उच्चतम न्यायालय ने भारत सरकार तथा राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों की सरकारों को अन्य पिछड़े वर्गों की सूची में नाम शामिल करने के अनुरोधों और जरूरत से ज्यादा नाम शामिल करने या कम शामिल करने की शिकायतो की जाँच करने की सिफारिशों के लिए कोई स्थायी संस्था गठित करने का भी निर्देश दिया। तद्नुसार 14 अगस्त, 1993 को राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग गठित किया गया,

जिसे पिछले आयोग की अवधि समाप्त होने के बाद 28 फरवरी, 1997 को पुनर्गठित किया गया है।

भारत सरकार ने 'अति समृद्ध तबके' की पहचान करने के लिए 22 फरवरी, 1993 को एक विशेषज्ञ समिति बनाई। इस समिति की सिफारिशो के आधार पर भारत सरकार ने 8 सितम्बर, 1993 को एक ज्ञापन जारी किया, जिसमें ये सुविधाये दी गईं—भारत सरकार के अन्तर्गत आने वाली नौकरियो मे अन्य पिछड़े वर्गों के लोगो को 27 प्रतिशत आरक्षण, और अन्य पिछड़े वर्गों मे 'अति समृद्ध तबके' के लोगो को आरक्षण नहीं दिया जाएगा।

अभी तक 27 प्रतिशत आरक्षण 8 सितम्बर, 1995 से लागू हो गया है। अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण को पूरी तरह लागू करने के उद्देश्य से इन वर्गों को ये सुविधाएँ भी उपलब्ध कराई जा रही हैं—(1) अनुसूचित जातियो-जनजातियो के उम्मीदवारो की ही तरह 13 अक्टूबर, 1994 से उनके लिए भी लिखित परीक्षा और साक्षात्कार के मानदण्डो में ढील दी गई है, और (2) 25 जनवरी, 1995 को सरकार ने नौकरियों में सीधी भर्ती के वक्त अन्य पिछड़े वर्गों के उम्मीदवारों को अन्य पात्रता होने पर ऊपरी आयु सीमा मे तीन साल की छूट देने तथा सिविल सेवा परीक्षा में शामिल होने के सात अवसर प्रदान करने के निर्देश भी दिए हैं।

भारत सरकार ने उच्चतम न्यायालय के निर्देशानुसार पहले चरण मे घोषित की गई अन्य पिछड़े वर्गों की केन्द्रीय सूची अधिसूचित कर दी है। इसमे वे जातियाँ/समुदाय शामिल हैं, जो मण्डल आयोग द्वारा बनाई गई सूची और 21 राज्यो तथा पाँच केन्द्रशासित प्रदेशों की सरकारो द्वारा तैयार की गई पिछड़े वर्गों की सूची मे समान रूप से शामिल हैं। अलग-अलग राज्यो मे इसके लिए अलग-अलग व्यवस्थाएँ हैं।

पिछड़े वर्गों के आन्दोलन
(Movements of Backward Classes)

पिछड़े वर्गों मे अपनी स्थिति को लेकर समय-समय पर विरोध के स्वर उठते रहे हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भी पिछड़े वर्गों ने अपनी स्थिति को समाज में सुदृढ़ बनाने की माँग को लेकर आन्दोलन किए हैं, इनमें दक्षिण मे विरोध के स्वर ज्यादा उठे हैं। स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् के आन्दोलनो मे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन ये हैं—ज्योतिराव फुले ने 1873 मे **'सत्यशोधक समाज'** की स्थापना की। फुले माली थे और इस समाज में माली, तेली कुलवी और सती जातियाँ प्रमुख थीं। आन्दोलन का उद्देश्य स्त्री-शिक्षा, समाज-सेवा, महिला-मुक्ति एवं सुधार, अनाथालय और लोगो मे शिक्षा प्रसार करना था। वास्तव मे यह बड़ा सक्रिय आन्दोलन था जो ब्राह्मणो के विरोध में चलाया गया था, जिसका ब्राह्मणो ने विरोध किया। फुले ने हिन्दूवाद का विरोध किया। उन्होने दो पुस्तकें भी लिखी—(1) **सार्वजनिक सत्य धर्म** और (2) **गुलामगिरी**। वास्तव मे इन दोनों पुस्तको का सकारात्मक प्रभाव पिछडे वर्गो पर पड़ा। बाद में इस आन्दोलन को समाप्त कर दिया गया।

दक्षिण भारत में ई.वी. रामास्वामी नायकर ने ब्राह्मण-विरोधी आन्दोलन चलाया जो पिछड़ी जातियो के हितो को लेकर चलाया गया था।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के अनन्तर **द्रविण मुनेत्र कडगम** (द्रविणो का संगठन) की स्थापना 1949 मे अन्नादुरई ने एवं **'अखिल भारतीय द्रविण मुनेत्र कडगम'** की स्थापना 1970 में एम जी. रामचन्द्रन ने की। इन दोनों संगठनों में ब्राह्मण-विरोधी तत्त्वों पर जोर दिया गया।

एक और आन्दोलन **'श्री नारायण धर्म परिपालन'** केरल में हुआ जिसे नारायण गुरुस्वामी ने किया था। इस आन्दोलन में गैर-ब्राह्मण नायर जाति के उत्थान पर जोर दिया गया। अत: इसे सुधारवादी आन्दोलन माना जाता है। इन आन्दोलनों के दो प्रमुख कारण हैं—(1) दक्षिण में जितने भी आन्दोलन हुए वे या तो ब्राह्मणवाद के विरोध में थे अथवा पिछड़े वर्गों के उत्थान और जातीय संस्तरण मे उच्च स्थिति प्रदान किए जाने के सम्बन्ध में थे। ब्राह्मणों को सदैव ही विशेषाधिकार प्राप्त हुए हैं, समाज मे उच्च स्थिति प्राप्त हुई है और यही अन्य जातियों के विरोध का कारण बना।

ब्राह्मण संख्या मे कम होते हुए भी साक्षरता में आगे रहे। इसी कारण इन्हें अन्य जातियों से उच्च माना गया और ब्राह्मणो के अलावा अन्य जातियों को पिछड़ा समुदाय भी घोषित किया गया।

(2) इन आन्दोलनो का एक अन्य कारण यह भी माना जा सकता है कि ग्रामीण समाज में कृषक जातियाँ अत्यधिक हैं। राजनैतिक दृष्टि से ये 'प्रभु जातियाँ' कही जाती हैं। इन जातियो को एकीकृत ग्रामीण विकास, समुदायिक विकास योजना, पंचायती राज वयस्क मताधिकार व हरित क्रान्ति का सर्वाधिक लाभ मिला है। उत्तर प्रदेश के जाट और गूजर, बिहार की कुर्मी एवं यादव जातियाँ इसके उदाहरण हैं—इन जातियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार ने पिछडे वर्गों में आन्दोलन को उभारा है।

इन उपर्युक्त आन्दोलनों के अतिरिक्त सामाजिक असमानता के विरोध मे व नौकरियो और शिक्षा में स्थान रक्षित कराने के उद्देश्य से भी आन्दोलन किए जा रहे हैं। वर्तमान समय में पिछड़े वर्गो के लिए अलग राज्य की माँग ने उत्तर प्रदेश मे उत्तराखण्ड आन्दोलन को जन्म दिया है।

उत्तराखण्ड आन्दोलन

उत्तर प्रदेश में उत्तराखण्ड को पृथक् राज्य बनाने के लिए आन्दोलन किया गया था। उत्तराखण्ड आन्दोलन का प्रारम्भ मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव के पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण सुविधा देने के परिणामस्वरूप हुआ था। वास्तव में 1950 में जब भाषाई आधार पर राज्यों का गठन किया जा रहा था तभी इसे पृथक् राज्य का दर्जा मिलना चाहिए था। 1991-92 की योजना आयोग की रिपोर्ट मे भी इसे पिछड़ा राज्य माना गया था। उत्तर प्रदेश विधान सभा ने आठ जिलो को मिलाकर पृथक् उत्तराखण्ड राज्य के गठन के प्रस्ताव को 24 अगस्त, 1994 को स्वीकृति दे दी थी। इस उत्तराखण्ड के पृथक् राज्य में—नैनीताल, अलमोड़ा, पिथौरागढ़, पौढ़ी गढ़वाल, चामौली, टिहरी गढवाल, उत्तरकाशी और देहरादून शामिल हैं। इन आठ जिलो वाले उत्तराखण्ड को अलग राज्य बनाने के लिए आन्दोलन चलाया गया था। इसमे छात्र वर्ग सम्मिलित थे। वास्तव में इस आन्दोलन के दो पक्ष थे—(1) एक तो अलग राज्य की स्थापना और (2) दूसरे यह कि चूँकि वहाँ पिछड़े वर्गों की जनसंख्या का अनुपात तीन प्रतिशत से भी कम है, अत: 27 प्रतिशत आरक्षण उत्तराखण्ड

मे लागू न किया जाए। अलग राज्य बनाने के पक्ष में राज्य विधानमण्डल प्रस्ताव पारित कर लगभग 6 वर्ष तक यह मामला केन्द्र सरकार के अधीन रहा किन्तु आरक्षण के विषय में केन्द्र सरकार विमुख रही जिसके कारण आन्दोलन की लहर और तीव्र हो गई। उत्तराखण्ड राज्य की सामाजिक-शैक्षिक स्थिति की दृष्टि से वहाँ की जनसंख्या के बड़े भाग को पिछड़ा वर्ग माना जाए या अनुसूचित जनजाति मे? दोनो में अन्तर यह है कि पहली स्थिति में आरक्षण 50 प्रतिशत है और दूसरी मे शत-प्रतिशत। अतः केन्द्र सरकार ने इसे उत्तरांचल नाम देकर 9 नवम्बर, 2000 को भारत का 27वाँ राज्य घोषित कर दिया।

आरक्षण-विरोधी-आन्दोलन एवं आरक्षण-नीति
(Anti-Reservation Movement and Reservation Policy)

आरक्षण-विरोधी घोर आन्दोलन एक दशक पूर्व बिहार और गुजरात में हुए थे और आज उत्तराखण्ड में आरक्षण-विरोधी आन्दोलन चल रहा है। इस आन्दोलन का मुख्य आधार पढ़े-लिखे लोगों की बेरोजगारी का है। जब शिक्षित वर्ग को पढ़-लिखकर भी सरकारी नौकरी नहीं मिलती तो उसमे कुण्ठाएँ आ जाती हैं जो आरक्षण-विरोधी-आन्दोलन का रूप ले लेती हैं। आरक्षण के विस्तार पर सभी दल संगोष्ठियाँ और सभाएँ कर रहे हैं। यह सच है कि पढ़े-लिखे लोगो मे सवर्ण जातियों के लोग ज्यादा हैं किन्तु ऐसी स्थिति में क्या किया जाए? क्या सरकारी नौकरियो के सभी स्थान अनारक्षित कर दिए जाएँ? क्योंकि नौकरियों का शत-प्रतिशत आरक्षण भी कर दिया जाए तो भी पिछडे और दलित समुदाय को पूरा रोजगार नहीं मिल सकता, क्योकि उनकी सख्या तो सवर्णों से भी ज्यादा है। सामाजिक-विषमता को दूर करने के लिए आरक्षण का किंचित् उपयोग अवश्य है किन्तु वास्तव में यह विद्वेष समता से दूर होगा। वह समता जिसे गाँधी और विनोबा ने अपने जीवन में जीया था।

आरक्षण के प्रस्ताव की नीति भी सभी प्रदेशो की अपनी-अपनी है, जैसे—तमिलनाडु सरकार ने आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत से बढाकर करीब 69 प्रतिशत करने का फैसला किया है। तमिलनाडु सरकार ने आरक्षण कानून को कानून की नवी अधिसूची मे शामिल करने सम्बन्धी सविधान संशोधन-विधेयक को 24 अगस्त, 1994 को राज्य सभा में पारित कर दिया। जिसके अनुसार तमिलनाडु मे सरकारी नौकरियों तथा शिक्षण सस्थाओं में 69 प्रतिशत आरक्षण जारी करने का प्रावधान है। ध्यान रहे कि मण्डल आयोग ने 27 प्रतिशत आरक्षण देने की बात कही थी और उच्चतम न्यायालय ने भी 50 प्रतिशत आरक्षण की पैरवी की थी किन्तु तमिलनाडु की आरक्षण की सीमा के सामने तो केन्द्र सरकार ने भी समझौता कर लिया। इसमे राजनैतिक पक्ष प्रबल रहा है अथवा चुनावी दृष्टिकोण, कहा नहीं जा सकता। किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि यदि इस प्रकार आरक्षण की सीमा बढ़ाई गई तो उच्च प्रतिभाओं को संरक्षण कैसे मिलेगा? और आरक्षण का यह सिलसिला कब तक और कितना चलेगा? जिन्हें आज नौकरियो में आरक्षण दिया गया है, वे कल शिक्षण संस्थाओं मे भी आरक्षण की माँग करेगे। इस प्रकार आरक्षण कहीं शैक्षिक पिछड़ापन हटाते-हटाते जातीय आधार पर देश के टुकड़े-टुकड़े न कर दे। तब जातिवाद का विष और फैल जाएगा।

आरक्षण की लहर आज सभी प्रान्तों मे व्याप्त है। बिहार के मुख्यमंत्री लालू प्रसाद यादव बिहार के लिए 80 प्रतिशत आरक्षण की माँग कर रहे है, उसी भाँति कर्नाटक के लिए भी 80 प्रतिशत आरक्षण की माँग वहाँ के मुख्यमंत्री वीरप्पा मोइली द्वारा की जा

रही है और दिनांक 20 सितम्बर, 1994 को कर्नाटक विधान सभा में आरक्षण विधेयक पारित कर दिया। इसमें तिहत्तर प्रतिशत आरक्षण पिछड़ी जातियो के लिए करने का प्रावधान है। मेघालय और नागालैण्ड जैसे पूर्वोत्तर राज्यों में पहले से ही 80 से 85 प्रतिशत तक आरक्षण की व्यवस्था लागू है। अब मुस्लिम और ईसाई भी आरक्षण कोटे की माँग कर रहे है। किन्तु क्या आरक्षण सामाजिक विषमता को दूर कर सकेगा? भारत के उच्चतम न्यायालय ने 50 प्रतिशत तक आरक्षण लागू करने की व्यवस्था की है। भारत की संसद सर्वोच्च विधि-निर्मात्री निकाय है। वह कानून बनाकर उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई व्यवस्था को बदल सकती है और इस अधिकार का संसद ने उपयोग किया है। किन्तु आरक्षण बढ़ाने से न तो सबको नौकरियाँ मिल जायेगी और न ही सामाजिक असमानता मे कमी होगी, बल्कि युवा पीढ़ी को तो इससे भटकाव ही ज्यादा मिलेगा।

आरक्षण की अलग-अलग राज्यों की नीति से वातावरण में क्रूरता पनपने लगेगी और देश विभाजन की दशा में बढ़ता चला जाएगा। अतः आरक्षण की नीति का निर्धारण करते समय वास्तव मे सामाजिक और शैक्षिक आधार पर पिछड़े हुए वर्गों को सुविधा दी जानी चाहिए।

पिछड़े वर्गो की समस्याओं के समाधान
(Remedies of the Problems of Backward Classes)

पिछड़े वर्ग की समस्याएँ वास्तव में उनकी सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति से सम्बन्धित हैं और इन्ही के सुधार के लिए समय-समय पर आयोगों के गठन हुए हैं। कुछ लाभ और सुविधाएँ उन्हें प्राप्त भी हुई हैं किन्तु वास्तविकता तो यह है कि अभी ये वर्ग अनेक निर्योग्यताओ के शिकार हैं। आज शैक्षिक, राजनैतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों मे उनमें पिछड़ापन है—केन्द्र एवं राज्य सरकारे इनके लिए प्रयासरत है—भूमि सुधार कानून, न्यूनतम-मजदूरी निर्धारण, बन्धुआ मजदूरी प्रथा की समाप्ति, रोजगार उपलब्ध कराने हेतु अनेक योजनाओ का निर्माण, आवास व पेय-जल आदि की व्यवस्था करना, प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार, पिछड़े वर्गो के छात्रो के लिए आवासीय विद्यालयों की व्यवस्था व महिलाओ की प्रत्येक क्षेत्र मे भागीदारी आदि अनेक योजनाएं सरकार द्वारा इन वर्गो के लिए बनाई जा रही हैं।

यही नहीं राजनैतिक क्षेत्र में भी इन्हे महत्त्व दिया जा रहा है। पंचायती राज, वयस्क मताधिकार जमींदारी उन्मूलन, हरित क्रान्ति एवं एकीकृत ग्रामीण विकास आदि कार्यक्रमों के द्वारा अब इनकी भागीदारी सभी क्षेत्रों में हो रही है ये उच्च जाति के समान ही सभी क्षेत्रो मे लाभान्वित हो रही हैं। इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य सुविधाएँ इन्हे उपलब्ध कराई जा सकती हैं जिनके द्वारा इनकी समस्याओं का निराकरण हो सकेगा।

राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम *(Financial and Development Corporation for Other Backward Classes)*—राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम का गठन भारत सरकार के कल्याण मंत्रालय के तहत 13 जनवरी, 1992 को किया गया था। कम्पनी अधिनियम की धारा 25 के तहत यह एक कम्पनी है, जिसका उद्देश्य मुनाफा कमाना नहीं है। इसकी अधिकृत शेयर पूँजी दो अरब रुपये हैं, जिसे बढाकर सात

अरब रुपये कर दिया गया है। निगम को जारी की गई पूँजी 31 दिसम्बर, 1998 तक 198 90 करोड रुपये थी, जो अब बढाकर 290 40 करोड़ रुपये कर दी गई है।

निगम निम्नलिखित क्षेत्रों के उपयुक्त लाभकर्त्ताओ को कर्ज/अनुदान के रूप में वित्तीय सहायता देता है—कृषि तथा सम्बन्धित क्षेत्र, दस्तकार और पारम्परिक व्यवसाय, तकनीकी व्यवसाय, लघु व्यापार, लघु उद्योग और परिवहन सेवाएँ। निगम ने 3,198 लाभकर्त्ताओ के लिए 119 40 लाख रुपये सहायक अनुदान के रूप में खर्च किए हैं, इसमे से वर्ष 1998-99 के दौरान 31 दिसम्बर, 1998 तक 30 14 लाख रुपये प्रदान किए गए।

निगम ने पिछड़े वर्गो की उपयुक्त महिला लाभकर्त्ताओ के लिए 'स्वर्णिमा' नाम से एक विशेष योजना शुरू की है। इस योजना के तहत उपयुक्त महिलाएँ रियायती दरो पर एक लाख रुपये तक की वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकती है। इस सम्बन्ध मे एस सी.एज को यह निर्देश दिया गया है कि वे राष्ट्रीय पिछडा वर्ग वित्त और विकास निगम (एन बी सी एफ डी सी) की इस योजना के तहत 30 प्रतिशत महिला लाभकर्त्ताओं को सहायता दिलवाएँ। इसमे से पाँच प्रतिशत लाभकर्त्ताओं को 'स्वर्णिमा' के तहत सहायता दी गई।

अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण की योजना (Welfare Schemes for OBC)—सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गो के कल्याण के लिए वर्ष 1998-99 में निम्नलिखित योजनाएँ शुरू की हैं—

(क) परीक्षा-पूर्व कोचिंग (Pre-Examination Coaching)—इस योजना का उद्देश्य अन्य पिछड़े वर्गों के उम्मीदवारो को कोचिंग देना है, ताकि वे विभिन्न प्रतियोगी/प्रवेश परीक्षाओ मे सफल हो सके। इन परीक्षा-पूर्व कोचिंग केन्द्रो में वही प्रत्याशी प्रवेश पा सकते है, जिनके माता-पिता/अभिभावक की सालाना आमदनी एक लाख रुपये से कम हो। इसके लिए वर्ष 1998-99 मे दो करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है।

(ख) अन्य पिछड़े वर्गो के लड़के और लड़कियों के लिए छात्रावास—इस योजना के तहत उन राज्यो/केन्द्रशासित प्रदेशो में छात्रावासो का निर्माण किया जाएगा, जहाँ अन्य पिछडे वर्गो की घनी आबादी है और छात्रावासों की कमी है। ये छात्रावास माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक, कॉलेज और विश्वविद्यालयों मे पढने वाले छात्रो के लिए बनाए जाएँगे। इनमे कम से कम एक-तिहाई छात्रावास सिर्फ लडकियो के लिए होगे। पाँच प्रतिशत सीटें विकलाग छात्रो के लिए आरक्षित होगी। परन्तु यह योजना साधन-सम्पन्न वर्ग के छात्रों के लिए नहीं होगी। इनके निर्माण का आधा खर्च केन्द्र सरकार देगी और शेष खर्चा सम्बन्धित राज्य सरकार को वहन करना होगा। केन्द्र सरकार के संस्थानो और केन्द्रशासित प्रदेशो द्वारा बनाए जाने वाले छात्रावासो का शत-प्रतिशत खर्चा केन्द्र वहन करेगा। इसके लिए भूमि अधिग्रहण, कर्मचारियो के रख-रखाव पर होने वाला खर्चा/सम्बन्धित राज्य सरकारो/केन्द्रशासित प्रदेशो को वहन करना होगा। वर्ष 1998-99 मे इस योजना के लिए दो करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है।

(ग) अन्य पिछड़े वर्गो के लिए मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति—छात्रवृत्तियाँ ऐसे छात्रो को दी जाएगी जिनके माता/पिता/अभिभावको की सालाना आमदनी 44,500 रुपये से अधिक

न हो। यह छात्रवृत्ति पहली से दसवीं कक्षा तक उन छात्रों को मिलेगी, जो छात्रावासों में नहीं रहते हैं और छात्रावासो में रहने वाले दूसरी से दसवीं कक्षा तक के छात्रों को मिलेगी। यह उन्हीं छात्रों को मिलेगी, जो राज्य सरकारो/केन्द्रशासित प्रदेशों से मान्यता प्राप्त विद्यालयों में पढ़ते हैं। इसमें 50 प्रतिशत सहायता केन्द्र सरकार देगी। इसके लिए वर्ष 1998-99 मे दो करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है।

(घ) मैट्रिक के बाद पढ़ने वाले अन्य पिछड़े वर्गो के छात्रों को छात्रवृत्ति— इस योजना के अन्तर्गत अन्य पिछड़े वर्गों के उन छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान की जाती है, जो मैट्रिक पास करने के बाद उच्चतर माध्यमिक स्तर की पढ़ाई पूरी करना चाहते हैं। इसमें केन्द्र सरकार द्वारा सम्बन्धित राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों को छात्रवृत्ति के लिए शत-प्रतिशत सहायता दी जाएगी। यह केन्द्रीय छात्रवृत्ति अन्य पिछड़े वर्गों के उन भारतीय नागरिको के लिए है, जो मान्यता प्राप्त संस्थानों में शिक्षा प्राप्त करेगे। उन्हीं छात्रों को यह छात्रवृत्ति मिलेगी, जिनके माता-पिता/अभिभावक की सालाना आमदनी 44,500 रुपये से अधिक नहीं है। इसके लिए वर्ष 1998-99 मे पाँच करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया है। पिछड़े वर्गों से सबद्ध विभिन्न योजनाओं के लिए वर्ष 2001-02 में कुल 79 करोड़ रुपये आवंटित किए गए हैं। इसमें से अब तक 29 करोड़ रुपये की राशि जारी की जा चुकी है।

समस्या-समाधान हेतु कतिपय सुझाव
(Suggestions for the Removal of Problem)

(1) मजदूरो की कार्य की दशाओ में आवश्यक सुधार किए जाएँ।
(2) पिछडे वर्गों की शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाए।
(3) सभी प्रकार की नौकरियों में इन्हे उचित प्रतिनिधित्व दिया जाए।
(4) सामाजिक सुरक्षा एवं स्वास्थ्य सेवाओ की समुचित व्यवस्था की जाए।
(5) विभिन्न उद्योगों के लिए प्रशिक्षण सुविधाएँ एवं ऋण आदि की उचित व्यवस्था की जाए।
(6) न्यूनतम मजदूरी अधिनियम लागू किया जाए।
(7) इनके लिए आवास की समुचित व्यवस्था की जाए।
(8) भूमि-सुधार अधिनियम को विधिवत् लागू किया जाए।
(9) बन्धुआ मजदूरों के लिए पुनर्वास-व्यवस्था की जाए।

भूमिहीन श्रमिक एवं सीमान्त कृषक
(Landless Labours and Marginal Farmers)

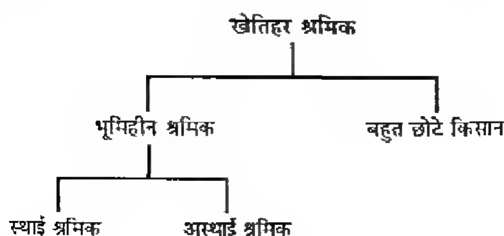
भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता ग्रामीण जनसख्या है जो प्रमुखतया कृषि पर निर्भर है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अनेक ग्रामीणो का शहर की ओर पलायन हो चुका है किन्तु अभी भी अधिकांश व्यक्ति ग्रामो मे निवास करते है। इनमे बहुत बडी जनसंख्या भूमिहीन श्रमिको की है। ये भूमिहीन श्रमिक प्राय: वे लोग होते हैं जो श्रमिक होते हैं और कृषि मे काम करते है तथा उसके बदले में उनको मजदूरी मिलती है। ये गाँवों के निम्न व कमजोर वर्गों के होते हैं और फसलो के उत्पादन का कार्य करते हैं—इन

भूमिहीन कृषको की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय है। अपनी आजीविका चलाने के लिए इन्हें अत्यन्त परेशानी का मुकाबला करना पड़ता है।

भूमिहीन श्रमिक की परिभाषा एवं अर्थ (Meaning and Definition of Landless Labour)

भूमिहीन श्रमिको को खेतिहर श्रमिक भी कहते हैं और इनसे तात्पर्य उन श्रमिकों से लगाया जाता है जो कृषि-कार्य द्वारा जीवनयापन करते हैं। 1950-51 की 'प्रथम खेतिहर श्रम जाँच समिति' (First Agriculture Labour Enquiry Committee) मे उन व्यक्तियो को खेतिहर श्रमिक कहा गया है, जो फसलो के उत्पादन का कार्य करते हैं। 1955-57 की 'द्वितीय खेतिहर श्रम जाँच समिति' में इस श्रेणी मे उन श्रमिकों को भी सम्मिलित कर लिया गया, जो खेती के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धित कार्य मे मजदूरी करते हैं, जैसे—बागवानी, पशु-पालन, कुक्कुट-पालन आदि।

'राष्ट्रीय श्रम आयोग' (National Commission on Labour) के अनुसार खेतिहर मजदूरो मे उन व्यक्तियों को लिया गया है जो वास्तव मे अकुशल व अव्यवस्थित हैं और जिनके पास जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं है, केवल मजदूरी करके अपनी आजीविका चलाते हैं। इन श्रमिको की आय का अधिकाश भाग खेती से प्राप्त मजदूरी पर निर्भर करता है। इस प्रकार खेतिहर श्रमिक दूसरो की भूमि पर खेती करते हैं, उसके बदले मे इन्हे मजदूरी मिलती है। राष्ट्रीय श्रम आयोग (National Commission on Labour) ने खेतिहर श्रमिको को दो श्रेणियों में विभक्त किया है—(1) भूमिहीन श्रमिक, (2) बहुत छोटे किसान, जिनकी आय का मुख्य साधन कृषि जोतों के बहुत छोटे होने के कारण मजदूरी ही है। भूमिहीन श्रमिको को पुन: दो भागो में विभाजित किया गया है—(1) स्थाई श्रमिक—जो कृषक परिवारो से बंधे हैं, वे स्थाई श्रमिक हैं, व (2) अस्थाई श्रमिक—इनमें वे छोटे कृषक भी सम्मिलित हैं, जिनके पास थोड़ी-बहुत भूमि होती है, वे दूसरो की भूमि पर मजदूरी करते हैं अथवा दूसरों की भूमि को ठेके पर लेकर या बँटाई पर खेती करते हैं। ये सभी ग्रामीण कमजोर वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। एक और श्रेणी है—वह है बहुत छोटे कृषक जिनकी आय का प्रमुख साधन कृषि जोतों के बहुत छोटे होने के कारण मजदूरी है। इसे निम्नलिखित तालिका द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।



किसानों को भूमि के स्वामित्व के आधार पर निम्नानुसार वर्गीकृत किया गया है : सीमान्त, लघु, अर्द्ध-मध्यम, मध्यम तथा वृहद किसान। (1) **सीमान्त किसान** वे कहलाते हैं, जिनके पास 1 हैक्टेयर से कम भू-जोत है। 1990-91 के अनुसार ये देश में कुल जोतों का 59.0% है। (2) **लघु किसान** के पास 1 से 2 हैक्टेयर भू-जोत होती है। ये देश में 19.0% हैं। (3) **अर्द्ध-मध्यम किसान** के पास 2 से 4 हैक्टेयर भू-जोत होती है। ये देश में 13.2% हैं। (4) **मध्यम किसान** के पास 4 से 10 हैक्टेयर भू-जोत होती है। ये देश में 7.2% हैं। (5) **बड़े या वृहद किसान** के पास 10 व इससे अधिक हैक्टेयर भू-जोत होती है। इनका प्रतिशत देश में 1 6% है। (तालिका देखिए)

1990-91 में कार्यशील भू-जोतों का आकार के अनुसार वितरण

क्र. सं.	किसानों का प्रकार	भू-जोतों का आकार (हैक्टेयर में)	देश में कुल जोतों का प्रतिशत	कुल क्षेत्रफल का प्रतिशत
1.	सीमान्त	1 से कम	59.0	14.9
2.	लघु	1 से 2	19 0	17 3
3.	अर्द्ध-मध्यम	2 से 4	13 2	23.2
4.	मध्यम	4 से 10	7 2	27.2
5.	वृहद	10 या अधिक	1 6	17.4
			100.00	100.00

स्रोत : स्टेटिस्टिकल आउटलाइन ऑफ इण्डिया, 1995-96, पृ 58

1961 में देश में 3.15 करोड़ खेतिहर श्रमिक थे। 1971 में इनकी संख्या 4.75 करोड़ तक पहुँच गई। 1981 में ये बढ़कर 5.6 करोड तक हो गए। यह काफी बड़ी संख्या है, किन्तु इनकी वृद्धि 1971 में काफी कम हो गई थी—1971 से 1981 के मध्य इनकी जनसंख्या में 29% की वृद्धि हुई थी। आज इनकी संख्या 7 8 करोड़ के लगभग है।

स्टेटिस्टिकल आउटलाइन ऑफ इण्डिया, 1995-96 के अनुसार, हमारे देश में कृषि व सहायक क्रियाओं से सम्बन्धित कुल 66 7% श्रमिक हैं, जिनमे से कृषक श्रमिक 38 4%, खेतिहर मजदूर 26.4% एवं पशुधन, वन, मछली पालन, शिकार, बागान आदि से सम्बन्धित 1 9% श्रमिक हैं। गैर-कृषि क्रियाओ मे 33 3% श्रमिक हैं। खेतिहर श्रमिक, जिनमें भूमिहीन श्रमिक सम्मिलित हैं और सीमान्त कृषक—कमजोर वर्ग मे आते हैं, जिनकी अनेकानेक समस्याएँ हैं। इन समस्याओ को समझने के पूर्व भूमि के स्वामित्व को समझना आवश्यक है।

भूमि का स्वामित्व (Ownership of Land)—भारत एक कृषि-प्रधान देश है। जिसमें ग्रामीणों के जीवन पर भूमि के स्वामित्व के प्रकार का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। उसको इस रूप में स्पष्ट किया जा सकता है कि भारत की कृषि व्यवस्था इस प्रकार की है कि

यहाँ कोई व्यक्ति खेत पर अथक परिश्रम करता है, अनाज उपजाता है, किन्तु उस जमीन का वह व्यक्ति अधिकारी नहीं है, जमीन का मालिक कोई और है, जो उसका खूब शोषण करता है। इसीलिए किसानों की दशा अति शोचनीय है। जमींदारी और जागीरदारी प्रथा में कृषकों की दशा इसीलिए शोचनीय थी। इस प्रथा को समाप्त करने के लिए सन् 1938 में बंगाल में फ्लाइड कमीशन नियुक्त किया गया था। सन् 1947 में 'कांग्रेस कृषि सुधार कमेटी' ने जमींदारों और मध्यस्थो के अधिकारों को समाप्त करने की सिफारिश की—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर देश में भूमि सुधार के लिए कुछ कदम उठाए गए। नियोजकों द्वारा भूमि-सुधार नीति के उद्देश्यों को इस प्रकार निर्धारित किया गया कि कृषि के आधुनिकीकरण में सस्थागत व प्रोत्साहन सम्बन्धी बाधाएँ दूर हो, जो हमारी कृषि व्यवस्था मे पहले ही विद्यमान थीं और साथ ही भूमि पर असमान अधिकार से उत्पन्न कृषि अर्थव्यवस्था के अन्तर को कम किया जा सके।

इन कार्यों की पूर्ति के लिए निम्नलिखित कार्यक्रमों का आयोजन किया गया—(i) राज्य और खेत जोतने वाले किसान के मध्य बिचौलिए की समाप्ति; (ii) पट्टेदारों की सुरक्षा व्यवस्था, (iii) लगान की दरों में कमी और खेत जोतने वाले काश्तकारो को स्वामित्व का अधिकार देना, (iv) कृषि भूमि की जोत-सीमा बाँधना, (v) भूमि पर स्वामित्व के रेकॉर्ड को ठीक करना, जिसमे उन काश्तकारों, बँटाईदारों, अन्य खेतिहरों के अधिकार का भी उल्लेख हो, तथा (vi) खेती के आधुनिक तरीके अपनाने तथा भरोसे की सिंचाई सुविधा सुगमता से प्राप्त करने के लिए जोतो की चकबन्दी।

इस प्रकार अब भूमि से सभी बिचौलियो के हक समाप्त किए जा चुके हैं और दो करोड़ से अधिक किसानों का राज्य से सीधा सम्बन्ध हो गया है, इनमें से कुछ पुराने बिचौलियों की समाप्ति आधुनिक कृषि ढाँचे में महज परिवर्तन की साक्षी है।

अब सीमा से अधिक भूमि की प्राप्ति निषिद्ध है। उसे सरकार ले लेती है और समाज के गरीब लोगो में उसे बाँट देती है, और उन्हें कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए वित्तीय सहायता भी देती है।

सरकार द्वारा काश्तकारों की दशा सुधारने के लिए भी अनेक कार्य किए गए हैं। उन्हें बेदखल करने के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की गई है तथा जिस जमीन को वे जोतते हैं, उस पर उनका ही स्वामित्व हो गया है। अब सिचाई परियोजना के कमान क्षेत्रों मे, चकबन्दी के लिए कानून बनाए गए हैं। लगभग 4 5 करोड़ हैक्टेयर भूमि की चकबन्दी हो चुकी है।

इन भूमिहीन व सीमान्त कृषकों की स्थिति का आकलन किया जाए तो पता लगेगा कि इनकी समस्याएँ अनन्त हैं जिसके कारण इन्हें असन्तोष रहता है। इनका जीवन अति कष्टमय है। इनकी समस्याओं को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।

कृषि श्रमिकों व सीमान्त कृषकों की समस्याएँ व असन्तोष के कारण (Problems of Landless Labours and Marginal Farmers and Causes of Unrest)

(1) सामाजिक-आर्थिक दशा (Socio-Economic Condition)—इन कृषि श्रमिकों की आर्थिक दशा अति शोचनीय है। अधिक काम कराकर कम मजदूरी देना तथा

अत्यधिक काम कराना—इसने इनकी जिन्दगी को नर्कमय बना रखा है। इन श्रमिको में कुछ श्रमिक तो ऐसे हैं जो अस्थाई श्रमिक हैं, जिन्हें वर्ष मे एक माह या कुछ अधिक समय के लिए काम मिलता है। कुछ श्रमिक आकस्मिक हैं जिन्हें बहुत कम समय के लिए काम मिलता है, आकस्मिक श्रमिकों की संख्या भारत मे अत्यधिक है। ये लोग फसलों की कटाई, निराई, जुताई, कुआँ खोदना आदि कार्य करते हैं।

1990-91 मे हमारे देश में कुल 10.53 करोड़ किसान थे, जिनमें सीमान्त कृषकों की संख्या लगभग 6.2 करोड़ (59%) थी तथा लघु कृषक 19% थे। इस प्रकार कुल कृषकों में 78% कृषक सीमान्त और लघु वर्ग के थे जिनके पास 2 हैक्टेयर से कम भूमि थी जो अलाभप्रद आकार की जोतों के स्वामी थे। ये तथ्य खेती के आँकड़ों मे गिरावट को स्पष्ट करते हैं तथा यह ग्रामीण कृषक श्रमिकों के असन्तोष का प्रमुख कारण भी है।

इनकी संख्या अत्यधिक है। इन्हें रोजगार नहीं मिल पाता। जब कभी मजदूरी मिलती है तो नकद या वस्तुओं के रूप मे दी जाती है। यद्यपि सरकार द्वारा इनकी न्यूनतम मजदूरी तय की जा चुकी है, किन्तु उसकी परिपालना नहीं की जाती। केन्द्र सरकार द्वारा भी न्यूनतम मजदूरी के दिशा निर्देश दिए हैं जिसमे न्यूनतम मजदूरी को गरीबी रेखा से ऊपर होना बताया गया है। किन्तु केवल नियम बनाने से ही स्थिति में सुधार नहीं हो सकता।

(2) रोजगार की समस्या (Problem of Employment)—इन श्रमिकों को वर्ष के 6 महीने एक तिहाई लोगों को, वर्ष के 7 महीने दो-तिहाई लोगों को एवं 4% लोगों को वर्ष में 9 माह काम उपलब्ध होता है। शेष महीनों में या तो ये बेरोजगार रहते हैं या दो वक्त की रोटी के लिए अपना शोषण कराते हैं। 1990 में जवाहरलाल शताब्दी वर्ष में इनके लिए दो योजनाओ—(1) 'ग्रामीण भूमिहीन रोजगार कार्यक्रम' व (2) 'राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम' को मिलाकर 'नेहरू रोजगार योजना' की घोषणा की गई थी जिसमें प्रत्येक परिवार को कम-से-कम 50 दिन से 100 दिन का रोजगार मुहय्या कराने का प्रावधान रखा गया। किन्तु इन श्रमिकों को विशेष लाभ इन योजनाओं से भी नहीं पहुँच सका।

(3) ऋणग्रस्तता (*Indebtedness*)—इन श्रमिको की समस्या ऋणग्रस्तता की भी है। अधिकांश श्रमिक अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सेठों से ऋण ले लेते हैं। विवाह, मृत्यु-भोज आदि के लिए प्रायः प्रत्येक श्रमिक आवश्यक रूप से ऋण लेता है। उस ऋण को श्रमिक चुका नही पाते। अतः बदले मे सेठ-साहूकार इनका शोषण करते हैं। अशिक्षित होने के कारण इनसे गलत अँगूठा लगवाकर साहूकार ऋण वृद्धि करते जाते हैं। अतः इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी विपन्नता का अन्त होना अत्यन्त मुश्किल है। इन लोगो का जन्म ऋण में ही होता है और ऋण में ही ये मर जाते है। इस प्रकार ऋणग्रस्तता की समस्या इनमें असन्तोष की सृष्टि करती है।

(4) कार्य की दशाएँ एवं निम्न जीवन स्तर (Working Conditions and Low Living Standard)—इन लोगों की कार्य करने की दशाएँ अति असुविधाजनक हैं। ये अत्यन्त कठिन परिस्थितियों मे कार्य करते हैं, कार्य की अधिकता होती है, कार्य के घण्टे अधिक होते हैं, अवकाश आदि सुविधाओं का अभाव रहता है। बीमारी आदि के समय कोई छुट्टी नहीं होती—इनका जीवन स्तर भी अतिनिम्न होता है। अपनी आय का 75% से अधिक

ये लोग खाने पर खर्च कर देते हैं। कपडे, मकान, चिकित्सा आदि सुविधाओ का अभाव रहता है। इन स्थितियो मे रहने के कारण इनमें सदैव असन्तोष व्याप्त रहता है। सामान्यत: इनको न पर्याप्त वस्त्र मिलते हैं न रहने के लिए मकान ही उपलब्ध होते हैं।

(5) **न्यून आय** (Minimum Income)—देश मे खेतिहर श्रमिकों की औसत आय अत्यधिक न्यून है। ये वर्ष के कुछ महीनो ही काम कर के आय कर पाते हैं। जिन दिनो काम कर पाते हैं उन दिनो मे इन्हे मजदूरी बहुत कम दी जाती है। इनको मजदूरी का भुगतान कुछ वस्तुओ तथा कुछ नकदी के रूप मे किया जाता है। सरकार समय-समय पर इनकी मजदूरी तय करती रहती है, परन्तु उसका कठोरता से पालन नहीं किया जाता है। इनकी आय इन्हें गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने के लिए बाध्य करती है।

(6) **संगठन का अभाव** (Lack of Organisation)—भूमिहीन श्रमिक, सीमान्त एवं लघु किसान अशिक्षित, अज्ञानी तथा देश के विभिन्न भागो मे फैले होने के कारण अपनी माँगो को मनवाने के लिए कोई संगठन नहीं बना पाते हैं। इनके संगठन के अभाव के कारण वे अपनी मजूदरी में वृद्धि कराने, बेगार बन्द करवाने, कार्य के दिवस एवं घण्टे निश्चित कराने के लिए कुछ नहीं कर पाते हैं। सगठन या यूनियन के अभाव के कारण उनका शोषण हो रहा है।

(7) **व्यवसायों का अभाव** (Lack of Occupations)—ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के अतिरिक्त अन्य सहायक व्यवसायो का अभाव है। किन्हीं कारणों से फसल नष्ट होने, पाला पडने, बाढ़, अकाल या सूखा आदि के कारण फसल नहीं होने पर ये कृषक अन्य व्यवसाय नहीं कर सकते है। इन परिस्थितियो मे इनका शोषण साहूकार आदि करते हैं। ये ऋणग्रस्तता से कभी बाहर नही निकल पाते हैं।

साराश रूप मे यह कहा जा सकता है कि कृषि श्रमिको व सीमान्त कृषकों की सामाजिक स्थिति अति दयनीय है। इनमे स्वयं की स्थिति को समझने की भी योग्यता नहीं होती। हर तरफ से समाज इनका शोषण करता है। ये उपेक्षित व दलित वर्ग का जीवन व्यतीत करते हैं। भारत के अनेक स्थानो, जैसे—मध्यप्रदेश, उडीसा, मद्रास, आन्ध्रप्रदेश व बम्बई आदि मे इनकी संख्या अत्यधिक है। इनमे से कुछ की स्थिति तो इतनी दयनीय है कि ये लोग भोजन के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने बीवी-बच्चो को भी गिरवी रख देते हैं। इनका तो जीवन ही समस्याओ से भरा हुआ व असन्तोषप्रद है।

सुधार हेतु सरकार द्वारा किए गए प्रयास
(Efforts made by Government for Improvement)

सरकार द्वारा इन लोगो की दशा सुधारने के लिए अनेक प्रयास किए जाते रहे हैं। अनेक समितियाँ बनीं, विधान बने, कल्याणकारी योजनाएँ बनीं व पंचवर्षीय योजनाओ में इन पर पूरा ध्यान दिया गया—इन सब पर विस्तार से विचार किया जा सकता है।

(1) **कृषि श्रमिकों को भूमि पर बसाना** (Rehabilitation of Landless Labours on Land)—सरकार ने इन श्रमिकों की समस्याओ पर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अनन्तर से ही प्रयास प्रारम्भ कर दिए थे—(i) इनके लिए 1984 मे कृषि सुधार समिति की सिफारिश

पर प्रथम पंचवर्षीय योजना में मध्यस्थो को समाप्त कर दिया गया। इससे अतीत काल स चली आ रही भूमि-व्यवस्था के कारण भू-श्रमिको का जो शोषण हो रहा था उसे रोकने का प्रयास किया गया है। (ii) 1951 मे प्रथम खेतिहर श्रम जाँच समिति बनी जिसने ग्रामीण समस्याओ का विस्तार से अध्ययन किया व फसलों का उत्पादन कर रहे व्यक्तियों को खेतिहर श्रमिक बताया। (iii) 1957 मे उन श्रमिकों को भी खेतिहर श्रमिकों मे शामिल कर लिया गया जो खेती के अतिरिक्त पशुपालन आदि अन्य कार्य करते थे। इस प्रकार 1957 मे राष्ट्रीय विकास परिषद ने यह सुझाव दिया कि भूदान यज्ञ तथा अन्य उपायों से प्राप्त भूमि को भूमिहीनों में बाँटकर 3,00,000 परिवारों का पुनर्वास किया जाए।

(2) **मध्यस्थों की समाप्ति व काश्तकार कानूनों में सुधार** (Abolition of Mediators and Reforms in Cultivation Act)—(i) मध्यस्थो के कारण इन श्रमिको का अत्यधिक शोषण हो रहा था—सरकार ने इन मध्यस्थों की समाप्ति अधिनियम बनाकर कर दी है, जिसके परिणामस्वरूप दो करोड़ से अधिक काश्तकार भूमि के स्वयं मालिक बन गए हैं। मध्यस्थ देश के 40% क्षेत्रों में फैले हुए थे। मध्यस्थों की समाप्ति से काश्तकारों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। लगभग 57 7 लाख हैक्टेयर भूमि को एक करोड़ काश्तकारों मे बाँटा गया। मध्यस्थो को भूमि के बदले क्षतिपूर्ति का भुगतान कुछ नकद व कुछ बॉण्डो के रूप में किया गया। बॉण्डो में 2 5% वार्षिक दर से ब्याज भी दिया गया। (ii) सभी राज्यो मे काश्तकारी कानूनों में सुधार किए गए हैं, जिनमें भूस्वामित्व की रक्षा, लगान मे कमी व स्थायी सुधार हेतु मुआवजे की भी व्यवस्था की गई है। इसके साथ ही पहरेदारी की सुरक्षा और आसामी को स्वामित्व के अधिकार प्रदान किए गए। (iii) चकबन्दी के अन्तर्गत भूमि के बिखरे हुए टुकड़ों को एकत्र किया गया। (iv) भू-अभिलेखों को आधुनिक बनाया गया है। इसके अतिरिक्त जमींदारी उन्मूलन अधिनियम एवं भूमि-सीलिंग एक्ट पारित किया गया।

(3) **न्यूनतम मजदूरी** (Minimum Wages)—सन् 1948 में बने न्यूनतम मजदूरी कानून को कृषि के क्षेत्र मे भी लागू किया गया लेकिन श्रमिकों के संगठित होकर प्रयास न करने के अभाव में यह कारगर सिद्ध न हो सका। नवीन बीस सूत्री कार्यक्रम के अनुसार कृषि क्षेत्र में श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी निश्चित की गई है उसको कड़ाई से लागू करना चाहिए। इसी प्रकार से बन्धुआ श्रम-व्यवस्था (समाप्ति) कानून, 1976 को भी कड़ाई से लागू करना चाहिए। इनके द्वारा कृषि श्रमिकों एवं सीमान्त कृषको की स्थिति सुधारने में सहायता मिलेगी।

(4) **आवास सुविधा** (Housing Facility)—कृषि श्रमिकों को मकान बनाने हेतु भूमि उपलब्ध कराने की योजना—राष्ट्रीय कार्यक्रम का एक अंग है। 30 सितम्बर, 1981 तक 86 77 लाख भूमिहीन श्रमिक परिवारों को मकान बनाने के लिए भूमि दी जा चुकी है। इनमें से 15 50 लाख परिवारो ने अपने मकान बना लिए हैं। छठी पंचवर्षीय योजना में शेष 68 लाख भूमिहीन परिवारो को मकान बनाने के लिए 353 50 करोड़ रुपये देने का कार्यक्रम रखा गया था, प्रति परिवार-निर्माण के लिए 500 रुपये देने का प्रावधान है।

(5) **श्रम संगठन** (Labour Organisation)—खेतिहर श्रमिकों को सगठित करने के लिए छठी पंचवर्षीय योजना में 65 लाख रुपयों का प्रावधान रखा गया है। इसके लिए

एक कार्यकर्त्ता की नियुक्ति का प्रावधान था जिसका कार्य श्रमिकों के अधिकारों व उत्तरदायित्वों के महत्त्व को स्पष्ट करना था जिससे उनमे जागृति आ सके। इस कार्यकर्त्ता को बदले में कुछ मानदेय प्रदान करना होगा।

अन्य उपाय (Other Remedies)—खेतिहर श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से सरकार ने अन्य कई उपाय किए हैं। पाँचवीं व छठी योजना मे कृषि भूमि की चकबन्दी सम्बन्धी कानून पास किये गये हैं। सातवीं पंचवर्षीय योजना में देश के भूमि बंजर—1 करोड़ 70 लाख हैक्टेयर कृषि योग्य परती भूमि व 2 करोड़ हैक्टेयर पुरानी और वर्तमान बंजर भूमि को शामिल करके बढ़ाये जाने का प्रावधान है। इस तरह अनुमानतः 3.5 करोड़ से 4 करोड़ हैक्टेयर तक कृषियोग्य भूमि उपलब्ध हो सकती है। 20 सूत्री कार्यक्रम में पुनः भूमि सुधारो को प्रमुखता दी गई है।

इसके अतिरिक्त वाणिज्य के आधार पर चलाये जा रहे कृषि फार्मों पर भी औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 लागू किया गया। कर्मचारी भविष्य निधि और विभिन्न प्रावधान अधिनियम, 1952 उन खेतिहर श्रमिकों पर लागू होता है, जो विशिष्ट बागानों में काम करते हैं। क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923 भी इन पर लागू किया गया है।

25 जनवरी, 1978 को ग्रामीण असंगठित श्रमिकों से सम्बन्धित एक सम्मेलन श्रमिको की समस्या पर विचार करने के लिए बुलाया गया, जिसमें इनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए सरकार को सुझाव देने के लिए एक केन्द्रीय समिति बुलाई गई। भारत सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ कन्वेन्शन संख्या 141 पर हस्ताक्षर किए हैं जिससे वे देश ग्रामीण श्रमिको के लिए एक शक्तिशाली और स्वतन्त्र संस्था की स्थापना करेंगे। इसके अतिरिक्त सिंचाई सुविधाओ का विस्तार, ग्रामो में उद्योगो का विकास, श्रमिको के लिए शिक्षा व प्रशिक्षण, चिकित्सा, मनोरंजन, जल एवं सहकारी सगठन की व्यवस्था की गई है।

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति से लेकर अब तक कृषि श्रमिकों व सीमान्त कृषकों के विकास के उद्देश्य से अनेक कार्य किए गए हैं किन्तु इसमे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है क्योंकि इनमें अनेक कमियाँ रह गई थीं, जिन्हें निम्नलिखित रूप मे देखा जा सकता है—

कार्यक्रम की कमियाँ (Shortcomings of the Programme)—(1) सरकार द्वारा भूमि-सुधार के सम्बन्ध में जो नियम बनाए गये थे, वे दोषपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए—कानून के आधार पर जमींदारी प्रथा को समाप्त कर खेतिहर श्रमिकों को भूमि का मालिक बनाया गया, किन्तु वास्तविकता यह है कि वे लोग आज भी भूमि के मालिक नहीं हैं। सरकारी कर्मचारी, नेता लोग, व्यापारी वर्ग एवं उद्योगपति आज नए जमींदारो के रूप में उभर रहे हैं।

(2) भूमि सुधार हेतु जो अधिनियम पारित किए गए हैं, उनकी कार्यान्विति सही रूप मे नहीं हो पा रही है। साथ ही ये कानून भी अलग-अलग राज्यों के लिए अलग-अलग हैं। जोत की सीमा, चकबन्दी आदि कानून अलग-अलग राज्यों मे अलग-अलग रूपो में निश्चित किए गए हैं।

(3) जनता भूमि-सुधार कार्यक्रम से बचने का प्रयास करती है। अशिक्षा के कारण वे न तो कानून जानते हैं और न अपने शोषण से बचने के लिए कानून का सहारा लेते हैं, इससे काश्तकारो के शोषण का पता सही रूप में नहीं लग पाता।

(4) भ्रष्टाचार नौकरशाही के कारण भूमि सुधार कार्यक्रमों की क्रियान्विति नहीं हो पा रही है। विभिन्न राजनैतिक पक्षों में भू-सुधार के कार्यक्रमों के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण होने से भी क्रियान्वयन नहीं हो पा रहा है।

(5) देश में जोत की न्यूनतम सीमाएँ निर्धारित करने सम्बन्धी कानून नहीं बनाए गए। इस कारण भूमि के उप-विभाजन व हस्तांतरण आदि की समस्या आज भी विद्यमान है।

(6) राजनीति में लगे व्यक्ति भूमि-सुधार के लिए प्रयत्नशीलन नहीं हैं इसलिए इसमें सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है।

समस्या समाधान हेतु सुझाव (Suggestions for Solving the Problem)—कृषि श्रमिकों व सीमान्त कृषकों की समस्याओं के समाधान के लिए व उनमें व्याप्त असन्तोष की समाप्ति के लिए निम्नलिखित सुझाव दिए जा सकते हैं—

(1) श्रमिकों की कार्य की दशाओं में सुधार किया जाए।

(2) काम के घण्टों का निर्धारण किया जाए।

(3) न्यूनतम मजदूरी लागू करने की समुचित व्यवस्था की जाए।

(4) कृषि श्रमिक संघों को संगठित किया जाए। जिससे भूस्वामी व महाजनों के द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों व शोषण को रोका जा सके।

(5) भूमिहीन श्रमिकों में अतिरिक्त भूमि का वितरण शीघ्र किया जाए।

(6) विभिन्न उद्योग-धन्धों को बढ़ावा दिया जाए, उसके लिए प्रशिक्षण आदि की सुवधिाएँ प्रदान की जाएँ।

(7) इन लोगों के लिए आवास, पीने का पानी, उपयोग की सस्ती वस्तुएँ व शिक्षा आदि की समुचित व्यवस्था कराई जाए।

(8) स्त्रियों व बच्चों से भारी कार्य न कराया जाए।

बन्धुआ मजदूर
(Bonded Labour)

श्रमिकों की विभिन्न कोटियाँ हैं—कुछ स्थाई श्रमिक होते हैं, कुछ अस्थाई होते हैं, और कुछ आकस्मिक होते हैं। इन्हीं में एक कोटि बन्धुआ मजदूरों की है। इसमे उन श्रमिकों अथवा मजदूरों को सम्मिलित किया जाता है जो देश में भयंकर निर्धनता एवं दासता के साक्षी हैं, यह बन्धुआ मजदूरी प्रथा अति प्राचीन है। प्राचीन समय में गरीब लोग सेठ-साहूकारों से अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ऋण लेते थे और जब तक वह ऋण चुकता न हो जाता, ये लोग उन सेठ-साहूकारों के यहाँ कार्य करते थे। वह सेठ उनसे गुलामों जैसा व्यवहार करता था। घर पर, खेत पर, व्यवसाय में हर स्थान पर, हर प्रकार का कार्य इनसे लिया जाता था। चूँकि इनकी स्थिति इस प्रकार की कभी नहीं हो पाती थी कि वे उस ऋण से उऋण हों, परिणामस्वरूप ये लोग आजीवन सेठों की गुलामी करते थे। फिर इनके बच्चे उसी परम्परा का निर्वाह करते थे। इस प्रकार बन्धुआ मजदूर निर्धनता की पराकाष्ठा और शोषण और दासता के प्रतीक हैं। आज भी ये बन्धुआ मजदूर विद्यमान हैं। अब इनके लिए सरकार द्वारा प्रयत्न किए जा रहे हैं कि इनका पुनर्वास करें। इसके लिए बड़ी समस्या उनका पता लगाने व उन्हें मुक्त कराने की है।

परिभाषा के रूप में यह कहा जा सकता है कि, "बन्धुआ मजदूर वे मजदूर हैं, जिन्होंने अपने मालिकों से ऋण के रूप में एक निश्चित व न्यूनतम राशि ले रखी है, किन्तु निर्धनता के परिणामस्वरूप ये लोग उसे आजीवन नहीं चुका पाते, और उसके बदले में मालिकों के यहाँ ऋणी के रूप में जीवन भर दासों की तरह कार्य करते हैं।"

बन्धुआ मजदूर—सरकारी प्रयास (Bonded Laboure—Governmental Efforts)—भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने 1 जुलाई, 1975 को 20 सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की थी, जिसमें बन्धक को प्रदत्त मजदूरी, चाहे वह देश के किसी भी क्षेत्र में हो, गैर-कानूनी घोषित की गई थी। इन्दिरा गाँधी ने अपने 20 सूत्री कार्यक्रम में इनकी समस्याओं के समाधान के लिए बड़ी आशाएँ प्रकट कीं। इस कार्यक्रम में बन्धुआ मजदूरी को समाप्त करने के महत्त्व पर पूरा ध्यान केन्द्रित किया गया है। 25 अक्टूबर, 1975 में **'बन्धुआ श्रम व्यवस्था (उन्मूलन) अध्यादेश [Bonded Labour System (Abolition) Act], 1975'** लागू हुआ, जो सारे देश मे एक साथ लागू हुआ। बाद में इस अध्यादेश का स्थान 'बन्धुआ श्रम पद्धति (उन्मूलन) अधिनियम' [Bonded Labour System (Abolition) Act] ने 9 फरवरी, 1976 को ले लिया।

यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 23 के अन्तर्गत भिक्षावृत्ति एवं बेगार प्रथा को समाप्त कर दिया गया है। कुछ राज्यों ने बन्धुआ मजदूरी प्रथा को रोकने के लिए अधिनियम भी बनाए हैं किन्तु उसमे कोई विशेष सफलता प्रतीत नहीं हुई है। 1976 मे बने 'बन्धुआ श्रम पद्धति (उन्मूलन) अधिनियम' के द्वारा बन्धुआ मजदूरों का पता लगाने के लिए श्रम मन्त्रालय को नियुक्त किया गया है।

बन्धुआ मजदूरों की जानकारी प्राप्त करने के लिए (i) गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान एवं (ii) राष्ट्रीय श्रम संस्थान तथा बिहार, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु एव उत्तर प्रदेश के 295 जिलो के 1,000 गाँवों का मई एवं अक्टूबर, 1978 में एक सर्वेक्षण किया गया था। इस सर्वेक्षण के आधार पर विभिन्न राज्यों में बन्धुआ मजदूरों से सम्बद्ध आँकड़े इस प्रकार हैं—उड़ीसा को छोड़कर देश में 22 4 लाख बन्धुआ श्रमिक हैं। अध्ययन के आधार पर 1,20,000 बन्धुआ श्रमिकों की पहचान विभिन्न राज्यो द्वारा की गई और उन्हे मुक्त कराया गया। यद्यपि इस सर्वेक्षण में अनेक त्रुटियाँ भी थीं।

देश मे कुल बन्धुआ श्रमिकों में 80% बन्धुआ श्रमिक अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियों के हैं। 31 मार्च, 1992 तक 2,50,289 बन्धुआ श्रमिकों की देश के विभिन्न राज्यों में पहचान की जा चुकी है। इनमे से 2,23,141 बन्धुआ श्रमिकों को स्वतन्त्र कराके पुनर्वास कराया जा चुका है। विभिन्न राज्यो ने 1978-79 से 1989-90 तक की 11 वर्ष की अवधि में इन पर 3130 38 लाख रुपये खर्च किए हैं।

बन्धुआ मजदूरो के पुनर्वास के लिए केन्द्र सरकार ने अनेक प्रयास किए हैं। केन्द्र सरकार ने पहले इनके पुनर्वास के लिए 4,000 रु. अधिकतम राशि निश्चित की थी, जिसे 1-2-1986 को बढाकर 6,250 रु. कर दिया गया। इससे इस पुनर्वास के कार्य मे तेजी भी देखी गई। बन्धुआ मजदूर के मुक्त होते ही इस राशि में से 500 रु. तत्काल देने की व्यवस्था भी है। 1978-79 से राज्य सरकारों के प्रयासो में मदद के लिए केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजना

भी चलाई जा रही है। इस योजना के तहत प्रत्येक बंधुआ मजदूर के पुनर्वास के लिए अधिकतम 10 हजार रुपये के अनुदान का प्रावधान किया गया है। इस अनुदान की राशि का आधा भाग केन्द्र के हिस्से के रूप में दिया जाता है। इस योजना के तहत सहायता की पद्धति भूमि-आधारित या गैर-भूमि अथवा कौशल/शिल्प-आधारित हो सकती है। 1978 से 31 मार्च, 1999 तक इस योजना के तहत 46,39,40,000 रुपये की राशि जारी की जा चुकी है। राज्य सरकार को सलाह दी गई है कि वे केन्द्र द्वारा प्रायोजित बंधुआ मजदूर पुनर्वास योजना को गरीबी दूर करने के लिए चलाई जा रही अन्य योजनाओं के साथ समुचित रूप से संयोजित करें, ताकि बंधुआ मजदूरों के प्रभावी पुनर्वास के लिए साधन जुटाये जा सके।

उत्तर प्रदेश में 1985-86 वर्ष में मुक्त किए गए बन्धुआ मजदूरों में से 94.25 प्रतिशत अनुसूचित जाति तथा 20.90 प्रतिशत अनुसूचित जनजाति के मजदूर पाए गए। इसी अवधि में पहचाने और मुक्त किए गए कुल बन्धुआ मजदूरो में 79.65% अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियो के पाए गए।

केरल और हरियाणा राज्यों में पहचाने और मुक्त किए गए सभी बन्धुआ मजदूरों का पुनर्वास किया जा चुका है। उत्तर प्रदेश और तमिलनाडु मे यह उपलब्धि 95% एवं गुजरात तथा राजस्थान में 90% से अधिक एवं उड़ीसा, आन्ध्रप्रदेश एवं कर्नाटक में 75% में कुछ कम रही है।

अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति आयोग के प्रतिवेदन 1985-86 के अनुसार राजस्थान के डूँगरपुर जिले के जोरावरपुर और रतनपानी गाँवों के बन्धुआ मजदूरों के प्रत्येक परिवार को पुनर्वास के लिए 15 से 16 बीघा जमीन और 600 रु. दिए गए। इन बन्धुआ मजदूरों ने कुंए खोदने तथा भूमि को खेती योग्य बनाने के लिए स्वयं पहल भी की थी।

बन्धुआ मजदूरों की स्थिति (Position of Bonded Labours)—बन्धुआ श्रमिकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। ये ऋणदाता के ऋणो की अदायगी न कर पाने के कारण उनके गुलाम बनकर जीवन बिताते हैं व उनके समस्त कार्यो को पूरा करते हैं। इन्हे रहने के लिए एक छोटी जगह ऋणदाता द्वारा दे दी जाती है, जिसमें इनका पूरा परिवार बसता है और हर समय पूरा परिवार सेठ की गुलामी करता है। ये कम-से-कम 18 घण्टे तो काम करते ही हैं। बदले में इनको दिन में दो बार खाना दिया जाता है। जो खाना इनको दिया जाता है वह बासी, बचा हुआ, जूठा व अपौष्टिक होता है। पहनने के लिए पुराने कपड़े दे दिए जाते हैं, जमीन पर सोते हैं, मालिक पुरानी फटी रजाई आदि दे देता है जिसे ये वर्षों ओढ़ते हैं। साबुन की सुविधा न होने से कपड़े धोना, नहाना आदि क्रियाएँ कम करते हैं। अतः अत्यधिक गन्दगी के कारण इनका स्वास्थ्य बहुत जल्दी खराब हो जाता है। इनकी कार्य-क्षमता घट जाती है। इनका दैनिक जीवन ही इनके पिछड़ेपन को दर्शाता है। इसके कारण इनकी सोचने-समझने व विरोध करने की क्षमता दब गई है।

इस प्रकार, इस स्थिति मे ये लोग उनके विरोध में कानूनी दुहाई कैसे दे सकते हैं, जिनके हाथ मे रोटी-रोजी है। ये तो उनकी दया के पात्र हैं। सरकारी कर्मचारियों का एक वर्ग समाज के उच्च व धनी वर्ग का समर्थक है और समाज के सत्ताधारी, पद-लोलुप जन-प्रतिनिधि व उच्च अधिकारी भी अपने उत्तरदायित्वों से विमुख हो गए हैं। इस कारण इन बन्धकों की दासता का अंत निकट ही नहीं है।

सरकारी तौर पर अनेक बन्धक आजाद कर दिए गए हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि ये लोग अभी भी स्वतन्त्र नहीं है। एक तो दासता की जड़ों की गहराई ने इनकी मानसिकता को गुलाम बना दिया है, जो स्वतन्त्र रहना जानते ही नहीं हैं, फिर बड़े किसानों का इनकी भूमि पर अवैध अधिकार है। पटवारी भी उन पर अपनी कृपा-दृष्टि नहीं दिखा पाता। अतः ये अपनी ही भूमि पर बँटाई का कार्य करते हैं। उपज का आधा हिस्सा अवैध भू-स्वामियों को दे रहे हैं और कुछ हिस्सा पटवारी प्राप्त कर रहे हैं।

बन्धुआ मजदूरों की समस्या के लिए कुछ समाधान (Remedies for the Problem of Bonded Labours)—बन्धुआ मजदूरों की प्रणाली को समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि—(i) राज्य सरकारें केन्द्र द्वारा दी जाने वाली सहायता का पूरा-पूरा उपयोग करें, (ii) उनके पुनर्वास कार्यक्रम की क्रियान्विति पूर्ण मनोयोग से की जाए; (iii) मुक्त किए हुए श्रमिकों को पुनः बन्धक न बना लिया जाए, इस बात की पूरी-पूरी सतर्कता बरती जाए; (iv) 'ग्रामीण ऋण-राहत' अधिनियम का सख्ती से पालन किया जाए, इसके लिए सरकारी एवं गैर-सरकारी संगठन बनाए जाएँ; (v) बन्धुआ मजदूर प्रणाली के लिए उत्तरदायी उनकी निर्धनता है, अतः बेरोजगारी व गरीबी को दूर करने के प्रयास किए जाएँ; (vi) सरकार द्वारा इनके लिए बनाए गए कानूनों का सख्ती से पालन किया जाए, इसके लिए चारित्रिक व नैतिक मूल्यों का विकास किया जाए, (vii) जनसंख्या नियन्त्रण के उपाय किए जाएँ, इनके लिए शिक्षा-व्यवस्था की जाए जो इन्हें रोजगारोन्मुखी बना सके, (viii) देश में उपलब्ध भूमि को कृषि योग्य बनाया जाए, तथा (ix) रोजगार के अवसर बढ़ाए जाएँ।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि बन्धुआ मजदूर-प्रथा अत्यन्त पिछड़ेपन का प्रतीक है। आज जब समाज विकास की ओर गतिमान है, जिस देश में हर व्यक्ति को स्वतन्त्रता से अपने आर्थिक उन्नयन का अधिकार प्राप्त है, उस देश में बन्धक-प्रथा अमानवीय कृत्य का द्योतक है। अतः सरकारी व गैर-सरकारी निकायों का यह दायित्व है कि इस प्रथा से बन्धकों को मुक्त कराने का भरसक प्रयास करें। शिक्षा को व्यवसायोन्मुखी बनाएँ, कानून व्यवस्था को सशक्त बनाएँ तथा अधिकारी वर्ग में चारित्रिक उत्थान की भावना दृढ़ करें, जिससे वे लोग निम्न वर्ग के अधिकारों के प्रति अपना रुझान प्रकट कर सकें। इसके लिए दृढ़ निश्चयी, चरित्रवान, कर्मठ एवं ईमानदार कार्यकर्त्ताओं की नितान्त आवश्यकता है, जो अपने स्वार्थों को तिलाञ्जलि देकर पिछड़े वर्गों के सामाजिक व आर्थिक विकास के लिए कार्य कर सकें।

❑

अध्याय-8

दहेज
(Dowery)

दहेज की समस्या विवाह-सम्बन्धी समस्याओं में गम्भीरतम समस्या है जिसने लड़कियों के विवाह को अति-दुष्कर कार्य बना दिया है। हिन्दू समाज मे कन्या का विवाह एक संस्कार के रूप मे मान्य है, क्योंकि इसके द्वारा अनेक ऋणों, पुरुषार्थो और आश्रमों की पूर्ति की जाती है। प्राचीनकाल में विवाह से सम्बन्धित वर-पक्ष एवं कन्या-पक्ष एक-दूसरे को समान समझते थे और विवाह को समान कर्त्तव्य समझते थे, किन्तु शनैः-शनैः वर-पक्ष स्वयं को उच्च मानने लगा और कन्या-पक्ष से विवाह मे कुछ राशि अथवा वस्त्र, आभूषण आदि प्राप्त करने लगा जिसे दहेज का नाम दिया जाने लगा। वास्तव में दहेज वह धन-सम्पत्ति है जो विवाह के अवसर पर कन्या-पक्ष द्वारा वर-पक्ष को दी जाती है।

दहेज की परिभाषा (Definitions of Dowery)

दहेज की विद्वानों ने अनेक परिभाषाएँ दी हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. **फ्रेयर चाइल्ड**—फ्रेयर चाइल्ड ने 'डिक्शनरी ऑफ सोशियोलोजी' मे कहा है, "दहेज वह धन या सम्पत्ति है जो विवाह के अवसर पर लडकी के माता-पिता अथवा निकट के सम्बन्धियों द्वारा दी जाती है।"

2. **मैक्स रेडिन** के मतानुसार, "साधारणतः दहेज वह सम्पत्ति है जो एक पुरुष विवाह के समय अपनी पत्नी या उसके परिवार से प्राप्त करता है।"

3. **दहेज-निरोधक अधिनियम,** 1961 के अनुसार, "दहेज का अर्थ कोई ऐसी सम्पत्ति अथवा मूल्यवान निधि है, जिसे—(i) विवाह करने वाले दोनो पक्षों मे से एक पक्ष को, अथवा (ii) विवाह में भाग लेने वाले दोनो पक्षो मे से किसी एक पक्ष के माता-पिता अथवा अन्य किसी व्यक्ति ने किसी दूसरे पक्ष अथवा उसके किसी व्यक्ति को विवाह के समय, विवाह के पहिले या विवाह के पश्चात् विवाह की आवश्यक शर्त के रूप में दी हो अथवा देना स्वीकार किया हो।"

4 **चार्ल्स विनिक** ने 'डिक्शनरी ऑफ एन्थ्रोपोलोजी' मे दहेज का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है, "वे बहुमूल्य वस्तुएँ, जो किसी भी पक्ष के सम्बन्धी विवाह के लिए प्रदान करें, दहेज कहलाता है।"

दहेज की उपर्युक्त परिभाषाओं में दहेज-निरोधक अधिनियम की परिभाषा जो लोकसभा द्वारा 1960 में दी गई है, सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इसमें वर-मूल्य और कन्या-मूल्य

दोनो को ही समाहित किया गया है। इस परिभाषा मे दहेज को विवाह की एक आवश्यक शर्त के रूप में दिया जाने वाला बताया है। प्राय: मध्यम एव उच्च वर्ग में दहेज कन्या-पक्ष द्वारा वर-पक्ष को दिया जाता है किन्तु हिन्दू समाज में निम्न वर्ग की कुछ जातियों में दहेज वर-पक्ष द्वारा कन्या-पक्ष को दिया जाता है।

दहेज की प्रथा समाज मे प्राचीनकाल से चली आ रही है किन्तु उस समय दहेज स्वेच्छा से दिया जाता था। माता-पिता कन्या को विदा करते समय अनेक वस्तुएँ उसे उपहार स्वरूप देते थे। जनक ने अपनी पुत्री सीता को विवाह के समय अनेक आभूषण, हीरे-जवाहरात व बहुमूल्य वस्तुएँ दी थीं। ब्रह्म-विवाह मे पिता वस्त्र आभूषण से सुसज्जित कन्या का विवाह योग्य वर के साथ करता था। तेरहवीं, चौदहवीं सदी से दहेज का प्रचलन राजपूत काल में प्रारम्भ हुआ जब अच्छे-अच्छे परिवारों ने अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप दहेज की माँग प्रारम्भ की। बाद मे यह प्रथा सामान्य हो गई। आज की स्थिति में उच्च-कुल, उच्च-शिक्षा, उच्च-व्यवसाय अथवा नौकरी और धनाढ्य परिवार वाले वर को प्राप्त करने के लिए कन्या के माता-पिता वर के माता-पिता को अधिकाधिक दहेज देते है। शिक्षा और सामाजिक जागरूकता के बढ़ने के साथ-साथ दहेज का प्रचलन अत्यधिक उग्र रूप धारण कर रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि नासूर के समान घर करने वाली इस प्रथा को समाप्त करने के लिए जन-चेतना जागृत की जाए अन्यथा यह निर्धन माता-पिताओं को दीमक के समान खोखला कर देगा। समाज के समक्ष आज यह सबसे बड़ी चुनौती है। अल्तेकर ने कहा है, "हिन्दू समाज के लिए यह उचित समय है कि वह दहेज की इस दूषित प्रथा को, जिसने अनेक अबोध कन्याओं को आत्महत्या के लिए प्रेरित किया है, समाप्त कर दे।" अल्तेकर का यह कथन पूर्ण सत्य है क्योंकि वास्तव मे सम्पूर्ण नारी जाति इस समस्या से त्रस्त है। अनेक कन्याओ के लिए यह एक जानलेवा रोग है। अतः आज दहेज की समस्या से निपटने की अतीव आवश्यकता है।

दहेज-प्रथा के कारण
(Causes of Dowery System)

समाज में अनेक ऐसे कारण या तत्त्व हैं जो दहेज-प्रथा के लिए उत्तरदायी है। ये निम्न हैं—

1 **कुलीन विवाह (Kulin Marriage)**—हिन्दू समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी कन्या का विवाह अपने से उच्च कुल में करना चाहता है। कुलीन परिवारो की संख्या कम और उनके लड़कों की माँग अधिक होने के कारण वर-पक्ष की ओर से अधिक दहेज की माँग की जाती है। कन्या-पक्ष को योग्य वर प्राप्त करने के लिए अधिक दहेज देना ही पड़ता है।

2 **बाल-विवाह (Child-Marriage)**—बाल-विवाह भी दहेज-प्रथा का एक कारक कहा जा सकता है। समाज में बाल-विवाह के प्रचलन के कारण लड़कियो को अपना जीवन-साथी चुनने का न तो अवसर प्राप्त था, न ही विवाह के समय लड़की की योग्यता थी। अत: वर-पक्ष की ओर से दहेज की माँग की पूर्ति कन्या-पक्ष का दायित्व बन गया।

3. **विवाह-संस्कार की अनिवार्यता (Compulsion of Marriage Sacrament)**—हिन्दू समाज में विवाह को एक अनिवार्य धार्मिक संस्कार माना गया है। कन्यादान

के बाद ही गृहस्थ को ऋण-मुक्ति मिलती है। विवाह की इसी मान्यता ने वर-पक्ष को अधिकाधिक दहेज की माँग के लिए प्रोत्साहित किया है। कभी-कभी माँ-बाप अपनी शारीरिक रूप से अक्षम बेटी के लिए भी अधिक दहेज देकर वर प्राप्त करते हैं। इस प्रवृत्ति से अन्य लोगों को भी प्रोत्साहन मिलता है।

4 **महँगी शिक्षा** (Costly Education)—महँगी शिक्षा-प्रणाली भी दहेज-प्रथा का एक अप्रत्यक्ष कारण कही जा सकती है। व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के कारण व्यक्ति अपने पुत्र को ऋण लेकर भी उच्च शिक्षा प्राप्त कराता है बाद में उस लड़के की सामाजिक और आर्थिक स्थिति उच्च हो जाती है और विवाह के क्षेत्र में उनकी माँग भी उतनी ही बढ़ जाने से दहेज की माँग भी ज्यादा हो जाती है।

5 **प्रतिष्ठा का प्रदर्शन** (Exhibition of Prestige)—वर्तमान समय में स्वयं को श्रेष्ठ दिखाने की प्रवृत्ति प्रचलित हो गई है। सम्बन्धियो व रिश्तेदारों की दृष्टि में अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊँचा बनाए रखने की इच्छा भी लोगो को दहेज लेने को प्रोत्साहित करती है। संयुक्त परिवार में उनकी लड़की को उच्च प्रतिष्ठा मिल सके, इसलिए भी कुछ लोग अधिक दहेज देते हैं और पुत्र के विवाह में फिर उससे भी अधिक धन की माँग करते हैं।

6 **धन का महत्त्व** (Importance of Wealth)—आज के समय में धन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। धन ही व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा का मापदण्ड बन गया है। ऊँची-ऊँची भव्य इमारतें, कार व अन्य अत्याधुनिक उपकरणों से सुसज्जित मकान को देखकर लड़की वाले अच्छे-से-अच्छे वर का चयन कर लेते है और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरूप उतना ही दहेज भी जुटाते हैं।

7. **औद्योगीकरण का प्रभाव** (Impact of Industrialization)—औद्योगीकरण और नगरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति ने भी दहेज को उकसाया है। व्यावसायिक गतिशीलता में वृद्धि होने के कारण एक ही परिवार के लोग दूर-दूर जाकर रहने लगे हैं। फलस्वरूप अपनी जाति में वर का चुनाव करना एक दुष्कृत्य बन गया है, इससे भी दहेज-प्रथा को बढ़ावा मिला है।

8 **सामाजिक प्रथा** (Social Custom)—दहेज का प्रचलन आज एक सामाजिक प्रथा बन गई है। व्यक्ति अपनी पुत्री के विवाह मे दहेज देता है और पुत्र के विवाह मे प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार दहेज का एक चक्र-सा चलता रहता है।

ऐसा भी देखा गया है कि लड़की के विवाह के समय लोग दहेज की बुराइयो को गिनाते हैं जबकि पुत्र के विवाह के समय उनकी मान्यताएँ बदल जाती हैं।

दहेज-प्रथा के दुष्परिणाम
(Evil-effects of Dowery System)

दहेज-प्रथा ने समाज के सामने अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। इस प्रथा के दुष्परिणाम निम्नलिखित हैं—

1. **पारिवारिक विघटन** (Family Disorganisation)—दहेज का सर्वप्रमुख दुष्परिणाम यह निकलता है कि इससे नव-वधू के पारिवारिक जीवन मे विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वर-पक्ष की आशा-आकांक्षाओं के अनुरूप दहेज की राशि यदि उन्हे

कन्या-पक्ष से प्राप्त नहीं हो पाती तो वे वधू पर अनेक अत्याचार करते हैं। सास-ननद के कटु व्यंग्य-बाण, अन्य नाते-रिश्तेदारों के उलाहने, पति का तिरस्कार यहाँ तक कि उसके साथ अनेक प्रकार से दुर्व्यवहार किया जाता है इससे वह व्यथित रहती है और परिवार में तनाव, संघर्ष व वैमनस्य की स्थिति बनी रहती है परिणामस्वरूप पति-पत्नी का जीवन नारकीय बन जाता है।

2. आत्महत्या (Suicide)—दहेज की पूर्ति न किये जाने पर जो सर्वाधिक दुष्परिणाम कन्या-पक्ष को झेलना पड़ता है वह है—कन्या की आत्महत्या। आज अखबारों मे अनेक खबरें इस प्रकार की छपती हैं कि दहेज की राशि न चुकाने पर लड़की को जलाकर या अन्य तरीके से मार डाला गया और फिर लड़की के माँ-बाप केवल रो-धोकर शान्त हो जाते हैं। दहेज की राशि न लाने पर ससुराल वाले उसे अपमानित करते हैं, दुर्व्यवहार करते हैं, इससे परेशान होकर कभी-कभी लड़की स्वयं अपना जीवन समाप्त कर देती है या ससुराल-पक्ष द्वारा उसकी हत्या भी कर दी जाती है। कभी-कभी दहेज की माँग के कारण ही उसका विवाह नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में सामाजिक अवमानना न सहने के कारण भी वह आत्महत्या करने के लिए विवश हो जाती है। इस प्रकार दहेज-प्रथा का दुष्परिणाम लड़कियों की आत्महत्या है।

3 ऋणग्रस्तता (Indebetedness)—प्राय: लड़की के विवाह के लिए जब माता-पिता द्वारा दहेज की भारी राशि को जुटा पाना सम्भव नहीं हो पाता तो ऐसी स्थिति मे वे अपनी अचल सम्पत्ति—मकान, खेत व जेवर आदि को बेच देते हैं अथवा रेहन रख देते हैं और बहुत अन्तराल के बाद भी वे उसे वापिस लेने मे सक्षम नहीं हो पाते तो उन्हें अभाव का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। बहुत-से परिवार कभी-कभी आजीवन ऋणी बन जाते हैं और ब्याज देते रहते हैं। इस तरह दहेज का परिणाम कभी-कभी व्यक्ति को आजीवन ऋणी बना देता है।

4. बेमेल विवाह (Unmatched Marriage)—दहेज-प्रथा का दुष्परिणाम बेमेल विवाह को प्रोत्साहन देना भी माना जा सकता है। अनेक परिस्थितियाँ इस प्रकार की आ जाती हैं जब अधिक राशि न जुटा सकने के कारण गरीब माँ-बाप अपनी कन्या का विवाह किसी अयोग्य, विकलांग अथवा अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ करने के लिए विवश हो जाते हैं। कन्या भी उसे अपना भाग्य मानकर आजीवन उस भार को ढोती रहती है। इस तरह अपनी महत्त्वाकांक्षाओं का दमन कर भारतीय नारी अपने पतिव्रत-धर्म का निर्वाह करती है और कभी-कभी जब पति जल्दी ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो वह वैधव्य का जीवन भी जी लेती है किन्तु विद्रोह कभी नहीं करती। इस तरह दहेज का अभाव लड़की को अशिक्षित, कुरूप, प्रौढ़ अथवा अयोग्य व्यक्ति के साथ विवाह करने को विवश कर देता है जिसका दुष्परिणाम वह आजीवन भुगतती रहती है।

5 मानसिक असन्तुलन (Mental Imbalance)—दहेज का एक दुष्परिणाम यह भी देखा गया है कि अनेक स्त्रियाँ विवाहोपरान्त मानसिक रूप से असन्तुलित हो जाती हैं। दहेज के अभाव मे उन्हे परिवार मे आदर-सम्मान नहीं मिलता। सास-श्वसुर, ननद व पति की प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है। अपने पिता की आर्थिक स्थिति को जानते हुए वे वहाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं। अत: दोनों ओर से विवशता व अवमानना का सामना करने

के कारण वे अपने जीवन में सन्तुलन बनाए नहीं रख सकतीं और मानसिक रूप से असन्तुलित हो जाती हैं।

6 **व्यापारी प्रवृत्ति का विकास** (Development of Businesslike Tendency)—आधुनिक युग में विवाह के लिए विज्ञापन निकाले जाते हैं। इन वैवाहिक विज्ञापनों को पढ़कर अनेक व्यक्ति अपनी कन्या के लिए अच्छे-से-अच्छे वर की तलाश कर लेते हैं और वर-पक्ष वाले भी उनसे मनवांछित धन प्राप्त कर लेते हैं, इससे विवाह सम्बन्धों में व्यापारीकरण की प्रवृत्ति का विकास हो गया है।

7. **स्त्रियों की निम्न स्थिति** (Low Status of Women)—दहेज-प्रथा का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि समाज में स्त्रियों को निम्न स्तर का माना जाता है। वर-पक्ष वाले स्वयं को उच्च मानते हैं। इसी कारण परिवार में कन्या का जन्म होना दुःखद स्थिति का परिचायक माना जाता है क्योंकि लड़की के विवाह में भारी रकम खर्च करनी पड़ती है फिर भी उसका जीवन सुखमय बनना बहुत बड़े सौभाग्य की बात मानी जाती है। प्राचीन समय में तो कन्या को जन्म के समय ही मार दिया जाता था जिसके लिए कानून पारित किया गया था तब इस दुष्कर्म से छुटकारा मिला था। लड़की की शादी के लिए दहेज जुटाने की चिन्ता कन्या के जन्म के समय से ही माता-पिता को हो जाती है और उन स्त्रियो की स्थिति समाज में बहुत प्रतिष्ठित नहीं मानी जाती जो कन्याओं को ही जन्म देती हैं।

8 **अपराध वृत्ति को प्रोत्साहन** (Encouragement to Criminal Tendency)—दहेज के लिए भारी रकम जुटाने के लिए अनेक माता-पिता अनुचित कर्म भी कर लेते हैं। रिश्वत लेना अथवा अनुचित साधनों के प्रयोग से धन इकट्ठा करना, जिससे कि उनकी कन्या को श्रेष्ठ वर मिल सके, माँ-बाप को अपराध करने के लिए प्रोत्साहित करता है। इस दहेज-प्रथा का एक दुष्परिणाम यह भी निकलता है कि दहेज की रकम न जुटा सकने के कारण अधिक समय तक लडकी का अविवाहित रहना उसे दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त कर देता है। मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि यौन-सन्तुष्टि एक मौलिक मूल प्रवृति है जिसकी पूर्ति मनुष्य ही नही पशु-पक्षियों आदि सभी में स्वभावतः पाई जाती है। यदि स्वाभाविक तौर पर इसकी पूर्ति न की गई तो व्यक्ति अस्वाभाविक तरीको से इसकी पूर्ति करता है इससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है।

9. **अविवाहित जीवन** (Unmarried Life)—अनेक बार दहेज की रकम न जुटा सकने के कारण माता-पिता के समक्ष ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि उनकी कन्या का कहीं विवाह नहीं हो पाता। आज जबकि नारियो मे अपनी स्थिति के प्रति जागरूकता आ गई है, वे स्वयं भी अविवाहित रहना पसन्द करती हैं जिससे माँ-बाप चिन्तित व दुःखी न रहें। अनेक लड़कियाँ इस प्रकार से अविवाहित जीवन बिताने को भी बाध्य हो जाती हैं। मौलिक रूप से समस्या बनी ही रहती है कि अनेक लडकियाँ अविवाहित जीवन व्यतीत करती हैं।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि दहेज नहीं लाने पर किसी नवविवाहिता को प्रताडित करना अथवा उस पर अत्याचार करना आज सामान्य हो गया है। नारी पर अत्याचार बढ़ते ही जा रहे हैं। अतः दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिए सक्रिय कदम उठाए जाने आवश्यक हैं।

दहेज-प्रथा को समाप्त करने के लिए सुझाव (Suggestions to End the Dowery System)

दहेज-प्रथा की समाप्ति के लिये कुछ सुझाव निम्नलिखित हैं—

1. **स्त्री-शिक्षा को महत्त्व** (Importance to Women-Education)—दहेज की कुप्रथा को समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि स्त्री-शिक्षा को महत्ता प्रदान की जाए, उन्हें आत्मनिर्भर बनाया जाए। आज आवश्यकता है कि स्त्री अपनी चारदीवारी से बाहर निकलकर अपने स्वरूप को पहचाने व बाह्य जगत से परिचित होकर नवीन समाज की स्थापना मे अपना योगदान करे जिससे प्राचीनकाल से चली आ रही रूढ़ियाँ व कुप्रथाएँ समाप्त हो सकें। इसके लिए स्त्रियो को शिक्षित होकर दहेज-विरोधी आन्दोलन करने होंगे व अन्य नारियो मे जागृति लानी होगी। तभी वे अपना भविष्य सुखद बना सकती हैं। आज स्त्रियों के क्षेत्र मे शिक्षा का प्रचार-प्रसार खूब बढ़ गया है व स्त्रियाँ घर से बाहर निकलकर हर क्षेत्र मे अपनी भूमिकाएँ पुरुष के समान ही बखूबी निभा रही हैं। इससे स्त्रियों की गरिमा भी बढ़ी है। वे अपने अधिकारो को भी समझने लगी हैं किन्तु अभी स्त्रियो के क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार पूरा नहीं हुआ। विशेषकर ग्रामीण अँचल मे अभी प्रयास करना अपेक्षित है। यद्यपि सरकार इस ओर सर्वरूपेण प्रयास कर रही है फिर भी महिलाओ को आगे आकर जागृति फैलाने की आवश्यकता है।

2 **जीवन-साथी के चयन की स्वतन्त्रता** (Freedom for Mate Selection)—यदि लडके और लडकियाँ अपना जीवन-साथी स्वयं चुन ले तो दहेज की समस्या कम हो सकती है। माता-पिता जब लडके-लड़की का सम्बन्ध तय करते हैं तो वे दहेज की मात्रा को ही अपने ध्यान मे रखते हैं। यदि लड़के-लडकी यह दायित्व ले लेंगे तो एक तो दहेज का लालच न रहेगा, दूसरे उन्हें परस्पर समीप आने का अवसर मिलेगा इससे वे एक-दूसरे की इच्छाओ, रुचियो और परिस्थितियो से परिचित रहेगे इससे भावी जीवन भी सुखकर होगा। सह-शिक्षा और सह-व्यवसाय एक-दूसरे को समझने मे सार्थक सिद्ध होगा। हाँ, माता-पिता को प्राचीन रूढ़ियो से हटकर स्वयं को उदार बनाना होगा। तभी दहेज की समस्या का निराकरण हो सकेगा।

3 **अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता** (Encouragement to Intercaste Marriage)—दहेज की कुप्रथा को समाप्त करने का एक तरीका यह है कि अन्तर्जातीय विवाह को समाज द्वारा मान्यता प्रदान की जाए। हम सभी जाति के बन्धनो से इतने बँधे हैं कि दूसरी जाति मे खान-पान करने में व उनसे सम्बन्ध स्थापित करने में स्वयं की अवमानना समझते हैं। यदि अन्तर्जातीय विवाह को सर्वसम्मति से मान्यता मिल जाएगी तो अपनी ही जाति का बन्धन समाप्त हो जाएगा और जीवन-साथी के चयन का दायरा बढ़ जाएगा परिणामत: योग्य वर सुगमता से मिल सकेगे और दहेज-प्रथा समाप्त हो जाएगी।

4 **प्रेम-विवाह को मान्यता** (Sanction to Love-Marriage)—यदि कोई लड़की किसी लडके को अपना जीवन-साथी चुन लेती है तो समाज व परिवार उसे हेय दृष्टि से देखता है। स्वय माँ-बाप दहेज देना पसन्द कर लेगे किन्तु ऐसे विवाह की स्वीकृति नहीं देगे जिसमे लडकी-लडके की सहभागिता हो। यद्यपि आज युग परिवर्तित हो गया है और समाज मे अनेक प्रेम-विवाह होते देखे जा रहे हैं जिन्हे माँ-बाप बाद में सुनियोजित विवाह का रूप

दे देते है। इनमें दहेज नहीं दिया जाता फिर भी अभी इन विवाहो की संख्या बहुत कम है। आवश्यकता इस बात की है कि युवक इस क्षेत्र में पहल करें और अपने लिए सुन्दर, सुशील और सुसंस्कारित जीवन-साथी को महत्त्व दे न कि दहेज को। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि यदि युवक परिवार, जाति और समाज की आलोचना का भय त्यागकर और प्राचीन मान्यताओं को तोड़कर नवीन मान्यताओं की स्थापना करेगे अर्थात् दहेज को महत्त्व न देकर अपने पसन्द का जीवन-साथी चुनेगे तो दहेज की कुप्रथा पर अवश्य अंकुश लगेगा।

5. **युवा-आन्दोलन** (Youth Movement)—दहेज की समस्या से निपटने के लिए युवा आन्दोलन चलाया जा सकता है। युवा-शक्ति में अनेक सामाजिक परिवर्तन करने की क्षमता होती है। अत: उन्हें आगे आकर दहेज विरोधी आन्दोलनों को बढ़ावा देना होगा। इसके लिए उन्हें स्वयं भी दहेज न लेने की शपथ ग्रहण करनी होगी। उन्हे यह उदाहरण प्रस्तुत करना होगा कि न तो वे दहेज लेगे, न ही दहेज देगे। इसके लिए सामूहिक विवाहों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। वर्तमान समय मे सामूहिक विवाहों को मान्यता दी जा रही है, यह एक अच्छा प्रयास है। यदि युवा-वर्ग प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और कचहरी में जाकर विवाह करने की पहल करेंगे तो वह दिन दूर नहीं होगा, जब विवाह के अवसरों पर होने वाले अनावश्यक व्यय में कमी हो सकेगी।

6. **दहेज-विरोधी जनमत** (Opinion Against Dowery)—दहेज-प्रथा की समाप्ति के लिए यह आवश्यक है कि लोगों में जागृति उत्पन्न की जाए कि वे दहेज लेने एवं देने का विरोध करें। समाज के सम्मुख ऐसे आदर्श प्रस्तुत किए जाएँ कि कुलीन और शिक्षित कन्या का विवाह बिना दहेज के सम्पन्न घराने मे हो। इसके लिए प्रचार-प्रसार करने की आवश्यकता है। टी वी , रेडियो व अन्य पोस्टर आदि के माध्यम से जनता के समक्ष उन आदर्शों को प्रस्तुत किया जाए। नवयुवकों व समाज सुधारको को इस दिशा में विशेष प्रयास करना होगा, पुरानी मान्यताओं को त्यागकर, नवीन मूल्यो की स्थापना करनी होगी। तभी समाज में बदलाव आ सकता है। केवल शिक्षा द्वारा इसमे सफलता मिलना कठिन है।

7. **युवाओं को स्वावलम्बी बनाने का प्रयास** (Efforts to make Youth Independent)—यदि युवाओं को पूर्णरूप से स्वावलम्बी बनाया जाए तो दहेज पर अंकुश लग सकता है। वर्तमान समय में लड़के की योग्यता को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। उसे सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता है क्योंकि समाज मे सभी को सम्मानजनक व्यवसाय कम ही मिलता है अत: अच्छे, योग्य लडकों की कमी दहेज वृद्धि मे सहायक होती है। यदि पूर्ण रोजगार की व्यवस्था हो जाए, सरकार द्वारा नौकरियो के अवसर बढाए जाएँ और व्यावसायिक क्षेत्र में शिक्षितो के लिए जीविकोपार्जन की सुविधाओं में वृद्धि की जाए तो योग्य लड़कों की कमी समाज मे न रहेगी और परिणामस्वरूप दहेज-प्रथा पर भी अंकुश लग सकेगा। औद्योगीकरण और नगरीकरण के परिणामस्वरूप आज यद्यपि नौकरी व व्यवसाय दोनों ही क्षेत्रों मे पर्याप्त वृद्धि हुई है, फिर भी कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करने की अभी और आवश्यकता है जिससे शिक्षितों को अधिकाधिक संख्या में रोजगारोन्मुखी बनाया जा सके। इसका दहेज पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा।

8 **दहेज विरोधी कानून** (Law Against Dowery)—दहेज-प्रथा को समूल उखाड़ने के लिए आवश्यक है कि दहेज लेने और देने वालों के विरोध मे सख्त कानून बने

और उनका कड़ाई से पालन किया जाए और इस कानून के विषय से सबको अवगत कराया जाए। इस सम्बन्ध मे अनेक प्रयास किए जा चुके हैं, जो इस प्रकार हैं—

दहेज समाप्ति के कानूनी प्रयास
(Legal Efforts for the Abolition of Dowery)

दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 (Dowery Restraint Act, 1961)—अनेक समाज सुधारको व महिला संगठनों के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप सरकार द्वारा सन् 1959 में लोकसभा में दहेज-निरोधक विधेयक प्रस्तुत किया गया। 9 मई, 1961 को लोकसभा और राज्यसभा की संयुक्त बैठक में इस विधेयक को पास कर दिया गया और 1 जुलाई, 1961 से यह लागू हो गया। इस अधिनियम में दहेज लेने और देने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है, किन्तु इसमे यह स्पष्ट किया गया है कि विवाह के अवसर पर दिए जाने वाले उपहार दहेज नहीं माने जायेगे। विवाह तय करते समय जो कुछ उपहार, वस्तुएँ, धन आदि विवाह की आवश्यक शर्त के रूप में माँगे जायेंगे, चाहे वे वर–पक्ष द्वारा माँगे जाएँ अथवा कन्या–पक्ष द्वारा, वे सभी दहेज के अन्तर्गत आएँगे और ऐसा कोई भी समझौता गैर-कानूनी एवं दण्डनीय होगा। यदि इस कानून के विरुद्ध कोई दहेज दिया गया तो वह पत्नी की सम्पत्ति मानी जाएगी। इस अधिनियम की धारा 3 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति दहेज लेता या देता है अथवा लेन–देन में सहायक होता है तो उसे 6 माह का कारावास और पाँच हजार रुपए तक का दण्ड दिया जा सकता है।

इस अधिनियम की धारा 4 के अनुसार वर अथवा कन्या के माता-पिता अथवा संरक्षक से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दहेज माँगने वाला व्यक्ति भी उपर्युक्त प्रकार से दण्डित किया जाएगा। अधिनियम की धारा 7 के अनुसार अदालत इस अधिनियम के अन्तर्गत होने वाले अपराधों पर तभी विचार करेगी जब—(i) इस विषय में लिखित शिकायत पेश हो, (ii) शिकायत किसी प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत में की हो, तथा (iii) शिकायत दहेज लेने अथवा देने के एक वर्ष की अवधि में की जाए।

इस प्रकार दहेज के अपराधों को संज्ञेय, अशमनीय एवं अजमानतीय घोषित किया गया तो भी समस्या पर बहुत अधिक नियन्त्रण नहीं किया जा सका। परिणामस्वरूप संसद को भारतीय दण्ड संहिता, 1860 मे दो नई धाराएँ 304 (ख) तथा 498 (क) और जोड़नी पड़ीं—

(i) धारा 304 (ख) में प्रावधान किया गया है कि "जहाँ विवाह के सात वर्ष के भीतर किसी स्त्री की मृत्यु जल जाने अथवा शारीरिक क्षति से अथवा असामान्य परिस्थितियों में हो जाती है और यह प्रदर्शित किया जाता है कि मृत्यु से ठीक पहले उसे उसके पति द्वारा अथवा पति के रिश्तेदारों द्वारा दहेज की माँग को लेकर परेशान किया गया था अथवा उसके साथ निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया गया था, तो इसे 'दहेज–मृत्यु' कहा जाएगा और उसकी मृत्यु का कारण उसके पति द्वारा रिश्तेदारों को माना जाएगा।"

इसके लिए न्यूनतम सात वर्ष एवं अधिकतम आजीवन कारावास की सजा का प्रावधान है।

(ii) **धारा 498 (क)** में प्रावधान किया गया है कि, स्त्री के साथ उसके पति या रिश्तेदारों द्वारा निर्ममतापूर्वक व्यवहार किए जाने को तीन साल तक की अवधि के कारावास से दण्डनीय अपराध बताया गया है।

इस प्रकार दहेज-निरोध कानून बडे सख्त है, किन्तु मात्र कानून से इस समस्या का निराकरण सम्भव नहीं है। आज भी अनेक घटनाएँ हो रही हैं जहाँ स्त्रियों को दहेज के लिए बार-बार परेशान किया जा रहा है, शराब पीकर उनके साथ मार-पीट की जाती है, निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया जाता है, यहाँ तक कि उन्हें जिन्दा जला दिया जाता है किन्तु दहेज की त्रासदी से निपटने के लिए बने कठोर कानूनों की व्यवस्था उनका निराकरण नहीं कर सकती। आज आवश्यकता है मानसिक बदलाव की, जन-चेतना की क्योंकि अधिनियमों को लागू करने में भी अनेक परेशानियाँ हैं, जैसे—(i) कोई भी व्यक्ति लिखित में किसी की शिकायत करना नहीं चाहता, (ii) दूसरे यह सिद्ध करना भी कठिन होता है कि विवाह मे दी जाने वाली कौनसी वस्तु दहेज है और कौनसी वस्तु उपहार है। अतः दहेज-निरोधक कानून इस समस्या से छुटकारा नहीं दिला सकता। आज नारी पर अत्याचार की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। कब तक नारी बेबस, लाचार एवं बेसहारा बनी रहेगी? इस समस्या को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए आज युवा-वर्ग को आगे आने की अतीव आवश्यकता है, साथ ही अभिभावकों की कथनी और करनी को एक करने की आवश्यकता भी है। समाज के रीति-रिवाज और झूठी शान ने आज उन्हें सही-गलत का चुनाव करने योग्य भी नहीं रखा इसीलिए लड़के की उच्च शिक्षा पर किया गया खर्च लड़की के अभिभावक से वसूल करते हैं और अपने समय पर दहेज-विरोध नारे लगाते हैं। जब तक इस सामाजिक बुराई के विरोध में जन-जागृति न जगाई जायेगी, उनमें सामाजिक चेतना न लाई जाएगी तब तक नारी के लिए यह एक जानलेवा रोग बना ही रहेगा।



अध्याय-9

पारिवारिक हिंसा
(Domestic Violence)

पारिवारिक, घरेलू या गृहस्थी सम्बन्धी हिंसा के अन्तर्गत महिलाओं के विरुद्ध हिंसा, बालिकाओं, युवा कन्याओं, वधुओं, विधवाओं और वृद्ध महिलाओं के साथ किए गए सभी दुर्व्यवहार आते हैं। इसके अतिरिक्त पत्नियों को पीटना, लैंगिक दुर्व्यवहार और दहेज सम्बन्धी महिलाओं पर किए जाने वाले अत्याचार तथा दहेज से सम्बन्धित मृत्यु को भी पारिवारिक हिंसा के अन्तर्गत रखा गया है। इनका सविस्तार वर्णन निम्नलिखित है—

(1) बालिकाएँ एवं हिंसा (Girls and Violence)—पारिवारिक हिंसा की प्रमुख शिकार बालिकाएँ है जिसमें कुपोषण, माता-पिता की लापरवाही, चिकित्सा सुविधाओं का अभाव, लिंग आधारित असमानताओं के दुर्व्यवहार तथा वर्षों से पनप रहे रूढ़िवाद के कारण इस पुरुष-प्रधान समाज के बालिका मे उचित शारीरिक पालन-पोषण के अभाव में विकास के स्थान पर शोषण होता है। प्रारम्भ से ही उसके साथ असमानता, क्रूरता तथा वैमनस्य का व्यवहार किया जाता है इससे आगे चलकर जो उसका व्यक्तित्व विकसित होता है उसमें अयोग्यता, दासता एवं पराधीनता स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती है।

आज के भारतीय समाज मे बालिकाओं की स्थिति के सम्बन्ध मे विवरण यूनीसेफ द्वारा प्रकाशित एक प्रतिवेदन '**भारत की बालिका-एक झलक**' शीर्षक के अन्तर्गत दी गई है जिसमे इसके विरुद्ध हिंसा की स्थिति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इस प्रतिवेदन के अनुसार भारतवर्ष मे प्रतिवर्ष जन्म लेने वाली 1,00,00,000 बालिकाओं में से 25 प्रतिशत पन्द्रह वर्ष से पहिले ही मर जाती हैं। इनमें से एक-तिहाई की मृत्यु पहिले वर्ष मे ही हो जाती है। शिशु उत्तर जीवित सम्बद्ध आँकड़ो के अनुसार ऐसी प्रत्येक छठी मौत लिंग भेद-लिंग-शोषण अर्थात् महिला के विरुद्ध हिंसा के कारण ही होती है।

अधिकतर देशों में पुरुष-स्त्री अनुपात यह प्रदर्शित करते हैं कि स्त्रियों की संख्या पुरुषो से अधिक रहती है। लेकिन भारत मे 1991 की जनगणनानुसार प्रत्येक 1000 पुरुष पर 927 महिलाएँ है। इस विषमता का प्रमुख कारण बालिकाओं का कुपोषण है। लिंग पर आधारित पक्षपात के कारण कुपोषित लड़कियाँ बडी होकर कुपोषित स्त्री बनती हैं तथा आगे चलकर कम वजन वाले बच्चों को जन्म देती हैं, या प्रसव के समय मृत्यु को प्राप्त होती है। अध्ययनो एवं प्राप्त निष्कर्षों से ज्ञात हुआ है कि गरीब तथा पिछड़े परिवारों में निम्न आय के कारण बालिकाओं को कम विटामिन युक्त तथा कम मात्रा मे भोजन दिया जाता है। बीमारी मे लड़कियो का ध्यान कम रखा जाता है। स्वास्थ्य पर कम खर्च किया जाता है तथा लड़कों पर

अधिक ध्यान दिया जाता है। लड़कों की तुलना मे लड़कियाँ कुपोषण की शिकार 2-3 गुणा अधिक हैं। इसके अतिरिक्त लड़कियों को अपने भाई-बहिनो की देखभाल करनी होती है।

(2) कामकाजी लड़कियाँ एवं हिंसा (Working Girls and Violence)—सरकार ने बाल-श्रमिक को प्रतिबन्धित एवं गैर-कानूनी घोषित कर दिया है। इसके उपरान्त भी लड़कियों को बाल-श्रम के रूप में परिवार एवं समाज में अनेक क्षेत्रो एवं रूपों में देखा जा सकता है। विडम्बना तो ये है कि लड़कियो के द्वारा किया गया श्रम और काम सामान्यतया प्रत्यक्ष रूप से नजर नहीं आता है। इनके द्वारा किये गये घरेलू कार्य को मूल्यांकन करने की विधि ठीक से तय नहीं हो पाई है। ये लड़कियाँ कहाँ-कहाँ क्या-क्या कार्य करती हैं? इनकी संख्या कितनी है? आदि का ठीक से पता नहीं है। लड़कियाँ अधिकतर भाई-बहिनो की देखभाल तथा परिवार के लिए अनेक कार्य करती हैं, घर के जूठे बर्तन साफ करना, खाना पकाना, खेत में काम करने से लेकर सामान बेचना, अखबार तथा कूड़ा-करकट एकत्र करना, डिब्बों पर गोंद लगाना, सिलाई करना, नारियल जटा एवं पापड़ की फैक्ट्रियों में काम करना आदि से लेकर बीड़ी उद्योग जैसे अस्वास्थ्यकर पर्यावरण मे काम करना पड़ता है। वहाँ उनका घोर शोषण किया जाता है। काम करते-करते उनका बचपन और किशोर-अवस्था कब गुजर जाती है इसका पता ही नहीं चल पाता है। इसके विपरीत दूषित पर्यावरण तथा शोषण के कारण अनेक बीमारियों, जैसे—तपेदिक, दमा, अन्धापन आदि हो जाती है। यह इन पर घोर हिंसा नहीं है तो और क्या है?

(3) नन्हीं-पत्नियाँ—नन्हीं-माताएँ और हिंसा (Tiny Wives-Tiny Mothers and Violence)—भारत मे प्रत्येक वर्ष 45,00,000 विवाह होते हैं इनमे से 30 लाख वधुओं की आयु 15-19 वर्ष होती है। छोटी आयु में विवाह का परिणाम होता है, आवागमन पर प्रतिबन्ध, शिक्षा का अन्त, गृहस्थी का भार पड़ जाना, जल्दी गर्भवती होना, कुपोषण का शिकार होना, कुपोषित बच्चों को जन्म देना, लम्बे समय तक जनन क्षमता के फलस्वरूप कई बार गर्भवती होना, प्रसव के समय मृत्यु हो जाना आदि हिंसाओ का शिकार होना है। इनके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। राजस्थान के कुछ जिलों मे 45 प्रतिशत से अधिक कन्याओं के विवाह 10-14 वर्ष की आयु में हो जाते हैं। उत्तर भारत में 45 प्रतिशत लड़कियों के 10-16 वर्ष की आयु मे या तो विवाह कर दिए जाते हैं या सगाई कर दी जाती है, रिश्ते की बात चल रही होती है।

(4) पत्नी को पीटना (Wife Battering)—महिलाओं के विरुद्ध हिंसा मे पत्नियों द्वारा पत्नियों को पीटना भी कम गम्भीर अत्याचार नहीं है। ससुराल मे आकर पत्नी को सबसे अधिक सुरक्षा पति द्वारा होनी चाहिए। परन्तु जब पति प्रेम एवं सुरक्षा के स्थान पर पत्नी को पीटता है तो उसका जीवन नरकमय, असुरक्षित, छिन्न-भिन्न एवं अन्धकारमय हो जाता है। सास, ससुर, जेठानी, ननद आदि व्यक्ति को इतनी उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ाती रहती हैं कि पति बहकावे मे आकर अपना कर्त्तव्य भूल कर पत्नी को अक्सर पीटने लग जाता है। व्यक्ति अपनी समस्याओ का हल नहीं करने के कारण, दहेज प्राप्त नहीं होने के कारण या आर्थिक समस्याओं का गुस्सा पत्नी को पीटकर शान्त करते हैं। पत्नी के पुत्रियाँ होने पर भी पीटा जाता है। चाँटा मारना, लात घूँसे मारना, नाक काटने की धमकी देना या काट डालना, कान मरोड़ना, चूड़ियाँ पकड़ कर खींचना, धक्का मारना, दीवार से सिर दे मारना, हाथ-पाँव

की हड्डी तोड डालना, जान से मारने की धमकी देना, कोशिश करना या भावावेश में आकर हत्या कर डालना आदि हिंसाएँ पत्नियों को सहनी पड़ती हैं। विडम्बना तो ये है कि इस प्रकार के अत्याचारों की शिकायतें पुलिस में भी दर्ज नहीं करवाई जाती हैं। महिलाएँ इसे अपना भाग्य समझकर सहन करती रहती हैं। जिस स्त्री में थोडा-बहुत स्वाभिमान या सत्य के प्रति विरोध करने का गुण होता है तो उसकी पिटाई तब की जाती है जब तक कि वह चुप नहीं हो जाती है। ऐसा भी अध्ययनों से पता चला है कि इस प्रकार का विरोध पुरुष सहन नहीं कर पाता है और भावावेश में आकर पत्नी के हत्या तक कर डालता है। विरोध नहीं करने का एक प्रमुख कारण समाज की प्रचलित प्रथा है कि विवाह के बाद स्त्री का घर उसका ससुराल है तथा माता-पिता उसे किसी भी प्रकार की सहायता या आश्रय सामाजिक निन्दा के कारण नहीं देते हैं। असहाय महिला यातनाएँ सहने और पिटने के अतिरिक्त जाएँ तो कहाँ जाएँ।

पत्नियों को पीटने से सम्बन्धित निम्न परिस्थितियाँ, कारक एवं लक्षण देखे जा सकते हैं—

4.1. पीटने के कारण—

1. पति का शराबी होना प्रमुख कारण है। शराबी पति अपनी पत्नियों को अधिक संख्या और मात्रा में पीटते हैं बनिस्पत उन पतियों के जो शराब का सेवन नहीं करते हैं।
2. पति किन्हीं कारणों से पत्नी से ईर्ष्या करते हैं तो वह अपनी ईर्ष्या शान्त करने के लिए पत्नी पर अनर्गल आरोप-प्रत्यारोप लगाकर पिटाई कर देते हैं।
3. पति-पत्नी के बीच यौन-सम्बन्धी असमायोजन भी पत्नियों को पति द्वारा पीटे जाने का एक प्रमुख कारण है।
4. पति में गर्वित अहंकार भी पत्नी को पीटने के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है।
5. किन्हीं क्षेत्रों में पत्नी का उच्च होना (जैसे—शिक्षा, व्यवसाय, पत्नी के माता-पिता का आर्थिक स्तर का ऊँचा होना) पति में हीन भावना पैदा कर देता है जिसके कारण पति पत्नी को पीटने लग जाता है।
6. पति का बाल्यकाल में हिंसा की विपदग्रस्तता विवाह के बाद पत्नी को पीटने का कारण बन जाती है।
7. ऐसा भी देखा गया है कि पति द्वारा पत्नी को प्रारम्भ में पीटने के समय पत्नी निष्क्रियता से पिटाई सहन कर लेती है तो भविष्य में पति निःसंकोच पीटने लग जाता है।

4.2. पीटने सम्बन्धी कारण-सम्बन्ध—

1. पति-पत्नी की आयु के अन्तर का सीधा सम्बन्ध पत्नी के पीटने के साथ है। पति आयु में पत्नी से जितना अधिक बड़ा होगा पत्नी के पिटने की सम्भावना उतनी ही अधिक हो जाती है।

2. पति की आयु पत्नी से पाँच या इससे अधिक वर्ष अधिक होगी तो पति द्वारा पत्नी को पीटे जाने की सम्भावना अधिक रहती है।
3. 25 वर्ष से कम आयु की पत्नियों की पिटने की सम्भावना अधिक रहती है।
4. कम आय वाले परिवारों में पत्नियों के पिटने तथा उत्पीड़न की सम्भावना अधिक होती है।
5. पति-पत्नी दोनों का शैक्षिक स्तर जितना निम्न होगा पति द्वारा पत्नी को पीटे जाने की सम्भावना उतनी ही अधिक होगी।
6. पति के शिथिल होने तथा पत्नी के अशिक्षित होने की स्थिति में पत्नियों के पीटे जाने की सम्भावना दोनों (पति-पत्नी) के अशिक्षित होने की तुलना में कम होती है।
7. परिवार के आकार का पत्नियों के पीटे जाने से कितना सम्बन्धित है तथा शराबियों द्वारा पत्नियों के पीटने से परस्पर कितना सह-सम्बन्धित है, यह अभी अनुसन्धान का विषय है। इसके सम्बन्ध में अभी सामान्यीकरण करना सम्भव नहीं है। इस क्षेत्र में अभी अध्ययन करना शेष है तभी कुछ सामान्यीकरण किया जा सकेगा। जो सम्भावनाएँ ऊपर प्रस्तुत की गई हैं उन पर भी प्रश्नचिन्ह लगा हुआ है क्योंकि इन पर विस्तृत एवं गहन अध्ययन नहीं के बराबर हुए हैं।

(5) विधवाओं के विरुद्ध हिंसा (Violence against Widows)—भारतीय समाज में स्त्री के पति की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह करना धर्मानुसार निषेध है। अत: पति की मृत्यु के बाद उसे जीवन पर्यन्त विधवा का जीवन व्यतीत करना पड़ता है जो एक कठिन समस्या है। विधवा की समस्याएँ इस बात पर निर्भर करती हैं कि वह किस आयु में विधवा होती है तथा उसके बच्चे कितने एवं किस आयु के हैं। इन्हीं कारकों के आधार पर विधवाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रकार एवं मात्रा भी निर्भर करती है।

भारतवर्ष के हिन्दू समाज में सन्तानहीन बाल-विधवा, युवा-विधवा, अधेड़ विधवा, प्रौढ़ विधवा तथा वृद्ध विधवाओ की समस्याएँ एवं उन पर किए जाने वाले अत्याचार, इसी प्रकार एक, दो या अधिक सन्तानों वाली विधवाओं की समस्याएँ, अत्याचार एवं हिंसाएँ भिन्न प्रकार की होती हैं। विधवाओं की आयु-वर्ग और सन्तान के साथ-साथ जाति, आर्थिक स्तर एवं निर्भरता, शिक्षा एवं वर्ग आदि के विधवा के शोषण के प्रकारों एवं मात्रा पर प्रभाव पड़ते हैं। विधवाओं के विरुद्ध हिंसा के सम्बन्ध में वृहद् स्तर के अध्ययनों के अभाव के कारण निश्चित रूप से सत्य एवं प्रमाणित लिख पाना कठिन है। समाजशास्त्रियो ने जो अपने अनुभव एवं अवलोकन के आधार पर जो कुछ मत व्यक्त किए हैं उसके अनुसार विधवाओं के विरुद्ध हिंसा, अत्याचार एवं शोषण से सम्बन्धित निम्न विवेचना करना ही सम्भव है।

नि:सन्तान विधवाओं में आयु के साथ शोषण एवं अत्याचार के प्रकार का सीधा एवं गहरा सम्बन्ध है। नि:सन्तान बाल, युवा और प्रौढ़ विधवाओं के साथ यौन-शोषण की हिंसा अधिक होती है। वे असुरक्षा का अनुभव अधिक करती है। अधेड़ एवं वृद्ध नि:सन्तान विधवाओं को उन अनेक समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता है जो अन्य विधवाओं को

करना पड़ता है। बाल, युवा और प्रौढ़ निःसन्तान विधवाओं के सामने केवल स्वयं से सम्बन्धित निर्वाह की समस्या होती है उन पर अन्य कोई जिम्मेदारी नहीं होती है। 50 वर्ष से अधिक आयु के बाद होने वाली विधवाओ की सन्तानें बड़ी होती हैं इसलिए उनके सामने भी सामान्यतया सामाजिक, आर्थिक एवं भावात्मक समायोजन की समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता है। उनकी सन्तानें उनका आदर करती हैं।

विवाह के कुछ वर्षो बाद एक, दो या अधिक बच्चों के जन्म के बाद विधवा होने वाली महिलाओं पर अत्याचार अधिकतम किए जाते हैं अगर उनके माता-पिता, भाई आदि निर्धन और निम्न वर्ग एवं जाति के हैं तथा सास-ससुर, देवर, जेठ आदि भी निर्धन, अशिक्षित एवं लालची हैं। अधिकतर विधवा के रिश्तेदार विशेष रूप से ससुराल पक्ष वाले मृत पति की निजी सम्पत्ति, बीमा योजना की पॉलिसियाँ, प्रतिभूतियाँ, व्यापार, नगदी के हिसाब-किताब आदि को हड़प करने का प्रयास करते हैं। इससे विधवा का आर्थिक शोषण होता है। रिश्तेदार तथा समाज सभी विधवाओं को कदम-कदम पर अपमानित करते हैं। उत्सवों, त्योहारों, विवाह आदि के शुभ अवसरो पर विधवा की उपस्थिति को अपशगुन समझते हैं इसलिए उसे इन अवसरों पर सामने नहीं आने दिया जाता है।

सभी विधवाओ को कलंकिनी कहा जाता है। पति की मृत्यु का कारण माना जाता है। उन्हें तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती हैं। ये भावात्मकता की शिकार होती है। अनेक परिवारों, जातियो एवं वर्गों में पीटा जाता है। अनपढ़, अशिक्षित, निम्न वर्गों, ग्रामों आदि मे इनके साथ गाली-गलौज करना सामान्य बात होती है। इनका यौन-शोषण करना एवं लैंगिक दुर्व्यवहार कई परिवारो में तो सामान्य घटना है। विधवाओ की सम्पत्ति पर जिसका भी दाँव लगता है अवैध कब्जा कर लेता है। इनके बच्चों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। विधवा और उसके बच्चों से घरेलू काम-काज करवाए जाते हैं। खाने को रूखा-सूखा दिया जाता है तथा पहिनने को फटे कपड़े दिए जाते हैं। विधवाओ के विरुद्ध हिंसा करने वाले, पति के परिवार के सदस्य सास, ससुर, देवर, जेठ, ननद, भावज आदि होते हैं। किन्हीं कारणों अथवा परिस्थिति वश विधवा को पिता या भाई के परिवार में रहना पड़ता है तो वहाँ पर भी वह कदम-कदम पर उपेक्षा का शिकार होती है।

विधवा के शोषण एवं हिंसात्मक व्यवहार के लिए कुछ सीमा तक वह स्वयं भी जिम्मेदार होती है। उसकी निष्क्रियता एवं कायरता के कारण रिश्तेदार उसका शोषण करते हैं। अगर सास सत्तावादी होती है तब तो विधवा पर विपदाओं का पहाड़ ही टूट गया समझो। रिश्तेदारों के उत्पीड़न का उद्देश्य विधवा की सम्पत्ति हड़पना होता है। निम्न वर्ग में विधवा का यौन-शोषण किया जाता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विधवाओ का जीवन नरकमय होता है तथा उन पर अनेक प्रकार के अत्याचार किए जाते हैं।

(6) दहेज सम्बन्धी हत्याएँ एवं मृत्यु (Murder and Deaths related to Dowery)—हिन्दू समाज में दहेज-प्रथा एक अभिशाप है। इस प्रथा में विवाह के अवसर पर वधू-पक्ष वाले वर-पक्ष को आभूषण, वस्तुएँ, वस्त्र, वाहन, बर्तन, नकदी आदि देते हैं। आधुनिक भौतिकवादी संस्कृति में वर-पक्ष वालों ने वधू के माता-पिता आदि का इस दहेज को शोषण का माध्यम बना लिया है। इससे समाज में अपराध बढ़े हैं। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होने पर वर-पक्ष वाले वधू की हत्या तक कर डालते हैं जो कि महिला के विरुद्ध हिंसा का एक घृणित रूप बन गया है।

1961 में दहेज निरोधक अधिनियम (डाउरी प्रोहिबिशन एक्ट) बनाया गया है परन्तु यह व्यवहार में नहीं के बराबर प्रभावशाली है। शायद ही कोई मुकदमा पति या उसके परिवार वालों पर दहेज माँगने या लेने के सम्बन्ध में न्यायालय में आया हो तथा अपराधियों को दण्ड दिया गया हो। जैसे-जैसे भौतिकवाद बढ़ा है उसके साथ-साथ दहेज की माँग भी दिन-दूनी-रात-चौगुनी बढ़ी है। जिसकी पूर्ति नहीं होने पर वधू-हत्याएँ बढ़ी हैं। केन्द्रीय सरकार की 1993 की रिपोर्ट के अनुसार भारत मे प्रति 102 मिनिट में दहेज से सम्बन्धित एक हत्या होती है तदनुसार एक दिन में 33 तथा वर्ष मे लगभग 5,000 हत्याएँ दहेज के कारण होती है। दहेज सम्बन्धी हत्याएँ योजनाबद्ध तरीके से घर में परिवार के सदस्यों की मिलीभगत से होती हैं। इनकी सूचना पुलिस तक नही पहुँच पाती है। वधू या महिला के रक्त सम्बन्धी माता-पिता, भाई आदि को मृत्यु (हत्या) की सूचना इतनी विलम्ब से मिलती है कि हत्या सम्बन्धी प्रमाण लगभग नष्ट कर दिए जाते हैं। पुलिस के विलम्ब एवं कठोर कार्यवाही में लापरवाही, प्रमाणों के अभाव आदि के कारण हत्यारे पति, सास, ससुर अन्य रिश्तेदार जो हत्या से सम्बन्धित होते हैं बरी हो जाते हैं। हत्यारों का कोई कुछ भी नहीं कर पाता है इससे अन्य लोगों को भी ऐसे जघन्य अपराध करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। दहेज सम्बन्धी हत्याओ और आत्म-हत्याओं के अनेक मामले तो सामने आते भी नहीं हैं।

दहेज सम्बन्धी हत्याओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित समाजशास्त्रीय कारण, लक्षण एवं विवरण महत्वपूर्ण हैं— जिन जातियों, वर्गों तथा समाज के लोगो मे दहेज-प्रथा का प्रचलन जितना अधिक है उनमें दहेज सम्बन्धी उत्पीड़न की दर भी उतनी ही अधिक है। मध्यम वर्ग में दहेज सम्बन्धी उत्पीड़न की दर अधिक है। ओर निम्न और उच्च वर्ग में कम है। निम्न जातियों में दहेज प्रथा का प्रचलन अब उच्च जातियों की देखा-देखी शुरू हुआ है। पहिले इनमें दहेज प्रथा नहीं थी। इसके विपरीत इनमें कन्या मूल्य की प्रथा का प्रचलन है। इसलिए निम्न जातियो की तुलना मे उच्च जातियों में दहेज सम्बन्धी उत्पीड़न, हत्याएँ और आत्म-हत्याओं की दर अधिक है। 21-24 वर्ष की आयु की महिलाएँ दहेज के कारण अधिक पीड़ित हैं। ये महिलाएँ शारीरिक, सामाजिक, भावात्मक रूप से परिपक्व होती है। दहेज के कारण युवा वधुओं को अधिक सताया जाता है, अपमानित और प्रताड़ित किया जाता है। ऐसी वधुएँ तंग आकर आत्म-हत्याएँ भी कर लेती हैं। दहेज सम्बन्धी हत्याओं में परिवार की संरचना, आकांक्षाएँ, भौतिकवादिता, आर्थिक स्तर को निम्न से उच्च बनाने की अभिलाषा आदि नव-वधुओं को जलाने, हत्या करने आदि के लिए निर्णायक भूमिका अदा करती है। इन कारकों का प्रभाव अपराधी पर पड़ता है। अपराधी पर वातावरण का दबाव, सामाजिक तनाव, उसका सत्तावादी होना, समायोजन नही कर पाना, दूसरे लोगों के विवाह में आए दहेज की तुलना करना, हीन भावना से पीड़ित होना, प्रबल मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का होना आदि पत्नी की हत्या करने के प्रमुख कारण पाए गए हैं।

(7) परिस्थितियों की शिकार तथा हिंसा (Situational Victims and Violence)—विश्व के अन्य बच्चो की तरह से भारत में भी बच्चे परिस्थितियो के कारण हिंसा के शिकार होते हैं तथा इनमें कन्याओं पर तुलनात्मक रूप से शोषण एवं अत्याचार अधिक होते हैं। बड़े शहरों के क्षेत्रों में बसे गरीब परिवारों में पल रही लड़कियों, सड़क पर रहने वाली लड़कियों को विविध खतरों के अतिरिक्त यौन-शोषण का खतरा सबसे अधिक

होता है। नशीले पदार्थों का सेवन करने वालो, भिखारियों, कैदियों, शराबियों आदि की बच्चियों के साथ यौन सम्बन्धी हिंसा की सम्भावना अधिक रहती है। रात्रि को सुरक्षित स्थान की व्यवस्था नहीं होने के कारण घुमक्कड़ बच्चे वेश्यावृत्ति में फँस जाते हैं। गरीबी, बेरोजगारी, खाने की कमी के कारण माँ-बाप बिचौलियो के जाल मे फँस जाते हैं तथा धन के लालच में आकर अपनी बहू-बेटियों को बेच देते है उनसे वेश्यावृत्ति करवाने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

इन परिस्थितियो के परिणामस्वरूप दिनों-दिन नाबालिग कन्याओं के साथ बलात्कार में वृद्धि हो रही है। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि 25 प्रतिशत बलात्कार नाबालिग लड़कियो के साथ होते हैं। कुल बलात्कारो में लगभग 20 प्रतिशत बलात्कार 10 वर्ष से कम आयु की बच्चियो के साथ होते है। इनमे सामाजिक एवं पारिवारिक निन्दा के कारण यौन हिंसा की घटनाओ को जो रिपोर्ट नहीं की जाती हैं वे शामिल नहीं हैं। स्पष्ट एवं सुनिश्चित कानून के अभाव के कारण यौन-शोषण, बलात्कार, पारिवारिक व्यभिचार बहुत हो रहा है।

भारत मे आज भी कई स्थानों पर देवदासी परम्परा की आड़ में जो हो रहा है वह यौन-शोषण का ही एक परिवर्तित रूप है। गरीबी एवं अभाव से पीड़ित परिवार अपनी कम आयु की पुत्रियो को विदेशियों को बेच देते हैं जिनका आगे जाकर क्या होता है यह सर्व-विदित है।

कामकाजी नौकरानी लडकियो का अकेलेपन के कारण यौन-शोषण होता रहता है। यूनीसेफ की रिपोर्ट के अनुसार उपर्युक्त तथ्य महिलाओ के विरुद्ध हिंसा का चित्र प्रस्तुत करते हैं। परन्तु इस रिपोर्ट में इस क्षेत्र मे किए गए प्रयासो पर प्रकाश नहीं डाला गया है; चाहे वे प्रयास कितने ही छोटे क्यो न हों परन्तु उनका वर्णन किया जाना चाहिए था जो इसमे नहीं किया गया है।

(8) बलात्कार (Rape)—महिलाओ के विरुद्ध बलात्कार रूपी हिंसाएँ एवं अत्याचार भिन्न-भिन्न देशो में अलग-अलग मिलते हैं। अध्ययनो के आधार पर यह समस्या पश्चिम के देशो में भारत की तुलना मे अधिक गम्भीर है। अनेक बलात्कार के मामलों की सूचना सामाजिक निन्दा तथा बदनामी के कारण प्रकाश मे भी नहीं आती है। क्राइम इन इण्डिया, 1988 के अनुसार भारत मे जो बलात्कार 1983 से 1988 की अवधि में हुए हैं उसके अनुसार यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस देश मे औसतन 80 मिनिट में एक तथा वर्ष में 7,500 बलात्कार होते हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा '**महिलाओं के विरुद्ध अपराध**', जनवरी 1993 के प्रतिवेदन के अनुसार भारत मे बलात्कार की औसत दर 54 मिनिट मे एक पाई गई। इस प्रकार से एक माह मे 800 और एक वर्ष मे 9,600 बलात्कार के मामले दर्ज किए जाते हैं। इनमे वे बलात्कार के मामले सम्मिलित नहीं हैं जिनकी शिकायत नहीं की गई है। रिपोर्ट नहीं किए जाने वाले बलात्कार के सम्बन्ध में रिपोर्ट तथा वैज्ञानिकों ने अनुमान के सम्बन्ध मे मौन साध रखा है। क्राइम इन इण्डिया, 1988, के अनुसार भारत में आयुवार: 10 वर्ष से कम आयु की बलात्कार की शिकार 2 6%, 10 से 16 वर्ष की शिकार 20.5%; 16 में 30 वर्ष की शिकार 64% और 30 वर्ष से ऊपर की शिकार 12 8% महिलाएँ पाई गई। इनमें सर्वाधिक प्रतिशत (64 1%) बलात्कार की शिकार 16 से 30 वर्ष आयु समूह की पाई गई।

भारत मे यूनीसेफ के प्रतिनिधि जैरी पिन्टो ने भारत में बच्चों के यौन-शोषण तथा खरीद-फरोख्त पर यूनीसेफ द्वारा प्रायोजित क्षेत्रीय सगोष्ठी में 17 मई, 1996 को कहा कि

हालाँकि अधिकाधिक आँकड़े उपलब्ध नहीं है लेकिन भारत में अनुमानतः करीब चार लाख बच्चों का यौन-शोषण हो रहा है। आपने यह भी कहा कि भारत और इसके पड़ौसी देशों—बांग्लादेश, नेपाल, थाईलैंड और श्रीलंका में अनुमानतः करीब 60 लाख बच्चे यौन-शोषण के शिकार हैं।

संगोष्ठी के अधिकतर विशेषज्ञों का कहना था कि बाल-वेश्यावृत्ति तथा यौन-शोषण के मुख्य कारणो में जनसंख्या वृद्धि, गरीबी और निरक्षरता, सामाजिक-आर्थिक ढाँचे की अस्थिरता, पारिवारिक कठिनाइयाँ, बढ़ता उपभोक्तावाद, गाँवों से शहरों को पलायन की प्रवृत्ति, लिंग-भेद, खतरनाक परम्पराएँ तथा धार्मिक रीति-रिवाज है। इनमें गरीबी सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। विशेषज्ञों ने कहा कि माफियाओं ने बच्चों के पेशेवर यौन-शोषण को बड़े पैमाने पर बढ़ावा दिया है।

यू.एन.डी.पी. द्वारा प्रकाशित **ह्यूमन डेवलपमेंट रिपोर्ट**, 1990 मे 174 देशो के मानव संसाधन विकास के विभिन्न पहलुओं पर तथ्यात्मक जानकारी दी गई है। इसमे लिंग आधारित सूचनाएँ दी गई हैं। बलात्कार से सम्बन्धित निम्न तथ्यों का उल्लेख किया गया है—

कनाड़ा, नीदरलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, नार्वे और संयुक्त राज्य अमेरिका में एक तिहाई बच्चियों व किशोरियों के साथ यौन-दुर्व्यवहार किया जाता है।

एशिया मे अनुमानतः 10 लाख बलिकाओं को वेश्यावृत्ति के लिए प्रेरित किया जाता है।

चिली, मैक्सिको, पापुआँ, न्यूगिनी और कोरियाई गणतंत्र मे दो-तिहाई विवाहित युवतियों के साथ परिवार मे हिंसक व्यवहार किया जाता है। जर्मनी मे अनुमानतः 40 लाख महिलाएँ इस हिंसा की शिकार हैं।

कनाड़ा, न्यूजीलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका मे 6 में एक महिला के साथ जीवन में एक बार बलात्कार होता है।

विभिन्न अध्ययनों, सूचनाओ तथा रिपोर्टों से ज्ञात हुआ है कि अधिकतर बलात्कार परिस्थितियों से सम्बन्धित होते हैं। गरीब लड़कियों, मध्यम वर्ग की कर्मचारियों और दैनिक वेतनभोगी महिलाओं के साथ बलात्कार की घटनाएँ अधिक घटती हैं। मध्यम वर्ग की महिला कर्मचारियों का लैंगिक अपमान उनके मालिक करते हैं और दैनिक वेतनभोगी महिलाओं का दैनिक शोषण ठेकेदार, दलाल और बिचौलिए करते हैं। परिस्थितियों से मजबूर, जेल में कैद महिलाएँ अधीक्षको और कर्मचारियों के बलात्कार की शिकार होती है तो और बीमार महिलाएँ अस्पताल के कर्मचारियों की शिकार हो जाती हैं। समाचार-पत्रो में आए दिन बलात्कार की सूचनाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बलात्कार का वर्गीकरण निम्न रूप में देखा जा सकता है—(1) एकल बलात्कार (अपराधी केवल एक पुरुष), (2) द्वि-बलात्कार (एक समय में दो पुरुष अपराधी), (3) सामूहिक बलात्कार (अपराधी पुरुष अनेक) होते हैं। अध्ययनो से ज्ञात हुआ है कि अनेक बलात्कारो की सूचना दर्ज नहीं करवाई जाती है। जो अपराध दर्ज करवाए जाते हैं उनमें अधिकतर मे शारीरिक हिंसा या क्रूरता नहीं की जाती है बल्कि महिलाओं को गरीबी, आर्थिक प्रोत्साहन, मौखिक दबाव आदि के द्वारा मजबूर कर दिया जाता है। जहाँ तक बलात्कार के स्थानो की बात

है ये अधिकतर शोषण करने वालों के आवासो में ही किए जाते हैं। सूने स्थानों, खाली पड़े भवनो, खण्डहरों, गैर-रिहाइशी भवनों और अलग-थलग पड़े एकान्त स्थानो मे किए जाते हैं।

(9) अपहरण/भगा ले जाना (Kidnapping and Abduction)—एक नाबालिग लडकी (18 वर्ष से कम आयु) और नाबालिग लड़का (16 वर्ष से कम आयु) को उनके माता-पिता या कानूनी अभिभावक की अनुमति के बिना ले जाने या फुसलाने को '**अपहरण**' कहते है। एक महिला को कपटपूर्वक, जबरदस्ती या धोखेबाजी से इस उद्देश्य से ले जाना कि बहका-फुसलाकर उसके साथ गैर-कानूनी या अवैध-मैथुन किया जाए या उस महिला की इच्छा के विरुद्ध उसे किसी व्यक्ति के साथ विवाह करने के लिए बाध्य किया जाए, भगा ले जाना कहलाता है। अपहरण नाबालिग का किया जाता है जिसमे उत्पीडक की सहमति का कोई महत्त्व नहीं होता है। अपहरणकर्त्ता को अपहरण करने का अपराधी माना जाता है चाहे नाबालिग की सहमति हो क्यो न हो। भगा ले जाने में उत्पीड़क बालिका महिला होती है तथा उसकी स्वैच्छिक सहमति अपराधी को माफी प्रदान करवा देती है।

क्राइम इन इण्डिया, 1990 की रिपोर्ट के अनुसार भारत मे भगाकर ले जाने की संख्या प्रति एक लाख जनसंख्या पर दो है। 1985 से 1990 मे जो अपहरण आदि किए गए थे उनके आधार पर जो औसत निकाला गया उसके अनुसार भारत मे प्रतिदिन 42 लड़कियो/महिलाओ का अपहरण/भगा ले जाया जाता है। एक वर्ष मे 15,000 महिलाओं का अपहरण/भगा ले जाने की घटनाएँ होती है। केन्द्रीय सरकार द्वारा 1993 मे प्रस्तुत की गई एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में प्रत्येक 43 मिनिट मे एक महिला का अपहरण है। तदनुसार एक दिन मे 33 4 तथा एक वर्ष मे 12,000 अपहरण/भगा ले जाने के मामले होते हैं। इन भगा ले जाने/अपहरण के कुल केसों मे से प्रतिवर्ष 86 5% महिलाएँ और 13 5% पुरुष होते हैं। जो प्रतिवर्ष लगभग 21,000 व्यक्ति अपहरण/भगा ले जाने का अपराध करते है जिनमें 96 0 प्रतिशत पुरुष एवं 4 0 प्रतिशत महिला अपराधी होती हैं। **क्राइम इन इण्डिया,** 1990 के अनुसार ये अपहरणकर्त्ता 18 वर्ष से कम आयु के 5 4%, 18-30 वर्ष की आयु समूह के 54 8%, 30-50 वर्ष के 35 3% तथा 50 वर्ष से अधिक आयु के 5 4% पाए गए।

निष्कर्षत: आधे से कुछ अधिक अपहरणकर्त्ता/भगा ले जाने वाले 18-30 वर्ष आयु समूह के हैं तथा एक-तिहाई से कुछ अधिक 30-50 वर्ष आयु समूह के हैं।

अपहरण/भगा ले जाने सम्बन्धी विशेषताएँ (Characteristics related to Kidnapping and Abduction)

1 विवाहित स्त्रियो की तुलना में अविवाहित लडकियाँ अपहरण/भगा ले जाने की शिकार अधिक होती हैं।

2 अपहरणकर्त्ता उत्पीड़क एव शिकार (उत्पीड़ित) महिलाएँ अधिकतर परस्पर परिचित होते है।

3. अपहरणकर्त्ता एव शिकार का अधिकाशत: सम्पर्क उनके घरो या पडोस मे होता है तथा सार्वजनिक स्थानो म कम होता है।

4 अपहरण/भगा ले जाने का कार्य सामान्यत: एक (एकल) व्यक्ति ही अधिक करते हैं।

5. भगा ले जाने में अपराधी की ओर से डराना, धमकाना या उत्पीड़ित की ओर से विरोध सामान्यतया कम पाया जाता है।
6. भगा ले जाने का प्रधान उद्देश्य मैथुन और विवाह होता है।
7. इस प्रकार के अपराध में लगभग एक-दशम उद्देश्य आर्थिक होता है।
8. भगा ले जाने के 80% अपराधों मे लैंगिक आक्रमण होते हैं।
9. परिवार में स्नेहपूर्ण सम्बन्धों का अभाव, माता-पिता का कठोर अनुशासन लड़की को किसी परिचित के साथ घर से भागने में प्रभाव डालते हैं।

पारिवारिक हिंसा करने वाले अपराधकर्त्ता
(Perpetrators of Domestic Violence)

पारिवारिक हिंसा करने वाले अपराधकर्त्ताओं को निम्न प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. वे लोग जो कभी बचपन में हिंसा के शिकार हुए थे बड़े होने पर महिलाओं के विरुद्ध हिंसा करते हैं।
2. वे लोग जो अधिक शराब पीते हैं या मदिरापान करते हैं महिलाओं के विरुद्ध हिंसा अधिक करते हैं।
3. वे लोग जो अवसाद-ग्रस्त होते हैं, जिनमे आत्मसम्मान कम होता है तथा हीन-भावना होती है महिलाओं के विरुद्ध हिंसा करने वाले अपराधी होते हैं।
4 वे लोग जो मनोरोगी होते हैं तथा जिनके व्यक्तित्व दोषपूर्ण होते हैं।
5 वे लोग जिनका पारिवारिक जीवन तनावपूर्ण होता है तथा ऐसी स्थितियों का सामना करते हैं।
6. वे लोग जो शक्की होते हैं, जिनकी प्रवृत्ति मालिकानापन वाली तथा प्रबलता वाली होती है।
7 वे लोग जिनमें प्रतिभा का अभाव होता है।
8 वे लोग जिनका व्यक्तित्व समाज-वैज्ञानिक रूप से विकृत होता है।
9 वे लोग जिनके पास संसाधनों तथा प्रवीणताओं का अभाव होता है महिलाओं के विरुद्ध हिंसात्मक अपराध करते हैं।

पारिवारिक हिंसा को रोकने के उपाय
(Measures to Stop Domestic Violence)

पारिवारिक हिंसा के सम्बन्ध में उपयुक्त नीतियों, कानूनों और कार्यक्रमो को बनाना होगा। इसके लिए महिलाओं के बारे में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, वैधानिक एवं मानवशास्त्रीय सूचनाएँ, तथ्य एवं प्रमाण एकत्र करने होंगे। शिक्षा, धर्म, संस्कृति एव प्रचार माध्यमों के द्वारा महिलाओं के सम्बन्ध में पारिवारिक, सामुदायिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर ऐसा वातावरण एवं सोच विकसित करना होगा जिसके द्वारा सभी आयु वर्ग की स्त्रियों को लिंग-

भेद और पक्षपात से सुरक्षा प्रदान की जा सके तथा इसके विरुद्ध होने वाली हिंसा को समाप्त किया जा सके। महिलाओ के विरुद्ध हिंसा को रोकने के लिए न केवल ठोस लक्ष्य निर्धारित करने होगे बल्कि उनको प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार के सगठनात्मक प्रयास करने होगे। उनमे आत्मविश्वास तथा आत्म-निर्भरता पैदा करनी होगी। पुरुष वर्ग को उनकी रक्षा करने के लिए तैयार करना होगा।

महिलाओ की स्थिति सुधारने तथा इनके विरुद्ध हिंसा को रोकने के लिए अनेक कानूनी प्रावधान पारित किए गए हैं। विविध साक्षरता प्रसार कार्यक्रम चलाए गए हैं। विभिन्न स्तरो पर महिला आयोग स्थापित किए गए हैं। महिलाओ की आर्थिक एवं संस्थागत सहायता के लिए बहुत कुछ किया गया है। माता प्रसूति अवकाश, पिता को भी सवैतनिक या अवैतनिक अवकाश का प्रावधान, सम्पत्ति व उत्तराधिकार के कानूनो मे संशोधन एवं परिवर्तन किए गए है। विभिन्न स्तरो तथा राजनैतिक सगठनों मे महिलाओं के स्थानों का आरक्षण का प्रावधान की प्रक्रिया को मूर्त रूप दिया जा रहा है। पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओ के लिए 33% स्थान सुरक्षित रखे जाने लगे हैं। सार्वजनिक शिक्षा, प्रजनन, स्वास्थ्य और महिलाओ के लिए ऋण सुविधा में वृद्धि करके समानता के अवसर बढ़ाए जा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिलाओ के लिए आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में अवसर बढ़ाने के लिए समय-समय पर प्रयास किए जा रहे हैं।

महिलाओ के विरुद्ध हिसा को कम करने एवं रोकने के लिए समय-समय पर विचार गोष्ठियो, कार्यशालाओ, समाज सुधारको आदि ने अनेक सुझाव दिए हैं। इस क्षेत्र मे अनेक संगठन कार्य भी कर रहे है।महिलाओं के विरुद्ध हिसा को नियंत्रित करने में जो सुझाव दिए गए हैं एव कार्य किए जाने चाहिएँ उन्हे क्रम से निम्न क्रम मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. सोच में परिवर्तन (Change in Thanking)—महिलाओ के विरुद्ध हिंसा को कम करने एव रोकने के लिए स्त्री के माता-पिता, भाई-बहिन, सास-ससुर, पति, देवर, जेठ से लेकर समाज के सभी पुरुषो के विचारो, मान्यताओं, मूल्यो आदि मे परिवर्तन लाना होगा। कन्या के गर्भ मे आने से लेकर जीवनपर्यन्त तक उसे सुरक्षा प्रदान तभी की जा सकती है जब सभी के सोच मे परिवर्तन लाकर पुत्र-पुत्री को समानता प्रदान की जाए। माता-पिता विवाह के बाद पुत्री की कोई जिम्मेदारी उठाना समाज विरुद्ध समझते हैं। समाज वाले भी निन्दा और आलोचनाएँ करते हैं अगर विवाद के बाद पुत्री माता पिता के घर पर रहती है। ससुराल मे वधू पर अत्याचार होने पर माता-पिता उसे पूर्ण-सरक्षण प्रदान नहीं करते हैं। महिलाओ के विरुद्ध हिंसा को रोकने के लिए इस रूढिवादी परम्परा को बदलना होगा कि कन्या तो पराया धन है। उसे पिता के घर-परिवार मे उतना ही अधिकार प्रदान होना चाहिए जितना कि उसके भाई को है।

2. आत्म-विश्वास बढ़ाना एवं शोषण के विरुद्ध सशक्त बनाना (Increase Self-confidence and Strengthening aganist explaitation)—महिलाओं को यह बताना होगा कि वे अबला नहीं हैं। वे सभी प्रकार से पुरुषो के समान हैं। वे स्वयं पति के सहारे के बिना अपना और अपने बच्चो का निर्वाह कर सकती हैं। जीविकोपार्जन कर सकती हैं। उन्हे किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है। वे अपनी और अपने बच्चो की देखभाल स्वय कर सकती हैं। उनके विरुद्ध की जाने वाली किसी भी प्रकार की हिंसा एवं शोषण का उन्हे विरोध करना चाहिए। उनके शोषण का उनकी सन्तानो पर भी नकारात्मक

प्रभाव पड़ता है। नारी मे छुपे गुणों एवं क्षमताओं को पहिचानने के लिए उन्हें जागरूक करना होगा तभी उनके विरुद्ध हिंसा को रोका जा सकता है। उन्हें अपनी क्षमता के प्रति जागरूक करना होगा कि वे सम्पत्ति की लक्ष्मी हैं, शक्ति में दुर्गा है तथा ज्ञान में सरस्वती है। नारी को अपनी क्षमताओं को जानना और समझना होगा तभी उसका जीवन शोषण-मुक्त हो सकता है। उसे हिंसा और शोषण के सम्मुख आत्म-समर्पण नहीं करना चाहिए।

3. सुरक्षा एवं आश्रय की व्यवस्था (Arrangement Security and Protection)—जब महिला के विरुद्ध हिंसा होती है तो उस समय उसे सुरक्षा एवं आश्रय की विशेष आवश्यकता पड़ती है। पीड़ित महिलाओ को सबसे अधिक आवश्यकता सहायता, सुरक्षा, सलाह और आश्रय की पड़ती है। महिलाओं के विरुद्ध विभिन्न हिंसाओं को सहन करने का कारण सुरक्षा, आश्रय एवं सहायता का अभाव है। विवाह के बाद माता-पिता भी आश्रय देने से टलते हैं। ऐसी स्थिति में अपना शोषण कराने के अतिरिक्त पीड़ित महिला के पास कोई अन्य विकल्प नहीं होता है। सरकार एवं स्वयसेवी संगठनों को चाहिए कि वे अधिक-से-अधिक पीड़ित महिलाओं के लिए आवास की सुविधाएँ प्रदान करे। इन आवास सुविधाओं की जानकारी महिलाओं तक प्रचार माध्यमो से पहुँचाएँ। अभी जो आवास सुविधाएँ उपलब्ध है उसकी सभी महिलाओं को जानकारी नहीं है तथा ये सुविधाएँ आवश्यकता के अनुसार बहुत कम हैं। इन आवास सुविधाओं में सुरक्षा नियमो का पालन नहीं किया जाता है। उनमें सामान्यतया बहुत भीड़ रहती है। ऐसा भी पाया गया है कि इस प्रकार के आश्रय या आवास केन्द्र भी महिला शोषण के केन्द्र बने हुए हैं। राजस्थान के अलवर शहर में स्थित महिला आवास केन्द्र में यौन-शोषण का प्रकरण सामने आया है। उसके सम्बन्ध में आरोपों की तहकीकात की जा रही है। ऐसा भी नही होना चाहिए। सरकार और निजी/सार्वजनिक संस्थाओं को विशेष रूप से उन महिलाओं को आश्रय अवश्य प्रदान करना चाहिए जिनको मार डालने, जीवन को नरकमय बनाने, उठवाकर ले जाने आदि की धमकी दी जाती है। वैसे तो अकेले, विधवा, विवाहित, बच्चो वाली, पीड़ित महिलाओ को आश्रय प्रदान करना चाहिए। समाज के लोगों को भी इन संगठनों के निर्माण, प्रसार एवं प्रचार में हर सम्भव योगदान देना चाहिए जिससे कि महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को कम एवं रोका जा सके।

4. स्वयं-सेवी संगठनों का प्रसार एवं प्रचार करना (Expantion and Publicity of Volantry Organisations)—ऐसे अनेक स्वयंसेवी सगठन हैं जो पीड़ित महिलाओ को हिंसात्मक एवं शोषण सम्बन्धी समस्याओं का अनेक प्रकार से समाधान करते हैं। ये संस्थाएँ पीड़ित महिला की समस्या का अध्ययन करती हैं। पीड़ित महिला, उसके ससुराल वालो, एवं पुलिस एवं न्यायालय मे जाकर सम्बन्धित लोगों से बातचीत करती हैं तथा समस्या का समाधान करने का प्रयास करती हैं। अकेली पीड़ित महिला की समस्या का समाधान संगठन के द्वारा सरलतापूर्वक होने की सम्भावना अधिक होती है बनिस्पत अकेली महिला अपनी समस्या से जूझे। महिला संगठन के माध्यम से समस्या के विरुद्ध आवाज उठाने का सार्वजनिक, मानवतावादी एवं नैतिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए ऐसे स्वयंसेवी संगठनों को जो पीड़ित महिलाओ की समस्याओ का समाधान करते हैं उन्हें सशक्त बनाना चाहिए, उनकी जानकारी सभी महिलाओं तक पहुँचानी चाहिए। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को रोकने के लिए इन स्वयंसेवी संगठनों का जितनी जल्दी हो सके प्रसार और प्रचार करना चाहिए।

5 रोजगार ढूँढ़ने एवं बच्चों की देखभाल की सुविधाओं की व्यवस्था (Arrangement of Facilities of Finding Employment and Child Care)—पीड़ित महिला के सम्मुख सबसे जटिल समस्या जीविकोपार्जन की होती है और जिनके बच्चे होते हैं उनके लिए बच्चो की देखभाल तथा पालन-पोषण की समस्या भी होती है। उनके पास इन समस्याओं के समाधान के अभाव के कारण अपना और अपने बच्चो का शोषण करवाने एवं हिंसात्मक अत्याचारों के सहने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं होता है। इसके सम्बन्ध मे समाजशास्त्रियो एवं विद्वानों का यह सुझाव है कि पीड़ित महिलाओं के लिए रोजगार ढूँढने तथा बच्चो की देखभाल की सुविधाओ के लिए उपयुक्त एवं कारगर विकल्प उपलब्ध करवाए जाने चाहिएँ। महिलाओ के विरुद्ध हिंसा तभी रोकी जा सकती है जब उन्हें रोजगार उपलब्ध करवा कर आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनाया जाए। पीड़ित तथा गैर-पीड़ित महिलाओं को जितना अधिक स्वावलम्बी बनाया जाएगा उनके विरुद्ध हिंसा भी उसी अनुपात में तेजी से घटाई जा सकेगी। पीडित त्याज्य, घर-ससुराल से निकाली गई वधू या/और विधवाएँ शोषण की शिकार महिलाओं को तत्काल स्थाई या अस्थाई रूप से वित्तीय सहायता उपलब्ध करवानी चाहिए। उन्हे रोजगार दिलवाना चाहिए। पीड़ित महिलाओ के बच्चों के पालन-पोषण, आवास, शिक्षा, भोजन, वस्त्र आदि की सुविधाएँ उपलब्ध करवानी चाहिए। इसके लिए सम्भव हो तो परामर्श केन्द्रों को अनेक स्थानों पर खोलना चाहिए जो ऐसी पीडित महिलाओ को तत्काल सहायता एवं सुरक्षा प्रदान कर सकें।

6. सस्ती एवं न्यून औपचारिक न्यायालयों की व्यवस्था (Establishment of Cheap and Less Formal Courts)—अत्याचारो और शोषण से पीड़ित महिलाएँ असहाय और निर्धन होती है। महिलाओ के विरुद्ध हिसा का एक कारण यह भी है कि वे अपराधकर्त्ता के विरुद्ध गरीबी के कारण न्यायालयो मे फरियाद नहीं कर पाती हैं। अशिक्षित, पर्दा-प्रथा, समाज के बन्धनो मे पली-बढ़ी होने के कारण पुरुष-प्रधान समाज में अपनी शिकायत लेकर न्याय के लिए न्यायालयो में जाने से घबराती है। इसलिए शोषण एवं अत्याचारो से पीडित महिलाओं के लिए ऐसे न्यायालयो की व्यवस्था होनी चाहिए जहाँ पर औपचारिकताएँ कम हो तथा अनौपचारिकताओपूर्व वातावरण अधिक हो। इसके साथ-साथ महिलाओ के लिये ये न्यायालय सस्ते एवं कम खर्चीले भी होने चाहिएँ। पीड़ित महिलाओं तथा अन्य महिलाओं को अपने अधिकारो की माँग एवं पुर्नस्थापन के लिए ऐसे न्यायालयो की व्यवस्था करनी चाहिए जिनमे महिला न्यायाधीश हों। महिलाएँ अपने दु:ख महिला न्यायाधीशो के सम्मुख व्यक्त करने मे कम सकोच का अनुभव करेगी। पुरुष न्यायाधीशों की तुलना मे महिला न्यायाधीशो से महिलाओ की पीड़ाओं को समझने एव पक्षपातरहित न्याय की अपेक्षा भी अधिक की जा सकती है। महिलाओ के विरुद्ध हिसा को रोकने के लिए सस्ती, कम औपचारिक, महिला न्यायाधीशो वाले न्यायालयो की स्थापना एवं व्यवस्था की विशेष आवश्यकता है जहाँ सामान्य एवं पीड़ित महिलाएँ पीड़ाओ को सुगमता से व्यक्त कर पाएँगी। सम्भव हो तो महिला वकीलो, महिला कर्मचारियो को भी प्रोत्साहन देकर न्यायालयो का वातावरण सुगम एवं उपयुक्त बनाकर महिलाओ के विरुद्ध हिंसा एवं शोषण के मामलो सम्बन्धी शिकायते करने के लिए महिलाओं में आत्म-विश्वास एवं अधिकारो की माँग के लिए उत्साह बढाया जा सकता है।

7. नि:शुल्क कानूनी सहायता (Free Legal Advise)—देश में ऐसे कुछ संगठन हैं जो महिलाओं को नि:शुल्क कानूनी सहायता प्रदान करते हैं। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को रोकने के लिए इन संगठनों की जानकारी महिलाओं तक पहुँचाना अत्यावश्यक है। ऐसे संगठन आवश्यकताओं को देखते हुए बहुत कम हैं। इन संगठनों की संख्या बढ़ानी चाहिए तथा इनका प्रचार करके महिलाओं तक इनकी जानकारी पहुँचानी चाहिए। देश में अधिकतर स्त्रियाँ निर्धन हैं जिनको शोषण से बचाने के लिए ये संगठन पीड़ित महिलाओं को नि:शुल्क कानूनी सहायता एवं मार्गदर्शन प्रदान करते हैं तथा शोषण, हिंसा, अत्याचार आदि से कानूनी सुरक्षा प्रदान करते हैं। ऐसे संगठनों का प्रसार और प्रचार पीड़ित स्त्रियों के लिए नितांत आवश्यक हैं। महिलाओं को शोषण से सुरक्षा प्रदान करने में ऐसे संगठनों को जितना प्रोत्साहन एवं वित्तीय सहायता दी जा सके उतना ही अच्छा है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि समाज के एक बड़े भाग पीड़ित महिलाओं को शोषण, हिंसा, अत्याचार आदि से सुरक्षा प्रदान करना नितान्त आवश्यक है। समाज की प्रगति, विकास, खुशहाली आदि के लिए आवश्यक है कि महिलाओं के विरुद्ध विभिन्न प्रकार की हिंसाओं को रोका जाना चाहिए अन्यथा उनके शोषण के साथ-साथ उनसे जुड़े पति, सास, ससुर, पुत्र-पुत्री आदि सभी को सुख-शान्ति भी बनी नहीं रह सकती है। महिलाओ के विरुद्ध हिंसा को परिवार, समुदाय, क्षेत्र, प्रान्त, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर उपयुक्त प्रयास करके रोकना चाहिए। केवल भाषण देने, अधिनियम बनाने, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों से इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता है।



अध्याय-10

विवाह-विच्छेद
(Divorce)

हिन्दू समाज मे विवाह से सम्बन्धित समस्याओं में एक प्रबल समस्या विवाह-विच्छेद है। जब पति-पत्नी का वैवाहिक जीवन असामंजस्यपूर्ण हो जाता है और दोनों के सम्बन्ध असामान्य और तनावग्रस्त हो जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में पति-पत्नी के विवाह-सम्बन्धो को सामाजिक एवं कानूनी रूप से समाप्त कर देना विवाह-विच्छेद कहलाता है। इस प्रकार विवाह-विच्छेद पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्धों की कानूनी एवं सामाजिक दृष्टि से समाप्ति का नाम है। विवाह-विच्छेद एक दुःखद एवं कष्टदायक स्थिति है जिसमें पति-पत्नी के पारस्परिक विश्वास, श्रद्धा, प्रतिज्ञा एवं प्रेम की समाप्ति हो जाती है। इसमें परस्पर एक-दूसरे का मूल्याकन कर लेते हैं और परस्पर समझौते की स्थिति समाप्त हो जाती है, उनके आत्माभिमान को चोट पहुँचाती है, एक-दूसरे से अपमानित होने की स्थिति का अहसास होता है तो वे सामाजिक एवं कानूनी तौर पर अपने वैवाहिक एवं पारिवारिक सम्बन्धो का अन्त कर देते हैं।

हिन्दू स्त्री के लिए पतिव्रत सबसे बड़ा धर्म कहा गया है। पति ही पत्नी का साथी, सहचर, सखा, गुरु व देवता होता है और अपने सतीत्व-पालन की रक्षार्थ वह सम्पूर्ण समाज से भी सम्बन्ध तोड़ सकती है किन्तु जब पति-पत्नी के सम्बन्धों में दरार पड़ जाती है, उनके लिए एक छत के नीचे रहना सम्भव नहीं रह जाता तो सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति आ जाती है। इलियट और मैरिल का इस सम्बन्ध में यह कथन है कि विवाह-विच्छेद सदैव करीब-करीब एक दुःखद घटना के रूप में होता है, क्योंकि इसका सामान्यतः अर्थ है—विश्वास की समाप्ति, प्रतिज्ञा को तोड़ना और गम्भीर मोह-भंग।

प्राचीन भारत में विवाह-विच्छेद
(Divorce in Ancient India)

भारतीय समाज में विवाह-विच्छेद की समस्या अति प्राचीन है। यद्यपि हिन्दू स्त्री के लिए पति-त्याग की कल्पना भी असम्भव है, क्योंकि सामाजिक और धार्मिक दोनो ही दृष्टियों से इसे अनुचित माना गया है, किन्तु वैदिक काल मे विवाह-विच्छेद के कुछ उदाहरण मिलते हैं। मनु ने स्त्री के बाँझ होने, उसके बच्चे जीवित न रहने, केवल लड़कियाँ ही होने अथवा उसके झगडालू होने की स्थिति में दूसरा विवाह करने की बात कही है। **कौटिल्य** ने भी इन्हीं समस्याओं में पति को दूसरा विवाह करने को अनुमति दी है। नारद, बृहस्पति और पाराशर ने भी कुछ परिस्थितियों मे विवाह-विच्छेद को मान्यता दी है। मनु ने

केवल पत्नी की कमजोरी में ही पति को दूसरा विवाह करने की अनुमति नहीं दी वरन् उनका कहना है कि यदि पति नपुंसक हो, पतित हो अथवा उसने संन्यास ले लिया हो तो ऐसी स्थिति मे पत्नी दूसरा विवाह कर सकती है। इस प्रकार वैदिक संस्कृति मे पति के दुश्चरित्र, क्रूर अथवा दुराचारी होने की स्थिति में उससे विवाह-विच्छेद की बात कही गई है। स्मृतिकारों ने भी कुछ परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद को मान्य ठहराया है। वशिष्ठ के मत में यदि पुरुष अथवा स्त्री दोनों मे से किसी पर भी परव्यक्ति-गमन का दोष है तो उसे दूसरे से विवाह-विच्छेद कर लेने का अधिकार होगा। कुछ धर्मग्रन्थों में तो यह भी कथन है कि पति-पत्नी को यह अधिकार है कि यदि वे एक-दूसरे से पुत्र जन्म न दे सके तो उन्हें विवाह-विच्छेद का अधिकार होगा।

कौटिल्य के मतानुसार यदि पति दुश्चरित्र हो, बहुत समय से विदेश में रहता हो, अपने ही बन्धु-बान्धवों के प्रति कृतघ्न हो, जाति से बहिष्कृत कर दिया गया हो, पुरुषत्वहीन हो अथवा पत्नी को उससे अपने जीवन का खतरा हो, तो ऐसी स्थिति मे पति का त्याग किया जा सकता है।

नारद एवं **पाराशर** ने पति के नपुंसक होने, साधु हो जाने, अज्ञात हो जाने, जातिच्युत हो जाने अथवा मर जाने की अवस्था में स्त्री को दूसरा वर ढूँढ़ने की स्वीकृति दी है।

ईसा समय के प्रारम्भ से ही विवाह-विच्छेद को अनैतिक, अधार्मिक, अपवित्र और घृणित कर्म समझा जाने लगा और ईसा के 1000 वर्ष बाद तो यह दृढ़ मान्यता हो गई कि जीवन में केवल एक बार ही कन्या का दान किया जाता है और पति के दुराचारी, व्यभिचारी, दुश्चरित्र यहाँ तक कि अत्याचारी होने की स्थिति में भी विवाह-विच्छेद की अनुमति नहीं दी जा सकती। हाँ, आठ प्रकार के विवाहों में से अन्तिम चार मे यह स्वीकृति विषम परिस्थितियों में दी जा सकती है। प्रथम चार प्रकार के विवाहों को 'धर्म्य' माना गया और उनमें विच्छेद होना सम्भव नहीं था। हिन्दुओ मे उच्च जातियों में विवाह-विच्छेद नहीं होते, जबकि निम्न जातियों मे विवाह-विच्छेद की प्रथा प्रचलित है।

हिन्दुओं में पति ही स्त्री के लिए सर्वस्व है। अतः उसके दुराचारी, शराबी, अपराधी व दुश्चरित्र होने की स्थिति में भी पत्नी के लिए उसे छोड़ने की बात मन मे लाना भी अधर्म है। हाँ, पुरुषों को विवाह-विच्छेद की स्वतन्त्रता दी गई है। इसी कारण भारतीय नारी अनेक कष्ट सहकर भी वैवाहिक बन्धन को नहीं तोड़ती।

धीरे-धीरे उच्च जाति मे विवाह-विच्छेद को धार्मिक दृष्टि से अपवित्र और घृणित कार्य समझा जाने लगा। बौद्ध ग्रन्थों से स्पष्ट विदित होता है कि समाज के उच्च वर्गों मे विवाह-विच्छेद असामान्य थे, बहुत कम होते थे। **अल्तेकर** ने लिखा है, *"यह स्पष्ट है कि समाज के उच्च वर्गों की स्त्रियाँ, निम्न वर्गों में प्रचलित विवाह-विच्छेद की प्रथा का लाभ उठाने को बहुत अनिच्छुक थी।"*

किन्तु आज परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं—आज स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों का युग है, स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। अतः जब परिवार मे पति-पत्नी के सम्बन्धों मे टकराव उत्पन्न हो जाए, परस्पर वैमनस्य, असामंजस्य की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो ऐसी स्थिति में दोनो के सुखी जीवन के लिए आवश्यक है कि उनमे विवाह-विच्छेद हो

जाए। इस सम्बन्ध मे अनेक तर्क दिए जाते हैं। कुछ विवाह-विच्छेद के विरोध मे हैं, तो कुछ इसके पक्ष मे हैं। इन्हे विस्तार से देखा जा सकता है—

विवाह-विच्छेद के विपक्ष में कुछ तर्क
(Some Arguments Against Divorce)

हिन्दू समाज मे अनेक लोग आज भी विवाह-विच्छेद को भारतीय समाज की परम्परा के विपरीत मानते हैं। वे विवाह-विच्छेद के विपक्ष मे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

1 **हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है**—हिन्दुओं मे विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना गया है, इसे जन्म-जन्मान्तर का साथ माना गया है जिसे तोड़ना एक जघन्य अपराध है। हिन्दू समाज मे स्त्री का कर्त्तव्य—धर्म कार्यों की पूर्ति करना, बच्चो का पालन-पोषण करना, पति की सेवा करना एवं विभिन्न पारिवारिक कर्त्तव्यो की पूर्ति करना बताया गया है। यदि स्त्री को विवाह-विच्छेद की आज्ञा दे दी गई तो पारिवारिक दायित्वो एवं धार्मिक कृत्यो की पूर्ति न हो पाएगी, परम्पराएँ व आदर्श विखण्डित हो जायेंगे और भारतीय सस्कृति का सरक्षण न हो सकेगा। अन्तर्विवाह और विवाह के बन्धनो मे शिथिलता आ जाएगी और इस प्रकार यह भारतीय सस्कृति और परम्परा के भी प्रतिकूल होगा।

2 **आर्थिक दृष्टि से अव्यावहारिक**—भारत मे स्त्रियों का शिक्षित होना नगण्य है। अधिकाश स्त्रियाँ अपने परिवार पर आश्रित हैं। न उनमे शिक्षा है, न ही वे किसी नौकरी या व्यवसाय मे सलग्न हैं, अधिकांशत: स्त्रियाँ अपने पति पर आर्थिक रूप से आश्रित हैं—ऐसे मे यदि विवाह-विच्छेद हो जाता है तो उनके भरण-पोषण का दायित्व किस पर होगा? उन्हें आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पड़ सकता है। सम्भव है कुछ स्त्रियों को हठात् अनैतिकता का आश्रय लेना पड़े, जो कि सामाजिक दृष्टि से भी निन्दनीय स्थिति होगी। अत: विवाह-विच्छेद अनुचित है।

3 **पारिवारिक विघटन की स्थिति**—विवाह-विच्छेद को मान्यता मिल जाने का परिणाम यह होगा कि इससे परिवारो का सगठन विशृंखलित हो जाएगा। पति-पत्नी के पारस्परिक विश्वास, प्रेम मे दरार पड़ जाएगी क्योंकि उनकी धारणा पति-परमेश्वर की न रहकर एक समझौते तक सीमित रह जाएगी। थोड़े से मन-मुटाव की स्थिति उत्पन्न होने पर वे कभी भी पति को छोड सकती हैं, दूसरी ओर पति भी पर-स्त्री की ओर आकृष्ट होने पर उस पर अत्याचार कर सकता है। इस प्रकार पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया में तीव्रता आ सकती है। अत: विवाह-विच्छेद पारिवारिक सुदृढ़ता के लिए हानिकारक है।

4 **बालकों के पालन-पोषण की समस्या**—विवाह-विच्छेद के विपक्ष मे एक तर्क यह दिया जाता है कि इससे बच्चो के पालन-पोषण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। विवाह-विच्छेद के पश्चात् पिता बच्चो के पालन-पोषण का भार अपने ऊपर नहीं लेना चाहेगा। यदि बच्चे माँ के पास रहेंगे तो आर्थिक कठिनाइयों के कारण उनकी शिक्षा आदि समुचित न हो सकेगी। इससे बच्चो का व्यक्तित्व सर्वांगीण रूप से विकसित न हो सकेगा। बच्चो को उचित रूप से विकसित होने के लिए माता-पिता दोनों का प्रेम और उनकी उपस्थिति आवश्यक है।

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि विवाह-विच्छेद के विपक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं, उनमे कुछ तो सत्यता अवश्य है किन्तु स्त्रियो को विवाह-विच्छेद का अधिकार

न मिलने से स्त्रियों को कभी-कभी पति के अत्याचारों का सामना करना पड़ता है, उनका नैतिक और सामाजिक ह्रास होता है, यह स्थिति भी असह्य है। अतः आज आवश्यकता स्त्री-शिक्षा व उसे स्वावलम्बी बनाने की है।

विवाह-विच्छेद का औचित्य
(Justification of Divorce)

वर्तमान भारतीय समाज की परिस्थितियो में आए परिवर्तनों को देखते हुए यह आवश्यक है कि स्त्रियों को ससम्मान जीवन-निर्वाह करने का अधिकार दिया जाए। इसके लिए विवाह-विच्छेद को मान्यता देना आवश्यक होता है। निम्नलिखित आधारों पर विवाह-विच्छेद के औचित्य को समझा जा सकता है।

1. **समानता का अधिकार**—वर्तमान समय में स्त्री-पुरुष को सभी क्षेत्रों में समान अधिकार दिए गए हैं। आज सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में स्त्री-पुरुष की समान रूप से भागीदारी है। ऐसी स्थिति में पारिवारिक जीवन में भी दोनों को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। जब पुरुषों को स्त्री का परित्याग करने का अधिकार है तो स्त्री को भी पुरुष को दोषी पाए जाने पर विवाह-विच्छेद का अधिकार मिलना चाहिए। पारिवारिक जीवन की सुदृढ़ता का उत्तरदायित्व तो स्त्री-पुरुष दोनों का होता है फिर इस क्षेत्र में पुरुषों को विशेषाधिकार क्यों मिलने चाहिए? अतः स्त्री को भी विवाह-विच्छेद की अधिकारिणी होना चाहिए।

2. **स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाने के लिए**—विवाह-विच्छेद का अधिकार मिल जाने से भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति मे सुधार आएगा। पुरुष भी उसे परिवार में सम्मानजनक पद प्रदान करेगा क्योंकि विवाह-विच्छेद की स्थिति पत्नी के समान ही पति के लिए भी समान रूप से कष्टदायी होती है। अतः पुरुषों की परम्परागत मनोस्थिति में सुधार लाने के लिए, पति-पत्नी के मध्य अविश्वास की समाप्ति व उनमें परस्पर प्रेम-प्रीति की वृद्धि के लिए और पति के अत्याचारों पर अंकुश लगाने के लिए विवाह-विच्छेद को औचित्य प्रदान किया जाना चाहिए।

3. **सुखी वैवाहिक जीवन के लिए**—सुखी वैवाहिक जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक है कि स्त्री-पुरुषों को समान रूप से विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान किया जाए। औद्योगीकरण व शहरीकरण की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप आज परिवार में पति-पत्नी व उनकी सन्तानें ही रहती हैं, जिनमें पति-पत्नी का मन-मुटाव अथवा पति का दुराचारी, चरित्रहीन अथवा अत्याचारी होना न केवल पति-पत्नी के वैवाहिक जीवन को, अपितु उनके बच्चों के जीवन को भी विघटित कर देता है। सयुक्त परिवारों मे ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर भी परिवार के अन्य लोगों का संरक्षण उनके जीवन को कुछ ही प्रभावित करता था, किन्तु एकाकी परिवारो मे तो विषम स्थिति उत्पन्न होने पर भी उन्हे किसी प्रकार का संरक्षण नहीं मिल पाता। अतः स्त्री को उस स्थिति में अपना वैवाहिक जीवन समाप्त करने का अधिकार दिया जाना आवश्यक है।

4 **परम्परागत वैवाहिक समस्याओं से मुक्ति दिलाने के लिए**—हिन्दू समाज में विवाह से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ हैं जिनमें विधवा-विवाह निषेध, बेमेल विवाह, बाल-

विवाह व दहेज-प्रथा जैसी समस्याएँ स्त्री-जाति के लिए अधिक कष्टदायक सिद्ध हो चुकी हैं, क्योंकि हिन्दू-समाज मे जो नियम बने हुए हैं वे पुरुषो के विशेषाधिकार बन गए हैं, जिनका सहारा लेकर पुरुष मनमाने तरीके से अपनी पत्नी पर अत्याचार करते हैं व वैवाहिक सुखों से उन्हें दूर रखते हैं, तो ऐसी स्थिति में स्त्री को संरक्षण प्रदान कराने के लिए विवाह-विच्छेद को मान्यता देना अनिवार्य है जिससे स्त्री को रूढ़िवादी वैवाहिक समस्याओं से मुक्ति मिल सके।

5. **सामाजिक जीवन में सन्तुलन बनाए रखने के लिए**—आज के परिवर्तित समाज मे सामाजिक जीवन में सन्तुलन बनाए रखने के लिए विवाह-विच्छेद को मान्यता प्रदान किया जाना आवश्यक है। आज स्त्रियाँ हर क्षेत्र में पुरुषों के समान ही कार्यरत हैं। उन्होंने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, यहाँ तक कि राजनैतिक क्षेत्र में भी पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त किए हुए हैं व उनकी भूमिकाएँ भी इन क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण हैं। जब इन क्षेत्रो मे उन्हें पुरुषों के समकक्ष समझा जाने लगा है तो वैवाहिक क्षेत्र में ही उन्हें क्यो समान अधिकारो से वंचित किया जाना चाहिए? आज के परिवर्तित परिवेश की माँग के अनुरूप उन्हें विवाह-विच्छेद की मान्यता देना उचित है जिससे कि सामाजिक विघटन के अवसर न उत्पन्न हों।

विवाह-विच्छेद के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण
(Modern Attitude Towards Divorce)

हिन्दू समाज में स्त्रियों को विवाह-विच्छेद का अधिकार न देने से मध्यकाल में समाज में अनेक दोष उत्पन्न हो गए थे। स्त्रियो पर अनेक प्रकार के अत्याचार होने लगे थे, पति-परमेश्वर की धारणा पनपने से पुरुष उनका शोषण कर रहा था। इस स्थिति से उबरने के लिए 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में समाज सुधारको ने इस ओर प्रयास प्रारम्भ किए। गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन में स्त्रियों ने सक्रिय भागीदारी निभाई, इससे उनमें राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हुई। शिक्षा के प्रसार व पाश्चात्य सभ्यता ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त कराने में भरपूर सहयोग दिया। अनेक अधिनियम पारित किए गए। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 पारित किया गया जिससे स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाया जा सके। इससे प्राचीन मान्यताओं में काफी बदलाव आया है। आज स्त्रियाँ अनुभव करने लगी हैं कि पति के अत्याचारों को सहने की अपेक्षा विवाह-विच्छेद उचित है। इस सम्बन्ध में अनेक अध्ययन भी किए जा चुके हैं। **चन्द्रकला हाटे** ने 498 स्त्रियों से विवाह-विच्छेद के विषय में राय जानी। इनमें से 160 स्त्रियों ने इस अधिनियम के समर्थन मे अपना मत व्यक्त किया। **कापड़िया** ने स्नातको के साथ साक्षात्कार किया। सर्वेक्षण में 50 प्रतिशत स्नातक विवाह-विच्छेद के समर्थक थे। 25 प्रतिशत इसे अनुचित समझते थे और 17 प्रतिशत ने इसे हानिप्रद बताया। किन्तु इसे और अधिक मान्यता मिलने लगी है।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955
(The Hindu Marriage Act, 1955)

सन् 1955 मे हिन्दू विवाह अधिनियम पारित किया गया जिसे जम्मू और कश्मीर के अतिरिक्त 18 मई, 1955 तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में लागू कर दिया गया। इसमें हिन्दुओ के

साथ–साथ बौद्ध, जैन और सिक्खों को भी सम्मिलित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा हिन्दू विवाह सम्बन्धी सभी कानून समाप्त किए जा चुके हैं और कुछ विशेष परिस्थितियों में न्यायिक पृथक्करण की व्यवस्था की गई है। इसकी धारा 13 के अनुसार स्त्री–पुरुषों को अदालत द्वारा विवाह–विच्छेद की माँग करने का अधिकार दिया गया है। इस हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 को 27 मई, 1976 में संशोधित किया गया जिसकी धारा 13 के अन्तर्गत निम्नलिखित आधारों पर विवाह–विच्छेद की माँग की जा सकती है—

विवाह–विच्छेद (Divorce) के आधार—

(i) प्रार्थी ने दूसरे पक्ष को पिछले दो वर्ष से छोड़ दिया हो।

(ii) प्रार्थी के साथ दूसरे पक्ष द्वारा क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया गया हो।

(iii) पति–पत्नी में से किसी एक ने भी एक–दूसरे के अतिरिक्त किसी अन्य के साथ स्वेच्छा से यौन–समागम किया हो।

(iv) दूसरा पक्ष पागल हो जिसकी चिकित्सा न हो सके।

(v) दूसरा धर्म–परिवर्तन के कारण हिन्दू न रहा हो।

(vi) दूसरा पक्ष असाध्य संक्रामक रोग अथवा कुष्ठ रोग से ग्रसित हो।

(vii) दूसरे पक्ष ने संन्यास ले लिया हो।

(viii) दूसरे पक्ष के जीवित रहने की सूचना पिछले सात वर्ष से न मिली हो।

(ix) दूसरा पक्ष न्यायिक–पृथक्करण की राजाज्ञा प्राप्त होने के पश्चात् पिछले एक वर्ष या इससे अधिक समय से इसका पालन न कर रहा हो और अलग रहता हो।

(x) दूसरे पक्ष ने वैवाहिक अधिकारों के प्रत्यस्थापन की राजाज्ञा का पालन पिछले एक वर्ष अथवा उससे अधिक अवधि के भीतर न किया हो।

उपर्युक्त आधारों के अतिरिक्त स्त्रियों को चार अन्य आधारों पर भी विवाह–विच्छेद के लिए प्रार्थना–पत्र देने की आज्ञा दी गई है, जो निम्नांकित हैं—

(i) यदि इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व किसी व्यक्ति ने दूसरा विवाह कर लिया हो और उसकी पहली पत्नी, जीवित हो तो पत्नी को विवाह–विच्छेद का अधिकार होगा।

(ii) यदि विवाह के पश्चात् पति बलात्कार, गुदा मैथुन अथवा पशुता का अपराधी हो तो पत्नी उससे विवाह–विच्छेद कर सकती है।

(iii) यदि पत्नी द्वारा भरण–पोषण की राशि प्राप्त करने की राजाज्ञा का पालन पति द्वारा नहीं किया गया हो तो पत्नी अपने पति से विवाह–विच्छेद कर सकती है।

(iv) यदि लड़की की आयु विवाह के समय 15 वर्ष से कम है तो वह 18 वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व तक विवाह की समाप्ति के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकती है।

इसके अतिरिक्त संशोधित अधिनियम, 1955 में धारा 13 (ब) में एक प्रावधान यह भी रखा गया है कि अब पति-पत्नी पारस्परिक सहमति के आधार पर विवाह-विच्छेद कर सकते हैं यदि पिछले एक वर्ष से वे यह अनुभव कर रहे हों कि उनका साथ-साथ रहना अब सम्भव नहीं है अथवा वे पिछले एक वर्ष या उससे भी अधिक समय से अलग-अलग रहते हों।

इस प्रकार पति-पत्नी दोनों के विवाह-विच्छेद की सहमति होने पर उन्हें विवाह-विच्छेद की आज्ञा दी जा सकती है।

उपर्युक्त अधिनियम का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि पति-पत्नी में कभी भी विवाह-विच्छेद हो सकता है अथवा विवाह-विच्छेद एक आसान कार्य है। न ही इस अधिनियम का परिणाम विवाह के महत्त्व में कमी का होना है, बल्कि इस अधिनियम के द्वारा स्त्रियाँ अपने अस्तित्व को समझने अवश्य लगी हैं। इसी विचार को कापड़िया ने इन शब्दों मे व्यक्त किया है, "साधारणत: यह तर्क दिया जाता है कि यदि कानून को विवाह संस्कार में हस्तक्षेप करने दिया गया तो विवाह-संस्था नष्ट हो जाएगी, यह भय तर्करहित एवं निराधार है। यदि विवाह-विच्छेद का अर्थ विवाह-संस्था का विनाश है, तो यह बात स्पष्ट है कि स्त्रियों पर प्रतिबन्ध लगाकर यह विनाश केवल कृत्रिम रूप से रोका गया है—यह सिद्धान्त निराधार है, क्योंकि यह इस सत्य की अवहेलना करता है कि स्वयं कानून, समाज के लोगों की इच्छा के अभाव में एक समुदाय के सामाजिक आदर्शों को परिवर्तित नहीं कर सकता।"

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि परिवार में शान्ति व समरसता बनाए रखने के लिए पति-पत्नी—दोनों में सामंजस्य बने रहना आवश्यक है। प्रयास यह किया जाना चाहिए कि पारिवारिक समस्याओं को पारिवारिक स्तर पर सुलझा लिया जाए और पति-पत्नी सुखी वैवाहिक जीवन बिताने का प्रयास करें। किन्तु यदि साथ-साथ रहकर जीवन बिताना सम्भव न रह गया हो तो विवाह-विच्छेद को महत्त्व दिया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में अल्तेकर का कहना समीचीन ही है, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि समाज का सर्वाधिक हित विवाह-बन्धन को साधारणत: स्थायी और अविच्छेद्य मानने में है। यह केवल तभी सम्भव है, जब विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा हो। पारिवारिक जीवन में सुख-शान्ति केवल उसी समय सम्भव है, जब पति और पत्नी एक-दूसरे से अनुकूल करने के लिए महान् त्याग करने को तैयार हों। विवाह-विच्छेद बहुत ही अपवादस्वरूप मामलों में अन्तिम उपचार होना चाहिए।"

❑

अध्याय-11

अन्त: एवं अन्तर पीढ़ी संघर्ष

(Intra and Inter Generations Conflict)

पूर्ववर्ती पीढ़ी के साथ स्वस्थ संबंध स्थापित करना किशोर एवं प्रौढ़ जीवन का एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कार्य होता है। यह कार्य सरल नही है। दीर्घकाल तक किशोर अपने माँ-बाप पर निर्भर रहता आया है। अब उसे पृथक् अपना अस्तित्व बनाना है जिससे कि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके, यह तय कर सके कि वह उसके प्रति निष्ठावान हो, उसे अपने मूल्यों को अपनाना है, निजी विचारों को सोचना और जीवन के प्रति निजी दृष्टिकोण का निर्माण करना होता है। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल चलती रहें, माता-पिता का पूर्ण सहयोग मिले, माता-पिता उसके कार्य में हस्तक्षेप न करें, अपने पूर्वाग्रह युक्त नैतिक शिक्षाप्रद जीवन शैली उन पर न थोपे तो सामंजस्य बना रहता है किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत होती है। पूर्व पीढ़ी अपने बालको के साथ वैसा ही व्यवहार करने लगती है जैसा वह बचपन मे उसकी देखरेख के समय करती थी। दूसरी ओर नव्य पीढ़ी जो अब बड़ी हो चुकी है अपना भविष्य बनाने के प्रति चिंतित है उसे जब माँ-बाप से अनवरत उपदेश सुनने को मिलते रहते हैं कि ऐसा करो, ऐसा न करो तो दोनों पीढियों में संघर्ष होने लगता है। समरसता समाप्त हो जाती है। यद्यपि कुछ समय पश्चात् जब वह पीढी भी माता-पिता बन जाती है तो अपने दायित्वों का ज्ञान उसे हो जाता है। इस प्रकार पीढ़ियों का संघर्ष अथवा पीढ़ी गैप हमेशा चलता रहता है जिसका परिणाम पारिवारिक सामाजिक दृष्टि से विषम ही होता है। यह संघर्ष क्यों होता है इसके निवारण के क्या उपाय हैं ? इन पर विचार करना आवश्यक है—

पीढ़ी संघर्ष का अर्थ (Meaning of Conflict of Generation)—वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार, "पीढी अर्थात् एक ही युग मे उत्पन्न व्यक्तियों का समग्र रूप जिसका औसतन समय माता-पिता के जन्म और उनकी सन्तान के जन्म मे मोटे रूप मे 30 वर्ष के अन्तराल का स्वीकृत किया गया है।"

पीढ़ी अन्तराल का अर्थ वेबसटर डिक्शनरी के अनुसार, "एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के बीच सम्प्रेषण का अभाव है जैसे माता-पिता एवं उनके युवा लोगों के मध्य रुचियों, मूल्यो एवं दृष्टिकोण आदि में अन्तर।

पीढी संघर्ष प्राय: किशोर और उसके माँ-बाप के मध्य रहता है जैसे-जैसे किशोर बड़े होते जाते हैं उसके अपने माता-पिता व परिवार से संबंध खराब होते जाते हैं। इसमें दोष दोनों का ही होता है। प्राय: बच्चे की योग्यता के बारे मे माँ-बाप की जो धारणा बन गई होती है उसमें वे आयु के साथ परिवर्तन नहीं करते। परिणामस्वरूप वे बच्चो के साथ वैसा ही

व्यवहार करते हैं जैसा वह उनके बचपन में उसके साथ किया करते थे। वे उनसे अपनी आयु के अनुसार चलने की आशा करते हैं विशेष रूप से जिम्मेदारियो को संभालने में यह दोनों के मध्य संघर्ष का कारण होता है। संघर्ष का दूसरा कारण यह भी होता है कि वे (माता-पिता) व्यवहार मे उन मानदण्डों का प्रयोग करते हैं जो उस समय प्रचलित थे, जब वे किशोर थे। दूसरी ओर जब नई पीढ़ी यह देखती है कि उनके माता-पिता की रुचियाँ उनकी स्वयं की रुचियो के समान है तो उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि माता-पिता उन्हें व उनकी आवश्यकताओ को समझते हैं, ऐसी स्थिति में संघर्ष कम होता है।

माता-पिता व किशोर के बीच होने वाले संघर्ष की सम्पूर्ण जिम्मेदारी माता-पिता पर ही नही डाली जा सकती। प्रायः यह देखा जाता है कि किशोर अथवा नई पीढ़ी गैर जिम्मेदार व अनिश्चित व्यवहार वाली होती है। इस सक्रमण काल मे माता-पिता के धैर्य की कड़ी परीक्षा हो जाती है। अनेक बार नव पीढ़ी अपने माता-पिता पर, अथवा अपने भाई-बहिनो की बराबर नुकताचीनी करते रहते हैं। स्वयं के कर्तव्यो का अथवा माता-पिता की उचित बात की रोक-टोक का भी विरोध करते हैं, अपनी आयु के साथ जिम्मेदारियाँ नहीं संभालते हैं तो ऐसी स्थिति में माता-पिता और युवाओ के बीच एक अन्तराल आ जाता है और उनमें सघर्ष हो जाता है।

माता-पिता और उनके किशोरों के मध्य होने वाले संघर्ष के कारण (Causes of Conflict between parents and thier adolscents)—वैसे तो माता-पिता एवं उनके किशोर बालको के मध्य होने वाले संघर्ष के अनेक कारण होते हैं, किन्तु तीन कारण बिल्कुल सामान्य होते हैं—

(1) पहला कारण—माता-पिता के द्वारा प्रयुक्त अनुशासन की विधि मे और किशोरो के उस असन्तोष मे पाया जाता है जो उनके अंदर माता-पिता के द्वारा दिए जाने वाले दंड को 'बचकाना' समझने से और उनके द्वारा व्यवहार पर लगाई गई रोक-टोक को अनुचित समझने से पैदा होता है।

(2) सघर्ष का दूसरा सामान्य करण—तब पैदा होता है जब किशोर अपने माता-पिता या बडे लोगो और पारिवारिक जीवन के प्रति प्रत्यालोचनात्मक अभिवृत्ति अपना लेते हैं।

(3) **संघर्ष का तीसरा कारण** किशोर के नए सामाजिक जीवन से पैदा होने वाली समस्याओं से संबंधित होता है।

इन कारणो को सोदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है-प्रायः माता-पिता अपने बच्चों को बहुत छोटा ही समझते रहते हैं और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसे बचपन मे करते हैं। प्रायः सभी माता-पिता अपने बच्चों की सुख-सुविधा के लिए अपने समय शक्ति एवं पैसे का यथासभव त्याग करते हैं और चाहते हैं बच्चे उनकी आज्ञानुसार ही स्वयं को ढालें, किन्तु ऐसा हो नहीं पाता। किशोर अपने दोस्तो के साथ, विषममलिंगियों के साथ घूमते हैं, देर से घर आते हैं, कपड़े अत्याधुनिक तरीके से पहनते हैं, उन स्थानो पर जाते हैं जो स्थान माता-पिता को पसद नहीं हैं। व्यवहार मे ऐसा प्रायः होता नहीं है किशोर स्वयं को समझदार, निर्णायक, अच्छे-बुरे का अन्तर करने वाला समझते हैं अतः वे किसी भी स्तर पर अपनी गतिविधियो मे माता-पिता का दखल व रोकटोक पसंद नहीं करते और माता-पिता

जब उन्हें उनकी रुचियों, ड्रेस, देर से घर आने आदि के कारण टोकते है तो संघर्ष हो जाता है।

संघर्ष केवल लडकों में नहीं होता लड़कियाँ भी संघर्ष का कारण होती हैं और प्राय: संघर्ष का कारण-कपड़ों का अनुचित व अनुपयुक्त होना, अपने ऊपर पैसा खर्च करना, विषम-लिंगियों के साथ जाना आदि ही होते हैं। संघर्ष को परिवार के अन्य लोग भी बढ़ाते हैं। रिश्तेदार भी जब परिवार में इकट्ठे होते हैं तो नई पीढ़ी का विरोध करते हैं इससे नई पीढ़ी को बड़ी उकताहट होती है। संघर्षो की आवृत्ति और तीव्रता में कोई वर्ग-भेद नही होता। इस तरह के संघर्ष सभी सामाजिक वर्गों में होते रहते हैं।

माता-पिता द्वारा समायोजन (Adjustment by Parents)—यद्यपि माता-पिता का अपने किशोर बच्चों से संघर्ष सदैव ही नहीं रहता। जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते जाते हैं तो वे भी जान जाते हैं कि बच्चे अब बड़े हो गए हैं अपना भला-बुरा समझने लगे हैं तो वे उनहें अधिक अधिकार देने लगते हैं साथ ही उनसे यह आशा करने लगते हैं कि वे अपनी व अपने घर परिवार की जिम्मेदारियां संभालेंगे और वे उनसे समायोजन कर लेते हैं। माता-पिता अपने बड़ी आयु के किशोरों के साथ मित्रों जैसा बर्ताव जितना अधिक करेंगे उनके बीच संबंध उतने ही अधिक मधुर बनेंगे। लेकिन प्राय: ऐसा कम ही होता है।

जैसा व्यवहार किशोर का अपने माता-पिता के साथ होता है उसके अनुसार ही उसका उनके प्रति व्यवहार होता है। यदि उनके मध्य संबंध मधुर होते हैं तो परस्पर तादात्म्य अच्छा हो जाता है किन्तु यदि संबंधो में एक बार कटुता आ जाती है तो बड़े होकर उसे बदलना सरल नहीं होता, क्योंकि किशोरो के व्यवहार के तरीकों और अभिवृत्तियों की जड़े घर और समुदाय के पर्यावरणों में ही पड़ती हैं और परिस्थितियाँ सदैव विषम व एकसी रहीं तो उन्हे बदलना कठिन हो जाता है। यहाँ तक कि जब किशोर का वातावरण बदल भी जाए वह घर से दूर कॉलेज में रहने लगता है तब भी उन्हे बदलना कठिन होता है। यदि परिवार के लोगों से संबंध न केवल किशोरावस्था में बल्कि प्रारंभ के निर्माणात्मक वर्षों में भी अच्छे रहे हैं तो किशोर का व्यक्तित्व समायोजित होगा। इसके विपरीत कुसमायोजित किशोर प्राय: ऐसे परिवारों से आते हैं जहाँ लोगों के संबंध उनके साथ मधुर नहीं होते हैं और निर्माणात्मक वर्षो के दौरान उन्हे गलत प्रकार का प्रशिक्षण और पथ-प्रदर्शन मिला होता है। अत: यह कहा जा सकता है कि पारिवारिक समायोजन और व्यवहार के बीच घनिष्ट संबंध होता है।

पीढ़ी संघर्ष में समायोजन के क्षेत्र (Area of Adjustment in Generation Conflict)—दो पीढियो मे संघर्ष के अनेक क्षेत्र हो सकते हैं जिनमें समायोजन दोनो पीढ़ियो को ही करना पड़ता है यदि ऐसा नहीं हो पाता तो सघर्ष सदैव चलता रहता है जो न केवल परिवार अपितु समाज की दृष्टि से भी अनुपयुक्त है।

(1) बदलती भूमिका से समायोजन (Adjustment Towards Changing Role)—यह स्थिति किशोर और माता-पिता दोनो के लिए आवश्यक है। माता-पिता की दृष्टि से देखा जाए तो बालकों के किशोर होने तक वे मध्य वय पर पहुच जाते हैं जहाँ उन्हे शारीरिक एवं मानसिक रूप से शिथिलता दिखाई देती है और वे अपने बच्चें पर आश्रित होने लगते हैं। दूसरी ओर किशोरो के समक्ष उनका अपना भविष्य है, जिम्मेदारियाँ हैं जिनके कारण वह अपने माता-पिता का पूरा ध्यान नहीं रख पाता। यदि दोनों पीढ़ियाँ एक-दूसरे की

परिस्थितियों को पूर्णतया समझे तो वे एक-दूसरे मे समायोजन कर सकती हैं और संघर्ष कम कर सकती हैं।

(2) विचारों में समायोजन (Adjustment in Thought)—प्राय: माता-पिता स्वय को एक आदर्श के रूप मे अपने बालको के समक्ष प्रस्तुत करते हैं और जाने अनजाने मे उन पर रोक लगाते हैं जैसे तुम्हें इसके साथ नहीं घूमना चाहिए, देर से घर नहीं आना चाहिए आदि दूसरी ओर युवा के समक्ष अनेक चिन्ताएँ परेशानियाँ अपने जीवन को लेकर हो सकती है जिनके कारण वह अधैर्यवान हो जाता है, उसमें माता-पिता की डाट को झेलने की सामर्थ्य ही नही होती लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं कि वह समझदार नहीं अथवा व्यावहारिकता को वह समझता नहीं है। यदि वैचारिक मतभेदो को भुलाकर माता-पिता बच्चो की परेशानियों मे झाककर देखे, उनसे सहृदयता पूर्ण व्यहार करे तो बदले मे युवा वर्ग भी अपने सुख-दुख का भागीदार ही उन्हे समझेगा और दोनो मे समायोजन की स्थिति आ सकती है।

(3) रुचियों में समायोजन (Adjustment in Interest)—युवा वर्ग की रुचियाँ प्रौढ़ो से भिन्न होती हैं, मित्रता मे विश्वास, घर से बाहर रहना, पैसे खर्च करना, मनोरंजन के नए-नए क्षेत्र देखना आदि उसके कार्य क्षेत्र हैं जबकि माता-पिता की रुचियाँ इस उम्र तक पहुँचते-पहुँचते धार्मिक, कपड़ो आदि के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण, पैसे का महत्त्व समझना, घर गृहस्थी की चिंता आदि मे व्यस्त रहना आदि कार्यो की ओर हो जाती है अतः दोनो के मत एक-दूसरे से टकराते हैं और सघर्ष हो जाता है यदि दोनो ही एक-दूसरे की उम्र में झाककर देखे, विशेष रूप से माता-पिता इस बात का अहसास करे कि युवावस्था मे उनकी भूमिका भी अपने बालकों से अलग नहीं थी तो वे अपने बच्चो की रुचियो के साथ समायोजित होने मे अग्रसर हो सकते हैं और बच्चे भी उनकी स्थिति के साथ सामंजस्य बिठा सकते हैं।

(4) दृष्टिकोण में समायोजन (Adjustment in Attitudes)—युवा वर्ग चाहता है कि उनकी जिंदगी मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो। अपने भविष्य के फैसलों मे वे माता-पिता का दखल पसन्द नही करते। उनमे अदम्य साहस, उत्साह व जिन्दगी मे आगे बढने की चाहत होती है। दूसरी ओर माता-पिता समझते हैं कि वे जैसा चाहें उसी प्रकार उनके बच्चे जिन्दगी का सामना करे—दोनो की सोच का नजरिया अलग-अलग होता है। यद्यपि दोनो ही चाहते हैं कि उनका भविष्य सुदृढ़ हो। अनेक बार नई पीढी अपने माता-पिता के फैसलो को महत्त्व तो देती है लेकिन उसका दृष्टिकोण अलग होता है यदि दोनो एक-दूसरे के दृष्टिकोण से देखे और उससे समायोजन करें तो टकराव की स्थिति पर नियंत्रण पाया जा सकता है।

वस्तुतः दो पीढियो की सोच मे अन्तर होता है जिसके द्वारा उनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है और यह स्थिति हर परिवार वर्ग व समाज मे है इसका समाधान दोनो पीढियों को अपनी सोच मे परिवर्तन करने से ही होगा। बडी पीढी को विशेष रूप से उनके साथ प्रेम, आत्मीयता व सहानुभूति की भावना अपनानी होगी तभी छोटी पीढ़ी उनके प्रति सहृदय हो सकेगी।

पीढ़ी संघर्ष (Generation Conflict)—क्या अभी भी विद्यमान है इसके लिए जो प्रमुख विषय है वे निम्नलिखित हो सकते हैं—

1. तुम अपनी दादी के समान कपड़े नहीं पहनती।

2. तुम अपेन पिताजी के समान फिल्म नहीं देखते।

3 तुम्हारे मित्र अपनी माँ के मित्रो के समान नहीं हैं।

4. तुम अपनी दादी के समान गाने नही सुनतीं।

बड़ी पीढ़ी के लिए निम्न प्रश्नावली बनाई जा सकती है और उसकी जाँच की जा सकती है।

प्रश्नावली—(1) अपने बच्चो के दोस्तों के प्रति आपका दृष्टिकोण क्या है ?

(2) आपका बच्चा प्रसन्न या जिन्दादिल है तो आप कैसा अनुभव करते हैं ?

(3) क्या आप सोचते है कि आप अपने बच्चो के संगीत के रुझान से प्रभावित हो गए हैं ?

(4) अपने बच्चो के फैशन के तरीके के विषय मे आप क्या सोचते हैं ?

(5) आपके बच्चे अक्सर आपके किस व्यवहार के लिए निंदा करते हैं ?

(6) यदि किशोर शृंगार प्रसाधनो का प्रयोग करते हैं तो आप क्या सोचते हैं ?

(7) आप अपने बच्चों को कितना जेब खर्च देते हैं ? क्या वे इससे खुश हैं ?

(8) अपने जेब खर्च से बच्चे क्या खरीदते हैं ?

(9) शादी के पूर्व सेक्स के विषय में आप क्या सोचते हैं ?

(10) संघर्ष के सर्वाधिक निकटस्थ कारण क्या हैं ? आपको अपने बच्चों से फासला या पृथकता क्यों करनी पड़ी ?

(11) क्या आपके बच्चे घर के कार्यों में सहायता करते हैं ?

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि पीढ़ियों का संघर्ष दोनों पीढ़ियो की सोच, मूल्य, महत्त्वाकाक्षाओं और उम्र का अन्तराल है। युवा पीढ़ी पूर्व की तुलना मे रचनात्मक अधिक है किन्तु संघर्ष के कारण उसमे व्यवधान पड़ जाता है। दूसरी ओर पूर्व पीढ़ी शक्ति के अभाव मे अपने उज्ज्वल भविष्य का निर्माण नहीं कर पाती है। यदि दोनों पीढियाँ परस्पर तालमेल बिठाकर चलें, महत्त्वाकांक्षा मे समान हो और सोचने के तरीको मे समझौता करके चले तो यह सघर्ष काफी कम हो सकता है और युवा पीढी एक सुखमय भविष्य की ओर अग्रसर हो सकेगी जो बड़ी पीढ़ी का एक सार्थक सपना होता है।

वृद्ध पीढ़ी की समस्याएँ

(Problems of Older Generation)

पीढ़ियो के संघर्ष में वृद्धो की पीढी मे अनेक प्रकार के सघर्ष देखे जा सकते हैं। भारतवर्ष मे वृद्धो की स्थिति कष्टमय है। विगत वर्षो से वृद्धों की जनसंख्या में वृद्धि हो रही है। वृद्ध होना ही अपने आप में एक संघर्ष है। वृद्ध लोग बदलती हुई परिस्थिति मे अपने आप को ढालने और अनुकूलन करने में अनेक कठिनाइयो का अनुभव करते हैं। वृद्धों के प्रति पूर्वाग्रह एव पक्षपातपूर्ण व्यवहार के कारण संघर्ष की स्थिति पैदा होती है। वृद्ध लोग स्वयं और दूसरी छोटी पीढियो के लोग भी 'वृद्ध लोग' शब्द को अपमानजनक अर्थ मे लेते

हैं। वृद्ध लोगों से सम्माननीय भाषा में उनसे व्यवहार किया जाता है तो वृद्ध, वयोवृद्ध, बुजुर्ग, वरिष्ठ नागरिक जैसे शब्दो मे उन्हे सम्बोधित किया जाता है। सामान्य बोलचाल और व्यवहार मे वृद्ध उन लोगो को कहा जाता है जिन्होंने एक विशेष आयु सीमा को पार कर लिया है। विकसित देशो मे वृद्धो की आयु 65 वर्ष के बाद प्रारम्भ होती है और भारत एवं विकासशील देशो मे 60 वर्ष की आयु मानी गई है।

वृद्धावस्था को एक ऐसी जटिल और कालक्रमिक प्रक्रिया माना जाता है जिसमें जैविक मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पक्ष होते हैं। वृद्धो की प्रमुख समस्या समाज मे सामजस्य स्थापित करना है। वृद्ध की परिस्थिति को अनेक कारक, आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण, आर्थिक समस्याएँ प्रभावित करती हैं। पीढ़ी सघर्ष मे सबसे अधिक संघर्ष वृद्धो की पीढी को करना पडता है। वृद्ध व्यक्ति के सामने मुख्यतः जीव-शारीरिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याएँ प्रमुख हैं।

पीढ़ियाँ और उनके लक्षण
(Generations and their Characteristics)

व्यक्ति अपने जीवन मे वृद्धावस्था, युवावस्था एवं प्रौढावस्था को पार करके वृद्धावस्था मे पहुँचता है। जिसके कारण उसके दैनिक व्यवहार मे बहुत से परिवर्तन आते हैं जो संघर्षमय होते हैं।

निम्नलिखित घटनाएँ पीढियो के जीवन मे विशिष्ट रूप से देखी जा सकती है—

(1) जैसे-जैसे व्यक्ति का बाल्यावस्था से विकास होता है तो जीव शारीरिक क्षेत्र मे परिवर्तन आते हैं। विभिन्न पीढियो मे प्रजनन क्षमता की प्राप्ति और बाद में इसका ह्रास होता है। इसी प्रकार शारीरिक शक्ति में वृद्धि और ह्रास, कोशिकाओ एवं कार्यों की शक्ति मे वृद्धि एव ह्रास, व्यक्ति अपनी पीढियो की अवस्था का सामना करता है। इसी प्रकार युवावस्था से प्रौढावस्था मे रोगो से सम्बन्धित अल्पता से अधिकता की ओर अग्रसर होता है।

(2) बाल्यकाल से वृद्धावस्था तक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निम्न स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। प्रारम्भ मे व्यक्ति बोध क्षमता का विकास करता है। जीवन लक्ष्यो और आत्म पहचान की प्रक्रिया से गुजरता है और धीरे-धीरे, जैसे-जैसे वृद्ध होता है उसके जीवन लक्ष्य अल्प और संकुचित होते जाते है। उसको प्रस्थिति और जीवन उसे नकारात्मक सा प्रतीत होता है।

(3) सामाजिक क्षेत्र मे भी विस्तार और संकुचितता, वृद्धि और ह्रास विभिन्न आयामो मे देखी जा सकती है। व्यक्ति जब युवा पीढी से वयस्क होता है तो सामान्य क्षेत्र मे उसके पारस्परिक क्रिया-कलापों के क्षेत्र व्यवसाय, विभिन्न कार्य, विवाह, परिवार का पालन-पोषण आदि मे वृद्धि हो जाती है। वह अनेक सामाजिक सगठनो का सदस्य बन जाता है। जैसे-जैसे वह अधेड पीढी की ओर अग्रसर होता है, वैसे-वैसे उसके विभिन्न क्षेत्रो मे गतिविधियाँ, कार्य-कलाप, जिम्मेदारियाँ, अनुभवी क्रियाओ आदि में वृद्धि होती चली जाती है। अन्त मे वृद्ध पीढ़ी मे पहुँचने पर इन सब क्षेत्रों मे या तो भूमिकाएँ समाप्त हो जाती हैं अथवा उसकी शक्ति और कर्त्तव्यों मे ह्रास हो जाता है। इस प्रकार से युवा पीढी, प्रौढ़ पीढी और वृद्ध पीढी में सामजस्य की क्षमता में वृद्धि और ह्रास देख सकते हैं।

समाज भिन्न-भिन्न पीढ़ियो को उनकी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक आदि क्षमताओं के अनुसार कर्त्तव्य और अधिकार प्रदान करता है, जिनका क्रम अधिकता से न्यूनता की ओर चलता है।

सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन एवं पीढ़ियाँ
(Socio-Economic Change and Generations)

मानव इतिहास में कई बार युगान्तकारी परिवर्तन और सामाजिक सामंजस्य की समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। विगत वर्षो में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के साथ अर्थव्यवस्था का पूर्व-औद्योगिक ढाँचे से औद्योगिक ढाँचे में रूपान्तरण हुआ है, जिसे समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री आधुनिकीरण कहते हैं। इस युगान्तकारी घटना के कारण सभी पीढ़ियो पर प्रभाव पड़ रहे हैं और विभिन्न पीढ़ी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई है। शिशु पीढ़ी के पालन-पोषण में अन्तर आया है। युवा पीढ़ी के जीवन के तरीके, व्यवसाय, खान-पान, सन्तानों एवं माता-पिताओं के प्रति उत्तरदायित्वों में परिवर्तन आया है।

सबसे अधिक आधुनिकोकरण का प्रभाव वृद्ध पीढ़ी पर पडा है। जनसंख्या में उनका अनुपात बढ़ा है और उनके सामने सामाजिक, आर्थिक आदि सामंजस्य स्थापित करने मे अनेक कठिनाइयाँ आई हैं। बढ़ती हुई दीर्घायु एवं जीवन संभाव्यता के कारण जनसंख्या में वृद्धों के अनुपात में वृद्धि हुई है। जन्मदर में गिरावट आई है। महिलाओं की शिशु जन्मदर की औसत काफी घटी है। जन्मदर और मृत्युदर दोनों घट रही हैं लेकिन जन्मदर की तुलना में मृत्युदर मे अधिक तेजी से कमी आई है। जब तक इनमें संतुलन नहीं हो जाता तब तक संघर्ष की स्थिति अधिक विकट रहेगी। वर्तमान में जन्मदर कम घटी है और मृत्यु दर अधिक घटी है।

निर्भरता अनुपात
(Dependency Ratio)

विभिन्न पीढ़ियों में जनसंख्या के वितरण का सीधा सम्बन्ध पीढ़ियों में संघर्ष और पीढ़ियों के बीच संघर्ष से सीधा होता है। आयु निर्भरता के आधार पर जनसाख्यिकीवेत्ताओं ने तीन आयु समूह बताये हैं, यथा—0 से 14 वर्ष, 15 से 59 वर्ष एवं 60 + आयु के लोग। निर्भरता का भार कामकाजी आयु समूह (15-59) पर पड़ता है। कनिष्ठ पीढ़ी की जनसंख्या के द्वारा जो भार पड़ता है उसे युवा निर्भरता अनुपात कहते हैं। यह 0-14 आयु समूह है। वर्तमान में भारत की जनसंख्या की युवा प्रकृति की पीढ़ी के कारण राष्ट्र के सामने बहुत बड़ी जनसंख्या युवा निर्भरता पीढ़ी का है। 1971 में युवा निर्भरता अनुपात 80 से अधिक था तथा वृद्ध निर्भरता पीढ़ी अनुपात बहुत कम था। 1951 में यह 10 से कम था। 1961 से इसमे निरन्तर अनुपात में वृद्धि हो रही है। अर्थशास्त्रियों का अनुमान है कि युवा निर्भरता पीढ़ी अनुपात में कमी आयेगी और वृद्ध निर्भरता अनुपात में वृद्धि होगी। युवा निर्भरता पीढ़ी में कमी और वृद्ध निर्भरता पीढ़ी में वृद्धि के कारण समूची निर्भरता लगभग स्थिर सी है। युवा निर्भरता अनुपात बढ़ने पर स्कूली शिक्षा में वृद्धि करनी होती है जबकि वृद्ध निर्भरता अनुपात की वृद्धि होने पर वृद्धों के लिए चिकित्सा, स्वास्थ्य एवं आवास व्यवस्था पर विशेष ध्यान देना पड़ता है।

लिंगानुपात (Sex Ratio)—वृहद् पीढ़ी में महिलाओं का लिंग अनुपात प्रति 1000 पुरुषों पर महिलाओं की सख्या मे वृद्धि हो रही है। पुरुषों की प्रधानता कम होती जा रही है। 1981 मे आम जनसंख्या मे प्रति 1000 पुरुषों पर 933 महिलायें थीं। लेकिन वृद्धों के विभिन्न आयु समूहों मे 60-64, 65-69 एवं 70+ आयु समूहों के प्रति हजार पुरुषों पर महिलाओ की संख्या 933, 985 एव 974 क्रमशः थी। वृद्धों में महिलाओं का प्रतिशत अधिक है। जहाँ तक वैवाहिक प्रस्थिति का प्रश्न है इसमें वृद्ध महिलाओं की स्थिति दयनीय है। वृद्ध महिलाओ मे वैधव्य की उच्च दर है। आर्थिक सहायता के लिए महिलायें पुरुषों पर आश्रित रहती हैं। इसलिए विधवाओं की स्थिति अधिक दुःखदायी और संघर्षमय है बजाय पुरुषों के।

शैक्षिक पृष्ठभूमि (Educational Background)—विभिन्न पीढ़ियों मे शैक्षिक स्थिति भिन्न-भिन्न है। वृद्ध पीढ़ी में व्यापक निरक्षरता है। इसमें भी महिलाओं में निरक्षरता पुरुषों की तुलना मे अधिक मिलती है। 1981 में वृद्ध पुरुषों और महिलाओं में साक्षरता क्रमशः 35 और 8 प्रतिशत थी। इसी प्रकार का अन्तर अन्य पीढ़ियों मे भी लिंग भिन्नता के आधार पर देखा जा सकता है।

पीढ़ियों की आर्थिक विशेषताएँ (Economic Characteristics of Generations)—0-14 और 60+ पीढ़ी के लोग मध्य आयु समूह 15-59 पर निर्भर रहते हैं। आर्थिक दृष्टिकोण से वृद्ध पीढ़ी मे या तो आय कम हो जाती या बिल्कुल नहीं रह पाती। वृद्ध पीढ़ी को अपना काम-धन्धा छोड़ देना पड़ता है जिसका उन पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के लिए व्यवसाय आय के साधन के साथ-साथ उसे समाज के जोड़ने की एक कड़ी है। व्यवसाय व्यक्ति को सामाजिक परिस्थिति प्रदान करती है। उसकी आत्म पहचान होती है और अनेक भूमिकाएँ करता है। आधुनिक अर्थव्यवस्था मे वृद्धों को अनिवार्य सेवा निवृत्त कर दिया जाता है जिससे वृद्ध लोगो के सामने अनेक सघर्ष के आयाम खुल जाते हैं। वृद्धावस्था मे आय के कम होने या नहीं होने से उनकी आर्थिक परिस्थिति बहुत गिर जाती है। गरीबों में भी अर्थव्यवस्था के अनौपचारिक क्षेत्र से सेवानिवृत्ति के कारण संघर्षमय स्थिति मे पहुँच जाते हैं। वृद्ध निर्धन व्यक्ति को तब तक कार्य करते रहना पड़ता है है जब तक उनमें शारीरिक क्षमता विद्यमान रहती है या भूख से मर नहीं जाते।

स्वास्थ्य (Health)—स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्या वृद्ध पीढ़ी के सामने अन्य पीढ़ियों की तुलना मे अधिक है। विभिन्न सर्वेक्षणों और अध्ययनों के निष्कर्षों से ज्ञात हुआ है कि 45 प्रतिशत वृद्ध पीढ़ी के पुरुष और महिलाएँ किसी-न-किसी रोग से ग्रसित हैं। जीर्ण रोगों में जोड़ों का दर्द, घटिया, खाँसी, दमा, रक्तचाप अधिक मिलते हैं। अन्य रोगों मे बवासीर, मधुमेह, मूत्र सम्बन्धी समस्या और हृदयरोग आदि मिलते हैं। शारीरिक दुर्बलता के रूप में शारीरिक रूप से विकलांग, अपंग का प्रतिशत 11 के आस-पास होता है। अन्य पीढ़ियों के लोगों की तुलना मे वृद्ध पीढ़ी के लोग अधिक कष्टमय जीवन व्यतीत करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में 5.4 प्रतिशत एव नगरीय क्षेत्रों मे 5.5 प्रतिशत वृद्ध शारीरिक रूप से चल-फिर नहीं सकते। चल-फिरने की गतिहीनता पुरुषों की तुलना मे स्त्री मे अधिक मिलती है।

सामाजिक सामंजस्य (Social Adjustments)—विगत वर्षों से वृद्ध पीढ़ी के लोगों की जनसंख्या धीरे-धीरे बढ़ रही है। दूसरी ओर इन वृद्धों को बहुत तेजी से आधुनिक और संगठित अर्थव्यवस्था से अलग किया जा रहा है। इससे इनका जीवन संघर्षमय होता जा रहा है। जो वृद्ध अगर श्रम बल में है तो वे अर्थव्यवस्था के कम लाभकारी अनौपचारिक क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं। इससे वृद्ध पीढ़ी का आर्थिक जीवन अधिक-से-अधिक संघर्षमय होता जा रहा है। वृद्ध पीढ़ी की महिलाओं की स्थिति तो और भी दयनीय है क्योंकि वे पुरुषों पर निर्भर रहती हैं। विधवाओ की स्थिति तो आर्थिक दृष्टि से और भी दयनीय है। इस प्रकार से वृद्ध पीढ़ी की महिलायें अन्य पीढ़ियों की महिलाओं की तुलना में अधिक सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक असुरक्षात्मक एवं संघर्षमय जीवन व्यतीत करती हैं।

पूर्व में वृद्धावस्था को संघर्षमय जीवन नहीं माना जाता था। वर्तमान की तुलना में अतीत में उनकी जनसंख्या का अनुपात अपेक्षाकृत कम था। परिवार की अन्य पीढियाँ वृद्ध पीढ़ी की देखभाल एवं भरण-पोषण की व्यवस्था करती थी। आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं और वृद्धों की देखभाल की क्षमता परिवार की अन्य पीढियों में कम हो गई है। संयुक्त परिवार में परम्परानुसार वृद्ध पीढ़ी का सम्मान किया जाता था और उनका जीवन सुखमय था। परम्परागत संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ी के सगे-सम्बन्धी साथ-साथ रहते थे। जो एक ही वंश के होते थे। विभिन्न पीढ़ियों में अविवाहित, विवाहित, नि:सन्तान, विधवा, विधुर, बच्चे-बालक, युवा, प्रौढ़, वृद्ध सभी प्रकार के सदस्य साथ-साथ रहते थे। ग्रामों में कृषि अर्थव्यवस्था मे सभी पीढ़ी के एवं सभी परिस्थिति के सदस्य साथ-साथ रहते रहे हैं। वर्तमान में परिवार व्यवस्था अनेक कारणों से परिवर्तित हो गई है जिसके कारण विभिन्न पीढ़ियो में पहले जैसा स्नेह नहीं रहा है। एकाकी परिवारो की संख्या बढ गई है और संयुक्त परिवारों की सख्या घट रही है। कृषि व्यवस्था मे वरिष्ठ पुरुष उत्पादक परिसम्पत्ति का कर्त्ता-धर्ता होता था। वर्तमान में उभरती अर्थव्यवस्था के कारण परिवार उत्पादन इकाई नहीं है। परिवार के सदस्यो को परिवार से बाहर व्यवसाय करना पड़ता है। नई पीढ़ी वृद्ध पीढ़ी से आर्थिक दृष्टिकोण से सत्तामुक्त है। व्यावसायिक पीढ़ी अपना घर अलग बसा लेती है। अन्य स्थानों मे चले जाते हैं। वृद्ध व्यक्ति को अपनी सामाजिक, आर्थिक एवं आवासीय व्यवस्था स्वयं करनी पड़ती है। पर्याप्त आय नहीं होने पर वृद्ध दूसरो पर आश्रित हो जाते हैं। प्राचीन परम्परागत संयुक्त परिवार अब तेजी से परिवर्तित होकर एकाकी परिवार (पति-पत्नी और उनकी अविवाहित सन्तानें) में परिवर्तित हो रहे हैं। सन्तानो के विवाह के बाद वृद्ध पति-पत्नी या तो साथ-साथ रहते हैं और जीवनसाथी की मृत्यु होने पर विधवा/विदुर बिल्कुल अकेला जीवन व्यतीत करता है। शिशु पीढ़ी, युवा पीढ़ी, प्रौढ़ पीढ़ी और वृद्ध पीढ़ी में परम्परागत संयुक्त परिवार और एकाकी परिवार के सन्दर्भ मे सामाजिक सम्बन्धों तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में आमूल-चूल परिवर्तन आये हैं जिनको पीढियों में और पीढ़ियों के मध्य वर्गीकृत करके देखा जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न पीढ़ियों का पारिवारिक जीवन बहुत अधिक सीमित होता जा रहा है और सभी पीढियाँ नई-नई समस्याओ से संघर्ष करती हैं। वृद्ध पीढ़ी अपने पुत्रों के साथ रहते हुए अनेक असामंजस्यताओं का सामना कर रही है। पहले परिवार में सचालन सम्बन्धी सभी कार्य वयोवृद्ध के हाथ में होता था। परिवार की सभी पीढ़ियो के सदस्य उन पर आश्रित थे। आज परिस्थिति बदल गई है। वृद्ध पीढ़ी पहले जैसे आत्म सम्मान के साथ जीवन व्यतीत नही कर पा रही है। पारिवारिक निर्णय प्रस्थिति और भूमिका आर्थिक स्वावलम्बन आदि के दृष्टिकोण से बड़ी पीढ़ी युवा पीढ़ी तथा पुत्रो पर निर्भर हो गई है। नगरों में पुत्रो के घरों में वृद्ध पीढ़ी के सदस्य अपनी पुत्रवधुओं से सेवाएँ प्राप्त नहीं कर सकते हैं। परम्परागत सयुक्त परिवार परिवारों में पुत्रवधुएँ एवं छोटी पीढ़ियों के सभी सदस्य वृद्ध पीढ़ियों के सभी सदस्यों का पूर्ण सम्मान एवं देखभाल करते थे।

वृद्ध पीढ़ी के जीवन के तरीके
(Ways Life of Older Generation)

वृद्ध पीढ़ी के स्त्री और पुरुषो के जीवन के तरीके ग्राम व नगरों में निम्न प्रकार के मिलते हैं। अधिकतर वृद्ध महिलाएँ अपनी सन्तानो के साथ रहती हैं जिसका प्रतिशत ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो मे 66 प्रतिशत और 67 प्रतिशत क्रमशः है। इसकी तुलना में वृद्ध पुरुष ग्रामीण क्षेत्रो मे 37 प्रतिशत और नगरीय क्षेत्रों मे 40 प्रतिशत अपनी सन्तानों के साथ रहते हैं। पीढ़ियों के अन्तर के आधार पर अपने नाती/पोतों और अन्य सम्बन्धियों के साथ वृद्ध पीढ़ी की महिलाएँ अधिक प्रतिशत में साथ रहती हैं जबकि पुरुष सामान्यतया अपनी पत्नियों के साथ अधिक रहते हैं। ऐसे पुरुषों का प्रतिशत ग्राम और नगरों में 45 प्रतिशत है। इसके विपरीत महिलाएँ शहरो और ग्रामीण क्षेत्रों में अपने पतियों के साथ 25 प्रतिशत और 22 प्रतिशत क्रमशः रहती हैं। अकेले रहने वाले पुरुषो का प्रतिशत महिलाओ की तुलना मे बहुत अधिक है, जो शहरी क्षेत्र मे 11 8 प्रतिशत और ग्रामीण क्षेत्रों मे 8.2 प्रतिशत है। इन आंकड़ों की तुलना में अकेले रहने वाली महिलाओ का प्रतिशत क्रमशः ग्रामीण और नगरो में 0 7 और 0 6 है। इसका मुख्य कारण महिलाओं का अधिक विधवा होना तथा आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर रहना है।

वृद्ध पीढ़ी से सम्बन्धित नीतियाँ एवं कार्यक्रम (Policies and Programmes Related to Older Generation)—वर्तमान मे वृद्ध पीढ़ी के लोगों की जनसंख्या में वृद्धि हो रही है और सयुक्त परिवार द्वारा इनकी देखभाल सेवाएँ एवं भरण-पोषण मे कमी आ रही है। इन परिस्थितियों में भारतीय समाज को वृद्ध पीढ़ी की देखभाल करने के लिए सरकार और समाज को ज़िम्मेदारी उठानी चाहिए। भारतीय सविधान के अनुच्छेद 41 के अनुसार राज्य सरकार को वचित और कमजोर वर्गों के लाभ के लिए जिसमे वृद्ध पीढ़ी भी आती है। सार्वजनिक सहायता (भरण-पोषण) का प्रभावशाली प्रावधान बनाने का अधिकार प्रदान करता है। इस क्षेत्र में अभी तक कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। सरकार द्वारा वृद्धों के लिए निम्न नीतियाँ और कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं—

(1) सरकार ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए जिसके पास पर्याप्त साधन हैं अपने वृद्ध या असक्त माता-पिता जो अपना भरण-पोषण नहीं कर सकते, उनके भरण-पोषण और देखभाल करने का कर्त्तव्य निर्धारित किया है। इस नियम से वृद्ध पीढ़ी की परम्परागत देखभाल की उपेक्षा ही हुई है। यह कानून व्यवहार में निष्क्रिय है। माता-पिता भी सहायता प्राप्त करने के लिए न्यायालय में जाना पसन्द नहीं करते हैं।

(2) सरकार ने उन वृद्धों के लिए भरण-पोषण की आंशिक जिम्मेदारी निर्धारित की है जिनकी सन्तान कुछ नहीं कमाती है या सन्तान के पास भरण-पोषण के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं। सरकार असहाय वृद्धों को वृद्धावस्था पेशन देती है। उन संस्थाओं को भी अनुदान देती है जो वृद्धों की देखभाल करते हैं।

(3) अनिवार्य सेवानिवृत्त किए जाने वाले वृद्धों को नियोक्ताओं द्वारा उपादान पेंशन और भविष्यनिधि के लाभ सुरक्षित करने के लिए कानून बनाये हैं। ये कानून बड़े उद्यमों पर लागू होता है। लेकिन इस कानून का लाभ वृद्धों की एक छोटी जनसंख्या को ही मिल पाता है।

(4) 14 जुलाई, 2003 को प्रधानमन्त्री ने स्वपोषित वरिष्ठ वृद्धावस्था पेंशन बीमा योजना का उद्घाटन किया है। इस पेशन योजना के द्वारा 55 वर्ष से अधिक आयु के वृद्धजन सालाना नौ प्रतिशत सुनिश्चित आय जीवन बीमा निगम में निश्चित राशि जमा कराकर प्राप्त कर सकते हैं। यह आजीवन पेंशन योजना है। न्यूनतम पेशन प्रति माह 250 रुपये तथा अधिकतम 2000 रुपये तक होगी। प्रीमियम भुगतान सदस्य द्वारा की जाने वाली जमा राशि से होगा।

गैर सरकारी संगठन भी वृद्ध पीढ़ी के लिए अनेक प्रकार से सहायता प्रदान करते हैं, जो निम्न हैं—(1) वृद्धावस्था आश्रम के रूप मे संस्थागत सेवाएँ; (2) रोजगार सेवाएँ और व्यावसायिक चिकित्सा; (3) गैर संस्थागत सहायता कार्य, जैसे—चिकित्सा, मनोचिकित्सा, पुनर्वास सेवाएँ, पोषण एवं देखभाल, मनोरंजन, परामर्श, शिक्षा प्रशिक्षण आदि; (4) वृद्ध देखभाल केन्द्र सेवाएँ देश के बड़े-बड़े नगरों में और कुछ भागो मे उपलब्ध हैं।



अध्याय-12

विकासीय-क्षेत्रीय असमानताएँ एवं उत्प्रेरित विस्थापन

(Developmental-Regional Disparities and Induced Displacement)

भारत मे धार्मिक, भाषाई, शैक्षिक, जाति, वर्ग आदि की असमानताओं के साथ-साथ क्षेत्रीय विकासीय असमानताएँ और विषमताएँ भी विद्यमान है। भारत में आजकल पैंतीस प्रदेश (राज्य और केन्द्रशासित) हैं। आर्थिक विकास के दृष्टिकोण से इनमें अनेक असमानताएँ हैं जिसे दो भागो—(1) अन्तर्राज्यीय और अत:राज्यीय असमानताओं मे बाँटकर देख सकते हैं। अन्तर्राज्यीय असमानता से तात्पर्य है विभिन्न राज्यो या प्रदेशों के बीच असमानताएँ तथा अत:राज्यीय असमानताओं से तात्पर्य है एक ही राज्य या प्रदेश के विभिन्न खण्डों, जिलो या प्रादेशिक इकाइयो के बीच असमानताएँ। अर्थशास्त्री राजकृष्ण ने आर्थिक विकास के नापदण्ड के दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर लिखा है कि भारत में विभिन्न राज्यों को उनके विकास के स्तरों और विकास की दरो के आधार पर भद्र राज्यों एवं शूद्र राज्यों मे बाँट दिया गया है। भद्र श्रेणी के राज्यो के अन्तर्गत अविकसित तथा पिछडे प्रदेश रखे जाते हैं। भारतवर्ष के मध्य मे स्थित प्रदेश—बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश आदि विकास के दृष्टिकोण से पिछड़े और अविकसित क्षेत्र हैं तथा भारत की दूर सीमाओं पर स्थित राज्य—पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र आदि राज्य अधिक विकसित हैं। विकास के दृष्टिकोण से भारत में क्षेत्रीय असमानताओ का झगडा केन्द्र-सीमा विवाद के रूप मे विद्यमान हैं।

देश के विभिन्न राज्यो मे असमानताओ को विकासीय योजनाओ के द्वारा दूर करने के लिए तृतीय पंचवर्षीय योजना से निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं। विकास की योजनाओं के द्वारा विकसित और अविकसित राज्यो की असमानतो के अन्तर को समाप्त करके सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक सामंजस्यता स्थापित करने के प्रयास किये जा रहे है। क्षेत्रीय असमानताओ को दूर करने के लिए समय-समय पर विकास योजनाएँ, नीतियाँ, कार्यक्रम आदि बनाने होगे तथा क्षेत्रीय और वर्गीय समानता एवं सामंजस्य को स्थापित करना होगा। भारत मे क्षेत्रीय असमानताओ के होने के कारण यह समाजशास्त्र मे महत्वपूर्ण अध्ययन का विषय है। यहाँ पर भारत देश की क्षेत्रीय असमानता की समस्या का विवेचन प्रस्तुत है जिसमे क्षेत्रीय असमानताओ के सूचकों, कारणो एवं इसे दूर करने के प्रयासों पर प्रकाश डाला जाएगा।

क्षेत्रीय असमानताओं के संकेतक (Indications of Regional Disparity)— सामाजिक वैज्ञानिकों के भारतीय क्षेत्रीय असमानताओं के अध्ययन के लिए निम्न छः संकेतक निर्धारित किए हैं—

1. प्रति व्यक्ति आय, निर्धनता एवं बेरोजगारी, संकेतक।
2. कृषि संकेतक।
3. औद्योगिक संकेतक।
4. आधार-ढाँचा संकेतक।
5. सामाजिक सेवाओं एवं प्रगति सम्बन्धी संकेतक
6. राज्यवार वित्तीय साधन आवंटन सम्बन्धी संकेतक।

इन प्रमुख छः संकेतकों के आधार पर भारत के राज्यों को असमानताओं का विवेचन प्रस्तुत है—

1. प्रति व्यक्ति आय, निर्धनता एवं बेरोजगारी तथा क्षेत्रीय असमानताएँ (Per Head Income, Poverty and Unemployment and Regional Disparities)— भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय के अनुसार क्षेत्रवार राज्यों में बहुत अधिक असमानताएँ हैं। भारत की प्रति व्यक्ति औसत आय के अनुसार पंजाब, महाराष्ट्र, हरियाणा, गुजरात एवं तमिलनाडु के प्रति व्यक्ति आय अधिक है।

निर्धनता के आधार पर भारत में अन्तर्राज्यीय असमानताएँ निम्न हैं—1983 में उड़ीसा, बिहार, पश्चिमी बंगाल एवं तमिलनाडु मे 50 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या गरीबी रेखा से नीचे थी। 1999-2000 में 20 राज्यो तथा संघ राज्य क्षेत्रो का निर्धनता अनुपात राष्ट्रीय औसत से कम है। उड़ीसा तथा बिहार क्रमशः 47 एवं 43 प्रतिशत के निर्धनता अनुपात के साथ आज भी ये दोनों निर्धनतम राज्य बने हुए हैं।

राज्यों में बेरोजगारी प्रतिदृश्य स्पष्ट करता है कि इनमें कितनी असमानताएँ हैं? सबसे अधिक बेरोजगारी केरल में 1999-2000 मे 20.97 प्रतिशत देखी गई। पश्चिमी बंगाल और तमिलनाडु में क्रमशः 14.99 प्रतिशत और 11 78 प्रतिशत पाई गई है। आन्ध्रप्रदेश और असम मे 8.03 प्रतिशत बेरोजगारी की दर रही। सबसे कम हिमालय प्रदेश, गुजरात, हरियाणा, मध्य प्रदेश राजस्थान और उत्तर प्रदेश में 5 से कम रही।

देश में बालश्रम की असमानताओं के आधार पर आन्ध्रप्रदेश में बाल श्रमिकों की संख्या सर्वाधिक है। यहाँ पर 1991 की जनगणनानुसार 1 मिलियन से अधिक बालश्रमिक हैं। इतनी ही बालश्रमिकों की संख्या वाले राज्य मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र तथा उत्तरप्रदेश हैं।

2. कृषि संकेतक एवं क्षेत्रीय असमानताएँ (Agriculture Index and Regional Disparities)—2.1. खाद्य उत्पादन—1991-92 से 1994-95 की अवधि में भारतवर्ष में खाद्यान्नों के कुल उत्पादन का 20.7 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश में हुआ एवं केरल राज्य में मात्र 0.6 प्रतिशत ही हुआ। समस्त भारत मे खाद्यान्नों के उत्पादन का लगभग 60 प्रतिशत पैदावार 6 राज्यों—पंजाब, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश एवं बिहार को मिलाकर हुआ है। इन आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि देश में राज्यवार खाद्यान्नों के उत्पादन में बहुत असमानताएँ हैं।

2.2 उर्वरकों का उपयोग और असमानता—उर्वरकों के उपयोग के दृष्टिकोण से भी राज्यवार असमानताएँ निम्नानुसार हैं—देश में प्रति हैक्टेयर 1994-95 में उर्वरक उपयोग 75.7 किलो था। पंजाब मे प्रति हैक्टेयर उर्वरको का उपयोग सर्वाधिक 174.7 किलो पाया गया और आसाम मे न्यूनतम 9 5 किलो ही था। राष्ट्रीय औसत से अधिक उर्वरको का उपयोग करने वाले राज्य उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, तमिलनाडु, गुजरात, हरियाणा, आन्ध्रप्रदेश थे। औसत से सर्वाधिक कम उर्वरको का उपयोग राजस्थान और उड़ीसा में देखा गया।

2.3 सिंचित क्षेत्र और असमानता—1991-92 में समस्त भारत में सिंचित क्षेत्रफल—समस्त कृषित क्षेत्रफल का औसत 35 प्रतिशत था। सिंचित क्षेत्रफल के अनुसार विभिन्न राज्यों मे निम्न असमानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ पंजाब में सिंचित क्षेत्रफल औसत सर्वाधिक 94 6 प्रतिशत है वही केरल मे यह न्यूनत 12.8 प्रतिशत पाया गया। महाराष्ट्र, केरल, असम और हिमाचल प्रदेश राज्यो मे सिंचित क्षेत्रफल राज्यो मे सिंचित क्षेत्रफल के आँकडे स्पष्ट करते हैं कि सिचित क्षेत्रफल के आधार पर विभिन्न राज्यों के बीच काफी असमानताएँ विद्यमान हैं।

3. औद्योगिक संकेतक एवं क्षेत्रीय असमानताएँ—औद्योगिक सूचकांक के अन्तर्गत अर्थशास्त्री निम्नलिखित को सम्मिलित करते हैं—कर्मचारियों की संख्या, फैक्ट्रियो की संख्या, फैक्ट्री मे लगी पूँजी का परिमाण, उत्पादन का मूल्य व शुद्ध जोडा गया मूल्य।

1993-94 की फैक्ट्रियो मे कर्मचारियो की संख्या एव विनिर्माण द्वारा शुद्ध जोडे गये मूल्य के आधार पर विभिन्न राज्यो का सिहावलोकन करे तो 17 राज्यों मे क्रमशः 98 9 और 98.8 प्रतिशत देखा गया है ये राज्य हैं—आन्ध्रप्रदेश, असम, बिहार, हरियाणा, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, दिल्ली, कर्नाटक, केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बगाल। इनमे भी सर्वाधिक प्रतिशत महाराष्ट्र और तमिलनाडु मे हैं जिनमे 27.8 प्रतिशत कर्मचारियो तथा शुद्ध जोड़े गये मूल्य मे 35.6 प्रतिशत हिस्सा इनका है। इसी आलोच्य वर्ष 1993-94 मे न्यूनतम स्तर फैक्ट्री क्षेत्र मे राजस्थान, उड़ीसा, असम, केरल आदि का है।

4. आधार-ढांचे सम्बन्धी सूचकांक एवं क्षेत्रीय असमानताएँ (Index Related to Infrastructure and Regional Disparities)—क्षेत्रीय असमानताओं का अध्ययन आधार ढाँचे सम्बन्धी सूचकाको के अनुसार किया जा सकता है। समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री आधार ढाँचे सूचकाक के अन्तर्गत मुख्यतया—(1) प्रति व्यक्ति बिजली के उपयोग, (2) साक्षरता की दर, तथा (3) शिशु मृत्युदर को लेते हैं। इनके अतिरिक्त विस्तृत अध्ययन में रेलो व सड़को की लम्बाई, पाठशालाओ, अस्पतालों एवं बैंक की सुविधाओ को भी लिया जाता है। योजना आयोग ने राष्ट्रीय मानव विकास प्रतिवेदन के अन्तर्गत 1981, 1991 और 2001 के वर्षों के लिए देश के राज्यो तथा संघ राज्य क्षेत्रो के सम्बन्ध मे मानव विकास सूचकांक के मूल्य का अनुमान लगाया गया है। इस मानव विकास सूचकांक मे मानव विकास सम्बन्धी तीन आयामो—(1) आर्थिक, (2) शैक्षिक, और (3) स्वास्थ्य सम्बन्धी उपलब्धियों से जुड़े परिवर्तनों का सकलन किया है। देश भर के लिए समग्र रूप से मानव विकास सूचकांक स्तर 1981 के 0 302 से 2001 मे 0 404 पर आ गया है। (देखिए सारणी)

इस सारणी में 2001 में केरल का स्थान मानव विकास सूचकांक 0.638 के अनुसार सबसे ऊपर है। इसकी तुलना में 1981 में उड़ीसा का सूचकांक 1981, 1991 और 2001 में क्रमशः 0.267, 0 345; 0 424 अंकों के साथ सूची मे लगभग सबसे नीचे है। भारत के विभिन्न राज्यों की असमानताएँ 1981, 1991 और 2001 में क्या रही? इसे संलग्न तालिका मे देखा जा सकता है।

पिछले वर्षों की तुलना में 2001 में कुछ प्रगति के बाद बिहार का मानव विकास सूचकांक निम्नतम है।

पूर्वोत्तर राज्यो में मिजोरम का मानव विकास सूचकांक 1991 में सबसे अधिक (0.548) तथा अरुणाचल प्रदेश का सबसे निम्नतम (0 328) है। मानव विकास सूचकाक के सन्दर्भ में अच्छी स्थिति वाले राज्य 2001 मे पंजाब (0.537), तमिलनाडु (0 531) एव महाराष्ट्र (0 523) हैं। 1981 और 1991 के बीच ग्रामीण क्षेत्रों के लिए राष्ट्रीय सूचकांक 0 236 से बढ़कर 0.340 एवं इन्हीं वर्षों मे शहरी क्षेत्रों के लिए 0.442 से बढ़कर 0.511 हो गया है। राज्यवार ग्रामीण शहरी अन्तर मध्य प्रदेश का सर्वाधिक एवं केरल का न्यूनतम सूचकांक पाया गया।

तालिका-1

क्र. सं.	राज्य/संघ राज्य क्षेत्र	1981		1991		2001	
		मूल्य	रैंक	मूल्य	रैंक	मूल्य	रैंक
1	चण्डीगढ़	0.550	1	0 674	1	अ.न.	
2.	दिल्ली	0 495	3	0.624	2	अ.न.	
3	केरल	0.500	2	0.591	3	0.638	1
4.	गोवा	0.445	5	0.575	4	अ.न.	
5	अंडमान तथा निकोबार द्वीप समूह	0.394	11	0.575	5	अ न.	
6.	पांडिचेरी	0.386	12	0.571	6	अ.न.	
7.	मिजोरम	0 411	8	0 548	7	अ न	
8.	दमन तथा द्वीप	0 438	6	0.544	8	अ न	
9.	मणिपुर	0 461	4	0 536	9	अ न.	
10	लक्षद्वीप	0 434	7	0.532	10	अ.न	
11.	नागानैण्ड	0 328	20	0 486	11	अ न	
12.	पंजाब	0 411	9	0 475	12	0 537	2
13.	हिमाचल प्रदेश	0 398	10	0.469	13	अ न.	
14	तमिलनाडु	0.343	17	0 466	14	0 531	3

15.	महाराष्ट्र	0.363	13	0.452	15	0.523	4
16.	हरियाणा	0.360	15	0.443	16	0.509	5
17	गुजरात	0.360	14	0.431	17	0.479	6
18	सिक्किम	0.342	18	0.425	18	n e.	
19	कर्नाटक	0.346	16	0.412	19	0.478	7
20	पश्चिम बंगाल	0.305	22	0.404	20	0.472	8
21.	जम्मू और कश्मीर	0.337	19	0.402	21	अ.न.	
22	त्रिपुरा	0.287	24	0.389	22	अ.न.	
23	आन्ध्र प्रदेश	0.298	23	0.377	23	0.416	10
24.	मेघालय	0.317	21	0.365	24	अ.न.	
25.	दादरा तथा नागर हवेली	0.276	25	0.361	25	अ.न.	
26	असम	0.272	26	0.348	26	0.386	14
27	राजस्थान	0.256	28	0.347	27	0.424	9
28	उड़ीसा	0.267	27	0.345	28	0.404	11
29	अरुणाचल प्रदेश	0.242	31	0.328	29	अ.न.	
30	मध्य प्रदेश	0.245	30	0.328	30	0.394	12
31	उत्तर प्रदेश	0.255	29	0.328	31	0.388	13
32	बिहार	0.237	32	0.314	32	0.367	15
	अखिल भारतीय	0.302		0.381		0.472	

नोट : अ.न. : अनुमान नहीं।

स्रोत : मानव विकास रिपोर्ट 2001, योजना आयोग।

क्षेत्रीय असमानताओं के कारण (Causes of Regional Disparity)—भारत में क्षेत्रीय असमानताओं के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1 प्राकृतिक साधनों में अन्तर

2 आर्थिक साधनों में अन्तर

3. सामाजिक पिछड़ापन

4 विनियोग की मात्रा में अन्तर

5 योजनाओं की प्रगति में अन्तर

6 जनता के दृष्टिकोण एवं सहयोग में अन्तर।

1. प्राकृतिक साधनों में अन्तर (Difference in Natural Resources)—क्षेत्रीय असमानताओं का प्रमुख कारण प्राकृतिक संसाधनों में अन्तर का होना है। किसी प्रदेश को

जलवायु, वर्षा, भूमि की उर्वरता, वन सम्पदा, खनिज पदार्थ, नदियाँ आदि दूसरे प्रदेश से भिन्न तथा अनुकूल या प्रतिकूल होती हैं। जिन राज्यों जैसे पंजाब की स्थिति अनुकूल है वहाँ पर पैदावार अच्छी होती है तथा राजस्थान की प्रतिकूल स्थिति होने के कारण वहाँ की पैदावार खराब है।

2. आर्थिक साधनों में अन्तर (Difference in Economic Resources)—पंजाब मे पैदावार अच्छी होती है। वहाँ की आर्थिक स्थिति उत्तम है। राजस्थान में पैदावार वर्षा की अनिश्चित और अनियमितता के कारण अच्छी नहीं हो पाती है। इसलिए यहाँ की आर्थिक स्थिति अकाल और सूखे की रहती है। बचत का बड़ा भाग राहत कार्य में खर्च हो जाता है। क्षेत्रीय असमानता का आर्थिक कारण भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

3. सामाजिक पिछड़ापन (Social Backwardness)—भारत के विभिन्न राज्यों में असमानता का एक कारण सामाजिक पिछड़ापन भी है। कुछ ऐसे राज्य भी हैं जो आर्थिकदृष्टि से विकसित हैं परन्तु सामाजिक दृष्टि से पिछड़े प्रदेश की गिनती मे आते हैं। गुजरात औद्योगिकदृष्टि से उत्तम राज्य है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। केरल राज्य शिक्षा, स्वास्थ्य आदि मे काफी विकसित है परन्तु निर्धनता और बेरोजगारी की दृष्टि से काफी पिछड़ा हुआ है। भारत के विभिन्न राज्य सामाजिक दृष्टि से विकसित, अर्द्धविकसित और विकसित स्तर से असमान हैं।

4. विनियोग की मात्रा में अन्तर (Difference in the Quantity of Investment)—क्षेत्र के विकास पर विनियोग की मात्रा का सीधा प्रभाव पड़ता है। देश के बन्दरगाह वाले प्रदेशों, निर्यात करने वाली फसलो की पैदावार करने वाले राज्यों, सैनिक दृष्टि से महत्त्व रखने वाले क्षेत्रीय राज्यो में प्रारम्भ से ही भारी मात्रा मे विनियोग किए गए हैं। उससे उनका विकास हुआ तथा इन विशेषताओ से वचित जिले राज्यो में विनियोग नहीं किया गया वो पिछड़ गया। इससे भी राज्यो मे असमानताओ में वृद्धि हुई है। अधिक विनियोग तथा न्यून विनियोग के कारण श्रम एवं पूँजी में अन्तर आया।

5. योजनाओं की प्रगति में अन्तर (Difference in the Progress of Planning)—पंचवर्षीय योजनाएँ सभी राज्यो मे चलाई जा रही हैं परन्तु उनके परिणामो में भारी अन्तर देखा जा सकता है। प्रगति एकसी नहीं है। इसका कारण राजनैतिक और प्रशासनिक अन्तर का होना है। कुछ राज्यो ने अधिक उत्साह और जागरूकता के कारण अच्छा विकास किया है तथा कुछ पिछड गए? गुजरात और महाराष्ट्र से अपनी प्रभावशाली औद्योगिक नीतियों के फलस्वरूप तेजी से विकास किया तथा जो राज्य ऐसा नहीं कर पाए वो पिछड गए। जिन राज्यों का राजनैतिक और प्रशासनिक ढाँचा सशक्त था वो प्रगति कर गए तथा जिनका ढाँचा कमजोर था वो विकास की प्रक्रिया में पीछे रह गए। उनका सामाजिक और आर्थिक विकास धीमे रहा।

6. जनता के दृष्टिकोण एवं सहयोग में अन्तर (Difference in the Views and Cooperation of the Public)—क्षेत्र के विकास में वहाँ के निवासियों के विचार, दृष्टिकोण, परम्पराएँ, सहयोग, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि का प्रभाव भी पड़ता है। जिन राज्यो मे प्रगतिशील जनता होती है वो अन्य परिस्थितियाँ समान होने पर भी विकास कर

लेती हैं। जापान के पास प्राकृतिक संसाधन नहीं होने पर भी उसने विश्व मे अपना स्थान बना लिया है। उसका कारण वहाँ के उद्यमी नागरिक है। क्षेत्रीय असमानता में जनता के गुण एवं सहयोग भी उतने ही उत्तरदायी होते है जितने अन्य कारण। ये एक ऐसा कारण है जिसे सरलता से दूर नहीं किया जा सकता।

विकास : उत्प्रेरित विस्थापन (Development Induced Displacement)—हमारे देश मे विकास के दृष्टिकोण से क्षेत्रीय असमानताएँ हैं। इन क्षेत्रीय असमानताओ को दूर या कम करने के लिए अल्प विकसित क्षेत्रो का विशेष ध्यान रखकर उनका योजनाबद्ध विकास करना अत्यावश्यक है। अविकसित क्षेत्र के लोगो को विकास के प्रति जागरूक करना, उन्हे अपना विकास करने के लिए प्रेरणा देना, विकास योजनाओ मे सक्रिय भाग लेने के लिए तैयार करना या जोर देना आदि उत्प्रेरित विस्थापन कहलाता है। विस्थापन से तात्पर्य है उनको नवीन उत्पादन के साधन प्रदान करना। कम निपुण उपकरणों के स्थान पर अधिक उत्पादन वाले उपकरण देना। सरकार ने तृतीय पचवर्षीय योजना से अब तक क्षेत्रीय असमानता को दूर करने के लिए निम्न प्रयास किए हैं, जो उत्प्रेरित विस्थापन कहलाते हैं—

1 आधार ढाँचे के विकास को महत्त्व देना,
2 पिछडे क्षेत्रों के लिए विशेष विकास कार्यक्रम चलाना,
3 पिछड़े क्षेत्रो के विकास के लिए प्रेरणाएँ प्रदान करना, और
4 पिछड़ेपन के आधार को मान्यता।

1. आधार ढाँचे के विकास को महत्त्व देना (Importance to the Development of Infrastructure)—क्षेत्रीय असमानताओं के अन्तर को समाप्त करने के लिए सरकार ने सिचाई, परिवहन, सचार और बिजली जैसे साधनो के विकास को प्राथमिकता पर रखा है। आधार ढाँचे को पर्याप्त सुविधाएँ देने के लिए सरकार ने विगत वर्षो मे औद्योगिक विकास केन्द्रो की स्थापना पर जोर दिया है। इन औद्योगिक केन्द्रो से पानी, बिजली, सडक, सचार, शिक्षा, चिकित्सा आदि सुविधाओ के विकास के आधार को मजबूत करने के लिए सुदृढता प्रदान की गई है। पिछड़े क्षेत्रों को विकसित करने और मुख्यधारा से जोडने के लिए आधारभूत ढाँचे के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है।

2. पिछड़े क्षेत्रों के लिए विशेष विकास कार्यक्रम (Special Development Programme for Backward Areas)—सरकार ने देश के पिछड़े क्षेत्रो के विकास के लिए विशेष प्रकार के कार्यक्रम क्रियान्वित किए गये हैं। ये कार्यक्रम हैं—सूखा-सम्भाव्य क्षेत्र कार्यक्रम, मरु-विकास कार्यक्रम, पहाडी क्षेत्र विकास कार्यक्रम, जनजाति क्षेत्र विकास कार्यक्रम। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम को ग्रामीण क्षेत्रों मे पेयजल, शिक्षा, सड़क स्वास्थ्य, स्वच्छता आदि को न्यूनतम सुविधाएँ उपलब्ध कराने के उद्देश्य से प्रारम्भ किये गये हैं।

3. पिछड़े क्षेत्रो के विकास के लिए प्रेरणाएँ प्रदान करना (Incentives for the Development of Backward Areas)—पिछड़े राज्यो मे विकास को करने के लिए सरकार ने 1968 मे दो दल—पांडे कार्यकारी समिति और वाँचू कार्यकारी समिति नियुक्त की थी। पाडे समिति ने इन क्षेत्रों को निर्धारण और चयन विकास के लिए निम्न सुझाव दिए। जिन क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति आय, फैक्ट्रियो मे श्रमिको की सख्या, प्रति व्यक्ति बिजली की खपत,

सड़के एवं रेलों की लम्बाई आदि सूचकांक की कमी हो उन्हे पिछडे क्षेत्र माना जाए। वाँचू कार्यकारी समिति ने सुझाव दिए कि पिछड़े क्षेत्रो मे उद्योगो को प्रोत्साहित करने के लिए आयकर, आयात-शुल्क, उत्पादन-शुल्क एव बिक्री करो मे छूट दी जाए तथा परिवहन, सब्सिडी भी दी जाए। सरकार ने इन सुझावो के आधार पर 1970 और 1980 के दशको मे पिछड़े क्षेत्रो में औद्योगिक विकास के लिए केन्द्रीय पूँजीगत विनियोग सब्सिडी की योजना लागू की। सरकार ने सब्सिडी तथा विकास योजना को कार्यान्वित करने के लिए जिलों को विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया और उसी के अनुसार सब्सिडी की विभिन्न दरें—10 प्रतिशत, 15 प्रतिशत और 25 प्रतिशत लागू की गई। राज्य सरकारो द्वारा भी उद्योगो को लगाने व प्रोत्साहित करने के लिए पिछड़े क्षेत्रो मे उद्योगो को लगाने के लिए कम ब्याज पर ऋण सुविधाएँ भी दी गई। सरकार ने पिछड़े क्षेत्रों में औद्योगिक इकाइयाँ जैसे मध्य प्रदेश मे भिलाई का इस्पात का कारखाना जैसी सार्वजिक क्षेत्र मे इकाइयाँ स्थापित करने की नीति भी लागू की। परन्तु इन सब योजनाओं और कार्यनीतियों का प्रभाव सीमित ही देखने में आया। पिछड़े क्षेत्रों ने इन योजनाओ और सब्सिडी का लाभ नही उठाया तथा इन क्षेत्रो में उल्लेखनीय विकास नहीं हो पाया।

4. पिछड़ेपन के आधार को मान्यता (Recognition to the Basis of Backwardness)—क्षेत्रीय असमानता को समाप्त करने के लिए सरकार ने इन क्षेत्रो के विकास पर ध्यान दिया। विकास करने से पूर्व पिछड़ेपन की अवधारणा को भी परिभाषित किया। सरकार ने पिछड़ेपन को दूर करने की नीति को स्वीकार किया। केन्द्रीय सरकार ने वित्त आयोग एवं योजना आयोग के द्वारा किए जाने वाले विकास कार्यों एवं स्वीकृतियों में पिछड़े क्षेत्रों का ध्यान रखने की नीति अपनाई। वित्तीय हस्तान्तरणों मे पिछड़ेपन के आधार को उचित भार देने एवं विशेष विकास करने की नीति अपनाई। इस नीति के अन्तर्गत यह प्रयास किया जाने लगा कि पिछड़े राज्यो को विकास के लिए उत्प्रेरित या प्रोत्साहित किया जाए। इसके लिए सरकार ने 'पिछड़ेपन' के आधार को मान्यता प्रदान की। इस मान्यता का उद्देश्य पिछडे क्षेत्रों के विकास के लिए उन्हे प्रोत्साहित करने का विशेष ध्यान रखा जाना था। उन्हें विकास कार्यों के लिए प्रवृत्त किया जाए। परम्परागत उत्पादन के साधनो के स्थान पर नवीन प्रौद्योगिकी को अपनाने के लिए तैयार किया जाए।

पिछड़े क्षेत्रो के विकास के लिए सरकार ने उन्हे प्रोत्साहित करने एव विस्थापन करने के लिए अनेक कार्य किए गए। केन्द्र एवं राज्य सरकारें विभिन्न योजनाओ के लिए जो वित्तीय साधनों का आवंटन करती है उसमे सामान्यतया प्रदेश की जनसख्या एव प्रति व्यक्ति आय को ध्यान में रखा जाता है। पिछडेपन को विकास के लिए प्रोत्साहित करने के लिए हमेशा प्राथमिकता एव महत्त्व दिया जाता है।

अर्थशास्त्री राजकृष्ण ने राज्यो को विकास के लिए वित्तीय सहायता मे निर्धन व्यक्तियो पर ध्यान देने पर बल दिया था, लेकिन निर्धनता की परिभाषा पर मतभेद होने, निर्धनता को केलोरी के आधार पर परिभाषित करने एवं निर्धनता की माप मे कठिनाइयो के कारण 'पिछडेपन के आधार' को निर्धारित करने मे इसे मान्यता नहीं दी जाती है।

दिसम्बर 1989 मे नवे वित्त आयोग ने पिछड़ेपन का एक मिलाजुला सूचकांक निर्मित किया। इस मिश्रित या मिले-जुले सूचकांक का निर्माण राज्य की 1981 की जनसंख्या में

अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति की जनसंख्या तथा खेतिहर मजदूरों की जनसंख्या को आधार मानकर सापेक्ष भार का निश्चित किया गया। इस वित्त आयोग की विधि के अनुसार केन्द्र द्वारा राज्यों में कुछ सीमा तक भार देने की व्यवस्था की गई। इस भार के निर्धारण मे आयकर और सघीय उत्पादन-शुल्क का वितरण किया गया।

पिछडे क्षेत्र या राज्यो का विकास करने, क्षेत्रीय असमानता को कम करने तथा विकास के लिए इन पिछड़े क्षेत्रों को प्रोत्साहित करने के लिए केन्द्र ने राज्यों के पिछड़ेपन को ध्यान मे रखकर वित्तीय हस्तान्तरण करने का प्रयास किया है। लेकिन पिछड़ेपन का आधार अनुसूचित जनजाति तथा खेतिहर मजदूर हैं इसलिए जिन विकसित राज्यो या क्षेत्रो मे इसकी जनसख्या अधिक होती है उन्होने भी वित्तीय सहायता प्राप्त की है इससे पिछड़े राज्यों को उचित लाभ नहीं मिल पा रहा है।

पिछड़े राज्यों को विकास के लिए उचित सहायता मिल पाए, इसके लिए केन्द्र सरकार ने राज्यों को दो वर्गो मे बाँटा है—(1) विशिष्ट श्रेणी के राज्य और (2) गैर-विशिष्ट श्रेणी के राज्य। केन्द्र सरकार विशिष्ट श्रेणी मे पिछड़े राज्यों को रखती है तथा उन्हे विकास योजना सम्बन्धी सहायता 90 प्रतिशत अनुदान तथा 10 प्रतिशत कर्ज के रूप मे देती है। गैर-विशिष्ट श्रेणी मे विकिसत राज्यो को रखती है तथा उन्हे विकास सम्बन्धी सहायता 30 प्रतिशत अनुदान तथा 70 प्रतिशत कर्ज के रूप मे प्रदान करती है। पिछड़े राज्यों के विकास के लिए 90 प्रतिशत अनुदान देना तथा 10 प्रतिशत कर्ज देना। एक प्रकार से केन्द्रीय सरकार की ओर से प्रभावशाली विस्थापन का उदाहरण है।

पिछडे राज्यो के विकास के लिए अनेक प्रयास किये गए हैं। केन्द्र सरकार ने अनेक योजनाओ के द्वारा पिछडे राज्यो को अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया है तथा विस्थापन के लिए अनेक सुविधाएँ भी प्रदान की हैं। विस्थापन के अन्तर्गत पिछडे क्षेत्रो को खेती करने के नए साधन, अधिक पैदावार के बीज, रसायनिक उर्वरक, सिचाई के नवीन विकल्प प्रदान किये है। केन्द्र सरकार ने अनेक प्रेरणादायक योजनाएँ समय-समय पर चलाई हैं।

1999-2000 तक तमिलनाडु तथा पश्चिमी बगाल मे निर्धनता 1983 की तुलना में आधी हो गई है जो कि विकास योजनाओ का परिणाम है। इन्ही के साथ-साथ अन्य राज्यो—जम्मू कश्मीर, हरियाणा, गुजरात, पंजाब, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक मे भी विशेष विकास की योजनाओ के फलस्वरूप निर्धनता के स्तर काफी कम करने में सफलता मिली है।

10वी योजना (2000-07) तक और उसके बाद के लिए मुख्य सकेतकों के रूप मे कुछ विशिष्ट लक्ष्यो को रखा गया है। इसमे से एक लक्ष्य 2007 तक निर्धनता अनुपात को 5 प्रतिशत तक एव 2012 तक 12 प्रतिशत तक कम करना है।

बेरोजगारी की असमानताओ को दूर करने के लिए केन्द्र एवं राज्य सरकार द्वारा अनेक प्रयास किए गए जिसके परिणामस्वरूप कुछ राज्यों की स्थिति मे सुधार पाया गया जो निम्नानुसार है—हरियाणा मे 1993-94 मे बेरोजगारी की दर 6 15 प्रतिशत से घटकर

1999-2000 मे 4 77 प्रतिशत हो गई। गुजरात में इन्हीं वर्षों में दर 5.70 से घटक 4.55 प्रतिशत हो गई।

2002 की स्थिति के अनुसार रोजगार चाहने वालों की सर्वाधिक संख्या पश्चिमी बंगाल में 63 6 लाख थी जबकि इनकी न्यूनतम संख्या संघ राज्य दादर तथा नागर हवेली में 0 06 लाख तथा अरुणाचल प्रदेश में 0 2 लाख थी। अखिल भारतीय स्तर पर 2001 के दौरान रोजगार कार्यालयो द्वारा 1 69 लाख व्यक्तियो का नियोजन किया गया जबकि इस अवधि में 3.04 लाख रिक्तियाँ अधिसूचित की गई थी।

भारत सरकार ने बाल श्रमिकों की समस्या के समाधान के लिए 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों की नियुक्ति पर रोक लगाने का सुझाव दिया तथा बच्चो के काम करने सम्बन्धी स्थितियो को विनियमित करने के लिए कहा। अधिक बाल श्रमिकों का उपयोग करने वाले 13 राज्यो मे इस समय लगभग 100 'राष्ट्रीय बाल श्रमिक परियोजनाएँ' चल रही हैं जिनमें 2.11 लाख बच्चे शामिल हैं।

केन्द्रीय एवं राज्य सरकारो द्वारा विकास और उत्प्रेरित विस्थापन के लिए किए गए 1981 से 2001 तक के कार्यों का आकलन योजना आयोग द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय मानव विकास प्रतिवेदन (सारणी-देखिए) के अनुसार निम्न है—इस प्रतिवेदन के आधार पर 2001 में केरल का स्थान सर्वोत्तम है और उड़ीसा का निम्नतम है। पूर्वोत्तर राज्यो में 1991 में मिजोरम का स्थान उच्चतम है और अरुणाचल प्रदेश का निम्नतम है। 2001 मे मानव विकास सूचकांक के संदर्भ मे अच्छा प्रदर्शन करने वाले राज्य—पंजाब, तमिलनाडु और महाराष्ट्र हैं। 1981 और 1991 के बीच ग्रामीण क्षेत्रो के लिए राष्ट्रीय सूचकांक0 263 से बढ़कर 0 30 हो गया है। शहरी क्षेत्र के सूचकाक 0 442 से वृद्धि होकर 0 511 हो गया है।

निर्धनता मे गिरावट की दरो तथा ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो के बीच के निर्धनता अनुपात में व्यापक अन्तर्राज्यीय असमाननताओ को देखा जा सकता है। मुख्य राज्यों के अन्तर्गत उड़ीसा, बिहार, पश्चिम बंगाल एवं तमिलनाडु मे 1983 में 50 प्रतिशत से अधिक जनसख्या गरीबी रेखा से नीचे थी। 1999-2000 तक जहाँ तमिलनाडु तथा पश्चिम बंगाल ने अपने निर्धनता अनुपात को कम करके लगभग आधा कर लिया था, वहीं उड़ीसा 47 प्रतिशत और बिहार 43 प्रतिशत के निर्धनता अनुपात के साथ अभी भी दो निर्धनतम राज्य बने हुए हैं। 1999-2000 में 20 राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रो का निर्धनता अनुपात राष्ट्रीय औसत से कम था। अन्य राज्यों मे जम्मू तथा कश्मीर, हरियाणा, गुजरात, पजाब, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र एवं कर्नाटक भी निर्धनता के प्रतिशत को काफी कम करने मे सफल रहे हैं। योजनाओ के द्वारा 2007 तक निर्धनता अनुपात को 5 प्रतिशत तक तथा 2012 तक 15 प्रतिशतांक तक कम करने का लक्ष्य है।

सरकार ने बाल श्रमिको के उत्थान के लिए प्रभावशाली कार्य किये है। सरकार की यह नीति है कि कारखानो, खानो एवं जोखिम भरे रोजगार में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चे की नियुक्ति पर रोक लगाई जाए तथा रोजगार के अन्य क्षेत्रो मे बच्चो के काम करने सम्बन्धी स्थितियों को विनियमित किया जाए। अधिक बाल श्रमिको का प्रयोग करने वाले 13 राज्यों मे इस समय लगभग 100 राष्ट्रीय बाल श्रमिक परियोजनाएँ चल रही हैं जिनमे 2 11 लाख बच्चे शामिल है।

जन्मदर को नियंत्रित करने के लिए सरकार ने प्रयास किये हैं। केरल और तमिलनाडु राज्यों मे जनन-क्षमता के प्रतिस्थापन स्तर 2 1 की कुल प्रजनन-दर हासिल कर ली है। इसकी तुलना मे आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब और पश्चिमी बगाल की कुल प्रजनन दर 2 2 से 3 0 के बीच है। 1999 के अनुसार कुछ राज्य, जैसे—असम, मध्यप्रदेश और हरियाणा की कुल प्रजनन-दर 3 1 से 4 0 के बीच हे। राजस्थान, उत्तरप्रदेश और बिहार ने 4 1 से 4 7 तक की कुल प्रजनन-दर दर्ज की है। जनसंख्या जन्मदर और मृत्युदर राज्यों के विकास और असमानता का महत्त्वपूर्ण सकेतक हैं। सरकार ऐसे राज्यो की सहायता करता है, जहाँ सामाजिक और जनसांख्यिकीय सकेतक कमजोर हे। इनमे प्रथमतः बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा, झारखण्ड, उत्तराचल और छत्तीसगढ़ जैसे राज्यो को प्राथमिकता के आधार पर विशेष विकास किए जाने के लिए चयनित किया गया है। ये कदम विभिन्न राज्यो की क्षेत्रीय असमानताओं को समाप्त करने की दिशा मे योजनाबद्ध प्रयास हैं।

उपर्युक्त केन्द्र एव राज्य सरकारो के प्रयास विकास एवं उत्प्रेरित विस्थापन की दिशा मे योजनाबद्ध कदम हैं। इन प्रयासो के द्वारा विभिन्न राज्यो के बीच क्षेत्रीय असमानताओ को दूर करने के लिए प्रमुख सकेतको—प्रति व्यक्ति आय, निर्धनता की समाप्ति, सभी को रोजगार, कृषि के क्षेत्र मे खाद्य-उत्पादन की समानता, उर्वरको का अधिकतम उपयोग, सिंचित क्षेत्र मे समानता के अतिरिक्त प्रति व्यक्ति बिजली के उपयोग एवं साक्षरता में वृद्धि, शिशु मृत्यु दर नियत्रण, सभी राज्यो मे समान रूप से रेलो व सड़को का निर्माण, पाठशालाओ, अस्पतालों एव बैको की समान रूप से सुविधाएँ प्रदान करना है। मानव विकास सूचकाक के अनुसार भारत के सभी राज्य एवं सघ राज्यो का उच्च एवं समान स्तर लाना है।



अध्याय-13

पारिस्थितिकी अवनति

(Ecological Degradation)

भारतीय वाङ्मय मे पर्यावरण शिक्षा पर अत्यधिक ध्यान दिया गया है। वैदिक युग में पशु, पक्षियों, पौधों, मानव एवं प्रकृति की पारस्परिक निर्भरता के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। पृथ्वी को सुख-समृद्धि तथा विकास का स्रोत माना गया है परंतु वर्तमान समय में पर्यावरण-प्रदूषण सम्पूर्ण विश्व की एक गम्भीर समस्या बन चुकी है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक संगोष्ठियाँ व कार्यशालाएँ आदि पर्यावरण असंतुलन एवं परिस्थितिकी तत्र की अस्थिरता के संबंध मे विचार-विमर्श के लिए आयोजित की गई है जिनके आधार पर पर्यावरण नीतियाँ व पर्यावरण कानून भी बनाए गए है। पर्यावरण की समस्याओ के लिए पृथ्वी सम्मेलन आयोजित किया जा चुका है। पर्यावरण प्रदूषण का परिणाम पारिस्थितिकी असंतुलन है जिसके परिणामस्वरूप आज व्यक्ति को न पीने योग्य पानी उपलब्ध है और न श्वास लेने योग्य प्राकृतिक वायु मिल पाती है। पारिस्थतिकी असंतुलन क्या है ? इसे सतुलित करने में कौन-कौन से कारक महत्त्वपूर्ण हैं आदि का विस्तार से विचार करना आवश्यक है। सर्वप्रथम परिस्थितिकी तंत्र पर विचार करना आवश्यक है।

पारिस्थितिकी का अर्थ (Meaning of Ecology)—पारिस्थितिकी शब्द अंग्रेजी के (Ecology) का हिन्दी रूपान्तर है। Ecology शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है (1) इको (Eco) जिसका अर्थ है—पर्यावरण और (2) लोजी (Logy) जिसका अर्थ है—विज्ञान अर्थात् इकोलॉजी का अर्थ 'पर्यावरण का विज्ञान' है।

पर्यावरण के अध्याय मे परिस्थिति-विज्ञान का विशेष महत्त्व है क्योंकि पर्यावरण का सही ज्ञान परिस्थिति-विज्ञान बिना संभव नहीं है। इस रूप मे देखें तो परिस्थितिकी एक नवीन विज्ञान है जो प्राणियों एवं वातावरण के संबध एवं उनकी पारस्परिक निर्भरता को स्पष्ट करते हैं। अनेक विद्वानों ने 'पारिस्थितिकी' को इस प्रकार परिभाषित किया है।

1. मैकफैडियन के अनुसार, "परिस्थितिकी एक विज्ञान है, जिसका सबध प्राणियो, पौधो, पशुओ तथा उनके पर्यावरण के आतरिक सबधो से होता है।

2. एल. आर. टेलर्स 1967 के अनुसार, "पारिस्थितिकी अध्ययन का एक ढंग है, जिसमे व्यक्ति, प्राणी, कुछ जीवो की जनसख्या एवं समुदाय परिवर्तन के साथ प्रतिक्रिया करते हैं।

3. साउथ विडे 1966 के अनुसार, "परिस्थितिकी एक वैज्ञानिक अध्ययन है, जो जीव प्राणियो के पारस्परिक संबध तथा उनके अपने वातावरण के साथ सम्बन्धों का अध्ययन करता है।"

4. पिनालिया (1973) के अनुसार "पारिस्थितिकी के अंतर्गत प्राणियों तथा सम्पूर्ण जैविक तथा भौतिक कारकों, प्रभाव या उनको प्रभावित करने वाले कारकों के सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है।"

पारिस्थितिकी की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—

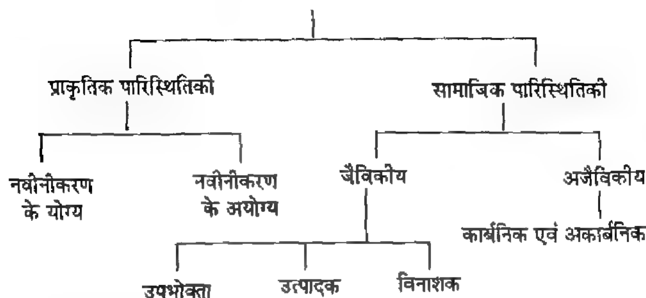
1. पारिस्थितिकी प्राणियो और उनके वातावरण के सम्बन्धो के विश्लेषण का अध्ययन करता है।

2 पारिस्थितिकी विज्ञान मे प्राणियों तथा उनके वातावरण के आन्तरिक सम्बन्धो, प्राणियो के आन्तरिक सम्बन्धो तथा जीवों के मध्य आन्तरिक संबंधो का अध्ययन किया जाता है।

3 पारिस्थितिकी के अंतर्गत विशाल प्रकृति के स्वरूप तथा कार्यों का ज्ञान प्रदान किया जाता है।

इस प्रकार पारिस्थितिकी का उद्देश्य जीवधारियों और उनके वातावरण से संबंध का अध्ययन करना, विशाल प्रकृति के स्वरूप तथा कार्यों का सही बोध करना, सभी प्राणियो और उनके सभी वातावरणो के सम्बन्धों की व्यापक जानकारी देना एवं प्राकृतिक स्रोतो तथा पर्यावरण प्रदूषण की व्यवस्था तथा सरक्षण का अध्ययन करना है। पारिस्थतिकी एक जटिल प्रक्रिया है। इसमे पृथ्वी पर पाए जाने वाले समस्त प्राणियों व वनस्पति की अपने पर्यावरण से अपनी विभिन्न क्रियाओं के संदर्भ मे संबंधों का अध्ययन किया जाता है। पर्यावरण में स्थित समस्त जैवीय (Biotic) एवं अजैविकीय (Abiotic) घटको के मध्य और उनके वातावरण के मध्य अन्तःक्रिया होती है जिसे 'पारिस्थितिकीय-तंत्र' कहा जाता है। हमारी भारतीय प्रज्ञा के प्रथम उन्मेष वेदो में पारिस्थितिकीय सतुलन को अतिमहत्त्वपूर्ण बताया है। वैदिक जन विभिन्न जैविक आवश्यकताओ की पूर्ति पर्यावरणीय तत्वों के प्रति कृतज्ञता का भाव रखकर करते थे। विश्व मे सर्वत्र जड चेतन पदार्थों मे ईश्वर को व्यापक मानकर, लालच न करके त्यागपूर्ण जगत के पदार्थो का उपभोग "*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा*" के आधार पर करते थे। त्याग पूर्वक भोग के उद्देश्य से देवताओ के लिए हव्य विशेष का समर्पण और हव्य विशेष के समर्पण द्वारा प्राकृतिक तत्वो के संदोहन से क्षरित गुणकता की क्षतिपूर्ति करके—प्राकृतिक संतुलन को अनवरत बनाए रखने का प्रयास निरन्तर चक्रवत् चलता रहता था और 'पारिस्थितिकी असंतुलन' जैसी समस्या जन्म नहीं लेती थी। पारिस्थितिकी संतुलन के मूल मे जीव वनस्पति आदि के सहअस्तित्व का भाव है जो सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय मे अनुस्यूत है। प्रकृति का दिव्य सतुलन इसी पर निर्भर है। अर्थात् प्रकृति का कार्य पारिस्थितिकी मे संतुलन बनाए रखना है। परिस्थितिकी मे संतुलन बने रहने से पर्यावरण मे भी सतुलन रहता है क्योंकि पारिस्थितिकी सतुलन के मूल में जीव, वनस्पति अर्थात् जैविकीय और अजैविकीय घटको और उनके पर्यावरण के मध्य अन्तःक्रिया बनी रहती है। इस रूप मे पारिस्थितिकी असतुलन और पर्यावरण-प्रदूषण दोनो एक-दूसरे के पर्याय हैं। पर्यावरण का अर्थ केवल

जल, वायु और भूमि ही नहीं, अपितु हमारे समस्त भौतिक और सामाजिक पर्यावरण हैं—इसे निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—



पर्यावरण दो प्रकार का है—

(1) भौतिक या प्राकृतिक पारिस्थितिकीय (Physical or Natural Ecology) इसके अंतर्गत उन सभी भौतिक अथवा प्राकृतिक तत्वों को लिया जा सकता है जो हमारे चारों ओर हैं और हमें प्रभावित करते हैं। ये दो प्रकार के हैं।

(अ) पुनः नवीनीकरण के योग्य (Renewable) वे तत्त्व जिन्हे उपयोग के पश्चात् पुनः प्राप्त किया जा सकता है—इस श्रेणी में आते हैं—इसमे (1) जल , (2) वायु (3) भूमि और (4) वन को लिया जा सकता है।

(ब) नवीनीकरण के अयोग्य (Non-Renewable) वे घटक जिनके बनने में अधिक समय लगता है और आसानी से पैदा नहीं किए जा सकते, इस श्रेणी के अतर्गत आते है। इसमें (1) खनिज (2) पर्वत एवं (3) पेट्रोल जैसे पदार्थ आते हैं।

(2) सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में छोटी-बड़ी अनेक इकाइयाँ होती हैं जो परस्पर सह-संबंधित होती है और व्यक्ति का भी इन इकाइयो से परस्पर संबंध होता है। इनके परस्पर सह संबंध से ही समान का पर्यावरण संतुलित रहता है—परिवार, विद्यालय, राज्य आदि इसके अंतर्गत आते हैं—इनको निम्न रूप से विभाजित किया जा सकता है—

(अ) **जैविकीय** (Biotic) ये पर्यावरण के सजीव तत्त्व है इनके तीन भाग हैं—(i) **उपभोक्ता** (Consumer)—इन तत्वो को अपने भोजन के लिए दूसरो पर निर्भर होना पड़ता है जैसे—मनुष्य, पशु, मछली आदि। (ii) **उत्पादक** (creater)—जो अपना भोजन स्वयं उत्पन्न करके अपना पोषण कर लेते हैं जैसे वन एवं अन्य पेड़-पौधे आदि। (iii) **विनाशक** (Destroyer)—वे तत्त्व जो वन एवं अन्य पेड़, पौधो, मनुष्यों और मृत शरीरों और सड़े, गले पदार्थों का उपयोग करते हैं। उनका विनाश करके उन्हें कार्बनिक और अकार्बनिक रूप मे पर्यावरण को वापिस कर देते हैं, इस श्रेणी में आते हैं।

(ब) अजैविकीय (Abiotic)—इसके अंतर्गत पर्यावरण के कार्बनिक और अकार्बनिक पदार्थ आते हैं। जैसे कार्बन-डाई-ऑक्साइड, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कैल्सियम, सल्फर फास्फोरस। ये हमें जल, वायु और भूमि से प्राप्त होते हैं।

पारिस्थितिकीय संतुलन इन सभी घटकों के परस्पर सह अस्तित्व पर निर्भर करता है। यदि इन घटकों मे परस्पर किसी भी प्रकार का व्यवधान आ जाता है तो वह पर्यावरण को असतुलित कर देता हे और इससे पारिस्थितिकी असंतुलन उत्पन्न हो जाता है। अब आगे के पृष्ठो मे पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले घटको पर विचार किया जाएगा जो पारिस्थितिकी असतुलन के लिए जिम्मेदार है इनमे वायु, जल, भूमि तथा ध्वनि प्रमुख हैं।

पारिस्थितिकी असंतुलन एवं इसके घटक (Ecological Embalance and its Components) पारिस्थितिकी असतुलन का कारण पर्यावरण प्रदूषण है अत: पर्यावरण को जानना आवश्यक है। पर्यावरण शब्द की व्युत्पत्ति—परि + आ + वृ + ल्युट् से हुई है। परित:, आवृणोति इति पर्यावरणम्—वह आवरण जो हमे आच्छादित करे या जीवन को प्रवाहित करे, पर्यावरण कहलाता है। पर्यावरण शब्द का प्रयोग जर्मन विद्वान एमर्स्ट हेकल ने 19वीं शताब्दी मे किया था। 'पर्यावरण' शब्द जर्मन के 'इकोलोजी' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। अनेक विद्वानो ने पर्यावरण को परिभाषित किया हैं कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. **वुडवर्थ** के शब्दो मे, "वे समस्त तत्त्व जो व्यक्ति के जीवन की शुरूआत को प्रभावित करते हैं, पर्यावरण का भाग है। जीन्स के अतिरिक्त मनुष्य को प्रभावित करने वाले सभी तत्त्व पर्यावरण कहलाते हैं।"

2. **डगलस** के शब्दों में, " वे सभी वाह्य तत्त्व जो व्यक्ति के विकास, वृद्धि, परिपक्वता, व्यवहार, स्वभाव एवं जीवन को प्रभावित करते हैं, पर्यावरण हैं।"

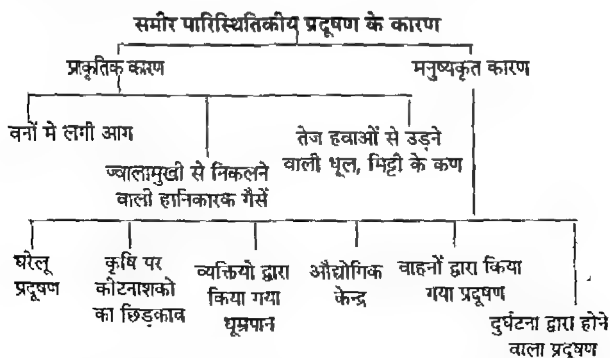
असंतुलन अथवा प्रदूषण—का अर्थ है उपयोग के अयोग्य होना। जो तत्त्व किसी वस्तु को दूषित करते हैं उन्हे प्रदूषक कहते हैं। यथा गंगाजल शुद्ध होता है किंतु उसमे अनेक प्रदूषण जैसे—कूडा-कचरा, गन्दा पानी मिल जाता है तो गंगाजल को दूषित बना देता है। उसी भाँति हमारे पर्यावरण मे भी अनेक प्रदूषण विद्यमान हैं जो उसके विभिन्न घटको को प्रभावित करते हैं। विश्व मे एक प्राकृतिक संतुलन होता है जिसके अंग मनुष्य, प्राणी, वनस्पति, धरती जल हैं। जब किसी भी अंग मे प्राकृतिक और अप्राकृतिक कारणों से परिवर्तन होता है तो असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

आज सम्पूर्ण विश्व इस पर्यावरणीय अथवा पारिस्थितिकीय असंतुलन से ग्रस्त है उसका कारण मानव की घोर भौतिकवादी प्रकृति, औद्योगीकरण, प्राकृतिक संसाधनों का क्रूरतम दोहन, उपभोक्तावादी संस्कृति है जिसमें प्रकृति को एक वस्तु मानकर उसका अधिकतम शोषण किया है। जबकि भारतीय दृष्टिकोण प्रकृति के न्यूनतम दोहन पर आधारित है। इस पर्यावरण के घटक पर्यावरण अथवा पारिस्थितिकी के मुख्य रूप से चार घटक हैं—जो निम्नलिखित हैं—

(1) समीर पारिस्थितिकी (Air Ecology)—वायु हमारे जीवन व स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभप्रद है। चिकित्सा विज्ञान तक आबोहवा-परिवर्तन को महत्त्व देता है क्योंकि मात्र वायु से असाध्य रोगों का निवारण हो जाता है। हमारे संस्कृत वाङ्मय ऋग्वेद में इसे मरुत देवता कहा और उसकी आराधना की गई है, "ओउम् वाते आवातु भेषजं शुभ भयो

यूंनो हृदे प्रण आर्यूंषि तारिषद्" अर्थात् वायु हमें औषध प्रदान करे जो हमारे हृदय में शांति कारक एवं आरोग्य कारक हो, और हमारी आयु को बढ़ावे। वैदिक वाङ्मय में पर्यावरण शुद्धि के लिए यज्ञ का विधान बताया है क्योंकि यज्ञ से निकला धुआँ समस्त ब्रह्माण्ड के पर्यावरण को शुद्ध कर देता है। न केवल यज्ञ की आहुति बल्कि इसके साथ-साथ किए गए मंत्रो के स्वर वायुमंडल में पहुँचते हैं और उनकी स्वर लहरों से अल्ट्रासोनिक बेव ट्रीटमेंट अर्थात् रोगों की चिकित्सा भी संभव होती है इसलिए भारतीय संस्कृति में जीवन पर्यन्त विशुद्ध संस्कार भी यज्ञ के द्वारा ही किए जाते हैं। जो सौर ऊर्जा है वेदों में वही सूर्य देवता के रूप में है। अतः वायु ही संप्रेषण का एकमात्र शुद्ध साधन है। शुद्ध वायु स्वस्थ जीवन का आधार है। अनेक वैज्ञानिक शोधो के अनुसार एक व्यक्ति दिनभर में औसतन 20 हजार बार श्वास लेता है। श्वसन के लिए आक्सीजन की आवश्यकता होती है। यह आक्सीजन मानव, जीवों एवं पेड़-पौधों को वायुमण्डल से प्राप्त होती है जो पर्यावरण का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। शुद्ध वायु में 21% आक्सीजन, 78% नाइट्रोजन, 0.03% कार्बन डाई आक्साइड एवं 0.78% वाष्प (जल)तथा अन्य गैसे विद्यमान होती हैं। श्वास क्रिया में जीव वायु में से आक्सीजन लेते हैं और कार्बन-डाइ-आक्साइड छोड़ते हैं। हरे पौधे सूर्य के प्रकाश में वायु में से कार्बन डाइ आक्साइड लेकर, आक्सीजन छोड़ते है इससे वायुमंडल में कार्बन-डाइआक्साइड और ऑक्सीजन का संतुलन बना रहता है। किंतु आज अनेक कारणों से वायु पारिस्थितिकी में असंतुलन आ रहा है, जो इस प्रकार है।

समीर पारिस्थितिकी प्रदूषण के कारण (Causes of pollution of Air Ecology)—समीर पारिस्थितिकीय प्रदूषण के कारणों को मुख्यतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—



संक्षेप में वनों में लगने वाली आग, ज्वालामुखी से निकलने वाली गैसें व हवा से प्राप्त धूलकण वातावरण को दूषित करते हैं इसके साथ ही मनुष्य कृत प्रदूषण भी कम नहीं है। कलकत्ता जैसे महानगर में प्रतिदिन औसतन 1200 टन कोयला घरेलू चूल्हों मे जलाया जाता है। फसलों को हानिकारक जीवों से सुरक्षित रखने के लिए रासायनिक कीटनाशकों का

छिड़काव वायु में रसायनों की वृद्धि करता है। व्यक्तियों द्वारा सार्वजनिक स्थानों पर किया धूम्रपान, औद्योगिक केन्द्रों, उर्वरक उद्योग, नाइट्रोजन, आक्साइड, पोटाश के कण, कार्बन-डाइ-आक्साइड आदि के कण वायुमंडल को प्रदूषित करते हैं। शहरों में चलने वाले असंख्य वाहन भी मोनोआक्साइड, सल्फ्यूरिक एसिड जैसी विषैली गैसें व एसिड वायु को प्रदूषित करते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध में हथियारों का प्रयोग, भोपाल गैस काण्ड, ईरान-अफगानिस्तान युद्ध से फैला भयंकर वायु प्रदूषण अविस्मरणीय दुर्घटनाएँ हैं।

समीर प्रदूषण के दुष्प्रभाव (*Bad effects of Air pollution*)—**विश्व स्वास्थ्य संगठन** के अनुसार "वायु प्रदूषण एक ऐसी स्थिति है जिसमें वाह्य वातावरण में मनुष्य और उसके पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले तत्त्व सघन रूप में एकत्र हो जाते हैं।" इस रूप में देखा जाए तो वायु प्रदूषण के अनेक दुष्प्रभाव होते हैं। जैसे—वायुमण्डल में 21% आक्सीजन होती है और यदि इसकी मात्रा घटकर 12% से भी कम हो जाती है तो मानव व सभी जीवों में अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं। वायु प्रदूषण से अनिद्रा, आँखों में जलन, त्वचा, रोग, मानसिक थकावट, सर्दी जुकाम जैसी बीमारियों में वृद्धि हो जाती है। इन सब दुष्प्रभावों के परिणामस्वरूप पारिस्थितिकी में असंतुलन आ जाता है।

(2) जल प्रदूषण (*Water-pollution*)—**पारिस्थितिकी का दूसरा तत्त्व जल है।** वैदिक वाङ्मय में मानव-जीवन के सरक्षण के लिए जल की अनिवार्यता को "आपो वे प्राणा:" इस प्रकार बताया गया है अर्थात् जल जीवन है। ऋग्वेद में कहा गया है—"जल में अमृत है, जल में औषध है, जल की प्रशंसा से उत्साह प्राप्त करो।"

ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है "आपो हिष्ठा मयो भुव: ता न ऊर्जाधृता दन" अर्थात् हे, जल! हमें सुख दें, सुखोपभोग के लिए बड़ा करें तथा दृढ़ करें।" ब्रह्म पुराण में गंगा को स्वच्छ रखने के लिए निर्देश दिया गया है," गंगा में कचरा डालना तो दूर, इसमें दाँतुन करना, स्नान के पश्चात् भीगी धोती निचोड़ना आदि भी निषेध है।" कितना वैज्ञानिक तथ्य है यह ? भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है। अच्छे खेत मे अनावृष्टि से पर्यावरण नष्ट हो सकता है, वहीं अतिवृष्टि मानव, पशु-पक्षी-जगत को व्यथित कर सकती है। इसलिए वैदिक साहित्य में "माता पुत्रोऽहं पृथिव्या", मानकर स्तुति की गई है। अत: जल की महत्ता सर्व विदित है। पीने, भोजन, मकान आदि के साथ-साथ आज अनेक कल कारखाने, वाष्प इंजन, विद्युत का उत्पादन, वातानुकूलित यंत्रों, दमकलों आदि के लिए जल प्राथमिक आवश्यकता है। पृथ्वी का दो तिहाई भाग जल-मग्न है। कुल जल-सम्पदा का 93% भाग लवणीय होने के कारण मानव के लिए उपयोगी नहीं है। कुल जल का मात्र 3% भाग ही मानव के लिए उपयोगी है इसका भी 06% जल सतही जल स्रोतों के रूप में उपलब्ध है तथा 2.4% जल भूमिगत एवं वाष्प के रूप में होता है। इस जल की थोड़ी सी मात्रा पीने के लिए उपयोग की जाती है। कल-कारखानों, उद्योग, कृषि आदि में जल काम मे आता है। जल के दो स्रोत हैं—(1) धरातल स्रोत (2) भूमि स्रोत। नदियाँ, तालाब, झीलें आदि धरातल स्रोत तथा कुएं, झरने आदि जल के भूमि स्रोत हैं। धरातल या सतही जल स्रोत प्रदूषित होते हैं। प्रदूषित जल को 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' ने इस प्रकार परिभाषित किया है, जब जल में भौतिक या मानवीय कारणों से कोई बाहरी पदार्थ मिल कर जल के स्वाभाविक गुण (रंगहीन, अधिक घुलनशीलता, दोभाग हाइड्रोजन व एक भाग ऑक्सीजन) में परिवर्तन लाते हैं, जिसका कुप्रभाव जीवों के स्वास्थ्य पर प्रकट होता है, तो ऐसे जल को प्रदूषित जल कहा जाता है।"

प्रदूषित जल के कारण (Causes of polluted water)—जल प्रदूषण अनेक कारणों से होता है—यथा—(i) नहाना, कपड़े धोना, बर्तन साफ करना, अनचाहे स्थानों पर मल-मूत्र विसर्जन करना, सीवरेज नालियों का शुद्ध जल में छोड़ना। (ii) औद्योगिक अपशिष्ट—जिसमें अनेक लवण, गैसें और रसायन जो जल में घुल जाते हैं उनका अन्य जल स्रोतों में प्रवाहित करना, तथा (iii) कृषि रसायन, कीटनाशक, डिटर्जेंट, खनिज तेल आदि को जल प्रदूषण का प्रमुख कारण माना जा सकता है।

जल प्रदूषण के दुष्प्रभाव (Bad effects of water pollution)—जल में व्याप्त प्रदूषक जीवों को अनेक विधि हानि पहुँचाते हैं—सबसे प्रमुख हानिकारक प्रदूषण फ्लोराइड, सीसा, पारा, सोडियम, जस्ता, नाइट्राइट आदि हैं। इनकी जल में अधिक मात्रा होने से दुष्प्रभाव पड़ता है। **फ्लोराइड** से दाँतों का पीला पड़ना, हड्डियों का कमजोर पड़ना—सीसा लैड से जिगर और गुर्दे खराब होना—हीमोग्लोबिन की कमी, गर्भपात—**फिनोल** से सिरदर्द, माँस पेशियों में कमजोरी, कम दिखाई देना, कम सुनना—**पारे** से लिवर, गुर्दा व हड्डी में प्रोरोप्लाजमिक जहर का जमा होना, तथा मुँह व मसूड़ों पर बुरा प्रभाव पड़ना आदि अनेक दुष्प्रभाव मानव तथा अन्य जीवों पर पड़ते है। समुद्रों में परमाणु परीक्षणो से समुद्री जीव एवं वनस्पतियाँ नष्ट हो जाती हैं। सारांशतः प्रदूषित जल मनुष्य, जीव, पशु-पक्षी व वनस्पतियो को नष्ट कर देता है।

3. वनस्पति एवं पशु-पक्षी पारिस्थितिकी (Vegetable and Animal Ecology)—पारिस्थितिकी का तीसरा घटक वनस्पति है हमारी संस्कृति में वृक्षों के प्रति *अगाध प्रेम रहा है। हरे वृक्षो को काटना अति निकृष्ट कार्य माना गया है। वृक्ष-उपयोगिता तो* मत्स्य पुराण में इस हद तक वर्णित की गई है, कि "दस कुओं के बराबर एक बावड़ी, दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र है तथा दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष होता है।"

आयुर्वेद में पेड़ पौधो को औषध के रूप में प्रयोग किया जाता है, उनमें जीवन होता है अतः इन्हें व्यर्थ में नहीं गंवाना चाहिए। ऐसा मनुस्मृति के अनेक उद्धरणो से स्पष्ट हो चुका है; किंतु आज मानवीय हस्तक्षेप ने अनेक महत्त्वपूर्ण वनस्पतियो को लुप्त कर दिया है। करीब 20,000 प्रजातियाँ आज विभिन्न कारणो से अपने अस्तित्व के संकट से जूझ रही हैं। यह स्थिति पशु पक्षियो की भी है। हमारे देश मे 45,000 विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं इनमें 3000 संकटग्रस्त घोषित हो चुकी हैं। कीट-पतंगे—80,000, मछलियाँ 23,000, पक्षी 8,600, सरीसृप 7,700, स्तनधारी 4,200, उभयचर 3,000 तथा कुछ हजार सूक्ष्म जीव पाए जाते हैं—आज इनके विलुप्तीकरण का खतरा बढ़ गया है जिसका प्रमुख कारण प्रायोगिक कार्यों के लिये इनका व्यापारिक दोहन है। भारतीय चन्दन के पेड़ों की तस्करी की जाती है। विशाल पैमाने पर जीवों के विलुप्तीकरण का कारण इनके आवास स्थलों का विनाश है। मनुष्य जिस तरह से पारिस्थितिकी में परिवर्तन कर रहा है उससे अनेक जीव जन्तु व पेड-पौधे विलुप्त होते जा रहे हैं और इनके अनेक दुष्प्रभाव भी देखने को मिल रहे हैं। अंधाधुंध जंगलों की कटाई से पेड़-पौधे विनष्ट हो रहे हैं और इसका प्रभाव अरावली पर्वत श्रृंखला पर भी पड़ रहा है जो अपने मूल वैभव को खोती जा रही हैं और वृक्षविहीन अरावली पर्वतमाला की हरीतिमा के लुप्त हो जाने से मरुधर के पर्यावरण पर संकट के गहरे

बादल मंडराने लगे हैं। इसके साथ ही भूमि प्रदूषित हो रही है जिसके भी अनेक दुष्प्रभाव—जैसे उर्वरा शक्ति का ह्रास, भूमि की क्षति, भूमि कटाव, भूमि की शुष्कता के कारण वातावरण में असंतुलन जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिन्होंने पारिस्थितिकी में असंतुलन पैदा कर दिया है।

4. ध्वनि-पारिस्थितिकी (Sound Ecology)—जो ध्वनि हमारे कानों को अप्रिय लगे और जो सामान्य से ऊंची आवाज में हमारे कानों मे टकराए, वह शोर है। शोर के कारण ध्वनि प्रदूषण उत्पन्न होता है। यातायात के साधन, औद्योगीकरण, लाउडस्पीकर आदि से निकली तीव्र ध्वनि के अनेक दुष्परिणाम सामने आते है जैसे—बहरापन, दुर्घटनाओं में वृद्धि, विभिन्न बीमारियाँ, मनुष्य की योग्यता का ह्रास और गर्भवती महिलाओं व गर्भस्थ शिशु पर उनका विपरीत प्रभाव। इन सब प्रदूषणों के कारण न केवल मनुष्य का जीवन खतरे में पड़ गया है बल्कि पारिस्थितिकी असंतुलन भी व्याप्त हो गया है। अनियंत्रित शोषण से प्रकृति और पर्यावरण में समरसता समाप्त हो गई है और परिणामस्वरूप पर्यावरण से सभी स्तरों पर की गई छेड़-छाड़ से बाढ़, भूकम्प, जलवायु मे वृद्धि, अम्लीय वर्षा, ओजोन परत मे छिद्र, लुप्त होते पेड़-पौधे, वनस्पतियाँ व जीव-जन्तु, प्रदूषित जल, पारिस्थितिकी सभ्यता का ह्रास अनेक रूपों में परिलक्षित हो रहे हैं।

5. सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology)—केवल प्राकृतिक पारिस्थितिकी ही नहीं बल्कि सामाजिक पारिस्थितिकी भी मानवता के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। परिवार, समाज, राज्य सभी का सह अस्तित्व मानवता को बनाने में महत्त्व रखता है। आज हमने आर्थिक वृद्धि को ही आर्थिक विकास का पर्याय मान लिया है आर्थिक वृद्धि—भौतिक उत्पादन, राष्ट्रीय प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि तक ही सीमित है , जबकि आर्थिक विकास में आर्थिक वृद्धि के साथ-साथ प्रकृति मे संतुलन बनाए रखने की समझ, संसाधनो की क्षतिपूर्ति की सोच आदि अनेक पहलू सम्मिलित हैं। पारिस्थितिकी असंतुलन के मूल में आर्थिक वृद्धि को ही आर्थिक विकास मानना है। नई प्रौद्योगिकी एवं आधुनिक औद्योगीकरण के कारण जीवनस्तर में बदलाव से दैनिक आवश्यकताएँ निरंतर बढ़ती जा रही है। सुख की असीम चाह की संतुष्टि का भार अंततः प्रकृति पर ही पड़ता है। रेडियो धर्मी प्रदूषण जो बम-परीक्षणों की परिस्थिति है मानव की विकसित बौद्धिक क्षमता का परिणाम है जो जैविक दृष्टि से अत्यंत हानिकारक है। जनसंख्या वृद्धि भी इसके लिए कम जिम्मेदार नहीं है। आज हमारी जनसंख्या 1 अरब से ऊपर हो चुकी है इससे पर्यावरण संकट और गहराया है। अधिक व्यक्ति, अधिक उत्पादन, अधिक मशीनें, प्राकृतिक संसाधनों पर अधिक प्रभाव और अंततः पारिस्थितिकी असंतुलन। अतः यदि हमें पर्यावरण असंतुलन को रोकना है, पारिस्थितिकी संतुलन लाना है तो हमें इसके लिए निम्नलिखित प्रयास करने होंगे।

पारिस्थितिकीय संतुलन के लिए प्रयास (*Efforts for Ecological Balance*)—अनेक कारण प्राकृतिक और सामाजिक पारिस्थितिकीय असंतुलन के लिए उत्तरदायी है अतः उसके संरक्षण के लिए निम्न प्रयास किए जा सकते हैं।

(1) पर्यावरण का सीधा संबंध हमारी अर्थ नीति की व्यूह रचना से है अतः हमें आर्थिक विकास की प्रक्रिया को उन्नति के साथ-साथ पर्यावरण के आधार पर नियोजित करना चाहिए।

(2) संतुलित दोहन की नीति अपनाई जानी चाहिए। अर्थात् हमें अपने ही प्रयासों एवं तरीकों से पर्यावरण की समस्याओं को हल करना चाहिए।

(3) आज भारत की जनसंख्या 1,02,70,15,247 हो चुकी है जिसके कारण देश में लोगों को न पर्याप्त भोजन है और न ही शुद्ध पानी उपलब्ध हैं अतः जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाकर हम पारिस्थितिकी में संतुलन लाने में सक्षम हो सकेंगे। अतः जनसंख्या शिक्षा का प्रचार किया जाए।

(4) पारिस्थितिकीय संतुलन के लिए बड़े-बड़े बाँधों के स्थान पर लघु सिंचाई परियोजनाएँ रासायनिक उर्वरकों के स्थान पर कम्पोस्ड खाद, विदेशी प्रौद्योगिकी के स्थान पर स्वदेशी ग्रामीण प्रौद्योगिकी का उपयोग करना लाभप्रद होगा।

(5) प्रदूषण फैलाने वाले वाहनों पर प्रभावी नियंत्रण, कम सिंचाई या बिना सिंचाई वाली फसलों व वृक्षों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

(6) विकेन्द्रित ऊर्जा नीति जिसमें मानव शक्ति, पशुशक्ति, बायो गैस, सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, जलशक्ति एवं समुद्र से ऊर्जा प्रमुख हैं—को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(7) प्लास्टिक की थैलियों पर प्रतिबंध, जलाऊ लकड़ी का कम उपयोग, मुक्त शौचालय के स्थान पर सुलभ शौचालयों का प्रयोग पारिस्थितिकी संतुलन को बढ़ावा देगा।

(8) प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण, सार्वजनिक वाहनों का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा मे किया जाए।

(9) हमारी शिक्षादर 65.38 प्रतिशत है जो अति न्यून मानी जा सकती है—अशिक्षा के अभाव में पर्यावरण चेतना विकसित करने में कठिनाई आती है अतः अधिकांश लोगों को शिक्षा के अवसर उपलब्ध कराए जाएँ जिससे पर्यावरण शुद्धता के प्रति जन-चेतना विकसित की जा सके।

(10) वनों का विकास अनुसन्धान, वन सप्ताह, वृक्षारोपण को बढ़ावा देकर किया जाए।

(11) पर्यावरण—प्रदूषण पारिस्थितिकी असंतुलन एवं अन्य संबंधित विषयों पर साहित्य का सृजन करना।

(12) वायु शुद्धिकरण, जल शुद्धिकरण के उपायों का अपनाया जाए।

(13) फैक्ट्रियों पर कानून लगाना और उनके पालन के लिए बाध्य किया जाए।

(14) भूमि-कटाव, भूमि की क्षति आदि को रोकने का प्रयास किया जाए।

(15) ध्वनि संबंधी विभिन्न उपकरणों का प्रयोग करके ध्वनि-प्रदूषण को रोकने का प्रयास किया जाए।

इन सबके लिए शिक्षा की महती आश्यकता है। अधिकाधिक मात्रा मे मूल्यों का प्रतिपादन कर हम पारिस्थितिकी-संतुलन के प्रति जन चेतना जागृत कर सकते हैं। पर्यावरण-संरक्षण के लिए अनेक भारतीय कानून बने हैं। शिक्षा द्वारा उनका प्रचार-प्रसार करके उन्हें लागू करके परिस्थितिकी के असंतुलन को रोका जा सकता है—कुछ कानून निम्नलिखित हैं—

पारिस्थितिकी-संतुलन एवं भारतीय अधिनियम
(Ecological Balance and Indian Laws)

भारतीय संसद ने 1976 में पर्यावरण-संरक्षण प्रदान करने के लिए दो अनुच्छेदों को संविधान में सम्मिलित किया।

(1) प्रथम अनुच्छेद 48 अ जिसके अनुसार राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि राज्य पर्यावरण को संरक्षित तथा उन्नत करने की ओर प्रयास करेगा तथा देश की वन-सम्पदा और वन्य जीव को संरक्षण करेगा। यह निर्देश विभिन्न न्यायालयों के निर्णयों के अनुसार अनिवार्य बाध्यता है।

(2) अनुच्छेद 51-अ (जी) के अनुसार पर्यावरण संरक्षण को एक मौलिक कर्त्तव्य के रूप में मान्यता प्रदान की है। इसके अनुसार "प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि प्राकृतिक पर्यावरण जिसमें कि वन, सरोवर, नदी तथा वन्य जीव आदि शामिल है, को संरक्षित तथा उन्नत करेगा तथा सभी जीवधारियों के प्रति अनुकम्पा रखेगा।"

पर्यावरण के विभिन्न घटकों की सुरक्षा तथा उसकी शुद्धता रखने के लिए अनेक अधिनियम बनाए गए हैं—जैसे—(3) जल प्रदूषण के लिए (जल प्रदूषण निवारण तथा नियंत्रण) उपकर अधिनियम 1977 खास है।

(4) हवा की शुद्धता बनाए रखने के लिए वायु (प्रदूषण निवारण और नियंत्रण) अधिनियम 1981 में पास किया गया।

वन सम्पदा को संरक्षित रखने के लिए दो अधिनियम देश में लागू हैं—

(5) पहला वन-अधिनियम 1927 में, तथा दूसरा वन-संरक्षण अधिनियम 1980 में भारतीय संसद ने पारित किया।

वन्य जीवों की सुरक्षा और संरक्षण के लिए दो अधिनियम पारित किए गए हैं—

(6) पहला वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम 1972 तथा दूसरा पशुओं के प्रति क्रूरता निवारण अधिनियम 1960 है।

(7) इसके अतिरिक्त 1986 में पर्यावरण संरक्षण अधिनियम भी पारित किया गया है।

(8) भारतीय दंड संहिता के चौदहवें अध्याय (धारा 268 से 294 तक) जल-प्रदूषण वायुमंडलीय प्रदूषण को एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

इतनी बड़ी संख्या में कानूनों के बाद भी पर्यावरण-प्रदूषण में कोई प्रभावी नियंत्रण नहीं हो पाया। इसका कारण कानून के प्रति जनसाधारण की अनभिज्ञता, कानूनों को प्रभावशाली ढंग से लागू न करना तथा वर्तमान युग की अनेक संकटपूर्ण स्थितियों से निपटने के लिए वर्तमान कानूनों का अक्षम होना है। अतः आवश्यकता जन साधारण के शिक्षित होने और उन्हें कानूनी अधिनियमों की भिज्ञता कराने की है। तभी पारिस्थितिकी-असंतुलन की स्थिति से निपटा जा सकता है। 1992 में 'रियो दि जिनेरियो' में हुए 'पृथ्वी सम्मेलन' में पर्यावरण की समस्या पर गंभीर विचार-विमर्श हुआ और उसमें दुनिया के देशों के पर्यावरण संरक्षण की दिशा में ध्यान दिया गया है और इन देशों को यह अहसास हुआ है कि यदि पर्यावरण की सुरक्षा नहीं की गई तो आने वाले वर्षों में अनेक समस्याएँ पैदा होंगी। सम्मेलन

में यह बात भी स्पष्ट हुई कि प्रदूषण-रहित विश्व के प्रति दुनिया के विचारों में ऐतिहासिक परिवर्तन आया है—सम्मेलन के कारण सम्पूर्ण विश्व में संरक्षण की आवश्यकता को महसूस किया गया। इस रूप में पृथ्वी सम्मेलन अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जा सकती है।

सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र (Scope of Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सामाजिक पारिस्थितिकी का क्षेत्र मानव की सामाजिक संरचनाओं और कार्यों का व्यवस्थान, प्रदेश, व्यवसाय और समाज की अन्तःक्रिया की प्रक्रियाओं—पर्यावरण के प्रकार्य और जीव के समाजशास्त्रीय समकक्ष—जिनसे सभी सामाजिक घटनाएँ उत्पन्न होती हैं, का अध्ययन करना है।"

प्रमुख अवधारणाएँ (Major Concepts)

मुकर्जी ने अपनी कृति में सामाजिक पारिस्थितिकी तथा इससे सम्बन्धित निम्न प्रमुख अवधारणाओं की परिभाषाएँ दी हैं—

(1) सामाजिक पारिस्थितिकी (Social Ecology)—मुकर्जी के अनुसार, सामाजिक पारिस्थितिकी स्थान, व्यवसाय और समय, व्यक्तियों और समूहों की प्रतिस्पर्धा, सहयोग, सघर्ष, व्यवस्थान और उत्तराधिकार की प्रक्रियाओ के सम्बन्धो का अध्ययन करती है। दूसरी ओर समाज व्यक्ति का सीमित पर्यावरण मे संख्या वृद्धि के लिए पारिस्थितिक अनुकूलन है और इसीलिए सभी मानवीय अन्तःक्रियाओं की व्याख्या पारिस्थितिकी प्रक्रिया के द्वारा की जा सकती है।

मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी का समाज से सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लिखा है, "सामाजिक पारिस्थितिकी समाज को मानव की जनसंख्या वृद्धि के प्रति अनुक्रिया मानती है, जो श्रम के विभाजन और सामाजिक संगठन की पहल एवं सुधार करती है और उपकरणों की सम्पदा, व्यवसायों, जीवन के प्रतिमानो और परम्पराओं का सचारण करती है। प्रत्येक क्षेत्र मे समाजशास्त्र के अन्वेषण की इकाई समुदाय होती है न कि मानव; सम्बन्ध होते है न कि व्यक्ति। मानव सम्बन्ध परिस्थितियो और संस्कृति से व्यवस्थान का प्रतिनिधित्व करते हैं।

(2) मानव पारिस्थितिकी (Human Ecology)—मुकर्जी ने मानव पारिस्थितिकी के सम्बन्ध में लिखा है, "सामाजिक पारिस्थितिकी पर्यावरण से मानव के व्यवस्थान के स्वरूप और प्रक्रिया का अध्ययन करती है।" मानव परिस्थितिकी की दो उप-शाखाएँ हैं—(1) संपारिस्थितिकी और (2) स्वपारिस्थितिकी। आपने इन दो उप-शाखाओ का वर्णन इस आधार पर किया है कि पारिस्थितिकी या पर्यावरण के कारक—व्यक्ति एवं समुदाय—दोनों को प्रभावित करते हैं।

2.1 संपारिस्थितिकी या सामुदायिक पारिस्थितिकी (Synecology)—मुकर्जी ने मानव पारिस्थितिकी के समुदाय पक्ष को सामुदायिक पारिस्थितिकी या संपारिस्थितिकी कहा है। इसमें पर्यावरण सम्बन्धी कारको का प्रभाव समुदाय पर तथा समुदाय की पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। मुकर्जी का कहना है,

मानव पारिस्थितिकी के सामुदायिक पक्ष को भी सामुदायिक पारिस्थितिकी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत मानव जीवशास्त्र, मानव भूगोल, अर्थशास्त्र, समाज मनोविज्ञान तथा तकनीकी के साथ पारिस्थितिकी की अन्तःक्रिया के कारण प्राप्त अन्तःवैज्ञानिक दृष्टिकोण आते हैं। सामाजिक प्रगति को पारिस्थितिकी या पर्यावरण सम्बन्धी कारक प्रभावित करते हैं। इनका अध्ययन लाभकारी है।

2.2 स्वपारिस्थितिकी या वैयक्तिक पारिस्थितिकी (*Autecology*)—स्वपारिस्थितिकी पर्यावरण सम्बन्धी कारकों के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया का अध्ययन करती है। मुकर्जी ने लिखा है कि स्वपारिस्थितिकी व्यक्ति का अध्ययन पर्यावरण, भौतिक और जैविक के सम्बन्ध में करती है।

स्वपारिस्थितिकी और संपारिस्थितिकी—दोनो परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर एवं अन्तर्सम्बन्धित हैं। मुकर्जी का मानना है कि जैसे-जैसे समाज की प्रगति होती है, वैसे-वैसे मानव मस्तिष्क का कार्य और महत्त्व बढता जाता है और पारिस्थितिकी अवस्थाओं का महत्त्व व कार्य घटता जाता है, किन्तु मानव प्रगति के साथ पर्यावरण का प्रभाव समाप्त नहीं होता है बल्कि पर्यावरण और पारिस्थितिकी के कारको का प्रभाव तो मानवीय सम्बन्धों तथा उसकी सृजन करने की क्षमता पर पडता ही है जो सामाजिक प्रगति को भी निर्देशित एवं नियन्त्रित करता है। इस रूप मे पारिस्थितिकी—व्यक्ति और समुदाय—दोनो को प्रभावित करती है। वैयक्तिक-परिस्थितिकी और समुदाय-पारिस्थितिकी दोनो परस्पर अन्तर्सम्बन्धित हैं और एक-दूसरे पर निर्भर हैं क्योंकि व्यक्ति पर्यावरण सम्बन्धी कारकों के प्रति जो प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, उसका प्रभाव समुदाय पर पडता है और समुदाय की पर्यावरण के प्रति जो प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है उसका प्रभाव व्यक्ति पर पडता है। व्यक्ति व समुदाय दोनों को ही कुछ सीमा तक पर्यावरण से भी अनुकूलन करना होता है—निष्कर्षतः परिस्थितिकी के कारक—व्यक्ति और समुदाय—दोनों को ही प्रभावित करते हैं। पर्यावरण से अनुकूलन व्यक्ति और समुदाय दोनों करते हैं।

(3) व्यावहारिक पारिस्थितिकी (Applied Ecology)—यह सामाजिक पारिस्थितिकी का वह पक्ष है जो जनसख्या, प्राकृतिक साधनो, वनस्पति एवं पशुजगत् के पारिस्थितिकी सन्तुलन के साथ कारण-प्रभाव सम्बन्धो का अध्ययन करता है। यह उपयोगी एव व्यावहारिक पक्ष का विशेष ध्यान रखता है अर्थात् समाज के विकास के स्वरूपो के सन्दर्भ में अध्ययन करके निष्कर्ष निकालता है एवं सामान्यीकरण करता है।

(4) अध्ययन की इकाई : मानव प्रदेश (Unit of Study Human Region)—मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी के अध्ययन की इकाई मानव प्रदेश बताई है। आपने इसके महत्त्व को निम्न शब्दों मे स्पष्ट किया है—"मानव सम्बन्धो के अध्ययन के लिए मानव प्रदेश ही उचित इकाई है क्योंकि एक प्रदेश विशेष मे ही हम एक-दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करने वाले सस्कृति के धारक मानव समूहो तथा पौधे, पशु एव अन्य निर्जीव पर्यावरण के बीच पाए जाने वाले जटिल अन्तर्सम्बन्धों को ठीक तरह से समझ सकते हैं। सम्भवतः मानवीय सामाजिक व्यवहारो, सामाजिक संस्थाओ तथा अनुकूलन की मानवीय समस्याओ को प्रादेशिक सकुल से पृथक् करके पूर्ण रूप से नहीं समझा जा सकता है।"

सामाजिक पारिस्थितिकी के कार्य
(Functions of Social Ecology)

राधाकमल मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी के तीन महत्त्वपूर्ण कार्यो का वर्णन किया है, जो निम्न प्रकार हैं—

(1) अनुकूलन (Adaptation)—मुकर्जी के अनुसार सामाजिक पारिस्थितिकी का प्रथम और महत्त्वपूर्ण कार्य मानव और मानवीय सस्थाओ का एक विशिष्ट प्रदेश के साथ अनुकूलन की प्रक्रिया का चयन करना होता है। इस अनुकूलन मे—प्राकृतिक और जैविक—दोनों प्रकार के कारकों का अध्ययन किया जाता है। प्राकृतिक कारको के अन्तर्गत प्रदेश विशेष की मिट्टी, जलवायु, भूमि की रचना, जैसे—पठार, पहाड़, दलदल क्षेत्र, समतल भूमि आदि आते हैं उनके साथ अनुकूल के साथ-साथ जैविक कारकों, जैसे—पेड-पौधे, एवं पशुजगत के साथ अनुकूलन करना भी सम्मिलित है।

(2) संगठनात्मक सम्बन्ध (Integrating relations)—मानव की क्रियाओ को सगठित करने वाली कुछ शक्तियाँ होती हैं, उनका पता लगाना सामाजिक पारिस्थितिकी का द्वितीय कार्य है। ये सगठनात्मक शक्तियाँ स्थानिक, भोजन सम्बन्धी एवं पर्यावरण सम्बन्धी कारक होती हैं। इन कारको एवं शक्तियो को खोज निकालना ज्ञान-विज्ञान का कार्य है।

(3) सन्तुलन को मापना (To measure equilibrium)—सामाजिक पारिस्थितिकी का तृतीय महत्त्वपूर्ण कार्य एक प्रदेश विशेष मे मानव एव अन्य सजीव और प्राकृतिक कारकों मे परस्पर दबावो का अध्ययन करके सतुलन की स्थिति को ज्ञात करना है। मानव के स्थायित्व, अस्तित्व और प्रभुत्व की स्थिति ज्ञात करना कि उसके ऊपर अन्य कारको का अनुकूल प्रभाव पड़ा है अथवा प्रतिकूल। मानव समाज की स्थिति कैसी है? ये कुछ बातें सामाजिक पारिस्थितिकी द्वारा ज्ञात की जाती हैं।

पारिस्थितिकी एवं अनुकूलन
(Ecology and Adaptation)

मुकर्जी पारिस्थितिकी के अन्तर्गत प्राकृतिक अवस्थाओं के महत्त्व को मानते हैं, क्योंकि इनके साथ आज भी व्यक्ति को अनुकूलन करना पड़ रहा है, भले ही उसने विज्ञान की सहायता से प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली हो।

मुकर्जी का मानना है कि प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए यदि मानव प्रकृति का अनुसरण नहीं करेगा तो उसमें (प्रकृति में) असन्तुलन पैदा हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप प्राकृतिक विपत्तियों के आने की सम्भावना रहेगी। इस कारण परिस्थितिगत ताल-मेल अत्यावश्यक है। मुकर्जी का कहना है कि किसी ऋतु-विशेष एवं प्रदेश-विशेष मे कुछ विशेष प्रकार के रोगों का आक्रमण दिखाई देता है, जिसके साथ व्यक्ति को अनुकूलन करना पड़ता है। उन्होने सामंजस्य की चर्चा करते हुए कहा है, "जीवन के जाल के जटिल, बहुविध तथा विस्तृत धागे जीवित विश्व के विभिन्न अशो को एक साथ बाँधते हैं, इसीलिए उनमे सामंजस्य का बना रहना अत्यन्त आवश्यक है। एक प्रदेश के पेड़-पौधो की निर्मम कटाई करके देखिए अथवा खरीफ के स्थान पर रबी की फसल की बुवाई करके देखिये अथवा मच्छरों की वृद्धि को रोकिये तो इन सबकी विपरीत प्रतिक्रिया दिखाई देगी। भारत मे

मच्छरों के प्रकोप के कारण असम और बंगाल में मलेरिया का प्रकोप अत्यधिक होता है—इन परिस्थितियों में अनुकूलन करने के लिए वहाँ की जलवायु में चाय की खेती खूब होती है जिसके सेवन से मलेरिया के फैलने पर रोक लगती है।" इस प्रकार मुकर्जी के मत में परिस्थितिगत विशेषताएँ अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाती हैं और असन्तुलन को रोकती हैं।

मुकर्जी ने धर्म, जादू-प्रथा, परम्परा और विश्वास आदि सभी पर पर्यावरण के प्रभाव का अध्ययन किया है। आदिम समाज में एक प्रथा 'टोटम' प्रचलित है। जिसमें कुछ विशेष प्रकार के पेड़-पौधों व पशु-पक्षियों को मारना निषिद्ध होता है। इसका कारण यह है कि पेड़-पौधों अथवा पशु-पक्षियों को मारने से पर्यावरण का सन्तुलन बिगड़ जाता है। इसी कारण 'टोटम' के माध्यम से इस प्रकार का निषेध लगाया गया है। आदिम समाजों में तूफान को रोकने व वर्षा लाने के लिए जादू का प्रयोग किया जाता है इसके पीछे भी उद्देश्य पर्यावरण पर मनुष्य का नियन्त्रण स्थापित करना है। टोडा जनजाति में भैंसों से सम्बन्धित कई प्रथाएँ व कर्मकाण्ड प्रचलित हैं, जैसे—ये लोग भैंसों को पवित्र मानते हैं और भैंस-पालन से ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं इन सबके पीछे भी सभी का उद्देश्य पशु-जगत से सम्बन्ध बनाए रखना ही होता है। कृषि कार्य के पूर्व खेतों की पूजा करना, विवाह में सभी देवी-देवताओं का आह्वान करना आदि का उद्देश्य भी पर्यावरण की विभिन्न शक्तियों के साथ मानवीय सम्बन्धों के सन्तुलन को ही प्रकट करता है। इसी प्रकार प्रथाएँ भी पर्यावरण के सन्तुलन को स्पष्ट करती हैं, उदाहरण के लिए हिन्दुओं में विवाह के अवसर पर 'घूरा' पूजने की प्रथा है। इसका उद्देश्य भी प्राकृतिक शक्तियों को मान्यता प्रदान करना है।

मुकर्जी ने परिस्थिति की अवस्थाओं एवं शक्तियों के साथ मानव के अनुकूलन की निम्नलिखित तीन स्तरों पर चर्चा की है—

(1) प्राचीन समय में ज्ञान, विज्ञान का विकास कम था। अतः उस समय लोग पर्यावरण पर अत्यधिक निर्भर थे क्योंकि प्रकृति के साथ अनुकूलन करने के अतिरिक्त उनके पास कोई अन्य विकल्प ही नहीं था।

(2) इसके पश्चात् व्यक्ति ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्यावरण के साथ तार्किक और क्रमबद्ध अनुकूलन किया।

(3) इसके बाद की स्थिति आधुनिक काल की है जिसमें पर्यावरण को मानव का सहयोगी माना जाता है। वह (व्यक्ति) पर्यावरण में छिपी असीमित सम्भावनाओं की खोज करके उनका उपयोग जन-कल्याण के लिए कर सकता है। व्यक्ति आज चन्द्रमा पर जा पहुँचा है। इससे स्पष्ट है कि आज व्यक्ति पारिस्थितिकी के साथ अपने प्रगाढ़ सम्बन्धों को बनाए हुए है। आज व्यक्ति प्रकृति का दास नहीं, उसका सहयोगी है।

मानव समाज में पारिस्थितिकीय प्रक्रियाएँ
(The Ecological Processes in Human Society)

इस आलोच्य पुस्तक में आपने अनेक स्थलों पर पहले जीव-जन्तुओं और पारिस्थितिकी तथा वनस्पति और पारिस्थितिकी की विषय-वस्तु, अध्ययन के क्षेत्र, महत्त्व आदि पर प्रकाश डाला है। इसके बाद आपने मानव, मानव समाज, संस्कृति, आर्थिकी,

स्तरीकरण, जनसंख्या, वितरण, सन्तुलन, क्षेत्रीय एवं सामाजिक गतिशीलता, सहयोग आदि अनेक समाजशास्त्रीय एवं सामाजिक विज्ञान की प्रक्रियाओ पर पारिस्थितिकी के सन्दर्भ मे प्रकाश डाला है। आपका दृढ़ विश्वास है कि अर्थशास्त्र, जनांकिकी और प्रादेशिक समाजशास्त्र के निष्कर्षों, सामान्यीकरणों तथा ज्ञान का उपयोग पारिस्थितिकी के क्षेत्र मे किया जा सकता है और इसी प्रकार से पारिस्थितिकी का प्रभाव अर्थशास्त्र, जनांकिकी और समाजशास्त्र से सम्बन्धित अवधारणाओं, अध्ययन-विषयो एवं प्रक्रियाओं पर देखा जा सकता है। आपने समाजशास्त्र की संरचना से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण पारिस्थितिकीय प्रक्रियाओ का उल्लेख किया है, जो निम्न हैं—

(1) वितरण
(2) श्रम का विभाजन
(3) गतिशीलता
(4) प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग
(5) स्तरीकरण
(6) अनुक्रमण एवं आक्रमण
(7) सामाजिक सन्तुलन

मुकर्जी ने उपर्युक्त प्रक्रियाओं का विवेचन प्रथम अध्याय : **समाज और सहजीवन** के अन्तर्गत किया है। आपके अनुसार ये प्रक्रियाएँ इस प्रकार हैं—

(1) वितरण (Distribution)—बहुत समय से भूगोल उन भौतिक कारकों का अध्ययन करता रहा है जो जनसंख्या के वितरण और स्रोतो को संसार में नियन्त्रित करते हैं। अर्थशास्त्र ने इसके ज्ञान मे बड़े उद्योगो, व्यापारिक सस्थानो और बाजार के स्थानीयकरण के कारणों, आधुनिक संचार और यातायात के साधनो के प्रकारों तथा उत्प्रवास जो किसी विशेष क्षेत्र मे जनसंख्या के संकेन्द्रण का नियन्त्रण करते हैं, का अन्वेषण करके वृद्धि की है। नगरीय एवं ग्रामीण बस्तियों का नियन्त्रण प्राकृतिक सम्पदा और फसलो के वितरण द्वारा होता है। मानव पारिस्थितिकी जीवन के प्रतिमानो का पूर्णता मे अध्ययन करती है जिसमे वनस्पति, जीव-जन्तु और मानव संगठनों का अध्ययन भी सम्मिलित है। सभ्यता जलवायु, स्थलाकृति और खाद्य वनस्पति, जीव तथा दूसरी सम्पदाएँ जो जनसंख्या वितरण, वास स्थान, उद्योग और जीवन की कला को नियन्त्रण करती है, के अध्ययन करने के साथ-साथ संचार और यातायात के साधनो, रेल और जलमार्ग, रेल-इन्जन, भाप-जहाज और स्वचालित वाहन, दैनिक-समाचार, और टेलीफोनें का भी अध्ययन करती है। इसके अतिरिक्त सभ्यता सामाजिक अभिवृत्ति, प्रथाएँ, टैरिफ सूची और उत्प्रवास कानून जो मानव परिचालन को नियंत्रित करता है, जनसंख्या का विसर्जन या संकेन्द्रण का भी अध्ययन करती है। ये सभी पारिस्थितिकी शक्तियाँ है जो मानव समूहो का वितरण और उत्प्रवास तथा पृथक्करण का नियन्त्रण आवास और व्यवसाय के आधार पर करती है। प्रतिस्पर्धा, सम्पदाओं के दोहन में श्रम के विभाजन और विशेषीकरण के द्वारा मानव समुदाय—उपग्राम (ढाणी), ग्राम, कस्बा और नगर मे अपने को वितरित करती हैं। ये सभी सम्बन्धित इकाइयाँ—उपग्राम, ग्राम, कस्बा और नगर पारिस्थितिकी प्रक्रिया, जैसे—श्रम का विभाजन, विशेषीकरण, परिचालन और संकेन्द्रण के परिणाम हैं।

(2) श्रम का विभाजन (Division of Labour)—मानव समाज मे श्रम का विभाजन आयु, लिंग, प्रजाति और वर्ग और व्यक्तियो की भिन्न-भिन्न क्षमताओ पर आधारित होता है। मानव समुदायो में रुचियो की भिन्नता एवं क्षमता तथा आविष्कारशीलता के कारण

श्रम का विभाजन बहुत अधिक विस्तृत, बहुत अधिक स्टीरियोटाइप (रूढ़िबद्ध) और बहुत अधिक परिवर्तनीय हो गया है। सभी पारिस्थितिक कारक एवं शक्तियाँ, जैसे—मौसम या जलवायु सम्बन्धी कारक, खाद्य पदार्थों की उपलब्धि, प्रजनन की क्रिया, शिशुओं का पालन-पोषण एवं सन्तानों की संख्या, महामारियाँ आदि जनसंख्या की अधिकतम वृद्धि आदि मानव के क्षेत्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। इन कारकों का प्रभाव जनसंख्या के घनत्व पर भी पड़ता है। पर्यावरण की अनुकूलनता की मात्रा का प्रभाव एक-विवाह और बहुपत्नी एवं बहुपति विवाह की परम्परा पर भी पड़ता है। मुकर्जी ने लिखा है कि गतिशीलता एक महत्त्वपूर्ण क्रियाविधि है जो जीवों की जनसंख्या के उपयुक्त घनत्व और वितरण को बनाती है।

(3) गतिशीलता (Mobility)—गतिशीलता या उत्प्रवास का नियम जीवों एवं मानव जगत मे हमेशा रहा है। कमजोर को परिधि या बस्ती के बाहर ढकेल दिया जाता है तथा शक्तिशाली केन्द्र पर कब्जा कर लेते हैं। जी. टायलर के अनुसार सभी प्रजातियो का उद्भव केस्पियन समुद्र के पास सामान्य शैशव भूमि में हुआ था। प्रमुख प्रजातियाँ एशिया के पाँच क्षेत्र मण्डलो मे स्थित हो गईं तथा बहुत अधिक आदिम प्रकारो को दुर्गम स्थान में ढकेल दिया गया। उत्प्रवसन की पारिस्थितिकी हमें पूर्व-ऐतिहासिक काल के प्रारम्भिक मानवों के भटकने और भिन्नताओं को समझने मे सहायता करती है। भोजन की उपलब्धता तथा खाद्य सामग्री के क्षेत्रों के अनुसार मानव एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहते थे। मुकर्जी लिखते हैं कि व्यावहारिक पारिस्थितिकी ने हमें आयात किए गए पेड़-पौधों, जीवों और कीट-पतंगों का नवीन आवास-स्थल मे सफलता और असफलता के सम्बन्ध से अवगत कराया है। बिल्कुल भिन्न स्थिति में पौधे, जीव या मानवों का पतन हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक पारिस्थितिकी प्रभावी जाति, वर्ग, प्रजाति आदि से सम्बन्धित भौगोलिक गतिशीलता का अध्ययन एवं विश्लेषण करती है।

(4) प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग (Competitive Co-operation)—मुकर्जी, रूसी जीव-वैज्ञानिक गॉस (Gause) एवं हल्डेन (Haldane) ने जीवों मे परस्पर संघर्ष, सहयोग एवं प्रतिस्पर्धा पर नवीन तथ्य एवं विचार व्यक्त किए हैं। डार्विनवाद मे सघर्ष को मानव-व्यवहार की व्याख्या के सम्बन्ध में एक-तरफा तथा आज गुमराह करने वाला माना जाता है। हल्डेन ने अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि जब तक एक जाति (स्पीशीज) मुख्य रूप से दूसरी जाति अथवा बाह्य प्रकृति से संघर्ष करती है तब तक वह सामान्यतया फिटर बन जाती है। जब जाति के अन्दर संघर्ष होता है तब ऐसा नही होता है। आकार में वृद्धि, हथियारो एवं मूल प्रवृत्ति में विकास, इस प्रकार की लड़ाइयो मे लाभकारी होते हैं, लेकिन इनका अन्त सामान्यतया जाति की अन्य परिस्थितियों मे कुसमायोजन के रूप मे होता है या इनका लोप हो जाता है। इसी प्रकार से अनेक आदिवासी लोगो ने जब अनेक पशुओ को पूर्णत: नष्ट कर दिया था तो उनको अकाल का सामना करना पड़ा था और उनको सभ्य संस्कृतियो के साथ रहने के लिए मजबूर होना पड़ा अथवा अछूते बीहड़ जंगलों में जाना पड़ा। सामाजिक पारिस्थितिकी प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग को समुदायो के संगठन की विशेषता मानती है। इस विज्ञान की मान्यता है कि भोजन और रहने के स्थान के लिए प्रतिस्पर्धा अथवा संघर्ष होना व्यवस्था के कार्य से सम्बन्धित होता है। मुकर्जी लिखते हैं कि एक रेवड़,

पशुओं का झुण्ड या मानव समूह एक दुश्मन को डराने या लड़ने में अधिक सफल होते हैं अपेक्षाकृत एक अकेले के। इसी सन्दर्भ मे मुकर्जी की मान्यता है कि मानव समाज मे प्रतिस्पर्धात्मक सहयोग महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जिसका अध्ययन पर्यावरण अथवा पारिस्थितिकी के सन्दर्भ में करना आवश्यक है।

(5) स्तरीकरण (Stratification)—मुकर्जी के अनुसार प्रत्येक समुदाय में प्रतिस्पर्धा और सहजीवन के द्वारा एक या एक से अधिक प्रभुत्व जातियाँ बन जाती हैं। स्तरीकरण के द्वारा प्रत्येक श्रेणी या वर्ग के जीवों या मानव समुदायो में प्रतिस्पर्धा नियंत्रित की जाती है। मानव समाज के पारिस्थितिकी प्रतिमानो में विभिन्न सामाजिक श्रेणियाँ, वर्ग, जातियाँ तथा व्यक्तियों मे भिन्न-भिन्न क्षेत्रीय सम्बन्ध देखे जा सकते है। सामाजिक श्रेणियो के निर्धारक धन और सत्ता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक वर्ग मे स्थिति को निरन्तर चुनौतियाँ गतिशीलता अथवा दूसरे के उत्प्रवासन से मिलती रहती है। पारिस्थितिक गतिशीलता अथवा तेजी से एक क्षेत्र में अन्य सामाजिक खण्ड, श्रेणी या समूह का आक्रमण स्तरीकरण को प्रभावित करता है। इस प्रकार सामाजिक पारिस्थितिकी में स्थान, व्यवसाय और समय के आधार पर व्यक्तियों एवं समूहो के पारस्परिक सम्बन्धो का विशेष महत्त्व है। उत्प्रवास, जनसंख्या नियंत्रण, उत्पादन मे विकास आदि महत्त्वपूर्ण पारिस्थितिकीय कारक हैं जो सामाजिक स्तरीकरण का नियंत्रण, सचालन एवं सन्तुलन करते हैं।

(6) अनुक्रमण एवं आक्रमण (Succession and Invasion)—सामाजिक पारिस्थितिकी में सामाजिक परिवर्तन और अनुक्रमण की व्याख्या और मापन किया जाता है। समय-समय पर नए महत्त्वपूर्ण केन्द्रों की संख्या और गुणवत्ता तथा सेवाओ के वितरण की प्रवृत्ति का अध्ययन किया जाता है। नवीन सामाजिक व्यवस्था के विकास और आक्रमण की गति को मापा जाता है जो सामाजिक परिवर्तन और अनुक्रमण को स्पष्ट करती है। मानव पारिस्थितिकी में हम अनुक्रमण देख सकते है जो देश के स्थानीय केन्द्रो एवं शहरो में समन्वित रुचि, सेवाओ और संस्थाओं के रूप मे उभरते हैं। सामाजिक जगत में आर्थिक इतिहास अनुक्रमण के उदाहरण स्पष्ट करता है। यहाँ पर प्रवृत्ति विकासात्मक व्यवस्थान की ओर होती है। अनुक्रमण वानिकी से कृषि और अपरिष्कृत कृषि से गहन खेती, उद्योग, वाणिज्य, जन-संख्या के पुनः वितरण एवं सामाजिक संरचनाओ तथा सस्थाओं के पुनर्गठन के क्रम मे होता है।

अनुक्रमण क्षेत्र, क्षेत्र का उप-विभाजन, ग्राम और नगर के आधार पर होता है। कस्बो एवं नगरों मे जनसख्या वृद्धि से गिरजाघर, मन्दिर, पाठशालाएँ, औषधालय, भोजनालय एवं अन्य सेवाओ के संस्थानो की संख्या मे वृद्धि होती चली जाती है। इसी प्रकार से आबादी के बढने से कपड़ो की दुकाने, परचूनी एवं पंसारी की दुकाने आदि के आकार और बिक्री मे वृद्धि होती है। जितनी अधिक गतिशीलता होगी उतनी ही तेजी से सभी क्षेत्रो मे अनुक्रमण होगा। नगर से अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में बैंक, वाणिज्य प्रतिष्ठान, दुकाने, सास्कृतिक सस्थाएँ, दैनिक समाचार पत्र, रेडियो आदि पहुँचते हैं जो ग्रामीण जीवन व्यवस्था को परिवर्तित करते है। इस प्रकार से सामाजिक पारिस्थितिकी समाज से सम्बन्धित अनेक पक्षो मे अनुक्रमण और आक्रमण की प्रक्रिया का अध्ययन एवं मूल्याकन करती है।

(7) सामाजिक संतुलन (Social Equilibrium)—मुकर्जी ने सामाजिक पारिस्थितिकी मे सामाजिक सन्तुलन को प्रक्रिया पर अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है। आपने सामाजिक सन्तुलन को एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया बताया है। समाजशास्त्र सामाजिक सन्तुलन को न केवल जैविक या आर्थिक सन्तुलन के रूप मे देखता है बल्कि यह संस्थाओ की समरसता और मानव के विभिन्न आवेगो, रुचियों, मूल्यो, सद्‌गुणों एवं व्यक्तित्त्व के प्रकारो के अनुसार देखता है। समाजशास्त्र सामाजिक सन्तुलन को सामाजिक समरसता और प्रस्थिति, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता एवं नियन्त्रण के वितरणो में न्याय के आधार पर व्यक्त करता है। यह भी समाजशास्त्र समुदाय के अनुसार देखता है। सामाजिक सन्तुलन एक जैविकीय एवं अर्थशास्त्रीय वास्तविकता के रूप में निश्चित व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए काम मे लिए जाते हैं। पारिस्थितिक सन्तुलन को आर्थिक सन्तुलन के द्वारा प्राप्त किया जाता है और जब अधिकतम सामाजिक कल्याण एवं न्याय प्राप्त कर लिए जाते है तब आर्थिक सन्तुलन भी स्थापित हो जाता है। समाज मे अचानक जनसंख्या मे वृद्धि या कमी हो जाती है तब असन्तुलन आ जाता है। उत्पादन, धन, वस्तुओ, सेवाओ आदि मे परिवर्तन पारिस्थितिक, आर्थिक एवं समाजशास्त्रीय कारणों से आते हैं जो व्यक्तिगत, सामुदायिक, सामाजिक आदि सन्तुलन को प्रभावित करते है। अनेक राजनैतिक कारक, जैसे—दीर्घ राजनैतिक अनिश्चितता, युद्ध, सम्पत्ति सम्बन्धी असुरक्षा, उच्च कर, कर्ज मे वृद्धि, साख पर दबाव, मुद्रा स्फीति, व्यापार मे अनिश्चितता आदि असन्तुलन पैदा कर देते हैं। अन्य मनोवैज्ञानिक कारक, जैसे—फैशन, जीवन के तरीको, दृष्टिकोण, श्रमिक एव धन सम्बन्धी धारणाओं के कारण भी असन्तुलन पैदा होता है।

समाज ने सर्वदा मानव की जैविक इच्छाओ और पर्यावरण मे सम्पत्ति, प्रस्थिति, स्वतन्त्रता और नियन्त्रणो को सस्थाओ द्वारा सन्तुलन बनाया है। सामाजिक सहयोग, प्रस्थिति, सम्पत्ति और नियन्त्रण के द्वारा व्यक्ति की जन्मजात आवश्यकताओ और सीमित साधनों के मध्य सन्तुलन बनाए रखा है। इतना ही नही इसके द्वारा आर्थिक रुचियो और समाज कल्याण तथा न्याय मे भी सन्तुलन बनाए रखा है। सस्थाओ ने व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, व्यक्ति और वस्तुओ के बीच या लोगो की पारस्परिक सेवाओं में भी सन्तुलन बनाया है।

मुकर्जी ने इस प्रकार से सामाजिक पारिस्थितिकी के महत्त्वपूर्ण पक्षो पर समाज, आर्थिकी, पर्यावरण, व्यक्ति, जीव, पेड़-पौधो आदि के सन्दर्भ मे प्रकाश डाला है।



अध्याय-14

पर्यावरणीय प्रदूषण

(Environmental Pollution)

आजकल सामाजिक-आर्थिक विकास, पर्यावरण, निर्धनता, प्रदूषण व मानवीय विकास के परस्पर सम्बन्धों पर बहुत ध्यान दिया जा रहा है। सामाजिक विकास के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता व सफाई, आवास, पेयजल, पर्याप्त आय आदि पर बल दिया जाने लगा है। स्थाई सामाजिक विकास के लिए पर्यावरण की सुरक्षा एवं विकास पर उचित एवं पर्याप्त रूप से ध्यान देना होगा। यह सर्वविदित है एवं विभिन्न सामाजिक तथा प्राकृतिक वैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि अगर किसी भी प्रकार का विकास कार्यक्रम अथवा योजना पर्यावरण को क्षति पहुँचाता है तो ऐसा विकास स्थायी, सुस्थिर एवं हानि रहित नही हो सकता। ऐसा विकास भविष्य में समाज और मानव पर घातक प्रभाव डालता है। विद्वानों का सुझाव है कि सामाजिक विकास कार्यक्रम—पर्यावरण मैत्रीपूर्ण तथा जन-मैत्रीपूर्ण होना चाहिए। आज अनेक प्रकार के आविष्कारों, परिस्थितियो, उत्पादन के औद्योगिकीकरणों, यातायात के साधनों से उत्पन्न प्रदूषण के कारण पर्यावरण एवं सामाजिक विकास के अध्ययन का महत्त्व बढ़ गया है। इसी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए अग्र पृष्ठों मे पर्यावरण एवं सामाजिक विकास से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण आयामो पर प्रकाश डाला जाएगा।

पर्यावरण की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Environment)

पर्यावरण शब्द दो शब्दो परि+आवरण से मिलकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है—परि = चारो ओर तथा आवरण = घेरा अर्थात् हमें चारों ओर से घेरने वाला ही पर्यावरण कहलाता है। पर्यावरण का सामान्य अर्थ जल, वायु, पहाड़, भूमि, मरुस्थल, पेड़-पौधे, नदियाँ आदि से लगाया जाता है। पर्यावरण से तात्पर्य है जो कुछ हमें चारो ओर दिखाई देता है या जिनका हम अनुभव करते हैं। उदाहरण के रूप मे जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, भूमि, जल, नदी, वायु, अन्य प्राकृतिक वस्तुएँ आदि का रूप ही पर्यावरण का निर्माण करते हैं।

(1) ई. जे. रॉस की मान्यता है कि, "पर्यावरण एक बाह्य शक्ति है जो हमे प्रभावित करती है।"

(2) हर्षकोविट्स के अनुसार, "पर्यावरण उन सब बाहरी दशाओ और प्रभावों का योग है जो प्राणी या अवयवी के जीवन और विकास पर प्रभाव डालते हैं।"

(3) फिटिंग का कहना है, "जीवों के पारिस्थितिकी कारको का योग पर्यावरण है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट हो जाता है कि पर्यावरण एक जटिल, समग्र एवं विस्तृत अर्थ रखने वाली अवधारणा है जिसका क्षेत्र व्यापक है। संक्षेप में, मानव के चारो ओर जो भी घटक, तत्त्व, कारक आदि विद्यमान है, और मानव को प्रभावित करते हैं, पर्यावरण कहलाते हैं।

प्रदूषण का अर्थ (Meaning of Pollution)

पर्यावरण के विभिन्न घटको—जल, थल, नभ, वायु आदि में ऐसा परिवर्तन जो कि इन घटको के भौतिक, रसायनिक व जैविक गुणो में परिवर्तन करे, प्रदूषण कहलाता है।

पर्यावरण के अंगो—भूमि, जल, वायु आदि के शुद्ध स्वरूपों में अगर बाहर के ऐसे पदार्थों का सम्मिश्रण हो जाता है तथा उनकी विशेषताओ एवं गुणवत्ताओं मे गिरावट आ जाती है तो उसे प्रदूषण कहा जाता है। प्रदूषण को अग्र उदाहरणो से समझा जा सकता है। जल मे गन्दगी, सूक्ष्म जीवाणुओ या मैलापन आदि का प्रवेश जल प्रदूषण कहलाएगा। इसी प्रकार से वायु मे अनेक प्रकार की गैसों का प्रवेश वायु प्रदूषण कहलाएगा। भूमि में भाँति-भाँति के रासायनिक पदार्थों का प्रवेश तथा उससे भूमि की गुणवत्ता मे अवनति का होना भूमि प्रदूषण कहलाएगा। साराशतः पर्यावरण के घटकों—जल, थल, नभ, वायु आदि में ऐसा परिवर्तन जो इन घटको के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों मे परिवर्तन करे, प्रदूषण कहलाता है।

मानव तथा मानव-समाज का सम्बन्ध प्रमुखतः जल, वायु, भू, ध्वनि और परमाणु विखण्डन से होता है। इन पर्यावरण के घटको मे अगर प्रदूषण होता है तो इसने दुष्प्रभावों से मानव समाज का जीवन संकट में पड़ जाएगा तथा सामाजिक विकास के स्थान पर विनाश अवश्यम्भावी है। मानव समाज की खुशहाली, विकास एवं सुरक्षा के लिए इन घटकों के प्रदूषण से संरक्षण अत्यावश्यक है।

इस स्तर पर निम्न प्रकार के प्रदूषण विद्यमान हैं—

(1) स्थानीय स्तर पर प्रदूषण (Pollution at Local Level)—जल प्रदूषण, शुद्ध पेयजल का अभाव, गन्दे पानी के जमा होने तथा निकास की व्यवस्था का अभाव, रुके हुए पानी में मक्खी-मच्छरों की वृद्धि, गाँवो तथा नगरो के प्रतिदिन के कूडा-कचरा का जमाव, सफाई का अभाव, लकडी के चूल्हो से पैदा हुए धुएँ से घरों मे वायु प्रदूषण जिसका विशेष रूप से बच्चो एवं स्त्रियो के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव, नगरो में वाहनों से उत्पन्न वायु एवं ध्वनि प्रदूषण आदि हैं।

(2) राष्ट्रीय स्तर पर प्रदूषण (Pollution at National Level)—इस स्तर पर भी अनेक प्रकार के प्रदूषण देखे जा सकते हैं, जैसे नदी प्रदूषण, मिट्टी का कटाव, मिट्टी में लवणता एव क्षारीयता में वृद्धि, प्रदूषण फैलाने वाले उद्योग विशेष रूप से रासायनिक उद्योग, वृक्षो का नाश एव मरुस्थलीकरण आदि। इस स्तर के प्रदूषणो का प्रभाव स्थानीय एव अन्तर्राष्ट्रीय स्तरो के प्रदूषणो मे वृद्धि करने पर भी पड़ता है।

(3) भूमण्डलीय पर्यावरणीय प्रदूषण (Global Environmental Pollution)—**प्रथम**, वायुमण्डल मे ग्रीन हाउस गैसो के जमा होने से भूमण्डल मे उष्णीकरण की समस्या उत्पन्न हो रही है। ग्रीन हाउस—उष्णीकरण के बढ़ने का प्रमुख

कारण वायुमण्डल में कार्बन-डाइऑक्साइड की वृद्धि होना है। उष्णीकरण से जलवायु मे परिवर्तन आता है और वह पर्यावरण को प्रभावित करता है। द्वितीय, भूमण्डलीय स्तर के प्रदूषण में ओजोन परत के ह्रास को लिया जाता है। ओजोन की परत के क्षय से सूर्य की अल्ट्रावायलेट रेडियेशन मे वृद्धि हो जाती है। यह चर्म-कैंसर में वृद्धि पैदा करता है एवं आँखों में केटेरेक्ट की बीमारी में भी वृद्धि करता है। तीसरा, भूमण्डलीय प्रदूषण में जैविक विविधता के ह्रास को लिया जाता है। मानव अपने भोजन, दवा, रेशे तथा औद्योगिक उत्पादन कार्यो के लिए विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षियो, पेड़-पौधे तथा जीव-जन्तुओं पर आश्रित रहता है। ये विभिन्न जीव और वनस्पतियाँ अपने परिस्थितिकीय पर्यावरण में फलते-फूलते हैं। लेकिन स्वार्थी मानव के कारण इन जीवों एवं वनस्पतियो का निरन्तर विनाश होता जा रहा है। जिसमें परिस्थितिकीय असन्तुलन में वृद्धि हो रही है तथा इसका कुप्रभाव सामाजिक विकास पर पड़ रहा है।

प्रदूषण के प्रकार
(Types of Pollution)

पर्यावरण में कई प्रकार के प्रदूषण विद्यमान हैं। विद्वानों ने इन प्रदूषणों को पर्यावरण के घटकों के आधार पर प्रमुख पाँच प्रकारों में वर्गीकृत किया है—(1) जल, (2) वायु, (3) मृदा (भू), (4) ध्वनि, और (5) परमाणु विखण्डन या नाभिकीय प्रदूषण। अब इन प्रमुख प्रदूषणों की परिभाषा, स्रोत, कारण, प्रमुख प्रदूषक, प्रभाव और नियत्रण करने के उपाय आदि का विवेचन प्रस्तुत है—

(1) जल-प्रदूषण
(Water Pollution)

जल सभी प्रकार के जीवो के लिए अत्यावश्यक है। इसके बिना किसी का भी जीवन सम्भव नहीं है। जल एक पोषक तत्त्व होने के अतिरिक्त यह शरीर में पोषक तत्त्वों के वहन का कार्य भी करता है। जल के अभाव में मानव कुछ दिन ही जीवित रह सकता है। अतः स्वच्छ जल के अभाव में किसी भी प्राणी के जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। जल के द्वारा खेती की जाती है तथा भोजन पकाया जाता है। आज अनेक कल-कारखाने, वाष्प इंजन, विद्युत का उत्पादन, वातानुकूलित यंत्रों, दमकलों आदि के लिए जल प्राथमिक आवश्यकता है। पृथ्वी का दो-तिहाई भाग जल मग्न है। कुल जल सम्पदा का 93% भाग लवणीय होने के कारण मानव के लिए उपयोगी नहीं है। कुल जल का मात्र 3% भाग ही मानव के लिए उपयोगी है। इसका भी 0.6% जल सतही जल स्रोतों के रूप में उपलब्ध है तथा 2.4% जल भूमिगत एवं वाष्प के रूप में होता है। इस जल की थोड़ी-सी मात्रा पीने के लिए उपयोग की जाती है। पानी का उपयोग सिंचाई, नहाने-धोने, कल-कारखानों एवं उद्यानों में काम भी लिया जाता है।

जल के स्रोत (Sources of Water)—जल के प्रमुख दो स्रोत हैं—(1) धरातल स्रोत, एवं (2) भूमि स्रोत। **धरातल स्रोतों** के अन्तर्गत नदियाँ, तालाब, धाराएँ, झीले, विभिन्न संचित वर्षा का जल गिने जाते हैं। **भूमि स्रोत** के अन्तर्गत कुएँ, झरने, स्पंदन गैलरिया, सरन्ध्र नल गैलरियाँ आदि आते हैं। धरातल या सतही जल स्रोत ही प्रदूषित होते

है। जल के कुछ विशिष्ट गुण होते हैं। इन गुणो के नष्ट होने पर जल प्रदूषित माना जाता है। जल के प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

जल के भौतिक गुण (Physical Characteristics of Water)—यह रंगहीन द्रव्य है। इसमें घुलनशीलता अधिक होती है। शुद्ध जल में दो भाग हाइड्रोजन तथा एक भाग ऑक्सीजन का होता है। इसका पूर्ण शुद्ध रूप प्रकृति में नहीं मिलता है। वर्षा के जल में भी वायुमण्डल की ऊपरी सतहो की अनेक गैसें, धूल तथा अन्य तत्त्व मिल जाते हैं। मानव उपयोगी जल रोग उत्पन्न करने वाले बैक्टीरियाओ रहित होना चाहिए। यह सभी प्रकार की अशुद्धियों से मुक्त होना चाहिए। यह स्वादयुक्त शीतल, गंधहीन एवं रंगहीन होना चाहिए। मानव उपयोगी जल मे उपयुक्त मात्रा में घुलित ऑक्सीजन एवं मुक्त कार्बोनिक अम्ल होना चाहिए। ये रासायनिक तत्त्व जल को ताजा रखते हैं। जब किसी जल में अवांछनीय तत्त्वों के मिलने की सम्भावना नहीं होती है एव उसे शुद्ध एवं सुरक्षित साधनों में रखा जाता है तो उसे सुरक्षित जल कहते है। जिस जल में सूक्ष्म जीवाणु, जैसे—बैक्टीरिया आदि पैदा हो जाते हैं उसे संदूषित जल कहते हैं। जब जल में प्रदूषक तत्त्व मिल जाते है तथा जल की गुणवत्ता समाप्त हो जाती है तो उस जल को प्रदूषित जल कहते हैं।

जल प्रदूषण की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Water Pollution)—प्राकृतिक जल जिसमें किसी अवांछनीय बाह्य पदार्थ का प्रवेश हो जाता है जिसके कारण जल की गुणवत्ता में अवनति आ जाती है अथवा जब जल मे ऐसे बाहरी पदार्थ अथवा लवण मिल जाता है जो जल को स्वास्थ्य के लिए हानिकारक बना देता है अथवा जल की उपयोगिता कम हो जाती है तो उसे जल प्रदूषण कहते हैं।

गिलपिन ने जल प्रदूषण की निम्न परिभाषा दी है, "मानव क्रियाओं के फलस्वरूप जल के रासायनिक, भौतिक तथा जैविक गुणों में लाया गया परिवर्तन जल प्रदूषण कहलाता है।" ऐसा जल स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होने के कारण अनुपयोगी हो जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार, "जब जल में भौतिक या मानवीय कारणो से कोई बाहरी पदार्थ मिलकर जल के स्वाभाविक या नैसर्गिक गुण में परिवर्तन लाते हैं जिसका कुप्रभाव जीवों के स्वास्थ्य पर प्रकट होता है तो ऐसे जल को प्रदूषित जल कहा जाता है।" एक सीमा तक जल मे स्वत: शुद्धिकरण की सीमा होती है। लेकिन जब शुद्धिकरण की क्षमता से अधिक मात्रा मे प्रदूषण जल में पहुँचता है तब जल प्रदूषित होने लगता है। गंगा के जल में स्वत: शुद्धिकरण की क्षमता बहुत अधिक विद्यमान है।

जल प्रदूषण के कारण (Causes of Water Pollution)—जल प्रदूषण के प्रमुख कारणो में पहला, मानव के दैनिक कार्य, जैसे—नहाना, कपड़े धोना, भोजन पकाना, बर्तन साफ करना, अनचाहे स्थानो, जैसे—पानी के स्रोतो के पास मल-मूत्र विसर्जन करना तथा सीवरेज नालियों का शुद्ध जल मे छोड़ना आदि हैं। दूसरा, औद्योगिक अपशिष्ट है। बडे-बड़े उद्योगों मे उपयोग के लिए जल मे विभिन्न प्रकार के लवण, अम्ल, क्षार, गैसे एव रसायन घुल जाते हैं। ये औद्योगिक केन्द्रो से नदी, तालाब, झील या अन्य जल स्रोतो में प्रवाहित कर दिए जाते हैं। इस प्रकार औद्योगीकरण जल प्रदूषण का प्रमुख कारण बन गया है। कृषि रसायन, कीटनाशी रसायन, अपमार्जक (डिटरजेण्ट), खनिज तेल आदि जल प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं। नदियों के किनारे बसे नगरो में शवो को जल में प्रवाहित कर दिया जाता है इससे भी जल प्रदूषण फैलता है।

जल के प्रमुख प्रदूषक एवं दुष्प्रभाव (Major Pollutors of Water and Their Bad Effects)—जल में अनेक प्रदूषक विद्यमान होते हैं जो जीवों के लिए हानिकारक होते हैं। ये प्रदूषक जब एक निश्चित मात्रा से अधिक जल मे विद्यमान होते हैं तो वे जीव-जन्तुओं पर हानिकारक प्रभाव करते हैं। इनमें प्रमुख हानिकारक प्रदूषक फ्लोराइड, सीसा लैड, पारा, फिनोल, सोडियम, जस्ता, नाइट्राइड, पेथोसेनिक बैक्टीरिया या आर्मेनिज्म आदि हैं। इनकी जल में अधिक मात्रा होने पर फ्लोराइड से दाँतों का पीला पड़ना, हड्डियों का कमजोर होना; सीसा लैड से जिगर और गुर्दे खराब होना, हिमोग्लोबिन की कमी, गर्भपात, फिनोल से सिरदर्द, माँसपेशियों में कमजोरी, कम दिखाई देना, कम सुनना; पारे से लिवर, गुर्दा एवं हड्डी में प्रोटोप्लाजमिक जहर जमा होता जाता है, मुँह एवं मसूड़ों पर बुरा प्रभाव पड़ना; जस्ते से फेफड़ों का खराब होना एवं पेथोसेनिक बैक्टीरिया से हैजा, मोतीझरा, हेपाटाइड आदि बीमारियाँ हो जाती हैं। इन प्रदूषक तत्त्वों की अधिकता से महामारी भी फैलने का डर रहता है। सबसे अधिक जल प्रदूषण का प्रभाव मानव के स्वास्थ्य पर पड़ता है। प्रदूषित जल मानव जाति, समुद्री एवं जलीय जीवों को हानि पहुँचाता है। समुद्रों मे परमाणु परीक्षण करने से जल में नाभिकीय कण मिल जाते है। इससे समुद्री जीव एव वनस्पतियाँ नष्ट हो जाती हैं। प्रदूषित जल से फीताकृमि और गोलकृमि मानव शरीर में प्रवेश कर जाते हैं इससे व्यक्ति बीमार पड़ जाता है। प्रदूषित जल से मानव, अन्य जीव एव वनस्पति आदि पर अनेक दुष्प्रभाव पड़ते हैं।

भारत में जल प्रदूषण की स्थिति (Position of Water Pollution in India)—भारत मे जल प्रदूषण की स्थिति अति गम्भीर एवं शोचनीय है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में तेजी से औद्योगीकरण हुआ है। इन बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों का अपशिष्ट नदियों मे छोड़ा जाता है। इससे नदियों का जल प्रदूषित हो जाता है। भारत की लगभग सभी बड़ी-बड़ी नदियों में औद्योगिक केन्द्रो और नगरों एवं महानगरो का कचरा, चमड़े का सामान, अपशिष्ट पदार्थ, मल-मूत्र आदि छोड़ दिया जाता है। इससे नदियों का पानी प्रदूषित हो जाता है। सर्वेक्षणों के अनुसार भारत मे उपलब्ध जल का लगभग 70% जल दूषित है। दामोदर नदी में प्रतिदिन 1,60,000 घनमीटर अपशिष्ट जल छोड़ा जाता है। इसी प्रकार से दिल्ली में यमुना नदी में 40 किलोमीटर भाग में प्रतिदिन 3,20,000 किलोमीटर अनुपचारित मल बहाया जाता है जो दिल्ली शहर के कुल मल का एक तिहाई मल है। गंगा नदी देश की शुद्धतम नदी रही है उसमे जगह-जगह गन्दगी बहाकर उसे प्रदूषित नदी बना दिया गया है।

जल प्रदूषण नियंत्रण के उपाय (Means of Water Pollution Control)—मानव समाज, उसके औद्योगिक केन्द्र, जनसंख्या की वृद्धि, परमाणु परीक्षण आदि के कारण जल प्रदूषण होता है। अतः इसको नियंत्रित भी मानव समाज को ही करना होगा। जल प्रदूषण को नियंत्रित करने के उपाय एवं सुझाव निम्नलिखित हैं—

(1) किसी भी प्रकार की गन्दगी, मल-मूत्र, औद्योगिक केन्द्रों का अपशिष्ट या अपशिष्ट युक्त पदार्थों को जलाशयो मे मिलाने नहीं दिया जाए। कानून द्वारा इस पर प्रतिबन्ध लगाया जाए। अपशिष्ट पदार्थों की निष्पादन से पूर्व दोष रहित किया जाए।

(2) नदी, तालाब, कुएँ, इत्यादि पेयजल के स्रोतों के पास दीवार बनाकर उन्हे गन्दगी से सुरक्षित किया जाए।

(3) विभिन्न प्रकार के दूषित एवं मलिन जल को संशोधन संयंत्रो द्वारा उपचारित करने के बाद नदियो एवं तालाबों में डाला जाए।

(4) कुओ, नदियों, तालाबों अर्थात् जलाशयों के पास कपड़े धोने, नहाने आदि पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।

(5) तालाबों, नदियों आदि मे पशुओं के प्रवेश पर रोक लगाई जाए।

(6) ऐसे उद्योगों को जो जलाशयों में प्रदूषित जल छोड़ते हैं उनको नदी, तालाबो, झीलो आदि के पास स्थापित करने पर कानूनी रोक लगाई जाए।

(7) कृषि में उर्वरकों एवं कीटनाशकों के उपयोग को सीमित किया जाए तथा आवश्यकता से अधिक उपयोग को प्रतिबन्धित किया जाए।

(8) जलाशयों मे मछली पालन को प्रोत्साहित किया जाए इससे जल की शुद्धता बढ़ेगी तथा जलीय खरपतवार को नष्ट भी किया जा सकेगा।

(9) पीने के पानी के जल स्रोतों, जैसे—कुओ को ढककर रखा जाए।

(10) समाज व जनसाधारण में शिक्षा द्वारा जल प्रदूषण के खतरों की शिक्षा दी जाए तथा जल-रक्षण की चेतना पैदा की जाए।

(11) कार्बनिक पदार्थों के निष्पादन से पूर्व उनका ऑक्सीकरण किया जाए।

(12) पानी में जीवाणुओं का नाश करने के लिए रासायनिक पदार्थों, जैसे—ब्लीचिंग पाउडर का प्रयोग किया जाए।

(13) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समुद्रो मे परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाई जाए।

अगर जल प्रदूषण की रोकथाम पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया तो भविष्य में जल प्रदूषण मानव समाज के लिए एक बड़ा खतरा बन जाएगा।

(2) वायु प्रदूषण
(Air Pollution)

वायु सभी जीवों के लिए अत्यावश्यक है। मानव वायु के बिना कुछ मिनिट तक ही जीवित रह सकता है। वायु जीवनदायी तत्त्व है। शुद्ध वायु स्वस्थ जीवन का आधार है। एक व्यक्ति प्रतिदिन 16 किलोग्राम वायु श्वांस के रूप मे उपयोग करता है। अन्य प्राणियों एव पेड-पौधे भी वायु के कारण ही जीवित रहते हैं। वायुमण्डल पर्यावरण का एक महत्वपूर्ण भाग है। एक व्यक्ति दिनभर में औसतन 20 हजार बार श्वांस लेता है। श्वसन के लिए ऑक्सीजन आवश्यक होती है। यह ऑक्सीनजन मानव, जीवों एवं पेड़-पौधो को वायुमण्डल से प्राप्त होती है। शुद्ध वायु मे 21% ऑक्सीजन, 78% नाइट्रोजन, 0 03% कार्बन-डाई-ऑक्साइड एवं 0 97% वाष्प (जल) तथा अन्य गैसें विद्यमान होती हैं। श्वसन क्रिया में जीव वायु मे से ऑक्सीजन लेते हैं और कार्बनडाई-ऑक्साइड छोड़ते हैं। हरे पौधे सूर्य के प्रकाश में वायु में से कार्बन-डाइड-ऑक्साइड लेते हैं और ऑक्सीजन छोड़ते हैं। अतः वायुमण्डल मे ऑक्सीजन और कार्बनडाई-ऑक्साइड का सन्तुलन पेड़-पौधे बनाए रखते हैं। आज अनेक स्थानों पर वायु प्रदूषण एक गम्भीर समस्या बनती जा रही है।

वायु प्रदूषण की परिभाषा (Definition of Air Pollution)—विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वायु प्रदूषण की निम्न परिभाषा दी है, "वायु प्रदूषण एक ऐसी स्थिति है जिसमें

बाह्य वातावरण में मनुष्य और उसके पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले तत्त्व सघन रूप में एकत्र हो जाते हैं।"

वायुमण्डल में अवांछनीय तत्त्वों की मात्रा इतनी बढ़ जाए कि उससे जीवों, पेड़-पौधों एवं वनस्पतियों को हानि पहुँचे तो उसे वायु प्रदूषण कहते हैं।

वायु प्रदूषण के कारण (Causes of Air Pollution)—वायु प्रदूषण के कारणों को दो भागों में बाँटकर देखा जा सकता है—(1) प्राकृतिक, और (2) मनुष्यकृत।

(1) **प्राकृतिक कारण** (Natural Cause)—वनों में लगी आग, ज्वालामुखी से निकलने *वाली हानिकारक गैसों, तेज हवाओं से उड़ने वाले धूल, मिट्टी के कण आदि वायु* प्रदूषण के प्रमुख प्राकृतिक कारण हैं।

(2) **मनुष्यकृत कारण** (Man Made Reasons)—घरों मे जलने वाला ईंधन, वाहनों द्वारा निकली विषैली गैसें, औद्योगिक अपशिष्ट, नाभिकीय विस्फोट आदि मानव द्वारा उत्पन्न वायु प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं।

वायु प्रदूषण के स्रोत (Sources of Air Pollution)—वायु में प्रदूषण अनेक तत्त्वों द्वारा उत्पन्न होता है। अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न इन्हें सात प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) **घरेलू प्रदूषण** लकड़ी, गोबर एवं कृषि कचरे के उपयोग द्वारा उत्पन्न धुएँ से होता है। कलकत्ता महानगर में प्रतिदिन औसतन 1200 टन कोयला घरेलू चूल्हों में जलाया जाता है, जिसके धुएँ से वायु प्रदूषण पैदा होता है।

(2) **कृषि के क्षेत्र मे** फसलों को हानिकारक जीवों से सुरक्षित रखने के लिए जीवनाशी रसायनों, कीटनाशकों का छिड़काव करने से कुछ सीमा तक ये वायु में मिलकर वायु प्रदूषण में वृद्धि करते हैं। ऐसे रसायनों का छिड़काव वायु में रसायनो की वृद्धि करता है।

(3) **व्यक्तियों द्वारा** सार्वजनिक स्थानों पर धूम्रपान करने से वायु में धुआँ में वृद्धि होती है।

(4) **औद्योगिक केन्द्रों** द्वारा वायु प्रदूषण बढ़ता है। उर्वरक उद्योग नाइट्रोजन, ऑक्साइड, पोटेशियम युक्त उर्वरक पोटाश के कण; इस्पात उद्योग से कार्बनडाई-ऑक्साइड, सल्फर-डाइ-ऑक्साइड, धूल के कण, सीमेन्ट उद्योग से कैल्शियम, सोडियम, एल्यूमीनियम, सिलिकन के कण वायु में प्रवेश कर वायुमण्डल में प्रदूषण फैलाते हैं।

(5) **वाहनों द्वारा वायु प्रदूषण** उनके द्वारा निकाला गया धुँआ प्रदूषण पैदा करता है। *वाहनों के धुएँ मे अनेक प्रकार की जहरीली गैसें, जैसे—प्रदूषण सीसा मोनो-ऑक्साइड,* सल्फ्यूरिक एसिड आदि होती हैं, उससे वायुमण्डल में प्रदूषण फैलता है तथा वायु की गुणवत्ता कम हो जाती है। **वायुयान** से सल्फर-डाइ-ऑक्साइड, तेल उद्योग से हाइड्रोकार्बन, रेल इंजन से कार्बन-मोनो-ऑक्साइड, नाइट्रोजन, ऑक्साइड, हाइड्रोकार्बन आदि जहरीली गैसें निकलती हैं। इन गैसों से वायु में प्रदूषण पैदा होता है।

(6) **दुर्घटना से प्रदूषण** पैदा होता है। भोपाल गैस काण्ड, चैरनोबिल में आणविक विद्युत्-गृह में रिसाव की घटनाओं से भयकर वायु प्रदूषण फैला था। युद्ध में हथियारों द्वारा विषैली गैसे पैदा होती हैं। ईरान-अफगानिस्तान युद्ध में भयकर वायु प्रदूषण फैला था।

वायु प्रदूषण के दुष्प्रभाव (Bad Effects of Air Pollution)—वायुमण्डल में 21% ऑक्सीजन होती है अगर इसकी मात्रा घटकर 12% हो जाती है तब तक तो मानव सहित सभी जीवधारियों को कोई विशेष खतरा नहीं है। लेकिन इससे कम मात्रा में होने पर जीवों में अनेक बीमारियाँ हो जाती हैं। वायु प्रदूषण से अनिद्रा, दमा, टॉन्सिल, आँख एवं त्वचा रोग, ब्रोन्काइटिस, घुटन, मानसिक थकावट, सर्दी, जुकाम, ज्वर, इन्फ्लुएन्जा आदि बीमारियों में वृद्धि हो जाती है। इस प्रदूषण के कारण सूक्ष्म जीवाणु वातावरण में बहुत अधिक फैल जाते हैं और वे कभी-कभी महामारी फैला देते हैं। कुछ प्रमुख वायु प्रदूषण एवं उनके दुष्प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(1) **वाहनों से निकलने वाले धुँए** में कार्बन मोनो-ऑक्साइड, नाइट्रोजन ऑक्साइड और सल्फर डाई-ऑक्साइड आदि गैसें निकलती हैं जिनसे श्वसन सम्बन्धी एवं अन्य रोगों में वृद्धि हो जाती है, जैसे—रक्त की ऑक्सीजन धारण शक्ति में कमी, धूल तथा धूम का फेफड़ों में जाना, श्वसन तंत्र का संकुचन, सिरदर्द, उल्टियाँ आदि।

(2) **रासायनिक उद्योगों से निकलने वाली वाष्प** से अनेक प्रकार के रोग, जैसे—गले तथा आँखों में जलन, जी-मिचलाना, दन्त-रोग, फुसफुस सम्बन्धी रोग, श्वसन तंत्र का संकुचन, श्वसन तंत्र के रोगों से मृत्यु आदि फैलते हैं।

(3) **एल्यूमिनियम तथा सुपर फॉस्फेट के कारखानों** से वायु में क्लोरीन गैस की मात्रा में वृद्धि होने से हड्डियों एवं दाँतों के रोगों में वृद्धि हो जाती है। क्लोरीन का सम्पूर्ण श्वसन तंत्र पर प्रभाव पड़ता है। इससे आँख एवं अन्य श्लेष्मिक झिल्ली के प्रदाह में भी वृद्धि होती है।

(4) **कल-कारखानों से निकलने वाली गैसों**, जैसे—सल्फर-डाई-ऑक्साइड, क्लोरीन, अमोनिया, कार्बन-डाई-ऑक्साइड आदि से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं तथा फैलते हैं। इन गैसों से उत्पन्न होने वाले प्रमुख रोग—आँखों में जलन, श्वसन तंत्र का संकुचन, सिरदर्द आदि हैं।

वायु प्रदूषण के नियंत्रण के उपाय (Measures for Controlling Air Pollution)—वायु प्रदूषण एक गम्भीर समस्या है इसको नियंत्रित करने के लिए विद्वानों ने निम्न उपायों का सुझाव दिया है—

(1) कल-कारखानों की चिमनियों की ऊँचाई अधिक रखी जाए तथा उनमें ऐसे यंत्र लगाए जाने चाहिए जो उनसे निकलने वाले धुएँ, गैसों तथा धूलि कणों का अवशोषण कर सकें। ऐसा करने से कारखानों की विषैली गैसों का आस-पास रहने वाले लोगों पर सीधा असर नहीं पड़ेगा।

(2) ऐसे उद्योग जो बहुत अधिक प्रदूषण फैलाने वाले हैं उन्हें शहरों तथा व्यक्तियों से बहुत दूर स्थापित करना चाहिए। उन्हें घनी आबादी जहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक हो वहाँ से दूर रखना चाहिए।

(3) वाहनों से निकलने वाले धुएँ को नियंत्रित करना चाहिए। राज्य सरकार के सम्बन्धित विभागों को वाहनों की नियमित जाँच करनी चाहिए कि वे वाहन वातावरण में प्रदूषण तो नहीं फैला रहे हैं। सीमा से अधिक प्रदूषण फैलाने वाले वाहनों के चालकों एवं मालिकों पर कानूनी कार्यवाही की व्यवस्था करनी चाहिए।

(4) कल-कारखानो, औद्योगिक केन्द्रों आदि के आस-पास सघन पेड़-पौधे लगाने चाहिए जिससे कई प्रकार के प्रदूषक तत्त्वों का वृक्षावली के द्वारा अवशोषण हो सके। वन-संरक्षण के विशेष उपाय किए जाने चाहिए।

(5) वायु प्रदूषण में कार्य करने वाले श्रमिकों, मजदूरों तथा सम्बन्धित लोगों को प्रदूषण से तत्काल बचाव एवं दीर्घावधि सुरक्षा की शिक्षा देनी चाहिए। आपातकाल की स्थिति में गैसों के प्रदूषण से बचने के तरीके भी बताने चाहिए।

(3) मृदा-प्रदूषण
(Soil Pollution)

पृथ्वी के ऊपरी सतह के पदार्थों के विघटन का परिवर्तित रूप मृदा कहलाता है। मृदा विभिन्न मिट्टियों से मिलकर बनती है। इसके भौतिक, रासायनिक तथा जैविक गुण होते हैं। वाडिया ने लिखा है कि, *''भू-पृष्ठ की ऊपरी सतह को ढकने वाले ढीले-ढाले पदार्थ को मृदा कहते हैं।''* *यह पृथ्वी का आधारी भाग है। हिलगार्ड के अनुसार, ''मृदा भूपटल का वह क्षारित पदार्थ है जिसमें अनेक कार्बनिक एवं अकार्बनिक पदार्थ का सम्मिश्रण होता है तथा वह पौधों को उगाने में आवश्यक भोज्य पदार्थ प्रदान करता है।''* चट्टानों का विघटन, वर्षा, ताप, वायु, भूस्खलन आदि भौतिक कारकों तथा ऑक्सीकरण, हाइड्रोजन, हाइड्रोलायसिस, कार्बोरेशन आदि रासायनिक क्रियाओं तथा कवक, जीवाणु, लाइकेन और केचुए जैसे जैविक कारकों के परिणामस्वरूप होता है। मृदा चट्टानो के टूटे भागो और ह्यमन के पारस्परिक संयोग से बनती है। इन्ही विशेषताओं का संक्षिप्त मे मर्दा की परिभाषा में डोक्सा शेव ने निम्न शब्दों मे वर्णन किया है। आपके अनुसार, *''मृदा मात्र शैलों, पर्यावरण, जीवों और समय की पारस्परिक क्रियाओं का परिणाम है।''*

मृदा एक प्रकार से भू-पृष्ठ की वह सतह या परत है जिसका निर्माण चट्टानों, खनिजो एवं कार्बनिक पदार्थों के अपक्षय से होता है एवं जिसमें जल, वायु तथा सूक्ष्म जीव पाए जाते हैं। यह पेड़-पौधों एवं जीव-जन्तुओं (केचवा) को पोषण प्रदान करने की क्षमता से परिपूर्ण होती है।

- **मृदा प्रदूषण का अर्थ** (Meaning of Soil Pollution)—सामान्यतया मृदा प्रदूषण से तात्पर्य मानव की विभिन्न क्रियाओ के परिणामस्वरूप मिट्टी में अवांछनीय तत्त्वों के प्रवेश से होता है। प्रदूषण के कारण मृदा की गुणवत्ता में कमी आने लग जाती है और मृदा का ह्रास शुरू हो जाता है। प्रदूषित जल, रसायनयुक्त कीचड़, कूड़ा, कृत्रिम उर्वरकों का अधिक प्रयोग, कीटनाशक दवा आदि ऐसे कारक हैं जिनके कारण मृदा की गुणवत्ता में ह्रास होता है। मृदा के भौतिक, रासायनिक तथा जैविक गुणों पर पड़ने वाले हानिकारक एवं प्रतिकूल प्रभाव को ही मृदा प्रदूषण कहा जाता है।

मिट्टी में विभिन्न लवण, कार्बन तत्त्व, खनिज, गैसें तथा जल एक निश्चित अनुपात में विद्यमान होते हैं। जब इनके निश्चित अनुपात मे कमी आ जाती है तथा मृदा अपनी उर्वरता खो देती है तो यह मृदा प्रदूषण कहलाता है। यह भू-प्रदूषण अथवा मृदा प्रदूषण मानव कृत भी हो सकता है या प्राकृतिक कारकों के कारण, जैसे—ज्वालामुखी का फटना, बाढ़ का आना आदि से भी हो सकता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भूमि के भौतिक, रासायनिक तथा जैविक गुणों में इस प्रकार का कोई भी अवांछनीय परिवर्तन या प्रभाव मानव एवं अन्य जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पौधो पर पड़े या जिसके द्वारा मृदा की प्राकृतिक गुणवत्ता एवं उपयोगिता नष्ट हो, मृदा प्रदूषण कहलाता है।

मृदा प्रदूषण के कारण (Causes of Soil Pollution)—मृदा प्रदूषण के विभिन्न कारणों को चार प्रमुख रूपो में वर्गीकृत किया जा सकता है—(1) घरेलू अपशिष्ट, (2) नगरपालिका अपशिष्ट, (3) औद्योगिक अपशिष्ट, एवं (4) कृषि अपशिष्ट।

(1) घरेलू अपशिष्ट—जिन ग्रामों, कस्बो एवं बस्तियों में अपशिष्ट उठाने की व्यवस्था नहीं है वहाँ पर घरेलू अपशिष्ट मृदा प्रदूषण का प्रमुख कारण एवं स्रोत है। घरेलू अपशिष्ट के अन्तर्गत रसोई की जूठन, राख, झाड़न की धूल, सूखा कचरा, रद्दी, कागज, पत्तियाँ, लकड़ी, काँच, चीनी के टूटे बर्तन, टीन-प्लास्टिक के डिब्बे, थैलियाँ, कपड़ों के चिथडे आदि मृदा प्रदूषण के प्रमुख कारण हैं। इनके कारण मक्खी, मच्छर एवं विभिन्न रोगों के कीटाणुओं का जन्म होता है तथा इससे महामारी तक फैल जाती है।

(2) नगरपालिका अपशिष्ट—जिन ग्रामों, कस्बों, नगरो तथा महानगरों मे पंचायत, नगरपालिका या नगरनिगम होते हैं, वे अपने क्षेत्र के अपशिष्टों को बस्ती के या नगर के बाहर इधर-उधर, अव्यवस्थित तथा अवैज्ञानिक रूप से फेंक देते हैं। इन अपशिष्टों के अन्तर्गत घरो का कूड़ा-करकट, घरों के शौचालयों का मल, गंदे नाले तथा नालियो का दूषित मरे हुए पशुओ की लाशें तथा अन्य अनेक छोटी-बड़ी अनुपयोगी चीजें आती हैं। इनके द्वारा मृदा प्रदूषण फैलता है।

(3) औद्योगिक अपशिष्ट—औद्योगिक संस्थानों से निकाले गए अपशिष्ट पदार्थों से मृदा प्रदूषण फैलता है। नव-विकसित औद्योगिक देशों में उत्पादन की इकाइयों द्वारा जलनशील विषैले एवं दुर्गन्धयुक्त अपशिष्ट रासायनिक घोल, व्यर्थ किया गया कच्चा माल आदि अव्यवस्थित और अवैज्ञानिक रूप से बाहर फैंक दिए जाते हैं जिससे मृदा प्रदूषण होता है।

(4) कृषि अपशिष्ट—खेती के द्वारा अनेक प्रकार के अपशिष्ट बचते हैं जो मृदा प्रदूषण के कारण के रूप मे प्रभाव डालते हैं। फसलो के कटने के बाद घास-फूंस, बीज, पत्ते, डण्ठल, बेले आदि खेत मे पड़े रह जाते हैं जिससे मृदा की प्राकृतिक क्षमता पर हानिकारक प्रभाव पडता है। अधिक फसल पैदा करने के उद्देश्य से कीटनाशक दवाइयो, विभिन्न रासायनिक खादों के प्रयोग से मृदा-प्रदूषण फैलता है। बढ़ती जनसंख्या की खाद्यान्न सम्बन्धी पूर्ति के लिए गहन खेती द्वारा अधिक अन्न उत्पादन पर जोर दिया जाता है। वर्ष में अनेक फसलें उगाई जाती हैं, इससे मृदा की उर्वरा शक्ति घटती चली जाती है। गहन खेती से मृदा में से पोषक तत्त्व, लोहा, जिंक, ताँबा, सल्फर, मैग्नीशियम आदि कम होते चले जाते हैं और अन्त में भूमि बंजर हो जाती है। अधिक सिंचाई से मृदा में खारापन बढ़ जाता है। खेतों मे पानी का जमाव बना रहता है। भारत में कृषि अपशिष्ट, अधिक सिंचाई एवं रसायन खाद के कारण 70 लाख हैक्टेयर भूमि खेती के लिए बेकार हो गई है।

(5) अन्य कारण—इन कारणों के अतिरिक्त मरुस्थलीय, नाभिकीय विस्फोट, वनोन्मूलन, कीटनाशक कृत्रिम उर्वरक आदि के कारण भी मृदा प्रदूषण होता है। भू-क्षरण

द्वारा भी कृषि क्षेत्र की ऊपरी सतह की मिट्टी धीरे-धीरे कुछ वर्षों एवं समम में बंजर हो जाती है।

मृदा प्रदूषण के दुष्प्रभाव (Bad Effects of Soil Pollution)—मृदा प्रदूषण के अनेक दुष्प्रभाव, जैसे—बीमारियों में वृद्धि, महामारियाँ, मृद्धा की उत्पादन शक्ति का ह्रास आदि हैं जो निम्नलिखित हैं—

(1) समाज के लोगों के मल का निक्षेपण तथा निष्कासन व्यवस्थित तरीकों से नहीं होने के कारण वातावरण दूषित होने के साथ-साथ जन-स्वास्थ्य के लिए एक गम्भीर खतरा उत्पन्न कर देता है। इस मृदा प्रदूषण के कारण अनेक बीमारियाँ, जैसे—पेचिस, हैजा, आंत्रशोथ, टाइफायड ऐसे ही अन्य अनेक रोग फैलते हैं।

(2) घरों से गन्दा पानी गलियों एवं सड़कों पर फैल जाता है जिससे जगह-जगह मक्खी-मच्छर आदि पैदा होते हैं और उनसे विभिन्न बीमारियाँ फैल जाया करती हैं।

(3) मानव बस्तियों, गाँवों, कस्बों तथा नगरों में कूड़े-करकट के कारण आसपास की भूमि अस्वच्छ हो जाती हैं। इन गन्दगियों से दुर्गन्ध फैलती है तथा मक्खी, मच्छर, कीड़े-मकोड़े, चूहो आदि का प्रकोप बढ़ जाता है। इससे विभिन्न रोगो को फैलाने वाले कीटाणु तेजी से पनपते हैं और हैजा, मलेरिया, पीलिया, मोतीझरा, आँत्रशोथ पेचिश, तपेदिक, आँखों की बीमारियाँ आदि रोग तेजी से फैलते हैं।

(4) विभिन्न प्रकार के औद्योगिक अपशिष्टों और जल एवं भूमि प्रदूषण के कारण मानव, पशु-पक्षी आदि के जीवन एवं स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है, एवं भूमि की उर्वरकता भी कम हो जाती है।

(5) भारत की लगभग 74% जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है जहाँ पर मल-निक्षेपण की कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं होती है। शहरों एवं महानगरो में भी इस व्यवस्था का अभाव होता है। इसी कारण भारत की अधिकांश जनसंख्या का स्वास्थ्य खराब है।

मृदा प्रदूषण के नियंत्रण के उपाय (Measures for Controlling Soil Pollution)

(1) समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने घर के अपशिष्ट पदार्थों कूड़ा-करकट आदि को निर्धारित स्थान पर रखने का ध्यान रखना चाहिए। सम्बन्धित संस्था, नगरपालिका, पंचायत, नगरनिगम आदि को भी मल एवं गन्दगी को एकत्र करने के लिए उचित स्थान की व्यवस्था करनी चाहिए।

(2) खेती के उपयोग में लाने वाले रसायनों को कम-से-कम व्यवहार में लाना चाहिए जहाँ तक सम्भव हो कृत्रिम उर्वरकों के स्थान पर परम्परागत गोबर खाद का प्रयोग करना चाहिए। फसलो पर विषैली दवाओ के प्रयोग को कानूनन प्रतिबन्धित कर देना चाहिए।

(3) भूमि को कटाव से रोकने के लिए वनों के विनाश पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। पेड़ो को लगाने की निरन्तर संख्या बढ़ानी चाहिए। वन क्षेत्रों के विकास की उचित व्यवस्था एवं योजनाओं का निर्माण करना चाहिए।

(4) मृदा संरक्षण के लिए सभी उपाय करने चाहिए। बाढ़ नियत्रण के लिए योजना बनानी चाहिए।

(5) नागरिकों को मृदा की सुरक्षा एवं पृथ्वी को स्वच्छ रखने की शिक्षा देनी चाहिए।

(6) औद्योगिक इकाइयों द्वारा फैंके जाने वाले द्रव्य एवं अपशिष्ट पदार्थों की उचित व्यवस्था करनी चाहिए। औद्योगिक केन्द्रों को अपशिष्ट फैंकने से पहिले उनका उपचार करने के लिए नियम बनाने चाहिए एवं ऐसा करने के लिए उन पर प्रतिबन्ध लगाने चाहिए।

(4) ध्वनि प्रदूषण
(Sound Pollution)

ध्वनि एक प्रकार की ऊर्जा है। यह वायु के माध्यम से तरंग गति के रूप मे संचारित होती है। जब ये ध्वनि तरंगे या वायु मे उत्पन्न कम्पन मानव के कान ग्रहण करते हैं तो उन्हें सुनाई देता है। ध्वनि को वायु माध्यम की आवश्यकता होती है। जब कोई ध्वनि होती है तो माध्यम (वायु) चलायमान हो जाता है तथा कानों तक ध्वनि की तरंगो को पहुँचाता है। कानो के श्रवण अंग उत्तेजित हो जाते हैं। ध्वनि ऊर्जा का स्थानान्तरण माध्यम मे उत्पन्न तरंगो के द्वारा होता है।

आज विज्ञान ने तीव्र गति से आविष्कार एव विकास करके अनेक प्रकार के कल-कारखानो एवं वाहनो की संख्या मे बहुत अधिक वृद्धि कर दी है। इसके कारण मशीनों एवं वाहनो का शोर भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। उत्सवो, त्योहारो, मेलों, समारोहों आदि मे लाउडस्पीकर, टेप रिकॉर्डर आदि तेज ध्वनि मे बजाए जाते है जिससे वातावरण में ध्वनि प्रदूषण फैलता है। आज अन्य प्रदूषणो की भाँति ध्वनि प्रदूषण भी एक घातक समस्या बन गई है। शोर वातावरण की मधुरता को तोड़कर पर्यावरण को दूषित कर देता है। वातावरण में फैले अदृश्य, अनिच्छित एवं तीव्र ध्वनि को शोर प्रदूषण कहते हैं। ध्वनि का कम या अधिक होना ध्वनि की तीव्रता कहलाती है। तीव्र आवाज वाली ध्वनि जो साधारणतया कानों को अप्रिय लगे तो वह 'शोर' कहलाता है। शोर को ही ध्वनि प्रदूषण कहते है। आजकल विभिन्न उपकरणो, साधनो एव माध्यमो द्वारा शोर इतना अधिक बढ़ गया है कि स्वस्थ व्यक्ति भी उसके कारण शारीरिक या मानसिक रूप से रोगी हो सकता है।

ध्वनि प्रदूषण के स्रोत (Sources of Sound Pollution)—ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख दो स्रोत हैं—(1) प्राकृतिक, एव (2) कृत्रिम।

(1) **ध्वनि प्रदूषण के प्राकृतिक स्रोत**— प्राकृतिक ध्वनि स्रोतो से उत्पन्न शोर क्षणिक एवं कभी भी उत्पन्न होने वाला प्रदूषण है। इस प्राकृतिक प्रदूषण के अन्तर्गत बिजली का कड़कड़ाना, बादलों की गड़गड़ाहट, तेज वर्षा, तूफान, भूकम्प व ज्वालामुखी विस्फोट आदि के समय उत्पन्न ध्वनियाँ आती हैं।

(2) **ध्वनि प्रदूषण के कृत्रिम स्रोत**— ध्वनि प्रदूषण के कृत्रिम स्रोतो के अन्तर्गत मनोरजन के साधन, यान्त्रिक मशीने, यातायात के साधन, कारखाने, घरेलू उपकरण आदि आते हैं। ये ध्वनि प्रदूषण के स्रोत मानव निर्मित होते हैं। इनकी संख्या अनगिनत हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन्हे निम्नानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है—

2.1. **घरेलू उपकरण**—प्रेशर कुकर, मिक्सी, वाशिंग मशीन, कूलर, वैक्यूम क्लीनर, एग्जास्ट पंखे, एअरकण्डीशनर आदि।

2.2. मनोरंजन के साधन—हारमोनियम, ढोलक, तबला, घुँघरु, मंजीरे, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेपरिकॉर्डर, टेलिविजन, वी. सी आर., ग्रामोफोन, डिस्को संगीत आदि।

2.3. परिवहन के साधन—मोटर साईकिल, मोपेड, स्कूटर, कार, ट्रक, टेक्टर, हवाई जहाज, रेलगाड़ी, बसें आदि।

2.4. कारखाने एवं उद्योग—यांत्रिक उपकरण, मशीने, साइरन, जेनेरेटर आदि।

2.5. हथियार एवं गोला बारूद—मशीनगनें, हथगोले, टैंक, विस्फोटक सामग्री, लड़ाकू विमान आदि।

2.6. अन्य—इनके अतिरिक्त, बैण्ड-बाजा, सिनेमाघर, नेताओं के बड़े-बड़े भाषण, आम-सभाएँ, आटे की चक्की, शहरी भीड़, बाजार आदि भी ध्वनि प्रदूषण के स्रोत हैं।

ध्वनि प्रदूषण के दुष्प्रभाव (Bad Effects of Sound Pollution)—ध्वनि प्रदूषण से मानव के मानसिक और शारीरिक दोनों घटकों पर दुष्प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव ध्वनि की तीव्रता के आधार पर पड़ता है। इसे निम्नानुसार वर्गीकृत करके देखा जा सकता है—

(1) सुनने की क्षमता पर दुष्प्रभाव— अनेक अध्ययनो से ज्ञात हुआ है कि लम्बी अवधि तक शोर भरे वातावरण में रहने से मनुष्य आंशिक अथवा पूर्ण रूप से बहरा हो सकता है।

(2) मानसिक क्रियाओं पर दुष्प्रभाव (Bad-effects on Psychological Activities)—अधिक तीव्रता वाले शोर मानव की विभिन्न क्रियाकलापों में व्यवधान एवं समस्याएँ उत्पन्न कर देते है जिसके कारण थकान, दुर्घटना, मानसिक तनाव, मानसिक असन्तुलन आदि पैदा हो जाते हैं। अधिक शोर मे कुछ व्यक्तियो में अनिद्रा बीमारी हो जाती है।

(3) शरीर की क्रियाओं पर दुष्प्रभाव— तेज शोर के कारण हृदय, पाचन तंत्र और तंत्रिका तंत्र पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। शोर के कारण मनुष्य का शरीर कम्पित होने लग जाता है वह उछल भी सकता है। कभी-कभी हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति को दिल का दौरा भी पड़ जाया करता है।

ध्वनि प्रदूषण के नियंत्रण के उपाय (Measures for Controlling Sound Pollution)—ध्वनि प्रदूषण के उपर्युक्त वर्णित दुष्प्रभावों से स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रदूषण को कम करने और इससे सुरक्षा के लिए प्रत्येक स्तर पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। मानव के स्वास्थ्य और सामाजिक सन्तुलन के लिए आवश्यक है कि ध्वनि प्रदूषण को नियंत्रित किया जाए। विद्वानों ने कुछ निम्न सुझाव ध्वनि प्रदूषण के नियंत्रण के सम्बन्ध में दिए हैं—

(1) ध्वनि प्रदूषण स्रोतों पर नियंत्रण—उन सभी ध्वनि प्रदूषण स्रोतो पर नियंत्रण करना चाहिए जो मानव निर्मित हैं और ध्वनि प्रदूषण को पैदा करते हैं। ये ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख स्रोत हैं—यंत्र, उपकरण, मशीनें आदि। इन उपकरणों मे शोर नियंत्रक उपकरण लगाने चाहिए। शोर करने वाले यंत्रों, वाहनों, मशीनो आदि के रख-रखाव की जाँच की जानी चाहिए एवं तकनीकी दोषों के कारण अधिक शोर करने वाले वाहनो एवं मशीनो को दोष निवारण के बाद ही उपयोग में लाने की अनुमति प्रदान करनी चाहिए।

(2) शोर सीमा का नियंत्रण—सभी क्षेत्रों में शोर सीमा को निर्धारित करके इस प्रदूषण को नियंत्रित करना चाहिए, जैसे—वाहनों की अधिकतम शोर सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए। इसी प्रकार उत्सवों, त्योहारों, कीर्तनों, विवाह आदि समारोहों में रात्रि में लाउडस्पीकर के उपयोग पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

(3) ध्वनि प्रदूषण की शिक्षा—सभी आयु वर्ग के लोगों को ध्वनि प्रदूषण के कारण, स्रोत एवं दुष्प्रभावों की शिक्षा देनी चाहिए। इसकी शिक्षा के लिए समाचार-पत्रों, रेडियो, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाएँ, शैक्षिक पाठ्यक्रम, पोस्टर, स्टिकर आदि का प्रयोग करना चाहिए। शिक्षण-संस्थाओं में कम बोलने एवं धीरे बोलने का अभ्यास करवाना चाहिए।

(4) वृक्षारोपण—भारी यातायात वाले मार्गों एवं रेलमार्गों के दोनों ओर घने वृक्षारोपण करना चाहिए इससे तीव्र शोर को कम किया जा सकता है। केवड़ा, आम, पीपल, कनेर, आसापाला, नीम, शीशम, यूकेलेप्टिस, इमली, गुलमोहर आदि पेड़ सड़कों के किनारे और उद्योगों आदि के आसपास लगाने चाहिए क्योंकि ये उत्तम ध्वनि शोषक हैं।

(5) ध्वनि प्रदूषण और कानून—ध्वनि प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए तत्काल कानून बनाने चाहिए। ऐसी व्यवस्था रखी गई है जिसमे किसी भी प्रकार के प्रदूषण के सन्दर्भ में नियम बनाए जाने का प्रावधान हैं तथा इन पर विधिसंगत कठोरता से पालन करने की व्यवस्था भी है। राज्य स्तर पर मध्य प्रदेश ने 'संगीत और शोर नियंत्रण, अधिनियम 1950, बिहार ने 'ध्वनि विस्तारक यन्त्र को बजाने पर नियंत्रण' 1955, और राजस्थान सरकार ने शोर नियंत्रण अधिनियम, 1963 बनाए हैं। किन्हीं कारणो से इनका व्यावहारिक पक्ष प्रभावहीन और उदासीन-सा रहा है।

(5) रेडियोधर्मी प्रदूषण
(Radiation Pollution)

रेडियोधर्मी भारहीन एवं प्रत्यक्ष रूप मे नहीं दिखाई देने वाला पर्यावरण का प्रदूषक है। यह प्रदूषण अन्य की तुलना में अधिक हानिकारक है। इसका प्रभाव तीनो—जल, थल और वायुमण्डल मे देखा जा सकता है। रेडियोधर्मी प्रदूषण की परिभाषा है, *"नाभिकीय पदार्थों की क्रियाशीलता द्वारा हुए प्रदूषण को रेडियोधर्मी प्रदूषण कहते हैं।"* रेडियोधर्मिता एक प्रक्रिया का परिणाम है जिसमें विघटन के समय उच्च शक्ति का विकिरण करते हैं। आयन विकरण तीन प्रकार के होते हैं। ये क्रमशः अल्फा तत्त्व, बीटा तत्त्व और गामा तत्त्व हैं। इन सभी विकरणो का कारण नाभिकीय अणु के विखण्डन के परिणाम होते हैं। रेडियोधर्मी प्रदूषण से मानव, अन्य जीव, वनस्पति एव खाद्य सामग्री प्रभावित हो जाती है।

रेडियोधर्मी प्रदूषण के स्रोत (Sources of Radiation Pollution)—रेडियोधर्मी प्रदूषण के विभिन्न स्रोत हैं—इन्हे प्रमुख दो प्रकारों में विभाजित किया गया है—(1) प्राकृतिक, और (2) कृत्रिम या मानव निर्मित। ये निम्नानुसार हैं—

(1) प्राकृतिक स्रोत (Natural Sources)—प्रकृति मे विकरण के अनेक स्रोत देखे जा सकते हैं। प्राकृतिक रूप मे ब्रह्माण्ड से आने वाली किरणो के द्वारा तथा पार्थिव विकिरण के द्वारा भी यह प्रदूषण फैलता है। रेडियोधर्मी प्रदूषण के प्राकृतिक स्रोतों में भूगर्भ में विद्यमान यूरेनियम, थोरियम, प्लूटोनियम आदि प्रमुख स्रोत हैं। इसके अतिरिक्त कोबाल्ट,

कार्बन, स्ट्रान्शियम भी रेडियोधर्मी प्रदूषण का प्रसार करते हैं। वर्षा तथा वायु के द्वारा भी रेडियोधर्मी तत्त्वों का स्थानान्तरण होता है।

(2) **कृत्रिम स्रोत** (Artificial Sources)—मानव द्वारा निर्मित अणु रिएक्टर, अणु बम, चिकित्सा के क्षेत्र में उपयोग में लाई जाने वाली एक्स-रे मशीन एवं रेडियोग्राफी रेडियोधर्मी प्रदूषण के प्रमुख स्रोत हैं। परमाणु बमों के परीक्षणो से भी यह प्रदूषण काफी उत्पन्न होता है। मानव निर्मित रेडियोधर्मी कचरा समुद्र, भूपटल एवं अन्तरिक्ष में समय-समय पर छोड़ा जाता रहा है। परमाणु भट्टियों के रिसाव से रेडियोधर्मी प्रदूषण फैलता है।

रेडियोधर्मी प्रदूषण के दुष्प्रभाव (Bad Effects of Radiation Pollution)—रेडियोधर्मी प्रदूषण के अनेक दुष्प्रभाव हैं। प्रमुख दुष्प्रभाव निम्नांकित हैं—

(1) परमाणु विस्फोट से जल प्रदूषण तथा वायु प्रदूषण होता है।

(2) रेडियोधर्मी के प्रभाव से जीन तथा गुणसूत्रों के लक्षणों मे परिवर्तन हो जाता है जिसके प्रभाव से बच्चे विकलांग एवं अपंग पैदा होते हैं।

(3) इसके दुष्प्रभाव से कैन्सर जैसी घातक बीमारी हो जाती है। इससे त्वचा, खून के कण, हड्डियो मे विद्यमान मज्जा, सिर के बालों का गिरना, शरीर में रक्त की कमी आदि बीमारियाँ हो जाती हैं।

(4) रेडियोधर्मी प्रदूषण के कारण गर्भाशय में शिशुओ की मृत्यु तक होने की सम्भावना है।

(5) इसके द्वारा पेड़-पौधे, जीव-जन्तु, वनस्पति, खाद्य सामग्री आदि प्रभावित होती हैं।

रेडियोधर्मी प्रदूषण पर नियंत्रण के उपाय (Measures to Control Radiation Pollution)—रेडियोधर्मी प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए निम्नांकित उपाय काम मे लाए जा सकते हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा भूमिगत, वायुमण्डल और जलमण्डल में परमाणु बमों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाना चाहिए।

(2) वैज्ञानिकों को रेडियोधर्मी प्रदूषण के नियंत्रण के लिए अनुसन्धान करके उपयुक्त साधन एवं विधियों का आविष्कार करना चाहिए।

(3) नाभिकीय बमों एवं परमाणु बमों के निर्माण पर तुरन्त रोक लगा देनी चाहिए।

(4) रेडियोधर्मी हथियारों, उपकरणो, साधनों एवं तत्त्वों आदि के निर्माण एवं प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

(5) वैज्ञानिकों द्वारा प्राकृतिक पर्यावरण एव मानव शरीर मे परमाणु विकिरण एवं प्रदूषण का परीक्षण करना चाहिए तथा सुरक्षात्मक तरीके अपनाने चाहिए।

(6) परमाणु बिजलीघर के विसर्जन को दबाने एव भण्डारण करने के लिए सुरक्षित स्थान बनाने चाहिएँ तथा विकिरण को रोकने के लिए हर सम्भव कदम उठाने चाहिए।

मानव समाज की सुरक्षा, निरन्तरता एवं खुशहाली के लिए विभिन्न प्रदूषणो पर नियंत्रण करना अत्यावश्यक है अन्यथा ये प्रदूषण निकट भविष्य में मानव-जाति के लिए भयंकर खतरा बन जाएँगे।

❑

अध्याय-15

उपभोक्तावाद
(Consumerism)

उपभोक्तावाद की अवधारणा तो बहुत पुरानी है लेकिन इसके उदय एवं विकास का लिखित इतिहास 'ए क्रिटिक ऑफ अमेरिकन कन्स्यूमरिज्म' (1940-45) से देखा जा सकता है। सामान्य बोलचाल की भाषा में उपभोक्तावाद को अर्थशास्त्र की अवधारणा समझा जाता है, लेकिन यह अवधारणा विगत वर्षों में समाजशास्त्र विषय से भी उतनी ही सम्बन्धित एवं महत्त्वपूर्ण हो गई है जितनी कि अर्थशास्त्र में रही है। जब समाज आखेटक, घुमन्तू एवं शिकारी अवस्था में था तब मानव की आर्थिकी मात्र उपभोग की थी। जैसे-जैसे समाज का विकास सरल से जटिल चरणों में, कम निपुणता से अधिकतम निपुणता, न्यून श्रम विभाजन से अधिकतम श्रम विभाजन की दिशा में हुआ, वैसे-वैसे मानव समाज की अर्थव्यवस्था उत्पादन, उपभोग, वितरण और विनिमय के रूप में विशेषीकृत हो गई।

प्राचीनकाल में ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति और परिवार उत्पादन अपनी, ग्राम या समुदाय की आवश्यकताओं के अनुसार करता था। परिवार उत्पादन और उपभोग की इकाई था। जब समाज विकास की नगरीय अवस्था में पहुँच गया तो परिवार और व्यक्ति मात्र उपभोग की इकाई बनकर रह गया। धीरे-धीरे समाज की आर्थिक व्यवस्था जटिल से जटिलतम होती चली गई। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति बाजार व्यवस्था के द्वारा पूरी करने लगा। जब उत्पादन के क्षेत्रों का विकास, विस्तार और विशेषीकरण हो गया तब उत्पादन एक स्थान से दूर-दराज के स्थानों पर जाने लगा। उपभोक्ता के हितों पर कुठाराघात होने लगा। उपभोक्ता के साथ विक्रेता तरह-तरह से बेईमानियाँ करने लगा। विक्रेता मिलावट, कम तोलना, जमाखोरी तथा अनावश्यक लाभ कमाने लगा तब उपभोक्ता के हितों की रक्षा का प्रश्न उठा। उपभोक्ता के हितों की रक्षा के लिए किए गए प्रयास, आन्दोलन, कानूनों का निर्माण आदि उपभोक्तावाद की अवधारणा के प्रतिपादन की पृष्ठभूमि बन गए। जब समाज की आर्थिक व्यवस्था उत्पादन, वितरण विनिमय और उपभोग में वर्गीकृत और विशिष्ट हो गई तब उपभोक्ता के हितों की सुरक्षा की समस्या पैदा हुई। उपभोक्तावाद के विभिन्न आयामों को समझने से पूर्व आवश्यक है कि हम इस अवधारणा की परिभाषा और अर्थ का अध्ययन करें जो निम्नलिखित है—

उपभोक्तावाद की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Consumerism)—उपभोक्तावाद की तीन परिभाषाएँ "वैब्सटर एन्साइक्लोपीडिया अनएब्रिज्ड डिक्शनरी ऑफ द इंग्लिश लैंग्वेज" के अनुसार इस प्रकार हैं—

(1) "उपभोक्तावाद एक आधुनिक आन्दोलन है, जो उपभोक्ता को बेकार, घटिया एवं खतरनाक उत्पादों, गुमराह करने वाले विज्ञापनों और अनुचित मूल्यों आदि के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है।"

(2) आलोच्य विश्वकोष में उपभोक्तावाद की दूसरी परिभाषा इस प्रकार है—"वह अवधारणा है कि वस्तुओं के निरन्तर उपभोग में वृद्धि आर्थिक व्यवस्था के लिए लाभकारी होती है, उपभोगवाद है।"

(3) तीसरे अर्थ में, "वस्तुओं के उत्तरोत्तर उपभोग का व्यवहार उपभोक्तावाद है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर एवं विगत वर्षों में उपभोक्ताओं के उत्पाद और सेवाओं के सम्बन्ध में संरक्षण प्रदान करने के लिए किए गए आन्दोलन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि उपभोक्तावाद एक विस्तृत अवधारणा है जिसके अनेक अर्थ हैं, जैसे—(1) उपभोक्ता द्वारा वस्तुओं और सेवाओं का अधिक-से-अधिक उपभोग, (2) उपभोक्ता को विक्रेता से संरक्षण प्रदान करना, (3) उपभोक्ता द्वारा दिए गए मूल्य के बदले में उचित उत्पाद प्राप्त करने सम्बन्धी सुरक्षा प्रदान करना। (4) वस्तु की गुणवत्ता की गारन्टी दिलवाना; (5) खतरनाक उत्पादों से सुरक्षा प्रदान करवाना; (6) गुमराह करने वाले, बहकाने वाले एवं धोखा देने वाले विज्ञापनो के प्रलोभनों से रक्षा करना; तथा (7) उपभोक्ता को अधिक-से-अधिक उत्पादों एवं सेवाओं का क्रय कराना जिससे आर्थिक व्यवस्था की उत्तरोत्तर उन्नति और विकास हो।

इन्हीं उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में उपभोक्तावाद से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण आयामो का विवेचन प्रस्तुत है। जैसे—उपभोक्ता संरक्षण सम्बन्धी आन्दोलन।

उपभोक्ता संरक्षण आन्दोलन (Movement of Consumer Protection)—भारतवर्ष में ग्रामों व नगरों में क्रेता (उपभोक्ता) और विक्रेता के सम्बन्ध सदियो से मधुर रहे हैं। क्रेता विक्रेता का पूरा ध्यान रखता था और विक्रेता क्रेता का, जिसे ग्रामीण भारत की जाति व्यवस्था की एक विशेष कार्य विधि—जजमानी व्यवस्था के अन्तर्गत देखा जा सकता है, लेकिन जैसे-जैसे आर्थिक व्यवस्था उत्पादन और उपभोग की सीमा से आगे बढ़ी, उसमें आधुनिक अर्थव्यवस्था के लक्षण आ गए। आर्थिक व्यवस्था के चार पक्ष हो गए—उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपयोग विकसित हो गए। पहले व्यक्ति परिवार और समुदाय, उत्पादन और उपभोग की इकाई थे। जैसे आखेटक समाज, चरागाही समाज, खाद्य सकलन समाज और कृषि पर आधारित ग्रामीण समाज। ये समाज अधिकतर सभर्णात्मक आर्थिकी वाले थे लेकिन जैसे-जैसे उत्पादन के साधन और उपकरणों का आविष्कार और विकास हुआ वैसे-वैसे समाज की आर्थिक व्यवस्था बचत-आर्थिकी की ओर उन्मुख हुई। नगरीय व्यवस्था खाद्य एवं उत्पादों के लिए ग्रामों पर निर्भर रही है। इसी के परिणामस्वरूप व्यक्ति और परिवार धीरे-धीरे उत्पादन और उपभोग की इकाई से परिवर्तित होकर मात्र उपभोग की इकाई बन गए जिसमें उपभोक्ता क्रेता हो गया और उत्पादन करने वाली इकाइयाँ वितरण, विनिमय एवं विक्रेता हो गईं।

भारत के रीति-रिवाज, परम्परा व्यवस्था आदि सदियो तक ऐसे रहे जिसमें विक्रेता सभी प्रकार से उपभोक्ता को खुश रखता था। विक्रेता किसी प्रकार से उपभोक्ता का शोषण मिलावट, जमाखोरी, कम तोलकर नहीं करता था। ऐसा करना धार्मिक मूल्यों के आधार पर

महापाप माना जाता था। उदाहरण के रूप मे दूध देने वाला माप कर दूध देने के बाद कुछ और दूध डालना कर्त्तव्य समझता था, जबकि क्रेता उससे कुछ नहीं कहता था। सब्जी का विक्रेता क्रेता द्वारा चाही गई सब्जियों का भाव मोल-तोल करने के बाद अन्त में कुछ धनिया-मिर्च आदि अलग से देना अपना धर्म समझता था। इसी प्रकार से नाई, धोबी, बढ़ई, लुहार, दाई आदि परिवार को जो सेवाएँ देते थे वह उपभोक्ता को प्रसन्न रखना अपना कर्त्तव्य समझते थे। उदाहरण के रूप में कन्या के जन्म पर दाई, नाई, बढ़ई जो सेवा देते थे उसके बदले में सेवा देने के तत्काल बाद जो नेग दिए जाते थे उसमें और पुत्र जन्म के अवसरों पर दी गई सेवा के बदले दिए जाने वाले नेगों मे अन्तर होता था। कन्या-विवाह के अवसर पर भी अधिक सेवाएँ देकर कम मूल्य लेना अपना धर्म समझते थे। इस प्रकार के अनेक उदाहरण सम्पूर्ण भारत में देखे जा सकते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि 19वीं शताब्दी तक उपभोक्ता का किसी प्रकार से भी शोषण नहीं होता था।

भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन के बाद के काल में उपभोक्ता के अधिकारों में कमी आई। विक्रेता का उद्देश्य अधिक-से-अधिक लाभ कमाने की ओर अग्रसर हो गया। उसमें मिलावट करना, अनुचित मूल्य वसूल करना तथा कम तोलना आदि प्रारम्भ हो गया। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने उपभोक्ता की दयनीय स्थिति को देखकर भारत मे उपभोक्ता आन्दोलन प्रारम्भ किया। गाँधीजी ने उपभोक्ता की महत्ता निम्न शब्दों में व्यक्त की—

"हमारे परिसर में एक उपभोक्ता महत्वपूर्ण अतिथि है, वह हम पर निर्भर नहीं है। वह हमारे काम में बाधक नहीं है, वह तो हमारे काम का उद्देश्य है। उसकी सेवा करके हम उस पर कोई अहसान नहीं कर रहे हैं बल्कि वह हमें सेवा करने का अवसर प्रदान करके हम पर ही अहसान कर रहा है।" गाँधीजी के ही अनुयायी आर. आर. दलवी ने प्रथम उपभोक्ता संगठन की स्थापना 1949 में की थी। भारतवर्ष में उपभोक्ता के संरक्षण के लिए समय-समय पर अनेक सरकारी और गैर सरकारी प्रयास होते रहे। राशन के द्वारा उपभोक्ता को उचित मूल्य पर वस्तुएँ प्रदान करने की व्यवस्था अँग्रेजी शासन काल से आज तक चली आ रही है। 1986 का उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम सरकारी प्रयासों का फल है।

विश्व के लगभग सभी देशो में उपभोक्ताओं के अधिकारों की सुरक्षा के लिए सरकारी और गैर सरकारी प्रयास देखे जा सकते हैं। 15 मार्च, 1962 को अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति जॉन एफ. केनेडी ने सर्वप्रथम उपभोक्ता के लिए निम्न चार प्रावधान प्रदान किए—(1) सुरक्षा, (2) सूचना, (3) चयन, एवं (4) सुनवाई। आगे चलकर उपभोक्ता संघों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के क्षेत्रीय निदेशक अनवर हजल ने अभिवक्ताओं की एक सभा मे 15 मार्च को उपभोक्ता दिवस के रूप मे मान्यता प्रदान करने का प्रस्ताव रखा जिसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। 15 मार्च, 1973 से इस दिन को **'उपभोक्ता दिवस'** के रूप में औपचारिक मान्यता दी गई। 1979 मे भारत सरकार ने भी इस दिन को **'उपभोक्ता दिवस'** के रूप में मान्यता दे दी। राष्ट्र संघ द्वारा उपभोक्ताओ के लिए उपर्युक्त वर्णित चार अधिकारो के अतिरिक्त निम्न चार और अधिकारों की घोषणा की—

(1) उपभोक्ता शिक्षा, (2) प्रतितोष, (3) स्वस्थ वातावरण, और (4) आधारभूत आवश्यकताओ की पूर्ति।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 से पूर्व उपभोक्ताओं को कुछ क्षेत्रों में निम्न कानूनों द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाता था—(1) माल विक्रय अधिनियम, 1930; (2) औषधि और प्रसाधन सामग्री अधिनियम, 1940, (3) औषधि और चमत्कारिक उपचार अधिनियम, 1954; (4) आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955; (5) बाट एवं माप मानक कानून, 1956; (6) व्यापार एवं पण्य वस्तु चिह्न अधिनियम, 1958; (7) चोर बाजारी निवारण और आवश्यक वस्तु प्रदाय अधिनियम, 1980; तथा (8) पर्यावरण अधिनियम, 1986।

उपभोक्ता संरक्षण के सम्बन्ध में सरकार द्वारा किए गए प्रयास (Efforts Made by Government for Consumer Protection)—1986 में सरकार ने उपभोक्ता अधिनियम उपभोक्ताओं के हितों के संरक्षण के लिए पारित किया। इस अधिनियम का उद्देश्य पीड़ित उपभोक्ता को सुलभ, सस्ता, अल्प समय में न्याय दिलवाना है। इस अधिनियम के अन्तर्गत कोर्ट की फीस, वकील करने की अनिवार्यता, निर्धारित प्रक्रिया एवं अनिश्चित काल तक न्याय में विलम्ब होने जैसी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता है। इस अधिनियम के द्वारा निम्नलिखित सुविधाएँ प्रदान की गई हैं—

(1) उपभोक्ता के अधिकार (Rights of Consumer)—उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 की धारा 6 और 14 में उपभोक्ता के लिए निम्नलिखित अधिकारों का प्रावधान है—

(1) प्रत्येक उपभोक्ता को उसकी कीमत के बदले सही गुणवत्ता, मात्रा, क्षमता, शुद्धता तथा मानक की वस्तुएँ प्राप्त करने का अधिकार है।

(2) जहाँ पहले उपभोक्ताओं पर क्रेता या खरीददार की सावधानी का नियम लागू होता था उसके स्थान पर अब विक्रेता का यह उत्तरदायित्व है कि वह उपभोक्ता को उसकी आवश्यकता के अनुसार माल या सेवा उपलब्ध कराए।

(3) उपभोक्ता को सही मूल्य पर वस्तुएँ एवं सेवाएँ उपलब्ध हो। उससे निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य वसूल नहीं किया जा सकता।

(4) उपभोक्ता को जीवन एवं स्वास्थ्य के लिए अहितकर होने वाली वस्तुओं से संरक्षण का भी अधिकार है।

(5) त्रुटिपूर्ण वस्तु प्राप्त होने पर क्रेता को उसे वापिस लौटाने, बदले में उचित वस्तु प्राप्त करने अथवा मूल्य वापिस देने या क्षतिपूर्ति पाने का भी अधिकार है।

(6) उपभोक्ता को विक्रेता, निर्माता या वितरक के विरुद्ध परिवाद प्रस्तुत करने का भी अधिकार है, यदि क्रेता की शिकायत इन लोगो के द्वारा दूर नहीं की जाती है।

उपभोक्ता के लिए अभिकरण (Agencies for Consumer)—इस अधिनियम की धारा 9 में उपभोक्ताओ की शिकायतों को दूर करने या उपभोक्ता-विवादों के निपटारे के लिए तीन प्रकार के उपभोक्ता विवाद प्रतितोष अभिकरणो की निम्न व्यवस्था की गई है—

(1) जिला मंच,

(2) राज्य आयोग, और

(3) राष्ट्रीय आयोग।

प्रत्येक जिले में एक 'जिला मंच' होगा। राज्य के स्तर पर एक 'राज्य आयोग' होगा एवं राष्ट्रीय स्तर पर एक 'राष्ट्रीय आयोग' की स्थापना का प्रावधान है। वर्तमान में देश में लगभग 570 जिला मंच, 35 राज्य आयोग और राष्ट्रीय स्तर पर एक 'राष्ट्रीय आयोग' कार्यरत हैं।

जिला स्तर पर 'जिला मंच' को 20 लाख रुपए तक के उपभोक्ता विवादो की सुनवाई का अधिकार है। राज्य आयोग को एक करोड़ रुपए एवं राष्ट्रीय आयोग को एक करोड़ रुपए से अधिक के उपभोक्ता विवादों की सुनवाई करने का अधिकार है। यह व्यवस्था उपभोक्ता संरक्षण (संशोधन) अधिनियम 2002 के द्वारा की गई है।

कार्य विधि (Procedure)

(1) सभी उपभोक्ताओं को 'उपभोक्ता जिला मंच' या आयोग में अपना परिवाद प्रस्तुत करने का अधिकार है। परिवाद को मान्यता प्राप्त उपभोक्ता संगठन द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

(2) परिवाद प्रस्तुत होने पर विरोधी पक्षकार को सूचना भेज दी जाती है और उससे 30 दिन में जवाब पेश करने की अपेक्षा की जाती है। यह अवधि 15 दिन की और बढ़ाई जा सकती है।

(3) विरोधी पक्षकार के द्वारा दी गई अवधि मे जवाब पेश नहीं होने पर उसके विरुद्ध एक पक्षीय कार्यवाही की जा सकती है। जवाब प्राप्त होने की स्थिति मे साक्ष्य लिए जाते हैं।

(4) धारा 13 (3 क) के अनुसार ऐसे परिवादो का फैसला 5 माह की अवधि मे कर दिए जाने की अपेक्षा की जाती है बशर्ते कि विवादित माल को परीक्षण के लिए प्रयोगशाला में भेजा गया हो। अन्यथा ऐसे मामलों का निस्तारण तीन महीनो मे कर दिया जाना आवश्यक है। तीन माह की अवधि उस दिन से गिनी जाती है जिस दिन विरोधी पक्षकार को सूचना की तामील हो जाती है।

दंड (Punishment)—इस अधिनियम की धारा 26 और 27 मे दंड के प्रावधानो की व्यवस्था की गई है—

(1) अगर कोई व्यक्ति तंग या परेशान करने के लिए मिथ्या परिवाद प्रस्तुत करता है तो उसे धारा 26 के अनुसार 10 हजार रुपए तक के हर्जाने का दंड दिया जा सकता है।

(2) अगर कोई व्यक्ति मंच या आयोग के आदेशों की पालना करने में विफल रहता है, साशय लोप करता है तो उसे धारा 27 के अन्तर्गत न्यूनतम एक माह और अधिकतम 3 वर्ष तक की अवधि के कारावास या न्यूनतम 2000 और अधिकतम 10,000 रुपए के जुर्माने या दोनों से दंडित किया जा सकता है।

संशोधन (Revised)—उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 मे कुछ कमियाँ रह गई थीं उन्हें दूर करने और इसे अधिक प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से 18 जून, 1993 को एक अध्यादेश के माध्यम से निम्नलिखित आधारभूत संशोधन किए गए हैं—

उपभोक्ता के एक ही प्रकार की शिकायतें सामान्य रूप मे करने, वस्तु या सेवा के सम्बन्ध में जान-बूझकर गलत गारन्टी देने एवं छूट का भ्रम फैलाने वाले को दोषी ठहराने,

एक वस्तु के क्रय के समय दूसरी वस्तु के क्रय की बाध्यता को अस्वीकार करने और स्वयं के भरण-पोषण के उद्देश्य से स्वरोजगार हेतु खरीदी वस्तु की निवारण एजेन्सियों से शिकायत करने के अधिकार और मिल गए हैं। इस संशोधित कानून में आवास-निर्माण कार्यों से सम्बन्धित विकास प्राधिकरणों—आवासन मण्डलों तथा गृह-निर्माण सहकारी समितियों को भी इसके अन्तर्गत ले लिया गया है। अब एक जिले में एक से अधिक मंच स्थापित किए जा सकते हैं। इस संशोधन के द्वारा निम्न प्रावधान और जोड़े गए हैं—इस संशोधन के पारित होने के बाद की घटनाओं को एक वर्ष की अवधि में शिकायत की जा सकती है। संरक्षण परिषद की वर्ष में कम-से-कम एक बार बैठक आयोजित करना आवश्यक है। अगर कोई जानबूझकर तथा गलत शिकायत परेशान करने के लिए करता है तो उसे दण्ड देने का प्रावधान भी कर दिया है।

उपभोक्ता की सामान्य समस्याएँ (General Problems of the Consumer)—उपभोक्ता की सामान्य समसयाएँ निम्न हैं—

(1) व्यापारियों द्वारा कम तोलना।

(2) जीवन रक्षक दवाइयों में मिलावट करना।

(3) चिकित्सक/डॉक्टरों द्वारा बीमार व्यक्ति पर परीक्षण करना।

(4) सीमेन्ट में मिलावट करके ठेकेदार द्वारा इमारतें बनाना।

(5) वकीलों द्वारा जनसाधारण को परेशान करना।

(6) शुल्क लेकर भी नहीं पढ़ाना।

(7) घोषित कार्यक्रमानुसार परीक्षाओं का नहीं होना।

(8) समय पर परीक्षा परिणाम को घोषित नहीं करना।

(9) पूर्व निर्धारित मूल्यों एवं निर्धारित समयावधि में मकान उपलब्ध नहीं करवाना।

(10) नगर पालिकाओं एवं निगमों द्वारा गृह कर वसूलने के बाद भी सफाई, रोशनी एवं चौकीदारी की व्यवस्था नहीं करना।

(11) पैसे लेकर भी बिजली-पानी से सम्बन्धित विभागों द्वारा व्यवस्था नहीं करना।

प्रश्न उठता है कि लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था के होते हुए भी उपभोक्ता अपने अधिकारों की मांग क्यो नहीं करता है। इसके निम्न कारण हैं—

उपभोक्ता का अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता के कारण (Reasons of Consumers Neutrality Toward his Rights)—उपभोक्ता के अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता के निम्न कारण हैं, जिनके कारण वह उपभोक्ता मंच में नहीं जाता है—

(1) उपभोक्ता का अपने हितो एवं संवर्द्धन सम्बन्धी कानूनों एवं नियमों की जानकारी का नहीं होना।

(2) उसका अशिक्षित होना।

(3) उसका गरीब होना।

(4) उसका बेरोजगार होना।

(5) भाग्य में अन्ध-विश्वास होना।

(6) सुख-दुःख को तकदीर के खेल मानना। लाभ-हानि को विधि हाथ मानना।

(7) समस्या को मामूली मानना।

(8) मंच का कार्यालय दूर होना।

(9) मंच की कार्यप्रणाली में विश्वास का अभाव होना, कोर्ट-कचहरी में विश्वास नही होना।

(10) विक्रेता या सेवा प्रदान करने वाले संगठन या संस्था द्वारा परेशान किए जाने का भय होना, जैसे बैंक, अस्पताल, थाना, सरकारी कार्यालय आदि।

(11) प्रमाणों का अभाव होना।

(12) नुकसान की भरपाई का ले-देकर रफा-दफा कर देना।

(13) प्रक्रिया के लम्बे चलने का अंदेशा होना।

उपभोक्ता संगठनों के कार्य (Functions of Consumer Organisations)—भारतवर्ष के अधिकतर उपभोक्ता निरक्षर, ग्रामीण, निर्धन, बेरोजगार, अंधविश्वासी, भाग्यवादी हैं इसलिए उपभोक्ता संगठनो एवं आन्दोलनकारियों के उत्तरदायित्व और कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। इन सगठनों का उत्तरदायित्व है कि उपभोक्ता संरक्षण सम्बन्धी कानून और अधिकारों की जानकारी सरल भाषा में आम उपभोक्ताओं तक पहुँचाएँ। ये संगठन आम उपभोक्ता में जागृति पैदा करने के लिए आम सभाएँ करें। स्थानीय, प्रान्तीय और राज्य स्तरीय सम्मेलन और संगोष्ठियाँ करके उपभोक्ताओ में जागृति पैदा करें। इन संगठनों को मुहल्लों और बस्तियों में अनपढ़ एवं भाग्यवादी उपभोक्ताओं को छोटे-छोटे जलसों, सभाओं एवं नाटकों आदि के द्वारा मंच के लाभों को समझाएँ। सम्भव हो तो आपसी बातचीत के माध्यम से उन्हें उनके अधिकारों से अवगत करवाएँ तथा मंच का लाभ उठाने के लिए प्रोत्साहित करे। जन सामान्य को प्रभावित करने वाले लोगों जैसे स्थानीय नेता—पंच, सरपंच, वार्डपंच, मास्टर, कलाकार, समाज सेवक, समाज सुधारक उपभोक्ताओं को उनकी स्थानीय भाषा और बोलियों मे मंच की सम्पूर्ण जानकारी दें।

सरकारी प्रयास (Governmental Efforts)—भारत के आम नागरिक की स्थिति को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमे जागृति पैदा करना एक कठिन कार्य है। सरकार को भी इस दिशा मे उसी प्रकार से प्रयास करना चाहिए जैसी उसके द्वारा समाज कल्याण, परिवार कल्याण या परिवार नियोजन के लिए किए हैं। सरकार उपभोक्ता संरक्षण से सम्बन्धित पोस्टर लगाए, नाटक करवाए, सम्बन्धित साहित्य का वितरण करे। प्रचार के लिए पाठशालाओं, पचायतों, अस्पतालो, सस्ते मूल्य की दुकानों, सहकारी समितियों आदि को माध्यम बनाए और आम उपभोक्ता में जागरूकता पैदा करे। दूरदर्शन, आकाशवाणी, चलचित्र, सिनेमाघरों में इसका विज्ञापन निकाले। शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्यक्रमों मे उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम तथा मंच के कार्यों को सम्मिलित किया जाए।

शिक्षा के द्वारा आम उपभोक्ता को जागरूक एवं प्रोत्साहित करने के लिए उसमें आत्मविश्वास, स्वाभिमान और शोषण के विरुद्ध संघर्ष की भावना और इच्छा पैदा की जाए। कानूनी प्रक्रिया को अधिक सरल और आम उपभोक्ता की पहुँच के लायक बनाना चाहिए। कार्यालय को समय पर खोलना चाहिए। नौकरशाही व्यवस्था की कमियो को मंच की कार्य प्रणाली में से दूर करना चाहिए। आन्दोलनकारियों को प्रोत्साहित करना चाहिए। वकीलों का प्रवेश रोकना चाहिए। जिला मंचों को व्यावहारिक बनाने के लिए उनको उपयुक्त भवन की व्यवस्था बस्ती के केन्द्र में सबको पहुँच के पास करनी चाहिए। जिला मंचों में कुर्सी, टेबिल, पीने के पानी, चपरासी एवं स्टेशनरी की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए।

राजनीति की तरह उपभोक्ता आन्दोलन को व्यवसाय मानने वालों से इसे सुरक्षा प्रदान करनी चाहिए। समर्पित आन्दोलनकारियों को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा जिन्होंने इसे व्यवसाय बना दिया है उन्हें हटाना चाहिए या उन पर अंकुश लगाना चाहिए। उपभोक्ता न्यायालयों की प्रशासनिक प्रक्रिया को सस्ता, सुलभ एवं शीघ्र न्याय प्रदान करने वाली व्यवस्था बनाना चाहिए। उपभोक्ता के विरुद्ध या शोषण सम्बन्धी जानकारी उपभोक्ता मंच को यदि मिले तो उसे जनहित में मानकर सीधी कार्यवाही करनी चाहिए। ऐसी अनेक उपभोक्ता शोषण सम्बन्धी सूचनाएँ बिजली, पानी, टेलीफोन, सड़क परिवहन, डाक, बैंक, अस्पताल आदि सार्वजनिक संगठनों की अव्यवस्थाओ के सम्बन्ध में आए दिन समाचार पत्रों, दूरदर्शन, आकाशवाणी आदि के द्वारा प्रसारित होती रहती हैं। इस पर उपभोक्ता संरक्षण मंच को जनहित में तुरन्त कार्यवाही करनी चाहिए। तभी भारत जैसे देश के निरक्षर, गरीब, बेरोजगार उपभोक्ताओं के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान की जा सकती है और उपभोक्तावाद या वह आन्दोलन जो उपभोक्ता के अधिकारों की रक्षा करता है, सफल हो पाएगा।



अध्याय-16

मूल्यों का संकट
(Crisis of Values)

मानव एक ऐसा सर्वोत्कृष्ट प्राणी है जो संस्कृति का निर्माता है और संस्कृति द्वारा ही कुछ नियम, व्यवहार, लक्ष्य, उद्देश्य आदि निर्धारित होते हैं जिनके आधार पर कार्य करने पर व्यक्ति सामाजिक प्राणी बनता है। यही आदर्श मूल्य कहलाते हैं जो बताते हैं कि क्या अच्छा है? क्या बुरा है? क्या करना चाहिए? क्या नहीं करना चाहिए? इस प्रकार सामाजिक मूल्य वे आदर्श होते हैं जो सामाजिक व्यवस्था को सुचारुरूपेण चलाने में सहायक होते हैं। यदि इन आदर्शों की परिपालना न की जायेगी तो समाज-व्यवस्था अमर्यादित हो जायेगी, अव्यवस्थित हो जायेगी। समाज में मूल्यों का संकट पैदा हो जाएगा। मूल्य प्रत्येक समाज के भिन्न-भिन्न होते हैं—ये तो व्यवहार करने का एक मानदण्ड कहे जा सकते हैं जो किसी समाज में उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को तय करते हैं; उदाहरणार्थ—'पर निन्दा न करो', 'सब जीवों पर दया करो', 'असत्य व मिथ्या भाषण न करो' आदि समाज के सामान्य नियम होते हैं जिनकी पालना करना समाज का कर्तव्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति इनकी पालना अवश्य करता है। इनकी अवहेलना करने वाले को समाज निन्दनीय मानता है। अतः कहा जा सकता है कि मूल्य व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करने के तरीके हैं जो बताते हैं कि क्या सही है और क्या करना अपेक्षित है। इनका उल्लंघन होने पर मूल्यों का संकट पैदा होता है। मूल्यों का संकट का अध्ययन करने से पहले इनकी परिभाषा, प्रकार, विशेषताओं आदि का अध्ययन करेगे।

मूल्यों का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Values)

मूल्यों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए जॉनसन ने कहा है, "मूल्यों को एक अवधारणा अथवा मानक के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा चीजो की एक-दूसरे के साथ तुलना की जाती है, स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है। एक-दूसरे की तुलना में उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा, ठीक अथवा गलत माना जाता है।"

डॉ. राधा कमल मुखर्जी मूल्यों को इस प्रकार परिभाषित करते हैं, "सामाजिक मूल्य वे सामाजिक मान, लक्ष्य या आदर्श हैं जिनके आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा विषयों का मूल्यांकन किया जाता है।"

हारालाम्बोस के मत में, "मूल्य एक विश्वास है जो यह बताता है कि क्या अच्छा और वांछनीय है। यह परिभाषित करता है कि क्या महत्त्वपूर्ण है, लाभप्रद है और प्राप्त करने योग्य है।"

वुड्स के मत में, "सामाजिक मूल्य वे सामान्य सिद्धान्त हैं जो दिन-प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं।

दुर्खीम ने मूल्यों को सामाजिक तथ्यों के रूप में विवेचना की है। उन्होंने सामाजिक तथ्यों के समान सामाजिक मूल्यों की दो विशेषताएँ बताई हैं—(1) बाह्यता, तथा (2) बाध्यता।

(1) बाह्यता (Exteriority) का अर्थ है कि यद्यपि मूल्य समाज के सदस्यों की मानसिक अंतः-क्रियाओं के परिणाम होते हैं। फिर भी इनका सम्बन्ध किसी व्यक्ति की मानसिक क्षमता से नहीं होता, अपितु ये व्यक्ति की परिधि से स्वतन्त्र अपनी सत्ता रखते हैं, साथ ही सामाजिक मूल्यों को विभाजित करके पुनः वैयक्तिक मूल्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता, यही इन मूल्यों की बाह्यता है।

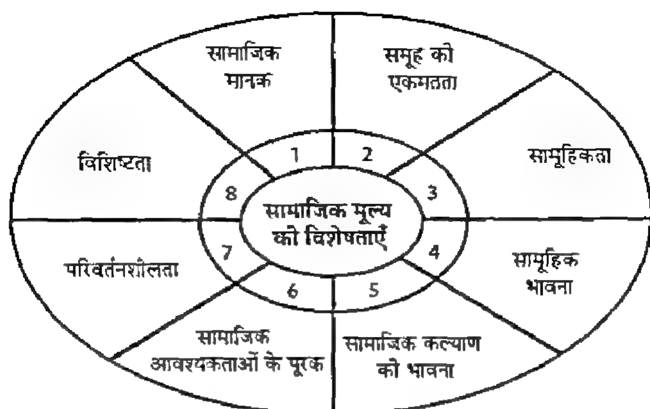
(2) बाध्यता (Constraint) मूल्यो की दूसरी विशेषता है जिसका अर्थ है कि सामाजिक मूल्य किसी एक व्यक्ति का मूल्य न होकर सबका होता है, इसीलिए वह व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करता है।

फिचर के मत में, "समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनके द्वारा समूह या समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्त्व का निर्णय करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक मूल्य आदर्श हैं जो दैनिक जीवन में व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। ये वे मानक हैं जिनके आधार पर किसी लक्ष्य, साधन, भावनाओं, व्यक्ति के व्यवहारों आदि को अच्छा अथवा बुरा कहा जा सकता है। मूल्य स्वयं में उद्देश्य भी हैं जो स्पष्ट करते हैं कि क्या होना चाहिए। मूल्यों का निर्माण सम्पूर्ण समूह के सदस्यों की परस्पर अन्तःक्रिया का परिणाम होता है क्योंकि व्यक्ति इन्हें सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है। मूल्य प्रत्येक समाज के अलग-अलग होते हैं—निष्कर्षतः मूल्य व्यवहार का सामान्य तरीका है। ये वह मानदण्ड है जो समाज मे अच्छे या बुरे, सही अथवा गलत का निर्धारण करते हैं।

सामाजिक मूल्यों की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Values)

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर मूल्यों की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं जो निम्नलिखित हैं—



1. सामाजिक मानक (*Social Norm*)—**जॉनसन** ने सामाजिक मूल्यों को सामाजिक मानक बताया है जिनके द्वारा किसी वस्तु, लक्ष्य, साधन, गुण आदि को वाञ्छित-अवाञ्छित, उचित-अनुचित, अच्छा-बुरा आदि बताया जा सकता है। इस अर्थ मे सामाजिक मूल्यो को सामाजिक-मानक कहा जा सकता है।

2. समूह की एकमतता (Unanimity of Group)—मूल्यों के विषय मे यह स्पष्ट है कि ये एक समाज या समूह के समस्त सदस्यों द्वारा मान्य होते हैं। सम्पूर्ण समूह मूल्यो के विषय में एकमत होता है। इसी कारण व्यक्ति इनकी अनुपालना न करने पर निन्दनीय माना जाता है।

3. सामूहिकता (Collectivity)—सामाजिक मूल्य किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित नहीं होते अपितु सम्पूर्ण समाज या समूह द्वारा मान्य होते हैं अर्थात् मूल्यों का सामाजिक-सास्कृतिक आधार होने के कारण ये समूचे समाज की विशेषता होते हैं, क्योंकि ये सामूहिक अन्तःक्रिया के द्वारा उत्पन्न होते हैं। किसी व्यक्ति विशेष की धरोहर नहीं होते। इसीलिए यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि मूल्यों में सामूहिकता होती है।

4. सामूहिक भावना (Collective Feeling)—सामाजिक मूल्यों के साथ व्यक्तियो की भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। इसी कारण व्यक्ति अपने वैयक्तिक हितों को भुलाकर इन मूल्यों की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। मूल्य एक आदर्श होते हैं। देशभक्ति, स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र आदि इसी प्रकार के उच्च मूल्य हैं जिनके लिए व्यक्ति अपने प्राणोत्सर्ग भी हँसते-हँसते कर देते हैं। भगतसिंह आदि ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया, इसके पीछे एक भावना थी कि हम अपने देश की रक्षा करें। यही भावना वह उच्च मूल्य है जो लोगों को सामूहिकता मे बाँधते हैं।

5. सामाजिक कल्याण की भावना (Feeling of Social Welfare)—मूल्य सामाजिक कल्याण की भावना से जुड़े होते हैं। 'सदा सत्य बोलो', 'जीवों पर दया करो',

'गरीबों पर दया करो' आदि इसी प्रकार के मूल्य हैं। सम्पूर्ण समाज के कल्याण की भावना से सम्बन्धित हैं, जिनकी परिपालना करने पर समाज में संगठन व एकरूपता बनी रहती है।

6. सामाजिक आवश्यकताओं के पूरक (Substitutes of Social needs)—मूल्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी करते हैं, चूँकि प्रत्येक समाज की अलग संस्कृति होती है जो उसकी आवश्यकता के अनुसार बनती है और प्रत्येक समाज व संस्कृति अलग-अलग मूल्यों को विकसित करती है जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जिनके कारण ही सामाजिक संगठन व व्यवस्था बनी रहती है। इस प्रकार सामाजिक मूल्य सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

7. परिवर्तनशीलता (Changability)—सामाजिक मूल्यों मे परिवर्तन अत्यन्त मन्द गति से आता है, लेकिन ये परिवर्तित होते अवश्य हैं। मूल्य चूँकि सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति में सहायक होते हैं अतः समाज की आवश्यकताएँ जब बदलती हैं तो उसके मूल्यो में भी बदलाव आ जाता है क्योंकि मूल्य समाज के अनुसार ही होते हैं अतः सामाजिक मूल्यो मे गतिशीलता पाई जाती है जो समय एवं परिस्थितियो के अनुरूप होती है।

8. विशिष्टता (Distinctiveness)—मूल्यों के विषय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक समाज के मूल्य अलग-अलग होते हैं जो उस समाज की संस्कृति के आधार पर होते हैं, उदाहरणार्थ—'विवाह एक धार्मिक कृत्य है' जिसे तोड़ा नहीं जा सकता, यह भारतीय मूल्य है। पश्चिमी समाज में 'विवाह एक समझौता है' इसके अनुसार ही वहाँ पति-पत्नी मे सम्बन्ध स्थापित होते हैं। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मूल्यों में विभिन्न समाजों के अनुरूप भिन्नता पाई जाती है।

मूल्यों का वर्गीकरण
(Classification of Values)

मूल्यों के वर्गीकरण के अनेक आधार हैं। अनेक विद्वानो ने मूल्यो को भिन्न-भिन्न श्रेणियो में विभाजित किया है, कुछ मुख्य वर्गीकरण निम्नलिखित हैं—

मूल्यों का वर्गीकरण

क्र. सं.	वैज्ञानिक	मूल्यों के प्रकार
1.	सी. गोलाइटली	(1) अनिवार्य एवं (2) व्यावहारिक
2.	पैरी	(1) नकारात्मक एवं (2) सकारात्मक
3.	स्प्रेंगलर	(1) सैद्धान्तिक, (2) आर्थिक, (3) सौन्दर्यात्मक, (4) सामाजिक, (5) राजनैतिक, और (6) धार्मिक।
4.	क्लोरन्स एम. केस	(1) सावयवी, (2) विशिष्ट, (3) सामाजिक, (4) सांस्कृतिक।

इन मूल्यों के प्रकारों का सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

1. सी. गोलाइटली ने मूल्यों को दो भागों मे बाँटा है—(1) अनिवार्य एवं (2) व्यावहारिक।

(i) अनिवार्य मूल्य वे हैं जिनका पालन करना समाज मे अनिवार्य होता है; जैसे—चोरी न करना, सत्य बोलना आदि। इन मूल्यों का उल्लंघन करने पर समाज व्यक्ति को दण्डित करता है।

(ii) व्यावहारिक मूल्य वे मूल्य हैं जो दैनिक जीवन के आचरण में विद्यमान रहते हैं; जैसे—बड़ो का आदर करना, अतिथि का अभिवादन करना आदि।

2. पैरी ने रुचि एवं उद्देश्यों के आधार पर मूल्यो को नकारात्मक, सकारात्मक, विकासवादी व वास्तविक आदि भागो में वर्गीकृत किया है जिनमें—नकारात्मक एवं सकारात्मक—दो प्रकार महत्त्वपूर्ण है। नकारात्मक मूल्य का अर्थ है कि कुछ कार्यों का न करना ही उचित है और सकारात्मक मूल्य से आशय ऐसे आदर्शों से है जिनके अनुसार आचरण करना सामाजिक दृष्टि से उचित माना जाता है।

3. कुछ विद्वान मूल्यों को सुखवादी, सौन्दर्यवादी, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक तथा तार्किक आदि भागों में वर्गीकृत करते हैं—इनमे स्प्रेंगलर का वर्गीकरण सर्वाधिक लोकप्रिय है। इन्होने मूल्यों को सैद्धान्तिक, आर्थिक, कलात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक आदि भागों में विभक्त किया है।

(i) **सैद्धान्तिक मूल्य** समाज के सदस्यो के लिए सैद्धान्तिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं जो जीवन-दर्शन से सम्बद्ध होते हैं।

(ii) **आर्थिक मूल्य** हमारे आर्थिक जीवन से सम्बद्ध होते हैं, जैसे—भविष्य के लिए कुछ बचत करना आवश्यक है।

(iii) **सौन्दर्यात्मक मूल्य** जीवन के कलात्मक अथवा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' पक्ष से सम्बन्धित होते हैं।

(iv) **सामाजिक मूल्य** सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं; जैसे—परिवार में माता-पिता की सेवा करना पुत्र का कर्त्तव्य है।

(v) **राजनैतिक मूल्य** राजनीति से सम्बन्धित होते हैं; जैसे—प्रजातन्त्र की रक्षा करना सभी नागरिकों का कर्त्तव्य है।

(vi) **धार्मिक मूल्यों** से आशय पूजा-अर्चना, ईश्वर, मोक्ष आदि से सम्बन्धित मान्यताओं का निर्वाह करना, ईश्वर में आस्था रखना आदि से है।

4. **क्लारेन्स एम. केस** ने सामाजिक मूल्यों को जीवन-स्तर के आधार पर चार भागों मे विभाजित किया है। केस का मानना है कि मूल्य जीवित वस्तुओं के चुने हुए पदार्थ हैं जिनका चुनाव स्वयं मूल्यांकन करने वाले करते है। केस द्वारा वर्गीकृत चार मूल्य निम्नलिखित प्रकार हैं—

4.1 सावयवी मूल्य (Organic Values)—ये मूल्य शरीर की रक्षा सम्बन्धी विषयों से सम्बद्ध हैं, जैसे—'आग से मत खेलो', 'पानी से दूर रहो', 'भारी पदार्थों से अलग रहो' आदि। शरीर को नुकसान पहुँचाने वाले पदार्थों से सम्बन्धित मूल्य सावयवी मूल्य हैं। बच्चे के जन्म तथा व्यक्ति की मृत्यु से सम्बन्धित मूल्य भी सावयवी मूल्य हैं।

4.2 विशिष्ट मूल्य (Specific Values)—ये मानव-जीवन की कुछ विशिष्ट परिस्थितियो से सम्बन्धित मूल्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्तियों, विशेषताओ,

विचार आदि के आधार पर इन्हें विकसित करता है; जैसे—पर्दा-प्रथा, अपनी ही जाति में विवाह आदि को एक व्यक्ति उचित मानता है तो दूसरा अनुचित। इस प्रकार व्यक्ति की मनोवृत्ति के आधार पर सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकते हैं।

4.3 सामाजिक मूल्य (Social Values)—सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित मूल्य इस श्रेणी में आते हैं, जैसे—सामाजिक-व्यवहार, सहायता, सहयोग आदि से सम्बन्धित मूल्य सामाजिक मूल्य हैं, जैसे—'दीन-दुखियों की सहायता करो', 'परस्पर सहयोग करो' आदि।

4.4 सांस्कृतिक मूल्य (Cultural Values)—ये वे मूल्य हैं जो मानव की संस्कृति से सम्बन्धित है, जैसे—परम्परा, कला, लोक-रीति, रूढ़ियाँ आदि तथा वे उपकरण एवं प्रतीक जिनका आविष्कार मनुष्य द्वारा हुआ है और जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं तथा समाज इन मूल्यों को उचित व उपयोगी मानता है। मनुष्य इन मूल्यों को सांस्कृतिक-जीवन को नियमित और नियन्त्रित करने के कारण विकसित करता है।

सामाजिक मूल्यों का महत्त्व (कार्य)
[Importance (Function) of Social Values]

सामाजिक मूल्य सामाजिक व्यवस्था व शान्ति बनाए रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। मूल्यों के सहयोग से ही मानव अपनी इच्छाओं व उद्देश्यों को वास्तविक स्वरूप प्रदान करता है। मूल्यो के विषय में **राधा कमल मुखर्जी** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपने मूल्यों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने माना है कि प्रकृतिगत रूप में समस्त मानव-संबंध तथा व्यवहार मूल्य ही हैं। मानव की आधारभूत इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों की संतुष्टि करने में मूल्यों का अनोखा महत्त्व होता है। मूल्य सामाजिक क्रिया में सामूहिक अनुभव होते हैं। ये समाजों का निर्माण करते हैं तथा सामाजिक सम्बन्धों को सगठित करते हैं।

मूल्यों के सम्बन्ध मे **दुर्खीम** का भी यह मानना है कि प्रत्येक प्रकार के मूल्यों का स्रोत समाज होता है। उनका मानना है कि "सामाजिक-तथ्य-विचार, व्यवहार, अनुभव या क्रिया का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक रूप में संभव है और जो एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को बाध्य करता है।"

यहाँ इन्होंने सामाजिक मूल्यों को सामाजिक तथ्यों की संज्ञा दी है अतः सामाजिक तथ्यों या मूल्यो को समाज द्वारा ही व्युत्पन्न माना है। इसी कारण व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के पालन के लिए बाध्य होता है। इनके मत मे सामाजिक मूल्य सामूहिक चेतना को अभिव्यक्त करते है इसीलिए व्यक्ति इनके सम्मुख झुकता है—सामाजिक मूल्य व्यक्तिगत मूल्य से श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि ये समाज को एकीकृत करने का भी कार्य करते हैं।

सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में **चार्ल्स बगल** (Charles Bougle) का मानना है कि सामाजिक मूल्यों के पीछे सामूहिक स्वीकृति होती है अथवा सामूहिक स्वीकृति के आधार पर ही सामाजिक मूल्यों का विकास होता है इसीलिए सामाजिक मूल्य समूह-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। इन्होंने सामाजिक मूल्यों को सामाजिक जीवन का रक्षा-कवच माना है क्योंकि इनसे समाज में एकता, संगठन व नियन्त्रण बना रहता है।

फिचर ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र' मे सामाजिक मूल्यों के निम्नलिखित महत्त्व बताए हैं—

(1) व्यक्ति के निर्माण एवं संगठन में महत्त्वपूर्ण होते हैं—मूल्यो को व्यक्ति के निर्माण एवं सगठन के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व या आचरण में (समाज द्वारा मान्य) मूल्यों को एकीकृत करने का प्रयास करता है जिससे उसका व्यवहार उस प्रकार का हो जाए जैसा कि अन्य लोगों का है। इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियो से सरलतया अनुकूलन कर लेता है, साथ ही मूल्यो को स्वीकार कर लेने के कारण व्यक्ति तथा समाज के व्यवहार प्रतिमान एक हो जाते हैं जिससे व्यक्ति स्वयं को समूह से विच्छिन्न न समझकर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का एक अंग समझने लगता है। उसकी यह एकीकरण की भावना उसमें सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है जो स्वयं व्यक्ति एवं समाज दोनों की उन्नति के लिए आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है।

(2) सामाजिक संगठन एवं सामाजिक एकरूपता में महत्त्वपूर्ण होते हैं—सामाजिक मूल्यो का महत्त्वपूर्ण कार्य सामाजिक एकरूपता लाना है साथ ही सामाजिक संगठन को भी दृढ़ करने मे इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है इसका कारण यह है कि मूल्य कुछ निश्चित एवं मान्य व्यवहार प्रतिमानो को प्रस्तुत करते हैं और समाज के सदस्यो से यह आशा की जाती है कि ये अपने व्यवहारो को मान्य व्यवहार प्रतिमानों के अनुरूप बनाए रखें जिससे समाज में संगठन व एकीकरण बना रहे क्योंकि जिन लोगों के मूल्यों मे समानता होती है उनके व्यवहारो में भी साम्य मिलता है परिणामस्वरूप परस्पर सहयोग और निकटता उनमे अधिक होती है। इस प्रकार मूल्य सामाजिक एकीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। यदि सभी व्यक्ति मानक मूल्यो के अनुसार आचरण करते हैं तो समाज में संगठन अधिक रहता है।

(3) विचारों एवं व्यवहारों के निर्धारक होते हैं—मूल्य आदर्शात्मक होते हैं जिनको प्राप्त करना कठिन होता है। सामाजिक मूल्यों को समाज के विचारो एवं व्यवहारो का प्रतीक माना जाता है। इन्हें सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है कि कौनसा कार्य उचित है और कौनसा अनुचित—इसीलिए इन्हें समाज के आदर्श रूप में माना जाता है। यही व्यक्तियों के विचारों और व्यवहारों को भी निश्चित करते हैं कि कौनसा व्यवहार व विचार आदर्शात्मक है।

(4) सामाजिक नियन्त्रण के साधन—जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है मूल्य आदर्शात्मक होते हैं जिनकी अनुपालना करना सभी का कर्त्तव्य होता है और पालना न करने पर व्यक्ति दण्डित भी किया जा सकता है। ये व्यक्ति को उचित व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था को सुचारुरूपेण चलाने के लिए सामाजिक मूल्य सामाजिक नियन्त्रण रखते हैं जिससे व्यक्ति उचित व्यवहार करे अन्यथा उसे समाज दण्डित कर सकता है।

(5) मूल्य सामाजिक क्षमता के मूल्यांकन में समर्थ होते हैं—सामाजिक मूल्यो के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि किसी व्यक्ति को अन्य लोग किस रूप मे देखते हैं? अर्थात् दूसरे लोगो की दृष्टि मे उसका क्या स्थान है? उदाहरण के लिए—यदि कोई व्यक्ति निर्धारित मूल्यो के अनुरूप आचरण नहीं करता तो समाज उसे अवमानना की दृष्टि से देखता

है। यह अवमानना की दृष्टि का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यो के आधार पर ही किया जाता है, जो समाज द्वारा निर्धारित किए गए हैं। अतः कहा जा सकता है कि समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यों के आधार पर किया जा सकता है।

(6) सामाजिक सम्बन्धों को संतुलित करने में सहायक होते हैं—मूल्यो का सामाजिक जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। ये सामाजिक सम्बन्धो को सन्तुलित करते हैं तथा सामाजिक व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करने में भी सहायक सिद्ध होते हैं। मूल्यो का सम्बन्ध व्यक्तियों की आन्तरिक भावनाओ से होता है इसलिए इनसे सामाजिक जीवन को वह मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त होता है जो समाज-व्यवस्था एवं संगठन के लिए आवश्यक होता है।

मूल्यों के आधार पर ही सामाजिक समस्याओं व घटनाओ का भी मूल्यांकन किया जा सकता है, उदाहरण के लिए—'सत्य बोलना' एक आदर्श मूल्य है। इसकी अनुपालना व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी स्तरो पर की जा सकती है—इस प्रकार मूल्य सामाजिक व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करते हैं तथा सामाजिक सम्बन्धों मे संतुलन उत्पन्न करते हैं।

(7) सामाजिक भूमिकाओं के निर्देशन में सहायक होते हैं—सामाजिक मूल्य यह भी निश्चित करते हैं कि कोई व्यक्ति किस परिस्थिति मे किस भूमिका का निर्वाह करेगा? चूँकि हर समाज के मूल्य भिन्न-भिन्न होते हैं अतः विशिष्ट परिस्थिति में समाज उससे किस प्रकार की भूमिका-निर्वाह की अपेक्षा करता है यह मूल्यों पर निर्भर करता है।

भारत की तुलना में अमेरिका की मूल्य-व्यवस्था में अन्तर का परिणाम दोनो देशो के पारिवारिक सम्बन्धों की भूमिका में भिन्नता है। इस प्रकार मूल्य भूमिका-निर्वाह के निर्देशन में भी सहायक व सक्षम होते हैं।

(8) भौतिक संस्कृति के महत्त्व के संवर्धक होते हैं—कुछ सामाजिक मूल्य भौतिक संस्कृति के महत्त्व को बढ़ाने में सहायक होते हैं क्योंकि व्यक्ति आधुनिक सुविधाओं को इसलिए अपने लिए उपयोगी मानते हैं क्योकि वे सामाजिक प्रतिष्ठा की सूचक मानी जाती हैं। प्रतिष्ठा-सूचक वस्तुएँ, जैसे—कार-टेलीफोन आदि सामाजिक मूल्यो के लिए उपयोगी मानी जाती हैं—इस तरह कहा जा सकता है कि सामाजिक मूल्य भौतिक संस्कृति के महत्त्व को बढ़ाते हैं।

(9) स्वाभाविकता एवं व्याधिकीयता व्यवहारों को स्पष्ट करते हैं—सामाजिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक व्यवहार को—स्वाभाविक एवं व्याधिकीय—दो प्रकार का कहा जा सकता है। जो व्यवहार सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होते हैं वे स्वाभाविक तथा जो व्यवहार इनके विपरीत होते हैं वे व्याधिकीय कहलाते हैं अर्थात् मूल्यो द्वारा संस्थापित आदर्शों के विपरीत व्यवहार करने वाले व्यक्ति व्याधिकीय कहलाते हैं। सामाजिक दृष्टि से अपराध की व्याख्या भी इसी आधार पर की जाती है। सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करने पर व्यक्ति दोषी माना जाता है। उसे दण्डित किया जा सकता है क्योकि सामाजिक अस्तित्व के लिए सामाजिक मूल्य आधार-शिला हैं। इस प्रकार सामाजिक विघटन को रोकने तथा सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में एवं इसके पुनर्निर्माण मे सामाजिक मूल्यो का विशेष महत्त्व है क्योकि सामाजिक मूल्य ही सामाजिक जीवन के मानक हैं।

मूल्यों का संकट
(Crisis of Values)

उपर्युक्त उपयोगिताओं के साथ-साथ सामाजिक मूल्य कभी-कभी सामाजिक विघटन का कारण भी बन जाते हैं। व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ मूल्यों के आधार पर बनती हैं। जब मनोवृत्तियों (Attitudes) और सामाजिक मूल्यों मे संघर्ष होता है तो विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और मूल्य संकट पैदा हो जाता है। उदाहरण के लिए—हिन्दुओं में विवाह के समय पर्दा करना या सिर ढकना एक सामाजिक मूल्य है—वर्तमान समय में इसमें परिवर्तन आ रहा है क्योंकि आज लोगों की मनोवृत्तियाँ बदल गई हैं लेकिन मूल्यों में बदलाव बड़ी धीमी गति से आ पाता है—वे सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ नहीं बदल पाते। परिणामस्वरूप मूल्य वर्तमान परिस्थितियों से पिछड़ जाते हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में तनाव उत्पन्न हो जाता है उससे सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मूल्य समय एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित नहीं होते हैं या समाज की आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं होते हैं तो व्यक्ति ऐसे मूल्यो का विद्रोह कर देते हैं जिससे समाज में मूल्य संकट उत्पन्न हो जाता है। बाल-विवाह, सती प्रथा, पर्दा-प्रथा, जागीरदारी आदि अनेक ऐसे मूल्य हैं जिनको आज के समय में पिछड़ेपन का सूचक माना जाता है क्योंकि लोग अब नवीन मूल्यों को ग्रहण करते जा रहे हैं।

राधाकमल मुकर्जी के अनुसार सामाजिक मान्यताओं की अवमानना करना अथवा सामाजिक मूल्यो का उल्लंघन करना ही विमूल्य या मूल्यों का संकट पैदा होना है। अपराध, भ्रष्टाचार, द्वेष, हिंसा, विघटन व शोषण आदि विमूल्य ही हैं। विमूल्यों की उत्पत्ति सामाजिक जीवन में बुराइयो के फलस्वरूप होती है।

मूल्य और विमूल्य में अन्तर स्पष्ट करते हुए मुकर्जी का मानना है कि 'सत्य की सदा विजय होती है' यह एक श्रेष्ठतम मूल्य का उदाहरण है, किन्तु 'राजनीति में कुछ भी अनुचित नहीं होता है' यह विमूल्य का उदाहरण है। 'क्षमा कर देना ही सबसे बड़ी सजा है' यह मूल्य है किन्तु 'खून का बदला खून' यह विमूल्य है। 'परिश्रम का फल मीठा होता है' यह एक उच्चतर मूल्य है, किन्तु 'जिओ और जीने दो' यह विमूल्य का उदाहरण है। इस प्रकार व्यक्ति मूल्यो की अवहेलना करके विमूल्यों को स्वीकार कर लेता है तो मूल्य सकट पैदा हो जाता है। वैयक्तिक स्तर पर बेईमानी, हिंसा, घृणा व अवहेलना आदि विमूल्यों के उदाहरण हैं। *"अपने पड़ोसी से प्रेम करो" सामाजिक मूल्य है, जबकि "दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार करो"* विमूल्य का उदाहरण है। इसी प्रकार हिंसा, शोषण, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद और राजद्रोही गतिविधियाँ आदि विमूल्यो के उदाहरण हैं। विमूल्य उन संस्थाओं या व्यवहारों के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं, जो कानून और सामाजिक-संहिताओं की अवमानना करते हैं।

मूल्य संकट के कारण (Causes of Crisis of Values)

मुकर्जी के मतानुसार मूल्य संकट की उत्पत्ति तीन कारणों से होती है—

(1) शारीरिक अथवा जैविकीय आवश्यकताएँ (Physical or Biological Necessities)—मूल्य संकट की उत्पत्ति का प्रथम कारण जैविकीय है। जब व्यक्ति अपनी आवश्यक आवश्यकताओं, जैसे—भोजन, आवास और वस्त्र आदि की भी पूर्ति नहीं कर पाता अर्थात् शारीरिक कष्ट, कुपोषण, सुविधाओं का अभाव, अभिवृद्धि में बाधा, वस्त्र व आवास की अपर्याप्तता, बीमारी व सुरक्षा का अभाव आदि असुविधाएँ उसे सताती हैं तो मूल्य संकट की उत्पत्ति होती है।

(2) मानसिक आवश्यकतायें (Mental Necessities)—मानसिक आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति न होने पर भी मूल्य संकट की उत्पत्ति होती है। जब व्यक्ति की प्रेम, प्रतिष्ठा, प्रस्थिति एवं सुरक्षा विषयक मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है, तो उस स्थिति में वह मानसिक तनावों एवं संघर्षों का शिकार हो जाता है। क्योंकि मनोवैज्ञानिक आधार पर आत्मसन्तोष के लिए इनकी पूर्ति आवश्यक होती है—इसके अभाव में व्यक्ति में कृत्रिम एवं विकृत मूल्य विकसित हो जाते हैं, जो उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं के पथभ्रष्ट तरीकों से पूर्ति करते हैं—यही मूल्य संकट है।

(3) सामाजिक आवश्यकतायें (Social Necessities)—सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर भी मूल्य संकट की उत्पत्ति हो जाती है। जब व्यक्ति के समक्ष संघर्षात्मक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तो वह उनको सहन करने अथवा भुलाने के लिए गलत रास्ते अपनाता है। शराब पीना, पारिवारिक सन्तुलन में बाधा डालना आदि स्थितियाँ समाज में विघटन पैदा करती हैं, क्योंकि जब व्यक्ति अपने दुःख-दर्द को भुलाने के लिए अत्यधिक शराब का सेवन करता है तो इससे उसके परिवार की सुख-शान्ति भंग होती है, आर्थिक कष्ट होता है और स्वास्थ्य भी खराब हो जाता है। इन सबसे पारिवारिक और फिर सामाजिक सन्तुलन विकृत हो जाता है, उससे उत्पन्न समस्याएँ समाज में मूल्य संकट को विकसित करती हैं। इस प्रकार आवश्यकताओं का अभाव ही मूल्य संकट का कारण होता है।

राधाकमल मुकर्जी ने मूल्यों के महत्त्व को इस रूप में परिभाषित किया है, "समाज मूल्यों का एक संगठन व संकलन है" अर्थात् मूल्य सामाजिक क्रिया में सामाजिक अनुभव होते है जिनका निर्माण वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही प्रकार की मनोवृत्तियों द्वारा होता है। मूल्य समाजों का निर्माण करते हैं और सामाजिक सम्बन्धों को संगठित करते है। राधाकमल मुकर्जी ने मूल्यों को परिभाषित करते हुए लिखा है, "मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ तथा लक्ष्य हैं जिनका आन्तरीकरण सीखने या सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है, जो व्यक्तिनिष्ठ अधिमान, मान तथा अभिलाषाएँ बन जाती हैं।" इसका अर्थ यही है कि सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति इन्हें अपने व्यक्तित्व में सम्मिलित कर लेता है। इसीलिए आपने कहा है कि मनुष्य को मूल्य अपने जीवन से, अपने पर्यावरण से, अपने आप से, समाज और संस्कृति से ही नहीं, अपितु मानव-अस्तित्व व अनुभव से भी

प्राप्त होते है। किसी राष्ट्र या समाज का मूल्यांकन उसकी सम्पन्नता (धन, वैभव एवं सम्पदा) से नहीं किया जाता, बल्कि उसका मूल्यांकन उसके व्यक्तित्व एवं जीवन मूल्यो के आधार पर किया जाता है। किसी व्यक्ति के मूल्य यह प्रदर्शित करते हैं कि वह व्यक्ति समाज, देश अथवा स्वय के लिए कितना मूल्यवान है? आज के बदलते परिवेश के कारण मानव मूल्यों का निर्माण होना अत्यन्त आवश्यक है।

आज की स्थिति को देखा जाए तो मूल्यों में निरन्तर गिरावट दृष्टिगोचर हो रही है। हिंसा, अनुशासनहीनता, घृणा, अविश्वास एवं अनास्था जैसी प्रवृत्तियाँ व्यक्तित्व में पल्लवित होती जा रही हैं। वर्तमान में व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में तनाव के कारण प्रतिदिन घुटन बढ़ती जा रही है। पति-पत्नी, भाई-भाई, माता-पुत्र के सम्बन्ध तनावपूर्ण होते जा रहे हैं। सामाजिक व्यवस्थाओं का उल्लंघन करने में व्यक्ति संकोच नहीं करता है। प्रदर्शन, घेराव, तोड़फोड़, हिंसात्मक विद्रोह एवं आतंक जीवन में हर समय तनाव व भय उत्पन्न करते रहते हैं। भ्रष्टाचार, कालाबाजारी, रिश्वतखोरी, तस्करी, मिलावट, काला धन आदि गतिविधियाँ बढ़ रही हैं। गरीबो, असहायों का शोषण बढ़ता जा रहा है। मनुष्य स्वार्थी, अवसरवादी, भोगी, चाटुकार एवं कर्त्तव्यविमुख हो रहा है। जीवन से शान्ति तिरोहित हो चुकी है। ये सभी बातें मूल्यों का पतन दिखलाती हैं। वर्तमान समय में मानव सभ्यता के समक्ष मूल्यो का सकट उत्पन्न हो गया है। जहाँ एक ओर मानव ने आज विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र मे आश्चर्यजनक उन्नति प्राप्त कर ली है, वहीं दूसरी ओर वह अपने विचारों, कार्यों और आदर्शों में इतना पतित और हीन होता जा रहा है, वह सदाचार की मर्यादाएँ ही भूलता जा रहा है। यह स्थिति मानव-मूल्यों के पतन की है।

मूल्यो के संकट की ओर इंगित करते हुए भारतीय शिक्षाशास्त्री वेदमणि मैन्युअल ने लिखा है, "आज हमारा सामाजिक जीवन अनसुलझे और तनावों, संघार्षों एवं हिंसा से खोखला हो गया है। झूठे मूल्यो और झूठे नायको की पूजा ने आज इतना अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है कि नई पीढ़ी के गम्भीर विद्यार्थी विरोधाभास और मतिभ्रमता के ढेर में खो गए हैं। आज हम भ्रष्ट राजनीतिज्ञो, गैर जिम्मेदार व्यापारियों, बेईमान भाषणकर्त्ताओ, मतलबी लोगो, शराबियो और अनैतिक लोगों को पूर्णता के प्रतिरूप (मॉडल) मानते हुए पूजे जाते हुए देखने के साक्षी हैं।"

सुप्रसिद्ध भारतीय विधिशास्त्री एन. के. पालकीवाला के शब्दों में, "चार दशकों की स्वतन्त्रता के बाद जो तस्वीर आज भारत में उभरकर सामने आती है, वह ऐसे शक्तिशाली राष्ट्र की तस्वीर है जो नैतिक पतन की अवस्था में है। हम आत्मा के घोर विघटन और मूल्यो के अनियन्त्रित पतन से त्रस्त हैं। यह कई प्रकारों के संकट हैं। भ्रष्टाचार, हिंसा और अनुशासनहीनता लोकतन्त्र के नाम पर भीड़तन्त्र, सम्मान की भावना तथा सार्वजनिक और औचित्य का सर्वथा अभाव।"

उपर्युक्त दोनों कथन 'मूल्यों के संकट' की स्थिति को स्पष्ट कर रहे हैं। आधुनिक युग को मूलतः पूँजीवादी युग कहा जा सकता है। इस भौतिकवादी युग में आध्यात्मिक और

नैतिक मूल्य छिन्न-भिन्न हो गए हैं। इस उपभोक्तावादी संस्कृति मे मूल्यो के पतन के कारण व्यक्ति और समाज कुण्ठाओं से ग्रस्त हैं, व्यक्ति दिशाहीन होकर संत्रस्त है, हर दिन नई समस्याएँ व नए प्रश्न व्यक्ति को स्खलित कर रहे हैं।

आज पूरा समाज मूल्यहीनता के कारण पतन के गर्त की ओर जा रहा है। नारी जाति की भ्रूण हत्या, कामकाजी महिलाओ का शोषण और उत्पीड़न, दहेज के लोभ मे उसे अपमानित व प्रताड़ित किया जाना समाज के बुद्धिजीवियों के समक्ष अनेक प्रश्न उठा रहा है।

लोकतन्त्र की दृष्टि से देखें तो यह एक बड़ी संकट की घड़ी से गुजर रहा है, क्योंकि आज नेतृत्व का आधार लोक-सेवा नहीं है, राजनीति एक पेशा बन गई है जिसमें मौलिक निष्ठा व ईमानदारी का अभाव है। भारतीय लोकतन्त्र का संकट मूल्यों का संकट है।

समाज में आर्थिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है। आज व्यक्ति अधिकाधिक स्वार्थी व स्वकेन्द्रित हो गया है, भोगवादी प्रवृत्ति बढ़ रही है, सत्ता पर अंकुश गहराता जा रहा है। आधुनिक मानव उपभोक्ता सस्कृति का पोषक है। उसने व्यावसायिक मानव का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। साम्राज्यवाद, प्रजातिवाद, वर्ग संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष विघटन उत्पन्न कर रहे हैं। महानगरों का पतन विकराल रूप ग्रहण कर चुका है।

साराशतः यह कहा जा सकता है कि आज व्यक्ति अपने शाश्वत मूल्यों को खोता जा रहा है तथा तात्कालिक जीवन को सुखी बनाने हेतु अनवरत प्रयासरत है। शिक्षक, अभिभावक, राजनेता, अधिकारी सभी मूल्य संकट के दौर से गुजर रहे हैं। इस मूल्य-सकट की स्थिति से उबरने का एकमात्र महत्त्वपूर्ण समाधान मूल्यपरक सामाजीकरण है। कहा जाता है, *"मूल्य सिखाए भी जाते हैं और ग्रहण भी किए जाते हैं।"*



अध्याय-17

अपराध
(Crime)

अपराध एक सार्वभौमिक तथ्य है। समाज के नियमों का उल्लंघन, असामाजिक एवं अनैतिक कार्य—अपराध कहलाते हैं। अपराध विचलनकारी एवं अनैतिक व्यवहार होते हैं जिनका निर्णय समाज द्वारा किया जाता है। इसलिए अपराध की अवधारणा भी भिन्न-भिन्न समाजों और उनके विभिन्न कालों के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। यही नहीं अपराध की सामाजिक, वैधानिक और मनोवैज्ञानिक अवधारणाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। इसको समझने के लिए आवश्यक है कि इसके अर्थ को सामाजिक, वैधानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए। अपराध एक सर्वव्यापी अवधारणा होते हुए भी देशकाल, परिस्थिति एवं विकास के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की कही जा सकती है। अपराध को समझने के लिए आवश्यक है कि इसकी परिभाषा और अर्थ का अध्ययन किया जाए—

अपराध का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Crime)—अपराध एक सर्वव्यापी तथ्य है। अलग-अलग समाजों में इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। कहीं यह धर्म और नैतिकता से सम्बन्धित है, तो कहीं राजकीय नियमो और कानूनों से सम्बन्धित है। अपराध को अनेक विद्वानों ने सामाजिक, वैधानिक एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं के आधार पर निम्न रूप मे परिभाषित किया है।

(1) अपराध की सामाजिक अवधारणा
(Social Concept of Crime)

सामाजिक दृष्टि से समाज विरोधी कार्यों को अपराध के अन्तर्गत माना जाता है। इस विचारधारा के आधार पर विद्वानों ने अपराध की अग्रलिखित परिभाषाएँ दी हैं—

ई. आर. मोरर (E R Mowrer) के मतानुसार, *"अपराध सामाजिक मानदण्डो का उल्लंघन है।"*

रेडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार, *"अपराध उस आचरण का उल्लंघन है, जिसके लिए दण्ड देने की व्यवस्था की गई है।"*

क्लिनार्ड (Clinard) अपराध को 'सामाजिक नियमों से विचलन' मानते हैं। लेकिन आप सभी प्रकार के विचलनो को अपराध नहीं मानते हैं। आपने तीन प्रकार के विचलनों का उल्लेख किया है— (1) सहन किए जाने वाले विचलन, (2) वे विचलन जिनकी दबे रूप मे निन्दा की जाती है, और (3) वे विचलन जिनकी कड़ी निन्दा की जाती है। क्लिनार्ड तीसरे प्रकार के विचलन को अपराध मानते हैं।

इलियट एवं मेरिल (Illiott and Merrill) के मत में, *"समाज-विरोधी व्यवहार, जो समूह द्वारा अस्वीकृत किया जाता है, और जिसके लिए समूह दण्ड निर्धारित करता है, अपराध कहलाता है।"*

बार्न्स एवं टीटर्स (Barns and Teeters) के अनुसार, *"एक ऐसा कार्य जिसे समूह पर्याप्त रूप से खतरनाक समझता हो तथा ऐसे कार्य के लिए अपराधी को दण्डित करने के लिए एवं रोकथाम करने के लिए एक निश्चयात्मक सामूहिक प्रतिक्रिया की आवश्यकता हो, अपराध कहलाता है।"*

रोकलेस (W. C. Rockless) के अनुसार, *"समाज द्वारा निर्मित एवं मान्य रास्ते को तोड़ने का नाम अपराध है।"*

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के मत में, *"अपराध एक ऐसा कार्य है, जो वास्तव में समाज के लिए हानिकारिक है अथवा लोगों के एक ऐसे समूह द्वारा हानिप्रद स्वीकार किया जाता है जिसके पास अपने विश्वास को लागू करने की शक्ति है, एवं वह ऐसे व्यवहार को सकारात्मक दण्ड-विधानों में निषिद्ध करता है।"*

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक समाज की कुछ परम्पराएँ, मान्यताएँ, रूढ़ियाँ और रीति-रिवाज होते हैं जो समाज की सुरक्षा करते हैं, उनका उल्लंघन करना अपराध माना जाता है। दूसरे शब्दों में समाज-विरोधी व्यवहार ही अपराध हैं, किन्तु एक बात इस समय ध्यातव्य है कि प्रत्येक समाज विरोधी कार्य गम्भीर अपराध नहीं माना जा सकता। कुछ समाज विरोधी कार्य केवल निन्दनीय माने जा सकते है, और जिनके लिए समाज द्वारा कोई गम्भीर दण्ड की भी व्यवस्था नहीं होती है, जैसे—हमारी भारतीय परम्परा में पुत्र का कार्य माता-पिता की सेवा करना, अथवा माता-पिता का कार्य बच्चों का लालन-पालन करना है। यदि इन कार्यों की अवहेलना किसी भी ओर से की जाती है, तो भी यह इतना बड़ा अपराध नहीं है कि समाज इसके लिए दण्डित करे, बल्कि समाज द्वारा केवल उसकी आलोचना ही की जायेगी। किन्तु यदि किसी व्यक्ति द्वारा चोरी अथवा डाका डालने का कार्य किया जाता है तो वह समाज की दृष्टि मे अपराध है और उसके लिए दण्ड की व्यवस्था होगी। इसीलिए कहा गया है कि अपराध उन व्यवहारों का उल्लंघन है जिसके लिए समाज द्वारा दण्ड देने की व्यवस्था की गई है।

(2) अपराध की वैधानिक अवधारणा
(Legal Concept of Crime)

अपराध की वैधानिक अवधारणा के आधार पर उन कार्यों को अपराध की श्रेणी में रखा जा सकता है जो कार्य किसी राज्य के संविधान अथवा नियमों के विरोधी हो। कुछ विद्वानों ने इसे निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है जो वैधानिक अवधारणा को स्पष्टतया परिभाषित करते हैं।

माइकिल और एडलर ने कानूनी दृष्टिकोण से अपराध को कानून का उल्लंघन करने वाले व्यवहार माना है, जो अपराध-संहिता द्वारा निषेधित हैं।

वीवर के मत में, *"अपराध राज्य द्वारा परिभाषित एक निषेधात्मक व्यवहार है। यह राज्य द्वारा उल्लेखित नियमों का उल्लंघन है।"*

लैंडिस एवं लैंडिस के अनुसार, *"वह कार्य, जिसे राज्य ने सामूहिक कल्याण के लिए हानिकारक घोषित किया है, और जिसे दण्डित करने की राज्य के पास शक्ति है, अपराध कहलाता है।"*

गिलिन एवं गिलिन के मत में, *"कानूनी दृष्टिकोण से किसी देश के कानून के विरुद्ध कार्यवाही अपराध है।"*

टाफ्ट के अनुसार, *"कानूनी रूप से अपराध एक ऐसी क्रिया है, जो कानून के अनुसार दण्डनीय है।"*

उपर्युक्त परिभाषाओं में इस तथ्य पर विशेष आग्रह है कि जो कार्य कानून के अनुसार दण्डनीय हैं, वे अपराध की कोटि में आते हैं। इसका अर्थ है कि कुछ ऐसे कार्य जो यद्यपि सामाजिक दृष्टि से हानिकारक हो सकते हैं; किन्तु वे तब तक अपराध नहीं माने जा सकते जब तक कि कानून की दृष्टि से वे निषिद्ध न माने गए हों।

वैधानिक अपराध के तत्त्व
(Elements of Legal Crime)

जे. ई. स्टीफेन ने अपनी कृति 'ए हिस्ट्री ऑफ द क्रिमिनल लॉ ऑफ इंगलैंड' में वैधानिक अपराध की निम्नलिखित आवश्यक दशाएँ मानी हैं—

(1) अपराधी कृत्य यथेष्ट आयु के व्यक्ति द्वारा किया गया हो।

(2) यह कृत्य बिना किसी दबाव के किया गया हो।

(3) कृत्य लक्ष्यपूर्ण हो।

(4) अपराधी को विभिन्न आपराधिक कार्यों का ज्ञान हो।

इस प्रकार द्वेष, असावधानी आदि के कार्य भी अपराध माने जाते हैं। अपराध के अन्तर्गत वे समस्त कृत्य आते हैं जिनके लिए राज्य दण्ड देता है। जेरोम हॉल ने 'जनरल प्रिंसिपल ऑफ क्रिमिनल लॉ' में सात बिन्दुओं में अपराध की वैधानिक अवधारणा को स्पष्ट किया है—

(1) कोई भी व्यवहार तभी अपराध कहा जा सकता है, जब उसका कोई दुष्परिणाम निकलता हो।

(2) यह दुष्परिणाम वैधानिक रूप से निषिद्ध हो, और उसके लिए दण्डसंहिता द्वारा दण्ड की व्यवस्था भी हो।

(3) अपराधी कृत्य किसी के दबाव से न किया गया हो।

(4) अपराध के लिए यह भी आवश्यक है कि अपराधी कृत्य उद्देश्यपूर्ण हो अथवा अपराध का कृत्य दोषी मन का परिणाम हो।

(5) अपराधी आचरण करते समय व्यक्ति के मन में आपराधिक निश्चय विद्यमान रहना चाहिए।

(6) अपराधी कृत्य का वैधानिक रूप से हानिकारक प्रभाव होना चाहिये अथवा अपराधी कृत्य और वैधानिक हानि में कार्यकारण प्रभाव होना चाहिये।

(7) अपराध के लिए कानून द्वारा दण्ड की भी व्यवस्था होना आवश्यक है।

अर्थात् वे ही आचरण अपराध माने जायेंगे जो निश्चित उद्देश्यानुसार किये गये हों, जिससे वैधानिक हानि पहुँचे और जिसके लिए कानून में दण्ड की भी व्यवस्था हो। अत: कहा जा सकता है कि कानूनी दृष्टि से अपराध वह कार्य है जिसके लिए कानून दण्ड देता है। अपराध की कानूनी और सामाजिक अवधारणाओ में कभी-कभी समानता होती है और कभी अन्तर दिखाई देता है, जैसे—हत्या, चोरी, डाका आदि कृत्य सामाजिक व वैधानिक दोनों ही दृष्टियो से अपराध की श्रेणी में आते हैं किन्तु बाल विवाह कानूनी दृष्टि से अपराध है, सामाजिक दृष्टि से नहीं। दूसरी ओर विधवा पुनर्विवाह सामाजिक दृष्टि से अपराध है, कानूनी दृष्टि से नहीं।

(3) अपराध की मनोवैज्ञानिक अवधारणा
(Psychological Concept of Crime)

मनोवैज्ञानिक अवधारणा के आधार पर वे व्यवहार अपराध की श्रेणी में आते हैं जो असामान्य व्यवहार के रूप में प्रदर्शित होते हैं। अर्थात् जिन व्यक्तियों का व्यक्तित्व असमायोजित होता है, जो विघटनकारी व्यक्तित्व वाले होते हैं वे अपराध को जन्म देते हैं। मनोवैज्ञानिक अवधारणा के आधार पर अपराध की निम्न परिभाषाएँ हो सकती हैं—

1. **गोडार्ड** के मत में, "अपराध मानसिक दुर्बलता का परिणाम है।"

2 **आटोरेन्क** के अनुसार, "विघटित व्यक्तित्व अपराध का कारक है।"

3. **एडलर** ने कहा है, "अपराध मन से होता है।"

4. **मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड** का मानना है, "अपराध दमन की अभिव्यक्ति है।"

5 **गैरोफैलो** के मत में, "दया व ईमानदारी की भावना का दोषपूर्ण होना ही व्यक्ति में अपराध भावना को जन्म देता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से निष्कर्ष निकलता है कि जब व्यक्ति का समायोजन उसके पर्यावरण के साथ नहीं होता है तो उसका व्यक्तित्व विघटनकारी हो जाता है और विघटनकारी व्यक्तित्व ही अपराध को जन्म देता है। इस प्रकार अपराधी व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ होती हैं, जो **गुटमैचर** ने निम्नलिखित बताई हैं—

1. 'सामान्य अपराधी' सामाजिक समूह का सदस्य होता है और समाज के असामाजिक तत्वों के साथ अपना आत्मसात कर लेता है अथवा उनमें एकाकार हो जाता है।

2 'अवसरवादी अपराधी' में पूरा अहम् विकसित तो होता है किन्तु वह विशेष प्रकार की परिस्थितियों से सब ओर से घिरा हुआ रहता है।

3. 'रचनात्मकरूप से पूर्वनिर्मित अपराधी' अपना एक अलग समूह बना लेते हैं जो समग्र अपराधी जनसंख्या का एक लघु अंश होता है, किन्तु यह समूह बौद्धिक, शारीरिक एवं सांवेगिक दोषो के आधार पर अनेक उपसमूहों मे विभाजित रहता है। इन दोषो से ग्रसित व्यक्ति सर्वदा ही अपराधी नहीं होता है।

4. 'मनोविकृत अपराधी' अचेतन में छिपे द्वन्द्वों के कारण असामाजिक व्यवहार करता है।

5. 'मनोविक्षिप्त अपराधी' मानसिक विक्षिप्तता के कारण असामाजिक व्यवहार करता है। यह व्यक्ति किसी विशेष मानसिक विकार से युक्त होता है।

अपराध से मिलते-जुलते कुछ शब्द—जैसे पाप, दुराचार, अनैतिकता, वैयक्तिक-क्षति आदि हैं जिनमें कुछ अन्तर है जो इन्हें अपराध से अलग श्रेणी में रखता है—इन्हें स्पष्टतया समझना आवश्यक है। **'पाप'** धार्मिक दृष्टि से कार्यों का उल्लंघन है, जैसे—झूठ बोलना पाप है, दूसरों को दुःख देना पाप है। पाप के साथ धार्मिक अथवा आध्यात्मिक मान्यताएँ जुड़ी हुई हैं। **'दुराचार'** का अर्थ है वे कृत्य जो व्यक्ति को दुष्मार्ग की ओर ले जाते हैं और व्यक्ति का चारित्रिक पतन करते हैं जैसे—जुआ खेलना, शराब पीना आदि। **'अनैतिकता'** से आशय ऐसे कार्यों से है जो स्वयं की अन्तरात्मा के विपरीत किए गए व्यवहार हैं और नैतिक दृष्टि से भी मान्य नहीं है, जैसे—विवाह के पूर्व उत्पन्न सन्तान अनैतिक मानी जाती है। **'व्यक्तिगत क्षति'** का अर्थ निजी स्वार्थ के विरुद्ध क्रिया करना है, जिसमें वैयक्तिक होने का उद्देश्य जुड़ा है। कहने का आशय यह है कि अपराध उपर्युक्त सभी से भिन्न अवधारणा है जिसमें सामाजिक हानि का उद्देश्य प्रमुख होता है जबकि पाप, दुराचार, अनैतिकता, वैयक्तिक क्षति आदि व्यक्तिगत अधिक हैं इसलिए ये अपराध से भिन्न हैं।

अपराध के वर्गीकरण (Classifications of Crime) —अपराध मानव व्यवहार के परिणाम होते हैं और मानव व्यवहारों में विभिन्नता पाई जाती है। परिणामस्वरूप अपराध भी विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। अनेक विद्वानों ने अपराधों को अलग-अलग रूपों में वर्गीकृत किया है जिसे निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) सदरलैण्ड का वर्गीकरण—इन्होने अपराधों की गम्भीरता के आधार पर इनके दो प्रमुख प्रकार माने हैं—(1) साधारण अपराध और (2) गम्भीर अपराध।

1. साधारण अपराध (misdemeanours)—ये वे अपराध हैं जिनके लिए अपराधी को अधिक दण्ड न देकर चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है अथवा स्थानीय कारागार मे बन्दी बनाकर रख दिया जाता है। मारपीट करना, चोरी करना इसी श्रेणी के अपराध हैं।

2. गम्भीर अपराध (Felonies)—इसमें राजद्रोह, डकैती, अपहरण जैसे बड़े व जघन्य अपराधों को लिया जाता है जिनके लिए आजीवन कारावास अथवा मृत्युदण्ड तक की सजा दी जा सकती है।

आलोचना (Criticism)

सदरलैण्ड का उपर्युक्त वर्गीकरण अधिक व्यावहारिक एवं मान्य नहीं है। **टैपन** और **जेम्स स्टीफेन** ने इसकी आलोचना की है। इनका मानना है कि —(i) एक ही अपराध एक देश के लिए सामान्य अपराध हो सकता है और दूसरा देश उसे गम्भीर अपराध की श्रेणी में रख सकता है, (ii) साथ ही सामान्य माने जाने वाले अपराध भी कभी-कभी गम्भीर परिणाम वाले हो सकते हैं और (iii) इस वर्गीकरण में गम्भीर अपराध करने वालों को सम्मान की दृष्टि से अधिक खतरनाक व सामान्य अपराध करने वालों को कम भयंकर माना जाता है किन्तु सामान्य अपराधी कभी भीषण अपराध कर सकता है और गम्भीर अपराधी सामान्य अपराध कर सकता है— इसके कोई निश्चित नियम नहीं हैं।

(2) हप्पन ने 'क्राइम जस्टिस एण्ड करेक्शन' में उपर्युक्त दो प्रकारों के अतिरिक्त एक और प्रकार अपराधों का बताया है जो सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से अत्यन्त खतरनाक नहीं होते हैं। इनमें मनोरोग सम्बन्धी समस्यायें और औषधिक समस्यायें आती हैं जिनका उपचार सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से किया जा सकता है।

(3) लेमर्ट ने 'सोशियल प्रॉब्लम्स' में अपराधों को तीन भागों में विभाजित किया है—(1) परिस्थितिजन्य, (2) नियोजित, और (3) विश्वासघातक।

1. परिस्थितिजन्य अपराध (Situational Crime)—जब व्यक्ति की परिस्थितियाँ इस प्रकार की हो जाती हैं कि विवश होकर वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है, उसे नैतिकता, सामाजिकता का विवेक नहीं रहता तो वह कितना भी भयंकर अपराध कर बैठता है—इस प्रकार परिस्थिति से बाध्य होकर किये जाने वाले अपराध परिस्थितिमूलक अपराध हैं।

2. नियोजित अपराध (Planned Crime)—जब अपराध की पूर्व योजना बना ली जाती है। स्थान, समय व अपराध का तरीका आदि सब पूर्व-सुविचारित होता है तो उन्हें नियोजित अपराध कहा जाता है। बैंकों की डकैती आदि के अपराध पूर्व-नियोजित होते हैं।

3. विश्वासघातक अपराध (Crime Against Trust)—इनमें उन अपराधों को लिया जा सकता है, जो किसी को धोखा देकर किये जाते हैं अर्थात् जब किसी व्यक्ति पर विश्वास किया जाता है और वह व्यक्ति विश्वास का लाभ उठाकर विश्वास करने वाले व्यक्ति को धोखा दे देता है, तब उसे विश्वासघातक अपराध कहा जाता है।

(4) बोजर का वर्गीकरण—बोजर ने चार प्रकार के अपराध बताये हैं जो अपराधी-उद्देश्य को ध्यान में रखकर बताये गये हैं—आर्थिक, यौन-सम्बन्धी, राजनैतिक और विविध।

1. आर्थिक अपराध—इस प्रकार के अपराध धन-सम्पत्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

2. यौन-सम्बन्धी अपराध—ये अपराध यौन-सम्बन्धों की संतृप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं।

3. राजनैतिक अपराध—इन अपराधो का उद्देश्य राजनैतिक क्षेत्र मे लाभ प्राप्त करना होता है।

4. विविध अपराध—इन अपराधों को प्रतिशोध की भावना से किया जाता है अर्थात् बदला लेना इन अपराधों का उद्देश्य होता है।

(5) क्लीनार्ड एवं क्वीने का वर्गीकरण—क्लीनार्ड एवं क्वीने ने 8 प्रकार के अपराधों की चर्चा की है—हिंसात्मक, सम्पत्ति सम्बन्धी, व्यावसायिक, राजनैतिक, सार्वजनिक व्यवस्था सम्बन्धी, परम्परागत, संगठित और पेशेवर अपराध।

1. हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध (Violent Personal Crime)—इनमे हत्या जैसे गम्भीर अपराधों को लिया जाता है जिनकी समाज द्वारा कटु आलोचना की जाती है और कठोर दण्ड की भी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है।

2. सम्पत्ति सम्बन्धी आकस्मिक अपराध (Occasional Property Crime) — धन लाभ हेतु जो अपराध किये जाते हैं, वे इसी श्रेणी में आते हैं। बैंक में चैक पर झूठे

दस्तखत करना, जाली हस्ताक्षर करना, दुकान से सामान चोरी करना आदि इसी प्रकार के अपराध हैं।

3. **व्यावसायिक अपराध** (Occupational Crime)—अपने व्यवसाय मे अपराध करना, जैसे—चीजों में मिलावट, कालाबाजारी, झूठे विज्ञापन आदि इसी प्रकार के अपराध हैं।

4. **राजनैतिक अपराध** (Political Crime)—राजनैतिक लाभ के लिए जासूसी करना, राजद्रोह करना, तोड़-फोड़ करना जैसे अपराध इस श्रेणी में आते हैं।

5. **सार्वजनिक व्यवस्था सम्बन्धी अपराध** (Public Order Crime)— आवारागर्दी करना, सड़क के नियमों को तोड़ना, शराब के नशे में चीखना-चिल्लाना आदि को इस कोटि के अपराधों में सम्मिलित किया जाता है।

6. **संगठित अपराध** (Organized Crime)—योजनाबद्ध तरीके से संगठन बनाकर अपराध करना—जैसे सोने की तस्करी, अफीम, गांजा आदि का व्यापार करना संगठित अपराध हैं।

7. **परम्परागत अपराध** (Conventional Crime)—कई जातियों में कुछ ऐसे अपराध किये जाते हैं जो परम्परा से चले आ रहे है, जैसे—कुछ जातियाँ चोरी करके ही अपनी आजीविका चलाती हैं। डकैती, लूटमार आदि इसी कोटि में आते हैं।

8. **पेशेवर अपराध** (Professional Crime)—वे अपराध जो व्यवसाय के रूप में मान्य हैं, जैसे—जेब काटना, नकली नोट छापना, उठाईगिरी करना आदि इसी प्रकार के पेशेवर अपराध हैं।

(6) सांख्यिकीय आधार पर वर्गीकरण (Classification on the Basis of Statistics)—सांख्यिकीय आधार पर अपराधो के पाँच प्रकार हैं। सरकार द्वारा इन्हे वर्गीकृत किया गया है—

1. **व्यक्ति के विरुद्ध अपराध** (Crime against Person)—हत्या, मारपीट, बलात्कार आदि।

2. **सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध** (Crime against Property)—चोरी, डकैती, लूटपाट आदि।

3. **सार्वजनिक न्याय और सत्ता के विरुद्ध अपराध** (Crime against Unıvasal lower Authority)—जैसे गबन करना, धोखा देना आदि।

4. **सार्वजनिक व्यवस्था के विरुद्ध अपराध** (Crime against Public Order)—जैसे शराब पीना, शोर मचाना, जुआ खेलना आदि।

5. **राज्य के विरुद्ध अपराध** (Crime against State)—राजद्रोह, जासूसी आदि।

(7) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ क्रिमिनोलॉजी' मे **रेमण्ड कार्सिनी** ने अपराधियो की सात कोटियाँ निर्धारित की है—

1 आकस्मिक अपराधी	2. पारिस्थितिक अपराधी
3. दायित्वहीन अपराधी	4 मनोविक्षिप्त अपराधी

5. मनोविकृत अपराधी 6. वृत्तिक अपराधी

7. मनस्तापी अपराधी।

(8) भारत में अपराधों के प्रकार (Types of Crime in India)—भारत मे तीन प्रकार के अपराध पाये जाते हैं—

(1) वे अपराध जो '**भारतीय दण्ड विधान**' (Indian Penal Code) के अन्तर्गत दण्डनीय माने जाते हैं। हत्या मारपीट, चोरी, अशान्ति पैदा करना, विश्वासघात व मानहानि जैसे अपराध इसी प्रकार के अपराध हैं।

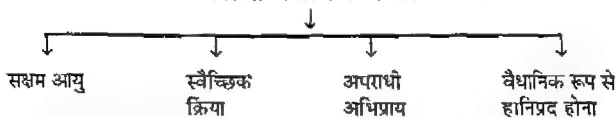
(2) **दण्ड प्रक्रिया संहिता** (Code of Criminal Procedure) **द्वारा दण्डनीय अपराध**—इन्हें दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(i) शान्ति-भंग सम्बन्धी अपराध, तथा (ii) दुर्व्यवहार सम्बन्धी अपराध।

(3) **स्थानीय तथा विशिष्ट विधियों द्वारा दण्डनीय अपराध**—इनमे नशाबन्दी जैसे अपराध लिए जा सकते हैं—जैसे नशाबन्दी, राज्य द्वारा लागू होने पर भी लोगों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है, तो यह अपराध है।

अपराधी का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Criminal)

अपराध का अध्ययन करने के उपरान्त अपराधी का विस्तार से अध्ययन आवश्यक है क्योंकि समाजशास्त्र अपराधी का अध्ययन करता है। सामान्य रूप से जो व्यक्ति नियमों की अवहेलना करता है, समाज के विरुद्ध आचरण करता है अथवा धर्म, परम्परा आदि सामाजिक मान्यताओं के विरोध में कार्य करता है उसे अपराधी की संज्ञा दी जाती है। **टाफ्ट** के मत मे भी वह व्यक्ति अपराधी है जिसने कानून निषिद्ध व्यवहार किया है। अर्थात् वही व्यक्ति अपराधी माना जा सकता है, जिसे न्यायालय दोषी मानता है और जिसके लिए दण्ड की व्यवस्था की जाती है। टाफ्ट ने किसी व्यक्ति को अपराधी स्वीकार करने के लिए कुछ आधार बताए हैं, जो इस प्रकार हैं—

अपराधी निर्धारण के आधार



1. सक्षम आयु (Competent Age)—किसी भी व्यक्ति को अपराधी मानने के लिए सक्षम आयु का होना अत्यावश्यक है। सामान्यतया किसी भी देश में 6-7 वर्ष की कम उम्र के बालको द्वारा किया गया समाज-विरोधी कार्य अपराध की श्रेणी मे नहीं आ सकता। क्योंकि उस उम्र के पूर्व बालक अच्छा-बुरा मे अन्तर स्थापित करने योग्य नहीं हो पाता है। अतः व्यक्ति को तभी अपराधी माना जा सकता है, जब उसमे उचित-अनुचित की भावना का विकास हो जाए।

2. स्वैच्छिक क्रिया (Voluntary Act)—कोई भी व्यक्ति तभी अपराधी की श्रेणी मे आ सकता है जब उसके द्वारा कोई कानून-विरोधी कार्य स्वेच्छा से किया गया हो। यदि व्यक्ति

किसी के दबाव में आकर कोई अनैतिक कृत्य करता है तो उसे अपराधी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह कार्य उसने बाध्य होकर किया है। इसका भी निर्णय न्यायालय द्वारा ही किया जा सकता है।

3. अपराधी अभिप्राय (Criminal Intention)—अपराधी कार्य यदि वास्तव में अभिप्राय या आशय से किया जाता है तभी व्यक्ति को अपराधी माना जा सकता है। अर्थात् उसका इरादा भी वास्तव में अपराध करना ही होना आवश्यक है।

4. अपराध का वैधानिक रूप से राज्य के लिए हानिप्रद होना आवश्यक है (Crime must be Classed legally as an act injurious to the State)—कोई भी व्यक्ति तभी अपराधी कहा जा सकता है, जब उसके द्वारा किया गया कार्य कानून की दृष्टि से राज्य के लिए हानिकारक हो।

इस प्रकार कानूनी-दृष्टि से अपराधी वह है जिसने स्वेच्छा से उपयुक्त आयु के पश्चात् अपराधी आशय से ऐसा अनैतिक कार्य किया हो, जो राज्य की दृष्टि में हानिकारक हो।

अपराधियों का वर्गीकरण (Classification of Criminals)—अपराधी-कार्यों के आधार पर अपराधियों के अनेक प्रकार हैं जिन्हें विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग रूप में वर्गीकृत किया है। कुछ वर्गीकरण निम्नलिखित हैं—

(1) ई. एच. सदरलैण्ड ने दो प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. साधारण अपराधी (Simple Criminal)—वे अपराधी जिनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं है, तथा किसी निश्चित उद्देश्य से वे राज्य द्वारा दण्डनीय कानूनों का उल्लघन करते हैं, साधारण अपराधी हैं।

2. श्वेत-वस्त्रधारी अपराधी (White Collar Criminal)—ये अपराधी सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से उच्च होते हैं और व्यवसाय के अन्तर्गत अपराध करते हैं। इन उच्चवर्गीय अपराधियों को सामान्य रूप से अपराधी नहीं जाना जा सकता है।

(2) अलेक्जेण्डर और स्टाब ने अपराधियों को दो समूहों मे बाँटा है—

1. आकस्मिक अपराधी (Accidental Criminal)—वे अपराधी जो आकस्मिक रूप से एक या अनेक अपराध करते हैं।

2. दीर्घकालिक अपराधी (Cronic Criminal)—जो व्यक्ति जानबूझ कर बार-बार व पेशे के रूप में अपराध को अपनाते हैं, दीर्घकालिक अपराधी कहलाते हैं। इनके तीन प्रकार हैं—

(i) सामान्य अपराधी (Normal Criminal)—सामाजिक परिस्थितियों के कारण ये अपराधी बनते हैं तथा इनका सामाजीकरण भी त्रुटियुक्त होता है।

(ii) मनस्तापी अपराधी (Neurotic Criminal)—ये मनोवैज्ञानिक कारणों से अपराधी बनते हैं। इड (Id) प्रवृत्तियों के दमन न होने के कारण इनका सामाजीकरण नहीं हो पाता है। अतः इनका व्यक्तित्व संघर्षमय हो जाता है और ये अपराध करते हैं।

(iii) शरीरविकृत अपराधी (Pathological Criminal)—इस कोटि के अपराधी शारीरिक विकलांगता के कारण बनते हैं। ये शारीरिक दोषों से युक्त होते हैं, जिससे इनमें मानसिक हीनता आ जाती है। इसी कारण ये अपराधी कृत्य करते हैं।

(3) डेविड अब्राहमसेन ने दो प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. क्षणस्थायी अपराधी (Momentary Criminal)—ये असामाजिक मनोवेगों के कारण अपराध करते हैं। ये लोभयुक्त परिस्थितियों के कारण एक या दो बार अपराध करते हैं। ये क्षणिक अपराधी तीन प्रकार के हैं—

(i) परिस्थितिगत अपराधी—ये परिस्थिति विशेष मे किसी असामाजिक आवेग के परिणामस्वरूप अपराध करते हैं, किन्तु बाद में पश्चाताप भी करते हैं।

(ii) संसर्ग-सम्बन्धी अपराधी—ये अपराधी अपने अपराधी परिवार अथवा दोषपूर्ण साथियों आदि से प्रभावित होकर अपराध करते हैं। पर्यावरण में परिवर्तन करने पर इन्हे सुधारा जा सकता है।

(iii) आकस्मिक अपराधी—ये किसी असावधानी के कारण अपराध कर बैठते हैं जिससे उनका मानसिक सन्तुलन खो जाता है। अत: इस प्रकार अपराधी का अपराध उनके व्यक्तित्व पर अधिक आधारित होता है।

2. दीर्घकालिक अपराधी (Cronic Criminal)—तीन या उससे अधिक बार अपराध करने वाले दीर्घकालिक अपराधी होते हैं। इसके तीन प्रकार हैं—

(i) तंत्रिकामय पीड़ित अपराधी (Neurotic)—ये अपराधी मनोव्यथा अथवा मानसिक रोग से पीड़ित हैं। किसी अचेतन प्रेरणा के कारण ये अपराध करते हैं। प्राय: लिंगीय इच्छाओ के दमन के कारण उनमे असमायोजन की समस्याये उत्पन्न होती हैं।

(ii) मनोरोगी अपराधी (Psychopathic)—ये अपराधी मानसिक रोग से पीड़ित होने के कारण अपराध कर देते हैं। नैराश्य, स्नेह से वंचना, सवेगो आदि से प्रभावित होकर ये असामाजिक व्यवहार कर बैठते है।

(iii) मनोविकृत अपराधी (Psychotic)—ये मानसिक रूप से विक्षिप्त होते हैं। अत: कानून की दृष्टि में इन्हे अपराधी नही माना जाता है।

(4) हैण्डर्सन ने तीन प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. वे, जो स्वभाव से अपराधी नहीं हैं अर्थात् आदतन अपराधी नहीं हैं।

2 वे, जो ऊपरी तौर पर अपराध करते हैं।

3. वे, जिनकी प्रकृति और आदत ही अपराध करने की हो गई है।

(5) रूथकेवन ने अपराधियों के वर्गीकरण में तीन आधारो को माना है—(1) किये गये अपराधों की संख्या, (2) अपराध का प्रकार, और (3) अपराधी का व्यक्तित्व। इन तीनो आधारों पर अपराधियो को 6 प्रकार का बताया गया है—

1. पेशेवर अपराधी—जिनका पेशा ही अपराध करना है। धनोपार्जन ही ये अपराध द्वारा करते हैं और सदैव सम्पर्क भी अपराधियो तक ही सीमित रखते हैं।

2. वे अपराधी जो व्यवस्थित अपराध करते हैं—इनके अपराधो मे व्यापार जैसा संगठन मिलता है और ये संगठित अपराध करते हैं।

3. वे अपराधी जो अनपराधी समूहों में रहते हैं।

4. अभ्यस्त अपराधी अथवा बारम्बार अपराध करने वाले अपराधी।

5. किसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए अपराध करने वाले अपराधी अथवा मानसिक रूप से हीन अपराधी।

6. द्वेष-रहित अपराधी—ये समाज के कानून को तो मानते हैं किन्तु कुछ अवसरों पर कानून का उल्लंघन कर देते हैं।

(6) गिबंस ने दो आधारों को प्रमुखता दी है—

(1) परिभाषीय माप और (2) पृष्ठभूमीय माप।

1. परिभाषीय माप (Definitional Dimensions)—इसके अन्तर्गत पाँच तत्त्वों को लिया गया है—(i) अपराध की प्रकृति, (ii) जिस स्थिति में अपराध किया जाता है वह अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क की स्थिति, (iii) स्वयं के प्रति अपराधी की धारणा, (iv) अपराधी जीवन में अपराध करने की पदगति और (v) समाज और पुलिस जैसे अभिकरणों के प्रति धारणा।

2. पृष्ठभूमीय माप (Back-ground Dimensions)—इनके अन्तर्गत चार तत्त्वों को समाहित किया गया है—

(i) सामाजिक वर्ग, (ii) पारिवारिक पृष्ठभूमि, (iii) मित्रों के साथ सम्पर्क एवं (iv) पुलिस, न्यायालय और कारागार आदि से सम्पर्क।

इनके आधार पर गिबस ने 15 प्रकार के वयस्क अपराधी और 9 प्रकार के बाल अपराधी बताए हैं।

वयस्क अपराधी—जैसे पेशेवर चोर, अर्द्ध पेशेवर चोर, सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधी, हिंसातुर कामातुर अपराधी, अहिंसातुर कामातुर अपराधी आदि का उल्लेख किया है और बालापराधियों में उपद्रवी गिरोह अपराधी, संघर्ष गिरोह अपराधी, मादक पदार्थों का सेवन करने वाले आदि अपराधियों को लिया है।

(7) लोम्ब्रासो ने चार प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. जन्मजात अपराधी (Born Criminal)—जो व्यक्ति जन्म से ही कुछ शारीरिक व मानसिक विशेषताएँ लेकर आते हैं जो आगे उन्हें अपराध करने को बाध्य करती हैं, वे जन्मजात अपराधी होते हैं।

2. पागल अपराधी (Insane Criminal)—जो व्यक्ति मानसिक रूप से किसी बीमारी से ग्रसित होते हैं और मानसिक असन्तुलन के कारण अपराध करते हैं, वे पागल अपराधी होते हैं।

3. कामुक अपराधी (Criminal by Passion)—वे अपराधी अपनी वासनाओं के वशीभूत होकर अपराध करते हैं।

4. आकस्मिक अपराधी (Occasional Criminal)—वे व्यक्ति जो परिस्थितिवश अपराध कर बैठते हैं। लोम्ब्रोसो इन्हें तीन प्रकार का बताते हैं—

(i) नकली अपराधी (Pseudo Criminal)—ये आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अथवा वातावरण के दबाव में आकर अपराध कर बैठते हैं।

(ii) आदतन अपराधी (Habitual Criminal)—ये जन्मजात तो अपराधी नहीं हैं किन्तु प्रतिकूल वातावरण के परिणामस्वरूप अपराध कर लेते हैं।

(iii) अपराधीसम (Criminaloid)—ये वे अपराधी हैं जो जन्मजात अपराधी और ईमानदार व्यक्ति के बीच के होते हैं।

(8) लिण्डस्मिथ और **डुनहेम** ने दो प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. व्यक्तिगत अपराधी (Individual Criminal)—जो व्यक्तिगत कारणों से अपराध करते हैं, वे व्यक्तिगत अपराधी कहलाते हैं।

2. सामाजिक अपराधी (Social Criminal)—जब अन्य व्यक्तियो के साथ मिलकर व्यक्ति अपराध करता है, उसे सामाजिक अपराधी कहा जाता है।

उन्होने एक तीसरा प्रकार और माना है जिसे वे **अभ्यस्त-परिस्थितिगत** (Habitual-Situational) अपराधी कहते हैं।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त गेरीफेलो, रेकलेस, सेठना, हैबलॉक ऐलिस, हैण्डरसन तथा क्लिनार्ड आदि अनेक विद्वानों ने अपराधियो के प्रकारों पर प्रकाश डाला है, जो उपर्युक्त सभी प्रकारो से मिलते-जुलते रूप मे ही है। सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि अपराधी व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से समाज अथवा कानून के नियमो का उल्लंघन अवश्य करता है।

अपराध के कारण
(Causes of Crime)

अपराध एवं अपराधी पर विचार कर लेने के पश्चात् एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि व्यक्ति अपराधी क्यो बनता है? अथवा अपराध क्यो होता है? ऐसे कौनसे कारण हैं जो व्यक्ति को समाज-विरोधी कार्यो को करने के लिए बाध्य करते हैं और वह अपराध कर बैठता है। अनेक विद्वानो ने अपराध के अनेक कारण बताये हैं, जिन्हें सुविधा की दृष्टि से अग्रलिखित वर्गों में विभक्त करके स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) शारीरिक कारण (Physical Causes)—शारीरिक कारणो में निम्न कारण प्रमुख हैं—

1. वंशानुक्रम (Heredity)—व्यक्ति के पैतृक गुण या वंशानुक्रम उसे अपराध की ओर प्रवृत्त करते हैं। **लोम्ब्रोसो व हूटन** आदि विद्वानों ने इसे महत्त्वपूर्ण कारण माना है। इन पर अनेक अनुसन्धान किए गए और स्पष्ट पाया गया है कि वशानुक्रम के माध्यम से अपराधी लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होते हैं। **चार्ल्स गौरिंग, फ्रीमैन, न्यूमैन, क्रान्ज, हालजिंगर** आदि अनेक विद्वानो ने वंशानुक्रम के सम्बन्ध में अध्ययन किये हैं और यह निष्कर्ष निकाला है कि जुड़वाँ सन्तानों मे अपराध की मात्रा अधिक होती है, साथ ही यह भी निष्कर्ष निकाला कि अपराधी के परिवार के सदस्य अपराधी होते हैं।

2. आयु (Age)—आयु भी अपराध के निर्धारण का महत्त्वपूर्ण कारण है। **हेटिंग** ने एक अध्ययन मे यह निष्कर्ष निकाला कि 15-16 वर्ष की आयु के बच्चे साधारण अपराध करते हैं और आयु की वृद्धि के साथ अपराध की गम्भीरता में भी वृद्धि होती जाती है। **वर्क** ने 909 लडकों के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष दिया कि अधिकांश अपराधी 19 वर्ष की आयु के करीब के थे। इस प्रकार आयु भी अपराध के लिए महत्त्वपूर्ण कारण होती है जिसमे कम आयु के व्यक्ति सामान्य अपराध करते हैं और अधिक आयु के व्यक्ति गम्भीर अपराध करते हैं।

3. लिंग (Sex)—समाज मे स्त्री व पुरुष दोनों में से पुरुष लोग स्त्रियों की तुलना मे अधिक अपराध करते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि प्रायः स्त्रियाँ बाह्य क्षेत्र से अधिक सम्बन्धित नहीं होती हैं। प्रतिष्ठा के कारण उन पर प्रारम्भ से ही ऐसा दबाव घर के बुजुर्गों द्वारा डाला जाता है कि उन्हें मर्यादित रहकर जीवन बिताना है। इस कारण स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना म कम अपराध करती हैं।

4. शारीरिक अयोग्यता (Physical Disability)—दृष्टिहीनता, बहरापन, लगड़ापन अथवा शारीरिक विकास का अधिक होना अथवा अन्यों की तुलना में कम विकसित होना आदि अनेक शारीरिक अक्षमताएँ अपराध का कारण बन जाती हैं क्योंकि व्यक्ति अपनी शारीरिक अयोग्यता दबाने के लिए अपराध कर लेता है।

5. गम्भीर रोग (Acute Illness)—कभी-कभी गम्भीर रोग भी व्यक्ति को असन्तुलित कर देता है और परिणामस्वरूप वह अपराध कर लेता है।

6. शारीरिक बल की अधिकता—(Excess of Physical Strength)—अत्यधिक बलवान व्यक्ति भी स्वय को श्रेष्ठ समझता है अतः अपराध करने के लिए उद्यत रहता है। मारपीट आदि करना तो वे अपना स्वभाव बना लेते हैं अतः कभी-कभी गम्भीर अपराध भी हो जाता है।

(2) मानसिक कारण (Mental Causes)—मानसिक कारणों मे निम्न तत्त्व प्रमुख हैं जो अपराध को जन्म देते हैं—

1. दुर्बल मनस्कता (Feeble-Mindedness)—मानसिक विकास की कमी के कारण व्यक्ति समाजसम्मत व्यवहार नहीं कर पाते और अपराध कर देते हैं। मानसिक आयु के आधार पर तीन प्रकार के मन्दबुद्धि व्यक्ति होते हैं—

(अ) ईडियट या जड-बुद्धि (Idiot)—वह व्यक्ति जिसकी मानसिक आयु तीन अथवा साढ़े तीन साल के बालक के समान होती है या जो तीन या साढे तीन वर्ष के बालक के समान व्यवहार करता है। **(ब) हीनबुद्धि (Imbecile)**—जो सात वर्ष के बालक के समान मानसिक आयु वाला होता है अथवा सात वर्ष के बालक जैसा व्यवहार करता है। **(स) मूढ़ बुद्धि (Moron)**—जिसकी मानसिक आयु 11 वर्ष के बालक के समान होती है अथवा जो 11 साल के बालकों जैसा व्यवहार करता है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के व्यक्ति समाज-सम्मत व्यवहार नहीं कर पाते। अतः अपने लक्ष्यों को किसी भी तरीके से पूर्ण करते हैं। इसके अतिरिक्त 'न्यूरोसिस' जैसे मानसिक रोगों का कारण भी असामाजिक व्यवहार होता है। अतः मन्दबुद्धि व्यक्ति अपनी आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए अपराध कर देते हैं।

2. सवेगात्मक अस्थिरता (Emotional Unstability)—कभी-कभी सांवेगिक अस्थिरता भी व्यक्ति से अपराध करा देती है, स्वय पर उसका नियन्त्रण नहीं रह पाता है और भला-बुरा न समझने के कारण व्यक्ति अपराध कर देता है। हत्या प्रायः सांवेगिक अस्थिरता के कारण ही होती है। मानसिक सघर्ष व नैराश्य आदि इसी कारण उत्पन्न होते हैं।

3. मानसिक तनाव (Mental Tension)—जब व्यक्ति किसी समस्या के निराकरण के लिए अनेक विकल्पों में से किसी एक विकल्प का चयन नहीं कर पाता तो उससे

मानसिक तनाव हो जाता है और इससे अपराध हो जाता है। अत: मानसिक तनाव भी अपराध का कारण होता है।

4. हीनता की भावना (Inferiority Complex)—हीनता की भावना के परिणामस्वरूप व्यक्ति में क्रोध, कायरता, भय आ जाता है और वह उचित-अनुचित का विवेक खो देता है और अपराध कर देता है।

5. भय (Fear)—कभी-कभी भय के कारण भी अपराध हो जाता है। भय के कारण व्यक्ति डरपोक, शर्मीला हो जाता है और समाज-विरोधी कृत्य कर देता है। इस प्रकार भय भी अपराध का कारण है।

6. अनुकरण एवं सुझाव (Imitation and Suggestion)—कभी किसी के अनुकरण के कारण व्यक्ति अपराध कर देता है अथवा कोई सुझाव इस प्रकार का होता है कि व्यक्ति अपने विवेक को न मानकर उसका अनुकरण करता है और अपराध कर देता है। प्राय: कम बुद्धि वाले व्यक्ति से अन्य समझदार व्यक्ति अपराध करवा लेते हैं, क्योंकि बुद्धिहीन केवल अनुकरण करता है। भले-बुरे की पहचान उसे नहीं होती।

(3) पारिवारिक दशाएँ (Family Causes)—परिवार भी अपराध के लिए उत्तरदायी माना जाता है। व्यक्ति की प्रारम्भिक पाठशाला परिवार है, जहाँ उसका सामाजीकरण होता है। यदि परिवार के आदर्शों व मूल्यो के सम्पर्क मे व्यक्ति रहता है तो उसका व्यक्तित्व सुसंगठित बनता है अन्यथा वह प्रारम्भ से गलत आचरणो को अपना लेता है। परिवार अनेक प्रकार के अपराधों के लिए उत्तरदायी हो सकता है, यथा—

1. अति-प्रेम (Indulgence)—कभी-कभी माता-पिता बच्चो को अत्यधिक स्नेह देते हैं। उनकी हर इच्छा पूरी करते हैं, और बड़े होकर जब कभी परिस्थितियाँ विषम हो जाती हैं, अथवा उनमे उच्च-भावना उत्पन्न हो जाती है तो वे किसी भी परिस्थिति से समझौता नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप अपराध कर देते हैं।

2. पारिवारिक नियन्त्रण (Family Control)—कभी-कभी किसी परिवार मे बच्चो पर अत्यधिक नियन्त्रण रखा जाता है अथवा इसके विपरीत कभी-कभी बच्चो पर बिल्कुल नियन्त्रण नहीं रखा जाता। दोनों ही स्थितियो मे व्यक्ति अपराधी बन जाता है।

3. विच्छिन्न परिवार (Broken Home)—यदि (i) परिवार मे माँ-बाप मे से किसी की मृत्यु हो गई है, (ii) तलाक हो गया है, (iii) माँ-बाप मे प्राय: झगड़ा होता रहता है, (iv) विमाता घर मे है, (v) पिता दूसरे हैं—तो प्राय: बालक अपराधी बन जाते हैं, क्योंकि उन्हे वह स्नेह नही मिलता, जो उसका यथोचित सामाजीकरण करे या व्यक्तित्व-निर्माण करे। परिणामस्वरूप बच्चे अपराधी बन जाते हैं।

4. भाई-बहिनों का प्रभाव (Effects of Siblings)—जिन घरों में भाई या बहिन कोई भी विमाता से उत्पन्न होते हैं अथवा अपराधी होते है तो भी प्रारम्भ से बच्चो मे अपराधी भावनाएँ विकसित हो जाती हैं।

5. अनैतिक परिवार (Immoral Family)—परिवार व्यक्तियो को नैतिकता व आध्यात्मिकता की शिक्षा नहीं देता, अपितु उनका सामाजीकरण करता है। यदि परिवार के सदस्य बिगड़े हुए हैं, अनैतिक आचरण वाले हैं तो स्वाभाविक ही है कि वे अपनी पीढ़ी को भी अच्छे उदाहरण प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे। अत: वहाँ बच्चे अपराधी बन जाते हैं। कभी-कभी

परिवार में बच्चे को मानसिक सुरक्षा नहीं मिल पाती, बच्चे उपेक्षित रहते हैं अथवा उनके साथ अनैतिकतापूर्ण व्यवहार किया जाता है तो बच्चे समाज विरोधी कार्य करने लग जाते हैं। कालान्तर में वही अपराधी बन जाते हैं।

(4) अपराध के अन्य कारण (Other Causes of Crime)—यद्यपि उपर्युक्त कारण अपराध के लिए महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य कारण भी अपराध के लिए उत्तरदायी होते हैं। इनमे **आर्थिक कारण** से भी अपराध होते हैं। निर्धनता, भुखमरी, बेकारी, असीमित आवश्यकताएँ, अत्यधिक धन कमाने की इच्छा, बिना परिश्रम के धन प्राप्ति का लालच आदि अनेक कारण धन से सम्बन्धित हैं। जब व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती और इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं—समाज में प्रतिस्पर्द्धा की भावना बढ़ जाती है तो व्यक्ति दूसरों की तुलना में स्वयं को समृद्धशाली बनाने के लिए अपराध करता है। निर्धनता को सबसे बड़ा अभिशाप माना गया है। कहा भी गया है "बुभुक्षितं किं न करोति पापम्।" भूखा कौनसा पाप नहीं कर सकता? अत: इन कारणों से व्यक्ति अपराधी हो जाता है। मद्यपान व जुआ जैसे व्यसन भी व्यक्ति से अपराध करवाते हैं।

अपराध के कारणों में **अशिक्षा** भी महत्त्वपूर्ण कारण है। अशिक्षा से अज्ञान होता है और अज्ञानी व्यक्ति अपना भला-बुरा नहीं पहचान पाता। परिणामस्वरूप अपराध कर लेता है।

राजनैतिक परिस्थितियाँ भी अपराध वृत्ति को बढ़ावा देती हैं। कुर्सी को पाने की ललक अनेक कानूनों का उल्लंघन करने को बाध्य कर देती है। येन-केन-प्रकारेण विजय-प्राप्ति की लालसा से व्यक्ति अनेक अनैतिक, समाज विरोधी व भ्रष्टाचार जैसे कार्य करता है जिससे अन्य लोग भी उसका अनुकरण करते हैं। परिणामस्वरूप अपराधी भावना बढ़ती जाती है।

सांस्कृतिक कारण भी कभी-कभी अपराध के लिए उत्तरदायी होते हैं। धर्म, वर्ग-भावना, मनोरंजन, चलचित्र आदि का प्रभाव जब विपरीत रूप में पड़ने लगता है तो व्यक्ति असामाजिक कार्यों को करने लगता है। धर्म की आड़ में अनेक **'साम्प्रदायिक दंगे'** होते हैं। हिन्दू-मुस्लिम, कैथोलिक-प्रोटेस्टेण्ट व सिया-सुन्नी आदि इसके जागृत उदाहरण हैं। **'चलचित्रों'** का प्रभाव बड़ी तेजी से बच्चों पर पड़ता है। बच्चे अपने वास्तविक जीवन में जब वैसा नहीं कर पाते जैसा मनोरंजन में देखते हैं तो समाज-विरोधी कार्य करने को उद्यत हो जाते हैं।

इस प्रकार अपराध के लिए कोई एक कारण ही पूर्ण कारण नहीं बन सकता बल्कि अनेक कारक मिलकर अपना प्रभाव दिखाते हैं और व्यक्ति अपराधी बन जाता है। **'पर्यावरण'** सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है। जब व्यक्ति अपनी परिस्थितियों में समायोजन नहीं कर पाता तो अपराध कर लेता है।

अपराधियों का उपचार
(Remedy of Criminals)

यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार का अपराध करता है, और उसे रोका नहीं जाता तो उसकी अपराधी प्रवृत्ति बढ़ती जायेगी, और इस प्रकार समाज में अव्यवस्था फैल जायेगी। इस कारण अपराध की रोकथाम अवश्य होनी चाहिये। इसके लिए पुन: प्रश्न उपस्थित होता है कि अपराधी के प्रति किस प्रकार का व्यवहार किया जाए कि वह पुन: अपराध करने के लिए

प्रवृत्त न हो, व भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति न करे? इसके लिए समाज व राज्य अपराधी को दण्डित करता है। अर्थात् दण्ड द्वारा अपराधी को सुधारने का प्रयास किया जाता है। दण्ड का उद्देश्य यह होता है कि अपराधी को यह स्पष्ट जानकारी हो जाए कि बुरे कार्यों के लिए समाज या कानून उसे प्रताड़ित करेगा, और इसके विपरीत यदि अच्छा कार्य किया जायेगा तो उसे पुरस्कार मिलेगा।

दण्ड की परिभाषा एवं अर्थ
(Definition and Meaning of Punishment)

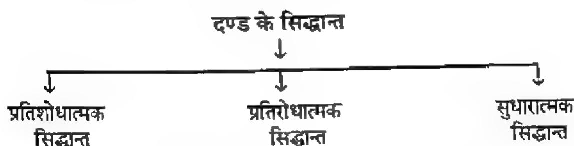
1. कॉनसाइज डिक्शनरी के अनुसार, "दण्ड में दर्द, जुर्माना, ईश्वर व न्यायानुसार दण्ड, शारीरिक पीड़ा अथवा डाँट-फटकार सम्मिलित हैं।"

2. टाफ्ट के अनुसार, "हम दण्ड की परिभाषा उस जागरूक दबाव के रूप मे कर सकते हैं, जो समाज में शान्ति भंग करने वाले व्यक्ति को अवांछनीय अनुभवों वाला कष्ट देता है। यह कष्ट उस व्यक्ति के हित में सदैव ही नहीं होता है।"

3. सेठना के मत में, "दण्ड एक प्रकार की सामाजिक निन्दा है जिसमे पीड़ा अथवा कष्ट का शामिल होना आवश्यक नहीं है।"

इस प्रकार दण्ड अपराधी को राज्य अथवा समाज द्वारा इसलिए दिया जाता है जिससे अपराधी अपराध करने से डरते रहें, और उन्हे इस बात का अहसास हो जाये कि गलत काम करने पर समाज उन्हें दण्डित अवश्य करेगा।

दण्ड के सिद्धान्त (Theories of Punishment)—दण्ड के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन सिद्धान्त मान्य हैं—



(1) प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार जैसा अपराध होगा उसी के अनुरूप दण्ड होगा। यदि कोई व्यक्ति किसी का अग नष्ट करता है तो बदले में उसका भी कोई अंग नष्ट कर दिया जाये।

(2) प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory)—यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति को अपराध करने से रोका जाए। इसके लिए व्यक्तियो में भय व आतंक फैलाया जाए कि अपराध करने पर दण्डित किया जाता है।

(3) सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformative Theory)—यह सिद्धान्त अपराध को महत्त्वपूर्ण न मानकर अपराधी को केन्द्रबिन्दु मानता है कि व्यक्ति को अपराध करने के लिए प्रेरित करने वाली परिस्थितियाँ होती हैं। अतः उन परिस्थितियों की खोज की जाए जो अपराध करने के लिए उत्तरदायी हैं और फिर उनमे सुधार लाया जाए।

वर्तमान समय में सुधारात्मक सिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है और यह स्वीकार किया जा रहा है कि अपराध का कारण वंशानुक्रम नहीं है, अपितु पर्यावरण है। अपराध एक रोग है, बीमारी है। जिस प्रकार बीमारी को उपचार द्वारा ठीक किया जा सकता है, उसी भाँति अपराधियो के सामाजिक वातावरण में सुधार लाकर उन्हे सामाजिक व्यक्ति बनाया जा सकता है। आज अनेक देशों में मृत्युदण्ड को इसी कारण समाप्त कर दिया गया है। इस प्रकार अपराधियो के उपचार की मान्यताएँ आज बदल गई है। अब अपराधियो का सुधारात्मक उपायों द्वारा उपचार किया जाता है जो निम्नलिखित रूप में है।

भारत में दण्ड-व्यवस्था
(Panel System in India)

अपराधी को अपराध से दूर रखने के लिए समय-समय पर अनेक उपचार किए गए हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व अपराधियो को दण्डित करने के उद्देश्य से उन्हे जेल मे रखा जाता था। जेल वह स्थान है जहाँ अपराधी को समाज से दूर रखा जाता है, जिससे वह अपराध के प्रति पश्चाताप कर सके। उसे इस बात का भी अहसास हो कि उसके कृत्यों से समाज का अहित हुआ है। प्राचीन समय मे यह जेलें अँधेरी कोठरी के रूप मे होती थीं, जहाँ अस्वास्थ्यकर वातावरण होता था और अपराधियो को कठोर दण्ड दिया जाता था। सन् 1946 मे 'जेल सुधार समिति' की स्थापना की गई जिसमे अपराधियो को मनोवैज्ञानिक व शारीरिक दृष्टि से अलग-अलग वर्गीकृत किया गया। 1956 मे कालेपानी की सजा को समाप्त कर दिया गया। 1962 मे राजस्थान कारागृह सुधार आयोग एव 1972 मे बिहार कारागृह समिति की स्थापना की गई। इस प्रकार जेलो की व्यवस्था मे समय-समय पर सुधार होते रहे है।

जेलों के प्रकार (Type of Prisons)—वर्तमान में भारत मे मुख्यतया तीन प्रकार के कारागृह हैं—

1 अधिकतम सुरक्षा वाले कारागृह (2) मध्यम सुरक्षा वाले कारागृह तथा आदर्श जेले, तथा (3) निम्नतम सुरक्षा वाले कारागृह तथा खुले कारागृह।

(1) *अधिकतम सुरक्षा वाले कारागृह (Maximum Security Prisons)*— इनमे उन अपराधियो को रखा जाता है जिनके विरुद्ध मुकदमे चल रहे होते है। इन अपराधियो को दरी बनाने, कृषि से सम्बन्धित कार्य, लुहार व सुथार आदि के कार्य के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। इन अपराधियो को कार्य के बदले रुपये दिये जाते हैं।

(2) मध्यम सुरक्षा वाले कारागृह तथा आदर्श कारागृह (Medium Security Prisons and Model Jails)—इन जेलो मे उन अपराधियों को रखा जाता है जिनकी सजा की अवधि लम्बी होती है। 21 से 50 वर्ष के बीच के अपराधी, जिनका स्वास्थ्य अच्छा होता है, तथा जो व्यवहारकुशल होते हैं उन्हे इनमे रखा जाता है। इनकी अलग से पंचायत होती है, जिसमे अपराधियो मे से ही व्यक्ति का चुनाव किया जाता है। यह पंचायत बन्दियो पर अनुशासन रखती है तथा शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, मनोरंजन व भोजन आदि की व्यवस्था करती है। सभी राज्यों में इस प्रकार के बन्दीगृह है। राजस्थान में अजमेर मे आदर्श जेल है। इनमे केन्टीन, पुस्तकालय, कृषि आदि के प्रशिक्षण की व्यवस्था, शिक्षा-सुविधायें एवं अस्पताल आदि की व्यवस्था होती है।

(3) निम्नतम सुरक्षा वाले कारागृह तथा खुले कारागृह (Minimum Security Prisons and Open Jails)—खुला कारागार सुरक्षा व संगठन की दृष्टि से खुला होता है अर्थात् इनमें वे कैदी रखे जाते हैं जिनकी आयु 21 से 50 वर्ष के बीच की होती है—इनमे बन्दियों को कैद में नहीं रखा जाता। उनकी चौकीदारी भी नहीं की जाती। बल्कि ये लोग अपने परिवार से मिलने को भी स्वतन्त्र होते हैं। ये लोग रुपये कमाकर अपनी आजीविका चलाते हैं। इन जेलों का उद्देश्य अपराधियों को आत्मनिर्भर बनाना तथा उनमें उत्तरदायित्व की भावना का विकास करना होता है। जिनकी सजा की अवधि 9 मास से कम हो तथा अच्छे आचरण वाले हों, उन्हीं को इन जेलों में रखा जाता है। राजस्थान में ऐसे मुख्य कारागार दुर्गापुरा, सांगानेर व सूरतगढ़ और मण्डौर में हैं। सम्पूर्ण भारत के 12 राज्यों में 19 खुले कारागार हैं।

आधुनिक समय में अपराधी को एक रोगी के रूप में माना जाता है, जिसे उचित दिशा प्रदान कर सुधारा जा सकता है। इसी धारणा के आधार पर अपराधी को सुधारने के लिए नवीन प्रवृत्तियों की खोज की गई है। सुधारात्मक सिद्धान्त इसी दिशा में एक नूतन प्रयोग है, जिसके अनुसार अपराधी को दण्डित करने के स्थान पर उसके सुधार का प्रयास किया जाता है। इसके लिए सुधारवादी पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। परिवीक्षा, पैरोल, बोस्टल संस्थाएँ आदि पद्धतियाँ इस क्षेत्र में अब प्रयुक्त होने लगी हैं, जो अग्र प्रकार से हैं—

परिवीक्षा
(Probation)

परिवीक्षा में अपराधी को जेल न भेजकर घर में रहने दिया जाता है। उसे इस शर्त पर मुक्ति दी जाती है कि वह परिवीक्षा में रहकर अपने आचरण में सुधार करेगा।

परिवीक्षा का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Probation)—परिवीक्षा को अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढँग से इस रूप में परिभाषित किया है—

1. सदरलैण्ड के अनुसार, "परिवीक्षा दण्डनीय ठहराए गए अपराधों की उस समय की अवस्था है जिसमें अपराधी को सजा से बरी करा दिया जाता है और जिसमें अच्छा व्यवहार बनाये रखने की शर्त के साथ अपराधी को स्वतन्त्रता दे दी जाती है। इसके साथ ही राज्य अपने व्यक्तिगत निरीक्षण के द्वारा अपराधी को अच्छा व्यवहार बनाये रखने में सहायता देने का प्रयास करता है।"

आपके मत में परिवीक्षा का अर्थ किसी भी प्रकार का क्षमादान नहीं है। इनके मतानुसार इसमे तीन तत्त्वो का समावेश होता है, जो निम्न हैं—

(i) निरीक्षण—अर्थात् परिवीक्षा पर छोड़े गए व्यक्ति के कार्यों की देखभाल करना।

(ii) **दिशा-निर्देश**—परिवीक्षा पर छोड़े गए व्यक्ति को समय-समय पर उसके आचरण एवं कार्य के सम्बन्ध में दिशा-निर्देश देना।

(iii) राज्य सरकार द्वारा सहायता—परिवीक्षा पर छोड़े गए व्यक्ति को आवश्यकता पड़ने पर राज्य सरकार द्वारा सहायता प्रदान किया जाना।

अर्थात् सदरलैण्ड के अनुसार परिवीक्षा के तीन व्यावहारिक तत्त्व हैं—

(i) इसमें अपराधी को दण्डित नहीं किया जाता।

(ii) यदि दण्ड दिया भी जाता है, तो उसका कार्यान्वयन नहीं किया जाता।

(iii) अपराधी का आचरण न सुधरने की स्थिति में उसे दुगुना दण्ड दिया जाता है।

2. चैपिल के मत मे अपराधशास्त्र के विद्वान परिवीक्षा के निम्न 5 प्रकार के अर्थ लगाते हैं—

(i) यह दण्ड से बचने का एक अच्छा साधन है।

(ii) इसमें अपराधी के प्रति सहानुभूति रखी जाती है।

(iii) परिवीक्षा पर छोडे गए व्यक्ति को अनेक बन्धनो में रहना पड़ता है, इस रूप मे यह भी एक प्रकार का दण्ड है।

(iv) यह 'पुलिस निरीक्षण की विधि' के रूप में होता है।

(v) यह 'चिकित्सा की एक विधि' का भी रूप है।

3. इलियट के अनुसार, "परिवीक्षा अधिकारी दण्ड देने वाली संस्था से इस शर्त पर अपराधी को मुक्ति देने को कहते हैं कि वह (अपराधी) अच्छा व्यवहार करेगा।"

इस प्रकार परिवीक्षा मे एक 'परिवीक्षा अधिकारी' की नियुक्ति की जाती है, जो अपराधी की देखभाल के लिए एवं उसे अच्छा नागरिक बनाने के लिए कटिबद्ध करता है। यह अधिकारी अपराधी को समझाकर व चेतावनी देकर उसे सुधारने का प्रयास करता है। अपराधी को दण्ड सुनाने के बाद ही परिवीक्षा पर छोड़ा जाता है। अपराधी को अपने परिवीक्षा काल में उत्तम आचरण रखने का प्रमाण-पत्र देना होता है। सरकार की ओर से अपराधी को सहायता प्राप्त होती है, जिससे समाज के साथ उसका सामञ्जस्य हो सके।

परिवीक्षा अधिकारी अपराधी की देखभाल करता है, उसकी जीवन-गाथा लिखता है और यह जानकारी प्राप्त करता है कि उसमें अपराधी प्रवृत्ति क्यों और कैसे उत्पन्न हुई। इस प्रकार परिवीक्षा काल में अपराधी का पर्यावरण बदल जाता है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि अपराधी जन्म से नहीं होते, बल्कि अपराधी बनने में पर्यावरण का बहुत बड़ा हाथ होता है।

परिवीक्षा की विशेषताएँ (Characteristics of Probation)—उपर्युक्त परिभाषा एवं अर्थ के आधार पर परिवीक्षा की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—

(i) परिवीक्षा व्यवस्था का प्रमुख तत्त्व अपराधी का सुधार करना है।

(ii) परिवीक्षा की स्थिति दण्ड निर्धारण के पूर्व नहीं आती बल्कि यह स्थिति अपराधी को सजा सुनाने के पश्चात् आती है।

(iii) परिवीक्षा में अपराधी को सजा से मुक्त रखा जाता है।

(iv) सजा से मुक्त रहने के बदले में उससे अच्छा आचरण बनाये रखने की आशा की जाती है।

(v) प्रत्येक राज्य परिवीक्षा के लिए हर सम्भव सहायता प्रदान करने के लिए तत्पर रहता है।

परिवीक्षा योग्य अपराधी
(Criminal Suitable for Probation)

प्रत्येक अपराधी को परिवीक्षा पर नहीं रखा जा सकता। किस अपराधी को परिवीक्षा पर रखा जा सकता है, इसका निर्णय अदालत के माध्यम से होता है। फिर भी कुछ विशेषताएँ हैं जिनके आधार पर ही अपराधी परिवीक्षा पर रखे जा सकते हैं, वे अग्रलिखित हैं—

(1) जिस व्यक्ति (अपराधी) को मृत्यु-दण्ड एवं देश-निष्कासन की सजा नहीं मिली, उसे ही परिवीक्षा के योग्य माना जायेगा।

(2) जिस अपराधी ने कोई गम्भीर अपराध नहीं किया, केवल उसे ही परिवीक्षा पर छोड़ा जायेगा।

(3) प्रथम अपराध करने वाले अपराधी को ही परिवीक्षा पर छोड़ा जायेगा।

(4) प्राय: जिस अपराधी की उम्र 21 वर्ष से कम होती है और जिसे 6 माह से कम की सजा सुनाई जाती है, उसी को परिवीक्षा पर रखा जाता है।

(5) प्रथम अपराधी, जो किसी भी आयु का हो, यदि उसकी सजा 2 वर्ष से कम की हो तो उसकी चारित्रिक विशेषता, परिस्थिति आदि के आधार पर उसे भी परिवीक्षा पर छोड़ा जा सकता है।

परिवीक्षा की दशायें (Conditions of Probation)—परिवीक्षा पर छोडे जाने वाले व्यक्ति को कुछ नियमों व शर्तों का पालन करना पड़ता है। हैन्ड्रिक्स के अनुसार परिवीक्षा की दशाओं में, कानून बाधित व्यवहार, निरीक्षक प्रतिनिधि से नियमित सम्बन्ध, बुरी संगति से दूर, मादक पदार्थों से दूर, यात्रा, विवाह आदि में बिना अनुमति के प्रवेश न करना, अनावश्यक ऋण न लेना, चोरी की हुई वस्तु का वापिस करना, रोजगार में स्थायी होना आदि सम्मिलित हैं। परिवीक्षा पर छोड़े गए अपराधी को निम्नलिखित शर्तों का पालन करना होता है—

(1) परिवीक्षा पर अपराधी को एक निश्चित अवधि के लिए भेजा जाता है। समय का निर्धारण अदालत द्वारा किया जाता है अत: न्यायालय को परिवीक्षा का समय कम या अधिक करने का अधिकार होता है।

(2) इस अवधि में परिवीक्षार्थी (अपराधी) को कानून और न्यायाधीश की आज्ञा और शर्तों का पालन करना अनिवार्य होता है।

(3) यदि परिवीक्षा-अधिकारी की शर्तों का पालन परिवीक्षार्थी नहीं करता है, तो उसे दुगुना दण्ड दिया जा सकता है।

(4) परिवीक्षा-अधिकारी की अनुमति के बिना परिवीक्षार्थी यात्रा भी नहीं कर सकता है।

(5) वह बिना आज्ञा विवाह भी नहीं कर सकता।

(6) परिवीक्षा-अधिकारी द्वारा निर्धारित समय मे परिवीक्षार्थी को घर पर ही रहना होगा।

(7) परिवीक्षार्थी को एक जमानत-पत्र (Bond) भरना पडता है।

(8) परिवीक्षार्थी को कुछ सुरक्षा धन (Security-money) भी देना पड़ता है।

(9) परिवीक्षार्थी को अपनी प्रगति की निश्चित रिपोर्ट देनी पड़ती है।

(10) यदि सम्भव हुआ तो आवश्यकता पड़ने पर उससे क्षतिपूर्ति भी करवाई जाती है।

(11) परिवीक्षार्थी बिना आज्ञा अपना निवास स्थान भी नहीं बदल सकता है।

(12) परिवीक्षार्थी बिना परिवीक्षा-अधिकारी के कुछ नहीं कर सकता है।

विलियम एस. मीकम (W S. Meachom) ने परिवीक्षार्थी पर लगाई जाने वाली शर्तें इस प्रकार बताई हैं—

(1) सभी कानूनो को पालना करना; (2) अधिकारी से नियमित सम्पर्क रखना, (3) अच्छी संगत रखना, (4) अच्छी आदतो का विकास करना, (5) नियमित कार्य करना, (6) आर्थिक दण्ड का भुगतान करना, (7) मादक द्रव्यों से दूर रहना, (8) अनावश्यक कर्ज न लेना; (9) बिना अनुमति के विवाह अथवा तलाक न लेना, एवं (10) बिना अनुमति अपना निवास स्थान न छोड़ना।

इस प्रकार परिवीक्षा काल में परिवीक्षार्थी को अपने अधिकारी के संरक्षण में रहकर उनकी आज्ञानुसार कार्य करना पड़ता है। भारत में इस समय परिवीक्षा की सुविधाएँ सभी राज्यों में प्रदान की जाती हैं। किन्तु अलग-अलग प्रान्तों में इसे अलग विभागों को सौंप दिया गया है। राजस्थान, उत्तरप्रदेश, आसाम, हिमाचलप्रदेश और आसाम में इसे समाज कल्याण विभाग के पास रखा गया है। बिहार, तमिलनाडु, केरल, आन्ध्र एवं बंगाल में यह जेल विभाग के अधीन है और मध्यप्रदेश मे इसे कानून के अधीन रखा गया है। कर्नाटक सरकार ने उसके लिए अलग निदेशालय की व्यवस्था कर रखी है। सम्पूर्ण भारत मे लगभग 500 परिवीक्षा अधिकारी हैं। सामान्यत: एक परिवीक्षा अधिकारी एक वर्ष में चार केसों या मामलों का पर्यवेक्षण करता है तथा दस केसों का अन्वेषण करता है।

परिवीक्षा के लाभ (Advantages of Probation)— कारागार प्रणाली की तुलना मे परिवीक्षा प्रणाली के निम्न लाभ देखे जा सकते हैं—(1) परिवीक्षा पर छोड़े गए अपराधी पर कोई कलक एवं दोष नहीं लगता है, (2) उसका आर्थिक जीवन यथावत चलता है उसमें बाधा पैदा नहीं होती है, (3) उसके परिवार के सदस्यों पर कष्ट नहीं आता है, (4) अपराधी कुण्ठाग्रस्त नहीं होता है, (5) इस प्रणाली का सरकार पर आर्थिक भार कम पड़ता है।

परिवीक्षा को और अधिक लाभकारी बनाने के लिए निम्न प्रयास किए जा सकते हैं—(i) सर्वप्रथम परिवीक्षा के नाम को बदलना चाहिए। (ii) परिवीक्षा को दण्ड न मानकर सजा का विकल्प मानना चाहिए। (iii) अपराधी की रिहाई के नियमों तथा शर्तों को लचीला बनाना चाहिए। (iv) इसके लिए राज्य स्तर पर अलग से एक निदेशालय की स्थापना करनी चाहिए जैसा कि कर्नाटक राज्य ने कर रखा है। (v) जहाँ आवश्यकता समझी जाए उन्हीं परिवीक्षार्थियों के लिए निरीक्षण को अनिवार्य करना चाहिए सबके लिए नहीं। (iv) इसके प्रति मानवतावादी दृष्टिकोण रखना चाहिए।

पैरोल
(Parole)

परिवीक्षा में अपराधी को जेल में न भेजकर किसी परिवीक्षा-अधिकारी की देख-रेख में रखा जाता है, किन्तु पैरोल व्यवस्था में कुछ समय जेल भुगतने के बाद अपराधी के अभिभावकों के आग्रह पर उसे छोड़ दिया जाता है—इस समय वह पैरोल-अधिकारी की देख-रेख में ही रहता है। पैरोल मे अपराधी को (जो जेल में नियमों का पालन करता है, अच्छा आचरण रखता है) दण्ड की अवधि पूर्ण होने के पूर्व इस शर्त पर छोड़ दिया जाता है कि वह भविष्य में सद-आचरण बनाए रखेगा।

पैरोल का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Parole)—**इलियट** के मत में पैरोल कारागार से 'सशर्त-मुक्ति' है। यदि पैरोल के समय वह पुनः अपराध करता है तो उसे पुनः जेल भेज दिया जाता है और शेष दण्ड और नए अपराध का दण्ड भी वह भोगता है।

सदरलैण्ड के मत में, "पैरोल संस्था से मुक्ति की स्थिति है, जिसमें अपराधी अपनी लम्बी सजा की एक अंश अवधि व्यतीत कर चुका है। यह मुक्ति उसे इस शर्त पर दी जाती है कि पूर्ण रिहाई तक अपराधी अच्छा आचरण बनाये रखेगा, और पूर्वोक्त संस्था द्वारा स्वीकृत किसी अन्य संस्था के अधीन व संरक्षण में रहेगा।"

पैरोल में अपराधी को सामान्य जीवन व्यतीत करने के अवसर प्रदान किए जाते हैं और उन्हें पुनः गिरफ्तारी के भय से भी मुक्ति मिलती है। पैरोल शोषण से उनकी रक्षा करती है तथा इस व्यवस्था के द्वारा अपराधी कारागृह के कठोर प्रशासन, उदासीन व नीरस जीवन से स्वतन्त्र रहते हैं। उन्हें सामाजिक अलगाव की अनुभूति नहीं होती। इस प्रकार पैरोल व्यवस्था में अपराधी को स्वतन्त्रता के साथ-साथ उत्तरदायित्वों का भी निर्वाह करना पड़ता है। पैरोल की शर्तों का उल्लंघन करने पर पुनः कारावास हो सकता है, और तब उसे समाज के आक्रोश का भी शिकार होना पड़ता है। पुलिस के अत्याचार सहन करने पड़ते हैं व घृणा का पात्र होना पड़ता है। सारांश रूप मे यह कहा जाता है कि पैरोल अपराधी को सुधारने का एक सुरक्षात्मक उपाय है।

पैरोल सम्बन्धी नियम—पैरोल के समय अपराधी को कुछ नियमों की पालना अवश्यमेव करनी पड़ती है, वे नियम निम्नलिखित है—

(1) उसे उन्माद लाने वाली वस्तुओं से दूर रहना होगा।
(2) जेल से मुक्त होने पर उसे निश्चित पता देना होगा तथा पैरोल अधिकारी की आज्ञा के बिना इसमें परिवर्तन नहीं करना होगा।
(3) उसे व्यवसाय बदलने की अनुमति नहीं है।
(4) अपनी स्थिति के विषय मे उसे नियमित सूचना देनी अनिवार्य होगी।
(5) पैरोली को किसी भी स्थिति मे कानून का उल्लंघन करने की अनुमति नहीं है।
(6) पैरोल अधिकारी की अनुमति के बिना उसे विवाह करने का अधिकार नहीं है।

(7) पैरोली को पूर्व अपराधियों से मिलने की अनुमति नहीं है।
(8) वह अपने पास किसी प्रकार का अस्त्र-शस्त्र नहीं रख सकता।
(9) एक निश्चित समय पर उसे अपने निवास-स्थान पर ही रहना होगा।
(10) बिना आज्ञा के रुपया उधार नहीं ले सकता।
(11) वह जुआ नही खेल सकता।
(12) मोटर वाहन भी बिना आज्ञा के नहीं चला सकता है।
(13) वह किसी प्रकार की निद्रा-नाशक दवा आदि का सेवन नहीं कर सकता है।
(14) बिना आज्ञा के वह राज्य से बाहर नहीं जा सकता है।

पैरोल सम्बन्धी प्रतिमान

पैरोल व्यवस्था को सफल बनाने के लिए अमेरिकन पैरोल समिति द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण स्रोतो के आधार पर कुछ प्रतिमानो का निर्धारण किया गया है, जो निम्नांकित है—

(1) पैरोल का उद्देश्य समाज की सुरक्षा है न कि राज्य क्षमा।

(2) समाज में पैरोली को पुनर्वास देने मे सहायता करने वाली समितियों का विकास किया जाना चाहिये।

(3) कारागार मे सजा का एक अश व्यतीत करना आवश्यक नहीं है। इसलिए जैसे ही बन्दी कारागार मे लाया जाये, पैरोल सम्बन्धी कार्यवाही प्रारम्भ की जानी चाहिए।

(4) पैरोल का सभी अपराधियो की रिहाई के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

(5) पैरोल सम्बन्धी निर्णय लेते समय पैरोली की आवश्यकताओ, योग्यताओं, परिवर्तित अभिवृत्तियो एव पैरोली के परिवार की आवश्यकताओ आदि को ध्यान में रखा जाना चाहिये।

(6) भावी पैरोली को उन परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान करा दिया जाना चाहिये जिनमें उसे पैरोली की रिहाई के उपरान्त रहना है।

(7) जिस वातावरण मे पैरोली को रिहाई के बाद रहना है उस वातावरण का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाना चाहिए।

(8) पैरोल अधिकारी को पैरोली के साथ सहयोग व सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए।

(9) पैरोल अधिकारी को प्रशिक्षित, सन्तुलित व समायोजित व्यक्तित्व वाला होना चाहिये।

(10) पैरोल से सम्बन्धित विधान व नीतियाँ लचीली होनी चाहिये, जिससे अपराधी की आवश्यकताओ के अनुरूप उनमे परिवर्तन किया जा सके।

(11) व्यवस्था में सुधार लाने के उद्देश्य से इस क्षेत्र में शोध की जानी चाहिये व आलेख आदि का संग्रह किया जाना चाहिए।

(12) पैरोल मे बन्दियों के सुझावों को भी महत्त्व दिया जाना चाहिये। इसे अपराधी के सम्पूर्ण जीवन का एक अंश मानकर, इसमें अपेक्षित सुधार किया जाना चाहिए।

परिवीक्षा और पैरोल में अन्तर (Difference between Probation and Parole)—एक सामान्य व्यक्ति के लिए परिवीक्षा एवं पैरोल दोनो समान व्यवस्थाएँ है, किन्तु इन दोनो में अनेक अन्तर है, जिसके कारण दोनों का प्रयोग अलग-अलग स्थितियो मे किया जाता है। संक्षेप में निम्नलिखित अन्तर दृष्टव्य हैं—

(1) परिवीक्षा अपराधी घोषित हो जाने के बाद की स्थिति का नाम है, जबकि पैरोल में सजा का एक अंश समाप्त कर लिया जाता है।

(2) परिवीक्षा मे अपराधी को दण्डित नहीं किया जाता है, पैरोल मे उसे दण्ड दिया जाता है।

(3) प्रशासनिक दृष्टि से परिवीक्षा में निरीक्षण मे न्यायालय की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु पैरोल में अपराधी के भविष्य का निरीक्षण प्रशासकीय इकाइयो के द्वारा किया जाता है।

(4) परिवीक्षा में अपराधी का व्यक्तिगत निरीक्षण किया जाता है। इसलिए इसमे परिवीक्षा-अधिकारी और परिवीक्षार्थी के परस्पर के सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होते हैं, किन्तु पैरोल मे अपराधी का गहन निरीक्षण नहीं किया जाता है।

(5) परिवीक्षा मे बॉण्ड, जमानत आदि ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु पैरोल मे बॉण्ड व जमानत का अत्यधिक महत्त्व है।

संक्षेप मे परिवीक्षा व पैरोल दोनो का उद्देश्य सुधारात्मक है। अन्तर केवल यही है कि परिवीक्षा मे अपराधी को सजा सुनाई जाती है किन्तु वह सजा भुगतता नहीं है, जबकि पैरोल में अपराधी सजा का एक अश भुगत चुका होता है।

उत्तर-संरक्षण सेवाएँ (After-care Services)—परिवीक्षा एवं पैरोल की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् बन्दियो को मुक्त कर दिया जाता है। उसके पश्चात् उनके पुनर्वास की समस्या उत्पन्न होती है। क्योकि जेल मे रहने के कारण उसको समाज के अन्य लोग हेय दृष्टि से देखने लगते हैं। उसको रखना पसन्द नही करते, बच्चो से दुर्व्यवहार किया जाता है तथा उसकी उपस्थिति को सभ्य समाज मे नहीं स्वीकारा जाता। इन अनेक कारणी से वह पुन: अपराध करने के लिए उद्यत हो सकता है। अत: ऐसी सभी समस्याओ से मुक्ति दिलाने के लिए व उन्हे सामाजिक मान्यता प्राप्त कराने के उद्देश्य से एक कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया है जिसे 'उत्तर-संरक्षण सेवायें' कहा जाता है। उत्तर-सरक्षण सेवाये वे सेवाये हैं जो जेल से मुक्त हुए बन्दियो को स्वस्थ नागरिक-जीवन प्रदान करती है जिससे समाज मे वे पुन: समायोजित हो सके। ये सेवाएँ मुख्य रूप से उन मुक्त अपराधियों के लिए होती हैं—(1) जो सुधारात्मक सस्था मे कुछ समय रह चुके हैं तथा जहाँ उन्होने किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त की है, तथा (2) उनके लिए, जो वास्तव में किसी शारीरिक, मानसिक अथवा

शारीरिक असुविधा के कारण किसी प्रकार का संरक्षण चाहते हैं। इस रूप मे यह कार्यक्रम जेल-मुक्त अपराधियों के लिए होता है। उद्देश्यों की दृष्टि से देखे तो उत्तर-संरक्षण सेवाये एक तो अपराधी की सेवा करती हैं, दूसरे ये सेवायें समुदाय का ऐसा निर्माण करती हैं जिससे वे अपराधियो के पुनर्वास मे सहायता कर सके। ये सेवाएँ अपराधियो को—(1) उसके व्यक्तिगत समायोजन मे सहायता करती हैं, (2) उसके व्यवसाय सम्बन्धी पुनर्वास मे सहायता करती हैं, तथा (3) उसको समाज मे पुनः स्थापित करने मे सहायक होती हैं।

(1) **व्यक्तिगत समायोजन** उन व्यक्तियो के लिए होता है जिनका परिवार नष्ट हो चुका होता है और जो नितांत एकाकी होते हैं। उन व्यक्तियों को भी व्यक्तिगत समायोजन की आवश्यकता होती है, जिसका स्थान लम्बी अवधि तक उस व्यक्ति के अनुपस्थित रहने के कारण किसी अन्य व्यक्ति को सेवाएँ देकर भर दिया गया हो, अर्थात् जिसकी सेवाएँ समाप्त कर दी गई हो, समाज उसे पुनर्वास करने के लिए तैयार न हो अथवा उसकी स्थिति इस प्रकार की न हो कि वह स्वय की सुरक्षा कर सके।

(2) **आर्थिक पुनर्वास** मे भी व्यक्ति को आर्थिक सहायता देकर, आजीविका के साधन जुटाकर, किसी की सिफारिश आदि दिलाकर उसकी आजीविका दिलाई जा सकती है।

(3) **सामाजिक समायोजन** की दृष्टि से पुलिस की परेशानियो से उसे सुरक्षित किया जा सकता है। कानूनी सहायता प्रदान की जा सकती है। इस प्रकार व्यक्तिगत, आर्थिक एवं सामाजिक—तीनो प्रकार के समायोजन में उत्तर-सरक्षण सेवाये सहायक होती हैं। सक्षेप मे ये सेवाये अपराध-मुक्तो की इस रूप मे सहायता करती हैं जिसके आधार पर वे अपनी आजीविका का उपार्जन करके समाज में पुनर्स्थापित हो सकें।



अध्याय-18

बाल अपराध

(Juvenile Delinquency)

छोटी आयु अथवा बालकों द्वारा किए गए समाज विरोधी कार्यों या अपराधों को बाल-अपराध कहते हैं। नगरों, महानगरों, औद्योगिक केन्द्रों आदि में बाल अपराध एक गम्भीर एवं चिन्ताजनक समस्या है। इन समाजों में अन्य सामाजिक समस्याओं की तरह बाल-अपराध दिनो-दिन में बढ़ते जा रहे हैं। ग्रामों की तुलना में नगरों में बाल-अपराध अधिक देखे जा सकते हैं। बाल-अपराध क्या है? इसके कारण क्या हैं? इसका निदान क्या है? आदि को विस्तार से जानने के पूर्व बालापराध के अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन किया जाएगा।

बालापराध की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Juvenile Delinquency)—बालकों द्वारा किए गए अपराध समाज की दृष्टि से भी हो सकता है और कानून की दृष्टि से भी सम्भव है। इसी आधार पर बालापराध की परिभाषाएँ—समाजशास्त्रीय एवं कानूनी—दोनों हैं, जो निम्न हैं—

(1) बालापराध की समाजशास्त्रीय परिभाषा (Sociological Definition of Juvenile Delinquency)—समाजशास्त्रीय दृष्टि से बालापराध का अर्थ है—वे कार्य जो बालकों द्वारा समाज के नियमों व आचरणों के विरुद्ध किये गये हो। सामाजिक दृष्टि से जिस बालक का व्यक्तित्व विघटित है वह बालापराधी कहा जा सकता है।

गिलिन एवं **गिलिन** के अनुसार, ''समाजशास्त्र की दृष्टि से बाल-अपराधी एक ऐसा व्यक्ति है, जो ऐसे कार्य का अपराधी है, जिसको वह समूह, जिसे अपने विश्वास को कार्यान्वित करने की शक्ति है, समाज के लिए हानिकारक समझता है और इसलिए ऐसा कार्य निषिद्ध भी है।''

मोवरर ने बालापराधी को इस रूप मे परिभाषित किया है, ''वह व्यक्ति जो जान-बूझकर इरादे के साथ तथा समझते हुए उस समाज की रूढ़ियों की उपेक्षा करता है, जिससे उसका सम्बन्ध है, बालापराधी कहलाता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओ से निष्कर्ष निकलता है कि बालापराध में बालको के असामाजिक व्यवहारो को लिया जाता है अथवा बालक व किशोरों के ऐसे व्यवहार जो लोक कल्याण की दृष्टि से अहितकर होते हैं, ऐसे कार्यों को करने वाला बालापराधी कहलाता है। ऐसे बालक जो स्कूल से भाग जाते हैं, निरुद्देश्य इधर-उधर घूमते हैं, घर से बाहर रहते हैं, आवारा लड़कों के साथ रहते हैं अथवा गलत आचरण करते हैं व शैतानी करते हैं, बालापराधी की श्रेणी मे आते हैं। **रोबिन्सन** के मत में आवारागर्दी, भीख माँगना, दुर्व्यवहार, बुरे इरादे से शैतानी करना और उद्दण्डता बालापराधी के लक्षण हैं।

बालापराधी की कानूनी परिभाषा (Legal Definition of Juvenile Delinquent)—वैधानिक दृष्टि से वे सभी बालक अपराधी कहे जा सकते हैं जो कानून का उल्लंघन करते हैं। जिस तरह वयस्क कानून का उल्लघन करने के कारण अपराधी होता है इसी भाँति बालक भी नियमो की अवहेलना करता है तो बालापराधी कहा जायेगा।

सेथना के अनुसार, "*किसी बालक या तरुण के द्वारा किए गए अनुचित कार्य, जो किसी भी स्थान के किसी भी कानून (जो उस समय लागू हो, के द्वारा निर्दिष्ट आयु सीमा के अन्तर्गत आते हो, बालापराधी कहलाते हैं।*"

न्यूमेयर का कहना है कि बालापराधी एक निश्चित आयु से कम का वह व्यक्ति है जिसने समाज विरोधी कार्य किया है तथा जिसका दुर्व्यवहार कानून को तोड़ने वाला है। यह परिभाषा समाजशास्त्रीय एवं कानूनी दोनो दृष्टियो से बालापराधी की विशेषताओं को इंगित करती है।

बाल अपराध : आयु एवं व्यवहार की दृष्टि से (Juvenile Delinquency : From the Age and Behaviour Point of View)—बालापराधी किसे माना जाए अर्थात् कितने वर्ष का बालक बालापराधी की श्रेणी में रखा जाये? इस विषय में अलग-अलग देशों मे अलग-अलग मत हैं। अमेरिका जैसे देश मे जहाँ 7 वर्ष की उम्र का बालक अपराधी माना जा सकता है, वहाँ भारत के सन्दर्भ मे किसी बालक को तब तक अपराधी नहीं माना जा सकता, जब तक कि बालक इतना न समझ ले कि— (i) वह जो कार्य कर रहा है वह क्या है, और (ii) उस कार्य के क्या परिणाम हो सकते हैं? इस दृष्टि से केन्द्रीय बाल अधिनियम, 1960 जो सभी केन्द्र शासित प्रदेशो पर लागू है, उसके अनुसार बालापराधी 14 से 18 वर्ष की उम्र का हो सकता है। **बाल-न्याय अधिनियम (Juvenile Justice Act) 1986** ने बालकपन या तरुण की परिभाषा देते हुए लिखा है कि 16 वर्ष से कम आयु का लड़का तथा 18 वर्ष से कम आयु की लड़की बालक हैं। इनके द्वारा किया गया अपराध बाल-अपराध माना जाएगा। वैसे राज्य के स्तर पर बनाए गए अधिनियम उच्चतम आयु सीमा अर्थात् 18 वर्ष को ही प्रायः मानते हैं, क्योकि भारत मे 'बालापराध' राज्यो का विषय है, जिनमें 'बाल अपराध अदालत', 'बाल कल्याण मण्डल', 'बालगृह' तथा 'विशिष्ट स्कूल' आदि में बालापराधो की रोकथाम एवं सुधार की व्यवस्था है।

आयु के साथ-साथ एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष **व्यवहार** है।

सिरिलबर्ट ने व्यवहार की दृष्टि से उन बालकों को बालापराधी माना है जिनका आचरण समाज द्वारा इसलिए स्वीकार्य नहीं है क्योकि वही दुर्व्यवहार उसे अपराध करने के लिए उत्तेजित कर सकता है।

वाल्टर रेक्लेस भी बालापराध को व्यवहार के आधार पर इस प्रकार परिभाषित करते हैं, "बाल-अपराध शब्द अपराधी विधि के उल्लघन पर तथा उस व्यवहार पर लागू होता है जिसे बच्चो तथा किशोरो मे समाज द्वारा अच्छा नहीं माना जाता।"

इस प्रकार **पावर्स** और **विटमर** ने भी बालापराध को तीन प्रतिमानों—(i) व्यवहार की गम्भीरता, (ii) उनकी पुनरावृत्ति, एवं (iii) अपराधी का कानूनी समाज के प्रति दृष्टिकोण; के आधार पर 5 भागों में विभाजित किया है—(i) अत्यधिक, (ii) सामान्य, (iii) आवसरिक, (iv) यदा-कदा, और (v) अति न्यून-बालापराधी।

ससमैन ने बालापराधियो की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं—जो कानून का उल्लंघन करे; जो आदतन रूप से स्कूल से भागता हो, जो चोर, दुष्चरित्र व अनैतिक व्यक्तियों के साथ रहता हो, जो सुधार से परे हो; जो माता-पिता व संरक्षकों के नियन्त्रण से बाहर हो, जो अपराधी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता हो, जो समाज मे अप्रतिष्ठित व्यक्तियो के घर जाता हो; जो सार्वजनिक स्थानों पर अभद्र व्यवहार करता हो व अभद्र भाषा का प्रयोग करता हो, जो अवैध व्यवसायों में रत हो, जो कानून का उल्लंघन करने वाले स्थानो मे जाता हो, जो दुर्व्यवहार करता हो; भीख माँगता हो व शराब पीता हो, जो बिना अनुमति के स्कूल से भागता हो व आवारागर्दी करता हो, एवं जो ऐसा व्यवहार करता हो जिससे दूसरों को नुकसान पहुँचे। उपर्युक्त विशेषताओ के आधार पर कानून की अवज्ञा करने वाला व समाज विरोधी आचरण करने वाला बालक बालापराधी होता है।

बालापराध की श्रेणी में प्रायः वही रखा जा सकता है जो आदतन अपराध करता हो—इस प्रकार बालापराध की परिभाषा अनेक दृष्टिकोण के आधार पर स्पष्ट की जा सकती है। सार रूप में यही कहा जा सकता है कि जो बालक किसी भी व्यवहार के द्वारा कानून का उल्लंघन करता है और यह उल्लंघन उसकी आदत सी बन गई है, तो उसे बालापराधी कहा जायेगा।

बाल अपराधियों की विशेषताएँ (Characteristics of Juvenile Delinquents)— बालापराध की निम्नलिखित विशेषताये हैं—

(1) बाल-अपराधी कस्बों और ग्रामों की तुलना में नगरों और महानगरो में अधिक मिलते हैं इसका कारण यह है कि जीवन से सम्बन्धित जटिलताएँ महानगरों में अधिक मिलती हैं इसी कारण वहाँ अपराध भी ज्यादा होते हैं।

(2) लड़कियो की तुलना मे लड़को में अपराध अधिक पाए जाते हैं। इसका कारण यह है कि एक तो भारतीय समाज में लड़कियो पर नियन्त्रण अधिक होने से उन्हे बाहर जाने की स्वतन्त्रता कम होती है तो वे अपनी दिनचर्या घर तक ही सीमित रखती हैं जबकि लड़के बाह्य जीवन मे अधिक भाग लेते हैं, मुक्त वातावरण में रहते हैं और शारीरिक शक्ति भी उनके पास अधिक होती है। इसलिए वे ज्यादा अपराध करते है। अनेक अध्ययन इस क्षेत्र में हुए हैं जिनके आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि लड़के अधिक अपराधी होते हैं।

'भारत मे अपराध', 1994 के अनुसार 17,203 बाल अपराधियो मे मात्र 19.5 प्रतिशत कन्याएँ बाल अपराधी पाई गईं। शेष 80 5 प्रतिशत बाल अपराधी बालक थे।

(3) गरीबी के कारण भी बालक अपराधों मे प्रवृत्त होते है। जब व्यक्ति अभाव मे रहता है तो उसमें अपराधी प्रवृत्ति आ जाती है। लड़को द्वारा आर्थिक अपराध अधिक होते हैं और लड़कियों द्वारा यौन-अपराध अधिक होते हैं। अनेक अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकल चुका है कि लड़कियो द्वारा यौन-सम्बन्धी अपराध अधिक मात्रा में होते हैं।

(4) बाल-अपराध की एक विशेषता यह भी है कि जिन परिवारो का सामाजिक-आर्थिक स्तर उच्च या मध्यम होता है, वहाँ अपराधो की मात्रा न्यून होती है और निम्न सामाजिक-आर्थिक स्तर वाले परिवार में बालकों में अपराध की मात्रा अधिक होती है।

ए सी. वर्मा, सुशील कुमार, हन्सा सेठ और रतनशा के अध्ययनो से स्पष्ट होता है कि बाल अपराधियो का प्रतिशत सबसे उच्च निम्न स्तर के या गरीबो में पाया जाता है।

(5) बाल-अपराध व्यक्तिगत रूप मे प्राय: कम किए जाते हैं। अधिकांशत: किसी गिरोह के साथ मिलकर अपराध होते हैं। गिरोह द्वारा उन्हे सरक्षण व प्रशिक्षण प्राप्त होता है।

(6) अधिकांश बाल-अपराध 12 से 16 वर्ष की आयु समूह में किए जाते हैं; उसका कारण है कि इस समय बालक-बालिकाओं का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं भावात्मक सभी प्रकार का विकास तीव्र गति से होता है इसके कारण अनेक परिवर्तन उन्हें नियन्त्रण से मुक्त रखना पसन्द करते हैं अत: वे हर प्रकार के अपराध करने को उद्यत हो जाते हैं।

(7) बालक जितने कम पढ़े-लिखे होते हैं उनमे बाल अपराधी प्रवृत्ति उतनी अधिक मिलती है। अधिकाश बाल अपराधी निरक्षर एवं कम शिक्षित पाए जाते हैं।

बाल-अपराध के कारण (Causes of Juvenile Delinquency)— बालापराध के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं, किसी एक कारण को बाल-अपराध का प्रमुख कारण नहीं माना जा सकता—अनेक विद्वानो ने इन कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है—जिसे निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है। यहाँ पहले विद्वानो के द्वारा वर्गीकृत कारणो पर विचार किया जायेगा, तदोपरांत बाल-अपराध के सामान्य कारणो को विवेचना की जायेगी।

(1) न्यूमेयर ने बाल-अपराध के 7 कारण प्रमुख बताए हैं—

1 व्यक्तित्व सम्बन्धी— (i) प्राणिशास्त्रीय, मानसिक एवं भावात्मक दशाएँ, (ii) चरित्र और व्यवहार सम्बन्धी लक्षण।
2 पारिवारिक स्थितियाँ।
3 संगति।
4 सामुदायिक संस्थाओ का प्रभाव।
5 जनसख्या सम्बन्धी कारण एव सास्कृतिक विभिन्नता।
6 आर्थिक और भौतिक पर्यावरण सम्बन्धी कारण।
7 नियन्त्रण की कमी।

(2) इलियट एव मैरिल ने बाल-अपराध के निम्नलिखित कारण बताये हैं—

1. पारिवारिक कारण—(i) आनुवाशिकता, (ii) माता-पिता द्वारा तिरस्कृत बच्चे, (iii) अनैतिक परिवार, (iv) भाई-बहिन का अपराधी होना, (v) परिवार की आर्थिक स्थिति, एव (vi) सामाजिक प्रशिक्षण।

2. व्यक्तिगत कारण—(i) शारीरिक कारण (ii) मानसिक कारण—इनमे (अ) मानसिक योग्यता, एवं (ब) भावात्मक अस्थिरता को लिया जाता है।

3. सामुदायिक कारण—(i) मनोरंजन, (ii) स्कूल, (iii) अपराधी क्षेत्र, (iv) युद्ध, एव (v) समूह का अनुभव प्रमुख हैं।

(3) मावरर ने बाल-अपराध के निम्नलिखित कारण माने हैं—

1. शारीरिक कारक—(i) शारीरिक अपूर्णता, (ii) अन्त:स्रावी ग्रन्थियों का दूषित होना, (iii) आनुवाशिकता, (iv) अस्वस्थता, (v) तीव्र विकास तथा आवेग।

2. मनोवैज्ञानिक कारक—(i) मनोवैज्ञानिक कमी, (ii) मानसिक प्रक्रियाओ की अकार्यात्मक भूमिका, (iii) मन्द बुद्धि, (iv) मानसिक अस्थिरता, (v) सामाजिक प्रभाव, (vi) व्यक्तित्व की मनोविकृति, (vii) कुण्ठाएँ, मानसिक सघर्ष एवं मूल प्रवृत्यात्मक कारण।

3. **समाजशास्त्रीय कारक**—(i) निर्धनता, (ii) आवासीय व्यवस्था, (iii) भग्न गृह, (vi) नियन्त्रण का अभाव, (v) प्रवासी परिवार, (vi) दुस्संगति, (vii) अपराधी-क्षेत्र।

बालापराध के सामान्य रूप से निम्न कारण हो सकते हैं—

(1) व्यक्तिगत कारण (Personal Causes)—इसमें निम्न कारण महत्त्वपूर्ण हैं—

1. शारीरिक कारण (*Physical Causes*)—*जब बालक किसी प्रकार की* शारीरिक अक्षमता का शिकार होता है तो उसमें हीनता की भावना विकसित हो जाती है। कमजोर, बीमार व अस्वस्थ बच्चे अपराध की ओर प्रवृत्त होते है। अनेक अध्ययनों से निष्कर्ष निकलता है कि प्राय: बालक शारीरिक अक्षमता के कारण अपराधी बन जाते हैं। **सिरिल बर्ट, हेली** तथा **बोनर एवं ग्लूएक्स** आदि ने शारीरिक कारणो को एक कारण माना है। हट्टन ने अनेक प्रकार के शारीरिक दोषों का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न अपराधों से माना है। शारीरिक अपंगता, बहरापन, स्थाई रोग, शारीरिक वृद्धि मे कमी, स्थाई दुर्बलता आदि बालकों मे हीनता उत्पन्न करती हैं जो अपराध का कारण बन जाती हैं।

(2) मनोवैज्ञानिक कारण (Psychological Causes)—मनोवैज्ञानिकों ने मानसिक असमानताओं को भी बाल-अपराध के लिए उत्तरदायी माना है। मानसिक कारणों में दो कारण महत्त्वपूर्ण हैं—

(i) **मानसिक योग्यता** (Mental Ability)—**गोडार्ड, हीली** और **ब्रूनर** आदि ने अपने अध्ययनो में मानसिक योग्यता को बाल-अपराध का कारण माना है अर्थात् जो बालक मानसिक दृष्टि से हीन व पिछड़े हैं अथवा जिनकी बुद्धि-लब्धि कम होती है, उनमे अपराध की भावना अधिक होती है किन्तु सर्वत्र यह सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण नही माना जाता—कई अध्ययनों में मानसिक योग्यता की दृष्टि से बालापराधियो मे कोई विशेष कमी नहीं पाई गई।

(ii) **भावात्मक अस्थिरता** (Emotional Stability)—भावात्मक अस्थिरता के कारण भी बच्चे अपराधी हो जाते हैं। **बर्ट, हीली, ब्रूनर** आदि ने अपने अध्ययनों मे पाया कि प्राय: अपराधी स्वय को असुरक्षित अनुभव करते हैं व मानसिक संघर्ष से ग्रसित रहते हैं इसी कारण वे अपराधो की ओर प्रवृत्त होते हैं— इस भावात्मक अस्थिरता के भी अनेक कारण होते हैं जो बालको को अपराधी बना देते हैं।

(3) पारिवारिक कारण (Family Causes)—परिवार बालक की प्रथम शाला है जहाँ जन्म के बाद बालक का सामाजीकरण होता है। बालक अपने माता-पिता, बहिन-भाइयों के व्यवहारो को सीखता है, पारिवारिक परिस्थितियाँ भी अपना प्रभाव डालती हैं, यदि परिवार के सदस्य अपने उत्तरदायित्वो को भली-भाँति नहीं निभाते है तो बच्चे उससे प्रभावित होते हैं और अन्तत: वे अपराधी बन जाते हैं। **कार** ने सामान्य परिवार उसे कहा है जिसमे— (i) माता-पिता दोनों होते हैं, (ii) जहाँ आर्थिक दृष्टि से रहन-सहन का सामान्य स्तर होता है, (iii) जहाँ पति-पत्नी दोनों समान संस्कृति के पोषक होते हैं, (iv) जहाँ नैतिक नियमो की परिपालना की जाती है, (v) गृह में शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से कोई हीन व्यक्ति नहीं हो तथा (vi) परिवार के सभी सदस्य संघर्ष रहित होकर कार्य-व्यवहार करते हैं। इनसे रहित परिवार विच्छिन्न माने जाते हैं। सामान्यत: निम्नलिखित कारण पारिवारिक विघटन उत्पन्न करने वाले हैं, जो बालक को अपराधी बनाते हैं।

(i) आनुवांशिकता (Heredity)—बालक की आनुवांशिकता उसकी शारीरिक एवं सामाजिक परिस्थिति को प्रभावित करती है। लोम्ब्रोसो तो व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं से ही अपराधी प्रवृत्ति की उत्पत्ति मानते हैं। अनेक शोधे इस बात का प्रमाण हैं कि जिन बालकों के माता-पिता अथवा पूर्वज अपराधी थे, उनके बच्चे भी अपराधी होते हैं। **गोडार्ड, रिचर्ड, ब्रूक और डुग्डेज** आदि ने अध्ययन करके निष्कर्ष दिया है कि अपराध वंशानुक्रम की देन होते हैं। यद्यपि आज इस मान्यता का विरोध किया जा रहा है। गिलिन एवं गिलिन के मत में अपराध का कारण वंशानुक्रम नहीं है।

(ii) **विच्छिन्न परिवार** (Broken Home)—वे परिवार जिनमे—(i) माता-पिता की या उनमें से एक की मृत्यु हो गई है, (ii) परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है, (iii) माता या पिता का एक से अधिक विवाह होने के कारण इनके जीवन-साथी एक से अधिक हैं; (iv) घर मे विमाता या पिता दूसरे हैं, (v) दोनो साथ-साथ रहते हैं किन्तु दोनो मे मनमुटाव, कलह व झगडा होता रहता है तो ऐसी स्थिति मे बच्चो को पर्याप्त स्नेह नहीं मिल पाता और इससे उनका व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। हंसा, सेठ, कार, बर्ट, बेजहोट सुलेन्जर व ग्लूक आदि अनेक विद्वानो ने अपने अध्ययनो मे पाया कि भग्न-परिवार बाल-अपराध के जनक हैं।

(iii) **अपराधी एवं सौतेले भाई-बहिन** (Delinquent and Step Siblings)—बच्चे अनुकरणप्रिय होते हैं। वे हर अच्छे-बुरे कार्य को बड़ो से अनुकरण के आधार पर सीखते हैं। यदि परिवार मे बडे भाई-बहिन अपराधी हैं अथवा सौतेले भाई-बहिन हैं जो उनके साथ दुर्व्यवहार करते हैं तो बच्चों का व्यक्तित्व विकृत हो जाता है, उनमे विद्रोही भावना के स्वर मुखरित हो जाते हैं। वे दूषित वातावरण से बाहर रहने लगते हैं और गलत संगति प्राप्त कर अपराधी बन जाते हैं। अथवा जब माँ बाप बच्चो को समान रूप से स्नेह नहीं देते, तो ऐसी स्थिति मे भी बच्चे अपने को परिवार से अलग कर लेते हैं और उनके मन मे अपराध की भावना जागृत हो जाती है।

(iv) **दोषपूर्ण अनुशासन** (Defective Discipline)—किन्हीं परिवारो में बच्चो पर कोई अनुशासन नहीं होता अथवा दूसरी ओर बच्चों पर कठोर नियन्त्रण रखा जाता है। कभी-कभी लडकियो व लड़कों के साथ गलत माँ-बाप का अलग-अलग व्यवहार होता है। इन अनेक कारणों का परिणाम बालको को अपराध की ओर बढाना ही होता है। बच्चों मे निराशा उत्पन्न हो जाती है तो वह माता-पिता का विरोध करने लग जाते हैं अथवा हर इच्छा की पूर्ति होने पर बालको में प्रतिस्पर्द्धा की भावना की समाप्ति हो जाती है जिससे परिवार के बाहर जब इच्छित वस्तु नहीं मिल पाती तो वे अवैध तरीके अपनाकर उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार—बालको पर अत्यधिक नियन्त्रण एवं पूर्ण स्वच्छन्दता—दोनों ही स्थितियाँ अपराध की जनक मानी जाती हैं।

(v) निर्धनता (Poverty)—निर्धनता भी अपराध का कारण बन जाती है। जब गरीबी के कारण छोटे बच्चे कार्य करने लगते हैं और धीरे-धीरे उनमें धन के प्रति प्रलोभन आ जाता है, तो वे अपने मालिक के घर ही चोरी करने लग जाते हैं—अनेक अध्ययनों जैसे—**बर्ट, हीले, हसा, सेठ,** रटनशा आदि के आधार पर निष्कर्ष निकला है कि निर्धनता बाल-अपराध का एक प्रबल एवं सशक्त कारण है।

(vi) अतिभीड़ वाला परिवार (Over-crowded Family)—आधुनिक समाज मे नगरीकरण के परिणामस्वरूप व्यक्ति को रहने का पर्याप्त स्थान नहीं मिल पाता। बड़े परिवार

को भी बहुत छोटे स्थान में रहना पड़ता है। इसके कारण माता-पिता न तो बच्चों पर पूर्ण ध्यान दे पाते हैं, न ही कोई आन्तरिक सुरक्षा उन्हे मिल पाती है। मनोरंजन के साधन भी उपलब्ध नहीं होते हैं। अत: बच्चे अपराध की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। माता-पिता स्वयं ही उन्हें बाहर भेजना पसन्द करते हैं। जहाँ बच्चे अपराधी बालकों की संगति प्राप्त करते हैं और स्वयं ही अपराधी बन जाते हैं।

(4) **पर्यावरण सम्बन्धी कारण** (Environmental Factors)—बच्चे पर वातावरण का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। घर के बाहर का वातावरण भी बच्चे को अत्यधिक प्रभावित करता है, क्योंकि बच्चा स्कूल आदि के रूप में घर से बाहर अपने समुदाय के सम्पर्क में भी आता है जहाँ की परिस्थितियाँ उसे प्रभावित करती हैं—समुदाय या बाह्य वातावरण में निम्न कारण महत्त्वपूर्ण हैं—

(i) **विद्यालय** (School)—विद्यालय वह स्थल है जो बच्चों का भविष्य-निर्माण करता है, उसे सद्मार्ग पर ले जाता है। किन्तु यदि विद्यालय का वातावरण अनुपयुक्त है, जहाँ अपराधी बच्चे पढ़ते हैं, तो वे अच्छे बच्चों को भी अपराधी बना देते हैं। स्कूल से भाग जाना, घर का कार्य करके न लाना, आक्रामक व्यवहार करना आदि अनेक अपराधी कार्यों का कारण, अध्यापकों का बालकों पर ध्यान न देना, बीमारी, मानसिक असुरक्षा, अध्यापकों का व्यवहार, मनोरंजन का अभाव, बच्चों को आवश्यक किताब-कापियाँ आदि उपलब्ध न होना आदि हैं। अत: विद्यालय का अनुचित वातावरण भी बालकों को अपराधी बना देता है। स्कूल से पलायन एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कारण है।

(ii) **पड़ोस** (Neighbourhood)—बालक अपने पड़ोसी साथियों के साथ खेलता है। यदि पड़ोस अच्छा नही है तो वह बच्चों को बिगाड़ सकता है। कई बार पड़ोस समाज विरोधी मूल्यों का पोषण करता है, इससे बालक में अपराधी भावना बढ़ती है। पड़ोस के साथ-साथ साथी समूह भी यदि अपराधी है तो बच्चों को उसी दिशा में ले जायेगा। ये साथी समूह अपराधी-गिरोह का निर्माण कर सकते हैं। पड़ोस में यदि सस्ते मनोरंजन के साधन है तो उनसे भी बच्चे बिगड़ते हैं।

(iii) **मनोरंजन** (Recreation)—मनोरंजन की उचित सुविधा न होने के कारण भी बच्चा अपराध की ओर प्रवृत्त होता है क्योंकि 'खाली दिमाग शैतान का घर' माना जाता है। दूसरी ओर यदि मनोरंजन के साधन सस्ते हैं तो वे भी बच्चों को बिगड़ने के लिए उत्तरदायी होते हैं। सिनेमा की मारधाड़, यौन-सम्बन्धी दृश्य, चोरी-डकैती के तरीके, हत्या आदि के दृश्य बालकों को अपराधी बना देते हैं। पार्क-स्थलों पर जहाँ हर प्रकार के बच्चे मिलते हैं वहाँ पर अपराधी भावना बच्चों में पर्याप्त रूप में आ जाती है। होटल, मदिरालय, वेश्यालय, जहाँ बालकों का प्रवेश आसानी से हो जाता है, वे बालक अन्य साथियों को भी इस ओर प्रवृत्त कर देते हैं। ब्लूमर, कामा आदि ने अध्ययनों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि लड़कियों मे सिनेमा के प्रभाव ने उत्तेजना पैदा की और लड़को ने रुपये चुराना, पुलिस को धोखा देना, मारधाड़ करना सीखा।

(iv) **अपराधी क्षेत्र** (Delinquent Area)—यदि अपराधी क्षेत्र में निवास-स्थान है तो वहाँ बच्चे अवश्य अपराधी बन जाते हैं। आवारागर्दी की भावना तो इन्हीं स्थानो पर पनपती है। निरुद्देश्य सड़को पर घूमना, माता-पिता की आज्ञा बिना घर से रात में बाहर

रहना, सस्ता साहित्य पढ़ना, छेड़-छाड़ के व्यवहार करना, भीख माँगना आदि व्यवहार उन बच्चों मे अधिक होते हैं जो चोर-शराबी, गुण्डो आदि के सम्पर्क मे अधिक आते हैं। भगोडेपन की प्रवृति भी इन्हीं स्थलो से उत्पन्न होती है। इस प्रकार अपराधी क्षेत्रो के सम्पर्क के कारण बच्चे अपराधी बन जाते हैं।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त बाल-अपराध के अन्य अनेक कारण हैं। फुटपाथ पर सोने वाले बालक, युद्ध के परिणामस्वरूप बचे हुए परिवार, अनाथ बच्चे, खराब साथी, यौन-अपराध वाले उपन्यास व सस्ता साहित्य, आवारागर्दी व बिना आज्ञा स्कूल से भागने वाले बच्चे—ये सभी अन्य बालको को अपराधी बनाने के लिए पर्याप्त हैं।

भारत में बाल-अपराध
(Juvenile Delinquency in India)

भारत मे अपराधो की स्थिति विशेष चौंका देने वाली है। 16 वर्ष से कम आयु के लड़को तथा 18 वर्ष से कम आयु की लडकियो में 1981 में 1,58,700 बालापराध पाए गए थे जो 1992 मे घटकर 18,600 हुए थे। इन अपराधो मे आगे और कमी पाई गई जो 1993 मे घटकर 16,700 बालापराध रह गए। हालाँकि राष्ट्रीय अपराध लेखा कार्यालय (The National Crime Bureau) का कहना है कि यह गिरावट चोरी, मकानों में सेंध लगाना, मनुष्यो पर घातक या वध सम्बन्धी हमले (जिनमे हत्या नहीं हुई) के बालापराधो मे पाई गई है। लेकिन फुसलाकर या धमका कर किए गए अपहरणो के बाल-अपराधो मे 132.9% की वृद्धि पाई गई है। इसी प्रकार से अनैतिक यातायात (निरोधक) अधिनियम [Immoral Traffic (Probation) Act] के अन्तर्गत 1992 मे 95 बालापराधी पकड़े गए जो 1993 में बढ़कर 128 हो गए। ये अपराधो मे एक वर्ष में 34 7% की वृद्धि का संकेत देते हैं। बालकों द्वारा किए गए कुल अपराधों मे से कठिनाई से मात्र 2 प्रतिशत मामले ही पुलिस और न्यायालय की जानकारी मे आ पाते हैं। 1994 की भारत मे अपराध प्रतिवेदन के अनुसार कुल 14,500 बाल अपराध के मामले सामने आए। भारत मे कुल अपराधो का बाल-अपराध का प्रतिशत मात्र 0 5 प्रतिशत है। बालको द्वारा किए गए अपराधो मे उच्चतम संख्या चोरी, डकैती, सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध, सेंध मारकर चोरी करना, लूटमार आदि के होते हैं। ऐसे प्रमाण भी मिल रहे हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि बालापराधी महानगरों एवं नगरीय क्षेत्रों में नाबालिग-बालिकाओ का अपहरण करने लगे हैं और उनके साथ बलात्कार के अपराध भी करने लगे हैं। इसमें उन बालापराधो का वर्णन नहीं है जिनकी शिकायत नहीं की जाती है।

भारत में बाल-अपराधियों के सुधार-कार्यक्रम (Reformative Programmes of Juvenile Delinquency in India)—बाल-अपराध को कैसे रोका जाए, इसके लिए दो स्तरो पर सकारात्मक कार्य किए जा सकते हैं—(i) एक तो उन बालापराधियों को सुसभ्य नागरिक बनाने के लिए सुधारात्मक उपाय किये जाएँ जिससे वे आगे इस कार्य मे प्रवृत्त न हो तथा अन्य साथियो को भी अपराधी न बनाएँ। (ii) दूसरे पहले ही उन कारणों की खोज की जाए जो बाल-अपराध की प्रवृति को बढावा दे रहे हैं। यहाँ बाल-अपराध के सुधार के लिए बनाये गये कार्यक्रमो पर सर्वप्रथम प्रकाश डाला जाएगा।

भारत में बाल-अपराध को रोकने के सांविधिक उपाय (Statutory Reforms to Prevent Juvenile Delinquency in India)—बाल-अपराधियों की संख्या में कमी

करने के उद्देश्य से भारत में अनेक सांविधिक उपाय किए जा रहे हैं। अनेक प्रशिक्षण, सहायता व संस्थाओं आदि का प्रावधान किया जा रहा है जिससे ये बालक सामान्य नागरिक बालकों का जीवन व्यतीत कर सकें। बाल-अपराधी वयस्क अपराधियों के समान परिपक्व एवं सिद्धहस्त नहीं होते, अतः इन्हें उचित सलाह एवं प्रशिक्षण देकर सुधारा जा सकता है। इनके सुधार के लिए निम्नलिखित उपाय कानूनी स्तर पर किए जा सकते हैं—

1. बाल-न्यायालय (Juvenile-Courts)—भारत में सामान्यतया बाल-अपराधियों को संवैधानिक सुरक्षा प्राप्त कराने के उद्देश्य से वह उनके अधिकारों की रक्षा के लिए बाल-न्यायालयों की स्थापना की गई है। **सेठना** के मत में, "बाल-न्यायालय विशेष न्यायालय हैं जो उन बालापराधियों एवं बालकों को संरक्षण प्रदान करते हैं, जिन्हें संरक्षण की आवश्यकता होती है।" भारत में कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, पूना, बेलगाँव, नासिक, महाराष्ट्र, कर्नाटक आदि नगरों में बाल-न्यायालयों की स्थापना की गई है। बाल-न्यायालयों में एक प्रथम श्रेणी का न्यायाधीश, एक या दो अवैतनिक महिला न्यायाधीश, अपराधी बालक, उसके माता-पिता व संरक्षक, प्रोबेशन अधिकारी, कोर्ट का क्लर्क, वकील व साधारण पोशाक में पुलिस के आदमी होते हैं। अपराधी बालक को सामान्य वातावरण देने के उद्देश्य से सामान्य रूप से अनौपचारिक बातचीत के द्वारा इस प्रकार का वातावरण तैयार किया जाता है कि बच्चा आतंकित व भयभीत न रहे। दण्ड के रूप में जुर्माना, चेतावनी, अच्छे व्यवहार का बॉण्ड भरवाना व माता-पिता को सौंप देना आदि कार्य किये जाते हैं। इन न्यायालयों द्वारा बालकों का अपेक्षित सुधार हुआ है अतः इनमे सुविधाओं की वृद्धि करनी आवश्यक है।

2. सुधारालय (Remand Home)—जब बालापराधी पुलिस द्वारा पकड़ लिया जाता है तो उसे सुधारालय में रखा जाता है। जब तक उस पर अदालती कार्यवाही चलती है, अपराधी इन्हीं सुधारालयों में रहता है। यहाँ पर परिवीक्षा अधिकारी बच्चे की शारीरिक व मानसिक स्थितियों का अध्ययन करता है; उन्हें मनोरंजन, शिक्षा एवं प्रशिक्षण आदि दिया जाता है और हर सम्भव प्रयास किया जाता है कि बालक सही-सही सूचनायें दे, जिसे वह न्यायाधीश के समक्ष देने से घबराता है। आवश्यकता पड़ने पर यहाँ मनोचिकित्सकों द्वारा भी बच्चे का अध्ययन कराया जाता है। लड़की एवं लड़को के लिए अलग-अलग सुधारालय भी कहीं-कहीं बने होते है। कभी-कभी इन सुधारालयों मे रखकर ही बालापराधियों को छोड़ दिया जाता है। भारत में इन सुधारालयों को समाज-कल्याण संस्थायें, विधि विभाग तथा स्वतन्त्र निदेशालय चला रहे हैं।

3. प्रमाणित विद्यालय (Certified School)—प्रमाणित विद्यालय में भी बाल-अपराधियों को सुधार हेतु रखा जाता है। इन विद्यालयों को सरकार से अनुदान प्राप्त ऐच्छिक संस्थायें चलाती हैं। भारत में दो प्रकार के विद्यालय हैं—(1) जूनियर सर्टीफाइड विद्यालय जिनमें 12 वर्ष से कम आयु के बालक सामान्य शिक्षा पाते हैं, तथा (2) सीनियर सर्टीफाइड विद्यालय—जहाँ 12 से 16 वर्ष के बाल-अपराधियों को प्राविधिक प्रशिक्षण दिया जाता है। बालापराधी को सर्वप्रथम सुधारालय में रखा जाता है। जब परिवीक्षा अधिकारी उसके सम्बन्ध में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत कर देता है और उस समय यदि यह अनुभव किया जाता है कि उसे किसी सुधार-विद्यालय में रखना आवश्यक है तभी उसे एक निश्चित समय तक इन विद्यालयों में रखा जाता है। विद्यालय छोड़ने के पूर्व उसे एक अनुमति-पत्र (लाइसेन्स) दिया

जाता है और उसे किसी कल्याणकारी अधिकारी के संरक्षण मे ही छोड़ा जाता है। प्राय: 18 वर्ष की उम्र मे बालक को स्कूल से रिहा कर दिया जाता है।

4. बोर्स्टल पाठशाला (Borstal School)—बोर्स्टल विद्यालयों में किशोर अपराधियो को रखा जाता है जिनकी आयु 15 से 21 वर्ष तक की होती है। अमेरिका मे बोर्स्टल नामक स्थान पर इस प्रकार के विद्यालयों की स्थापना की गई थी। इसी कारण इनका नाम 'बोर्स्टल विद्यालय' रखा गया है। इन स्कूलों में अपराधी किशोरों को अच्छे आचरण की शिक्षा व अनुशासन में रहने के प्रशिक्षण दिये जाते हैं। भारत में भिन्न-भिन्न राज्यों में इन विद्यालयों में अपराधियों को रखने का समय अलग-अलग है जो 2 वर्ष से लेकर 5 वर्ष तक का हो सकता है। ये बोर्स्टल विद्यालय दो प्रकार के हैं—

(1) बन्द विद्यालय जो किसी कारागार की बिल्डिंग मे होते है। जहाँ मुख्य द्वार खुला रहता है और दिनचर्या का कार्य चारदीवारी के बाहर किया जाता है तथा सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था होती है।

(2) खुले विद्यालय, जो एक साधारण भवन मे होते हैं। उनके चारों ओर कोई चारदीवारी नहीं होती।

इनमें औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाता है, जैसे—भवन निर्माण कार्य, इन्जीनियरिंग आदि की शिक्षा दी जाती है। अपराधी को दो या तीन वर्ष तक इन स्कूलो मे रखा जा सकता है। बाद मे किसी परिवीक्षा अधिकारी के साथ अपराधी को सम्बद्ध कर दिया जाता है। भारत में मद्रास, बगाल, मैसूर व बम्बई आदि मे ये स्कूल स्थापित हैं।

5. सहायक-गृह (Assistance Home)—इन गृहो मे बाल-अपराधियो को कुछ समय तक रखा जाता है। जहाँ समाज-कार्यकर्त्ता उनका अध्ययन करते हैं व उनकी प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हैं। ये गृह प्रमाणित स्कूलो के साथ सम्बद्ध रहते हैं।

6. पालक-गृह (Foster Home)—इन्हे 'पालक-गृह' इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनमे 10 वर्ष से कम आयु के बाल-अपराधियों को रखा जाता है। जिन बालकों को प्रमाणित स्कूलो मे नहीं भेजा जा सकता, उन्हें यहाँ रखकर सुधारा जाता है। इन गृहो को ऐच्छिक सस्थाएँ चलाती हैं और इन्हें सरकार द्वारा वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है।

7. सुधारालय (Reformatories)—जिन राज्यो में बाल अधिनियम नहीं हैं, उन राज्यों मे सुधारालय अधिनियम के अन्तर्गत सुधारालय स्थापित हैं, जहाँ बाल-अपराधियों को रखा जाता है। इन गृहो मे रहकर अपराधी कोई ऐसा प्रशिक्षण ले लेते हैं जिससे आगे चलकर वे कोई व्यवसाय कर सके। इनमे बालकों को दूषित वातावरण से अलग रखा जाता है तथा उनकी शिक्षा व प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया जाता है। वे बालापराधी जिन्हे लम्बी सजा मिली हो, इन गृहो मे 7 वर्ष तक रखे जा सकते हैं। हिसार, लखनऊ, सिकन्दराबाद, हजारीबाग व जबलपुर में इस प्रकार के गृह हैं जो सुधारात्मक कार्य कर रहे हैं।

8. परिवीक्षा छात्रावास (Probation Hostels)— जिन बालापराधियो को न्यायालय द्वारा परिवीक्षण पर रिहा किया जाता है और जिनके माता-पिता नहीं होते अथवा जिन बालकों का घर का वातावरण उनके रहने के अयोग्य समझा जाता है, उन बालकों के लिए परिवीक्षा छात्रावास की व्यवस्था की जाती है। इन छात्रावासो में रहने वालो को व्यवसाय करने, घूमने-फिरने एव नौकरी करने की पूरी स्वतन्त्रता होती है। केवल रात्रि को

वहाँ समय पर पहुँचना आवश्यक होता है। छात्रावास-अधिकारी इन लोगों की गतिविधियो पर दृष्टि रखता है।

9. स्वस्थ बालकों के लिए संस्थाएँ (Institutions for Healthy Children)—कुछ इस प्रकार की संस्थाएँ भी भारत मे स्थापित हैं जो उन बालकों को प्रशिक्षण देने का कार्य करती है, जिनके साथ परिवार के द्वारा अच्छा व्यवहार नहीं किया जाता अथवा क्रूरता का व्यवहार किया जाता है। इन संस्थाओं मे बाल-अधिनियमों के अन्तर्गत आने वाले बालकों को रखा जाता है। यह एक प्रकार के अनाथालय ही हैं। इनका प्रबन्ध जनता द्वारा किया जाता है।

10. उत्तर-संरक्षण संस्थाएँ (After-care Institutions)—जब कोई बाल-अपराधी किसी सुधार संस्था में 6 माह तक रहता है और उसका व्यवहार वहाँ अच्छा होता है, तो मुख्य जेल निरीक्षक ऐसे बच्चों को उत्तर-संरक्षण संस्था में भेज सकता है। यहाँ बच्चों के भोजन, निवास, स्वास्थ्य आदि का ध्यान रखा जाता है। उन्हें विभिन्न कार्य, जैसे—टोकरी बनाना, दरी बनाना, निवाड़ बनाना, रस्सी बनाना आदि सिखाये जाते हैं। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड इन संस्थाओ पर नियन्त्रण रखता है। एक परिवीक्षा अधिकारी इन बच्चों की देख-रेख करता है। इन संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य दण्ड की अवधि पूरी होने तक इन बालकों को संरक्षण प्रदान करना तथा इनकी पूरी देख-रेख करना है।

किशोर न्याय अधिनियम के स्थान पर नया किशोर न्याय बच्चों की देखभाल और संरक्षण अधिनियम, 2000 लाया गया है। इस नये अधिनियम में किशोर अपराधी तथा उपेक्षित बच्चे के बीच अन्तर किया गया है और इसमें बच्चों की उचित देखभाल एवं उनके सामाजिक तथा भावात्मक जीवन के सुधार का प्रयास किया जाता है। किशोर सामाजिक असमायोजन के निवारण तथा नियंत्रण की स्कीम के तहत अपराधी किशोरो की देखभाल हेतु 522 गृह संस्थाएँ सरकारी सहायता प्राप्त कर रही हैं।

उपर्युक्त पृष्ठों में बाल-अपराधियो के सुधार-कार्यक्रम का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अपराधी को इन संस्थाओ में रखकर सामान्य नागरिक बनाने का प्रयास किया जाता है। किन्तु बाल-अपराधी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न ही न हों, अर्थात् जो कारण बाल अपराधों को जन्म देते हैं, उन कारणों का पता लगाकर, उन पर नियन्त्रण किया जाए तो अपराधों की संख्या मे कमी हो सकती है। उदाहरण के लिए बाल-अपराध के अनेक कारण, जैसे—शारीरिक दोष, मानसिक हीनता, सांवेगिक अस्थिरता, निर्धनता, अनियन्त्रित यौन-इच्छाएँ, असुरक्षा, पारिवारिक परिस्थितियाँ, पड़ोस, विद्यालय, साथी-समूह एवं गन्दी बस्तियाँ आदि हो सकते हैं। यदि इन कारकों पर नियन्त्रण रखा जाए तो वातावरण मे सुधार लाया जा सकता है। अर्थात् इनके निरोधात्मक साधनो का प्रयोग कर बालापराध को जन्म देने वाले कारणों को दूर किया जा सकता है। इसके लिए निम्न साधनों का प्रयोग किया जा सकता है।

बाल-अपराध के निरोधात्मक साधन (Preventive Measures of Juvenile Delinquency)—बाल-अपराधो को रोकने के लिए कुछ साधनों को प्रयुक्त किया जा सकता है, जो निम्नलिखित हो सकते हैं—

1. परिवार—बाल-अपराधी अधिकांशत: परिवार में जन्मते हैं—यदि परिवार मे बालको का सामाजीकरण स्वस्थ वातावरण मे किया जाए, उनके स्वास्थ्य, आवश्यकताओं,

रुचियों, इच्छाओं एवं उचित शिक्षा आदि का पूरा ध्यान रखा जाए, तो बालक समाज-सम्मत आचरण करेंगे। अत: परिवार बालकों को अपराधी बनने से रोक सकता है।

2. मनोरंजनात्मक अभिकरणों की स्थापना—बाल-अपराधों को रोकने के लिए मनोरंजनात्मक केन्द्रो, जैसे—क्रीड़ा स्थल, नाट्यशाला, सामुदायिक केन्द्र व कठपुतली प्रदर्शन आदि की स्थापना की जा सकती है, जिससे बालक अपना खाली समय स्वस्थ मनोरंजन करके बिता सके। इससे उनमे अपराधी-भावना के विकास के लिए समय ही न मिलेगा और उनमें स्वस्थ भावना का विकास होगा।

3. सुविधाहीन बालकों को सहायता—सुविधाहीन बालकों को आर्थिक सुविधायें देकर यदि सहायता की जाए तो बाल-अपराधों में कमी की जा सकती है। इस कार्य के लिए विद्यालय, धर्म-संस्थान एवं अन्य अभिकरणों को प्रोत्साहित किया जा सकता है जिससे वे कम सुविधा प्राप्त बालको की सेवा करे।

4. बाल-निर्देशन केन्द्रों की स्थापना—कुसमायोजित एवं मानसिक रूप से विघटित बालको को उचित निर्देशन प्राप्त कराने के उद्देश्य से बाल-निर्देशन केन्द्र एवं मानसिक चिकित्सा केन्द्रो की स्थापना की जा सकती है। विद्यालय भी इस दिशा में निदानात्मक सुविधाये उपलब्ध कराकर बालको को उचित दिशा प्रदान करने में सहायक हो सकते हैं।

5. सम्बन्धित कार्मिकों का प्रशिक्षण—बाल-अपराधो को रोकने के उद्देश्य से अनेक सामाजिक संगठन कार्यरत हैं। उनको उचित प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है जिससे वे बालको की मनोवृत्तियो को समझकर माता-पिता तथा सम्बन्धित अभिकरणों को उचित परामर्श दे सके। इसके लिए सभी सदस्यो को जो बाल-अपराध-निवारण कार्य में सलग्न हैं उन्हे उचित प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक है।

इस कार्य के लिए सम्पूर्ण सरकारी अभिकरणों का भी सहयोग लिया जा सकता है। वे अभिकरण दल रूप मे भी इन कार्यो में सहायता कर सकते हैं। विद्यालय, धार्मिक संस्थान, अभिभावक-संघ, युवक संगठन, बाल एव बालिका स्काउट्स, सामाजिक कार्यकर्त्ता, वाई एम सी ए (यग-मैन-क्रिश्चियन-एसोसियेशन) एवं पुलिस-विभाग आदि सभी सम्मिलित रूप में बालको के कुसमायोजन के अवसरों में उन्हे प्रसन्न व सुरक्षित रखने से सम्बन्धित सुझाव उनके माता-पिता व अभिभावकों को दे सकते हैं।

6. प्रचार—अनेक प्रचार-कार्यक्रम, जैसे—रेडियो, दूरदर्शन व समाचार-पत्र-पत्रिकाएँ आदि भी बाल-अपराधो को रोकने में अपनी सशक्त भूमिका निभा सकती हैं। इन माध्यमों के द्वारा बाल-अपराध के कारणों की उचित व सटीक व्याख्या करके जन-सामान्य को जागृत किया जा सकता है जिससे अभिभावकगण अपराधी-व्यवहार के परिणामो को समझकर बालकों के प्रति सहृदयतापूर्ण आचरण करे।

इस प्रकार अनेक ऐसे कार्यक्रमों के द्वारा बाल-व्यवहारों को समझकर उन्हें सही दिशा में प्रोत्साहित किया जा सकता है और बालकों के सामाजिक वातावरण को स्वस्थ दिशा देकर बाल-अपराधो पर नियन्त्रण रखा जा सकता है।

अपराध और बाल-अपराध में अन्तर (Difference between Crime and Juvenile Delinquency)—अपराध और बाल–अपराध—दोनों ही समाज-विरोधी कार्य हैं, किन्तु दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं, जो निम्नलिखित हैं—

क्र. सं.	आधार	अपराध	बाल–अपराध
1	आयु	बड़ी उम्र के आयु के व्यक्तियों अर्थात् 21 वर्ष या उससे बड़ी आयु के व्यक्तियों द्वारा किए गए समाज-विरोधी कार्य अपराध कहलाते हैं।	कम आयु के बालकों अर्थात् 7 वर्ष से 20 वर्ष की आयु के बालकों व किशोरों द्वारा किए गए समाज-विरोधी कार्य बालापराध कहलाते हैं।
2.	अपराध की समझ	अपराधी अपराध के परिणाम को भली-भाँति जानकर ही अपराध करते हैं।	बाल-अपराधी अपराध के परिणाम को गहनता से नहीं समझ पाते।
3.	सुधार	अपराधी को सुधारना असम्भव नहीं तो कठिन कार्य अवश्य है।	बाल-अपराधी को समय रहते सुधारा जा सकता है।
4.	दण्ड	अपराधी को उसके अपराध के आधार पर कारावास का दण्ड दिया जाता है।	बाल-अपराधी को सुधारालय भेजा जाता है, कठोर दण्ड नहीं दिया जाता है।
5.	अपराध के कारण	अपराधियों के अपराध के कारणों का पता लगाना कठिन कार्य है।	बालापराधी के अपराधि के कारणों को जानना सरल होता है।
6.	उद्देश्य	अपराधी किसी भी प्रकार के अपराध को किसी विशेष उद्देश्य से करता है।	बालक किसी अपराध के पीछे कोई बड़ा उद्देश्य लेकर नहीं चलते।
7.	प्रभाव	अपराधों का प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है।	बालकों के अपराध उनकी वैयक्तिक प्रकृति के विघटन के कारण होते हैं।
8.	प्रशिक्षण	युवा अपराधी कभी-कभी सामूहिक अपराधों में बालकों का सहारा लेते हैं तथा कभी-कभी उन्हें इस कार्य के लिए प्रशिक्षित भी करते हैं।	बाल-अपराधों की प्रकृति सामान्य होती है जिसके लिए न किसी की सहायता ली जाती है, न ही किसी को प्रशिक्षित किया जाता है।

☐

अध्याय-19

श्वेतवस्त्रधारी अपराध
(White-Collar Crime)

अपराधशास्त्र में समाज से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जैसे—अपराध, बालापराध, अपराधी, दण्ड-व्यवस्था, संगठित अपराध, पेशेवर अपराध, क्षतिग्रस्त व्यक्ति और पुलिस आदि। 1939 तक अपराधशास्त्रियो की यह मान्यता रही कि अपराध मात्र निर्धन-अभावग्रस्त व्यक्ति ही करते है लेकिन इस ओर अपराधशास्त्रियों का ध्यान नहीं गया कि अपराध समाज के सम्पन्न लोग भी कर सकते हैं। अपराधशास्त्रियो ने अपराध की परिभाषा, अपराध के कारण व सिद्धान्त आदि का तो विवेचन किया लेकिन सदरलैण्ड पहले समाजशास्त्री हैं जिन्होने इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि समाज के सम्पन्न व उच्च वर्ग के लोग भी अपराध करते हैं जिसका अध्ययन करना आवश्यक है। इनके अपराध को आपने श्वेतवस्त्रधारी अपराध कहा है, जिसकी सविस्तार विवेचना प्रस्तुत है—

श्वेतवस्त्रधारी अपराध की परिभाषा (Definition of White-Collar Crime)

ई. एच. सदरलैण्ड (E H Sutherland) अपराध की अवधारणा 1939 मे प्रतिपादित की थी। आपने इस अवधारणा का प्रयोग ऐसे व्यक्तियो के द्वारा कानून तोड़ने के लिए किया था जो—(1) महत्त्वशील और सम्माननीय होते हैं, (2) जिनको समाज में उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है, और (3) जो अपनी व्यावसायिक गतिविधियों के द्वारा आर्थिक उद्देश्यों के लिए कानून का उल्लंघन करते है। सदरलैण्ड के बाद अन्य अपराधशास्त्रियों ने भी इस अवधारणा को परिभाषित किया जो निम्नलिखित हैं—

मार्शल क्लिनार्ड (Marshall Clinard) के अनुसार श्वेतवस्त्रधारी अपराध कानून का वह उल्लघन है जो मुख्यत: व्यापारियो, पेशेवर व्यक्तियो एवं राजनीतिज्ञो जैसे समूहों में उनके व्यवसायो के सम्बन्ध में पाया जाता है।

बार्न्स और टीटर्स (Barnes and Teeters) ने श्वेतवस्त्रधारी अपराध को शंकास्पद आचार नीति वाले व्यापारिक लेन-देन (सौदा) कहा है।

फ्रैन्क ई. हारटुंग (Frank E Hartung) ने लिखा है कि श्वेतवस्त्रधारी अपराध व्यापार से सम्बन्धित ऐसे कानून का उल्लंघन है जो एक कम्पनी, कारखाने, फर्म एवं उसके एजेंटों द्वारा फर्म के व्यापार चलाने के लिए किया जाता है।

श्वेतवस्त्रधारी अपराध के आधार (Bases of White-collar Crime)—सदरलैण्ड ने श्वेतवस्थारी अपराध को निम्न तीन आधारों के अनुसार अपराध बताया है—

(1) कानून इन अपराधो को जनसाधारण के लिए हानिकारक मानता है।

(2) इस अपराध के लिए उपयुक्त दण्ड निर्धारित होते हैं, और

(3) इस अपराध में पाये जाने वाले व्यवहार इच्छानुरूप तथा स्वेच्छाचारी होते है। जैसे गबन, कम तोलना, व्यापारिक संस्थाओं में आय-व्यय में भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी आदि।

श्वेतवस्त्रधारी अपराध के प्रभाव (Effects of White-collar Crime)—सदरलैण्ड ने श्वेतवस्त्रधारी अपराध के प्रभाव निजी सम्पत्ति और सामाजिक संस्थाओं के संदर्भ में निम्नलिखित बताये हैं—(1) इस अपराध से समाज को वित्तीय हानि बहुत अधिक होती है, जैसे लाखों रुपयो की हानि, (2) श्वेतवस्त्रधारी अपराध अविश्वास की भावना को फैलाता है जिससे जन सामान्य का मनोबल कम हो जाता है। (3) यह अपराध समाज में सामाजिक उल्लंघन पैदा करता है और उसमें वृद्धि करता है।

श्वेतवस्त्रधारी अपराधियों को न्यायालय निम्न कारणो से उपयुक्त दण्ड नही दे पाता—(1) श्वेतवस्त्रधारी अपराधियों के प्रति अधिकतर न्यायालय बहुत उदार होते हैं। (2) इस प्रकार के अपराधियों के लिए कानून में प्रभावशाली दण्ड देने का अभाव होता है। (3) श्वेतवस्त्रधारी अपराधी अपने प्रभाव के कारण समय-समय पर कानून को योजनाबद्ध तरीके से प्रभावहीन बना देते हैं।

श्वेतवस्त्रधारी अपराधी (White-Collar Criminal)—सदरलैण्ड ने श्वेतवस्त्रधारी अपराधी निम्नलिखित तीन बताये हैं—

(1) वे अपराधी जिनको न्यायालय द्वारा दण्ड दिया गया है।

(2) वे अपराधी जो सिफारिश व गैर कानूनी प्रभाव आदि के अभाव में दण्डित किए जाते हैं।

(3) वे अपराधी जिनको विशेष नियुक्त आयुक्त ने दोषी माना हो।

काल्डवेल (Caldwell) ने सदरलैण्ड के उपर्युक्त विचारो का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि आपके विचार परीक्षणात्मक नहीं है जिसके निम्न दो कारण हैं—(1) किसी व्यक्ति को तब तक अपराधी के रूप मे घोषित नहीं किया जा सकता जब तक कि न्यायालय द्वारा उसे दण्ड नहीं दे दिया जाता, (2) ऐसा भी देखा गया है कि न्यायालय कभी-कभी निर्दोष व्यक्तियो को भी दण्ड दे देता है।

विभेदक साहचर्य सिद्धान्त (Differential Association Theory)—सदरलैण्ड ने श्वेतवस्त्रधारी अपराध के सम्बन्ध मे 'विभेदक साहचर्य' पर प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि श्वेतवस्त्रधारी अपराध के लिए तीन प्राक्कल्पनाएँ हैं—(1) श्वेतवस्त्रधारी अपराध उसी प्रकार से सीखा जाता है जिस प्रकार से कोई अन्य व्यवस्थित अपराध सीखा जाता है। (2) यह अपराध उन व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्पर्कों के द्वारा सीखा जाता है, जो पहले से ही श्वेत वस्त्रधारी अपराध का अनुसरण या व्यवहार करते हैं। (3) जो लोग श्वेतवस्त्रधारी अपराध सीखते हैं वे लोग अपने आप को विधिपालक व्यवहार से सामान्यतया दूर रखते हैं।

सदरलैण्ड ने लिखा है कि निम्न स्तर के अपराधियो और श्वेतवस्त्रधारी अपराधियों में सम्पर्कों की प्रक्रिया में समानता होती है। आपने लिखा कि अधिकांशतः निम्न वर्ग के अपराधी अपना जीवन अपकृष्ट पड़ौस और परिवार मे शुरू करते हैं जहाँ वे अपराधियो के

सम्पर्क मे आते हैं और उनके साथ अपराध से सम्बन्धित प्रविधियाँ और गतिविधियाँ सीख जाते हैं। इसी प्रकार से जो लोग श्वेतवस्त्रधारी अपराधी बन जाते हैं वे भी अपना जीवन अच्छे पडौस और अच्छे परिवार के साथ शुरू करते हैं। महाविद्यालयी शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं। इसके बाद व्यापार शुरू कर देते है, जहाँ पर कानून का उल्लंघन एक अच्छा प्रतिमान माना जाता है। इस वातावरण में अपराध को एक लोकरीति और प्रचलन माना जाता है।

निम्न स्तर के अपराधी और उच्च स्तरीय श्वेतवस्त्र अपराधी दोनों में ही निम्न समानताये मिलती हैं, ये दोनो ही प्रकार के अपराधी नई परिस्थितियों में अनुकूलन कर लेते हैं, जैसे लोक समाज मे नई परिस्थितियो के अनुसार अपने को ढालते हैं। दोनो ही प्रकार के अपराधी उच्च और निम्न अपराधियो के सम्पर्क मे आकार अपराध सीखते हैं उनके सीखने की प्रक्रिया मे समानता है। एक समानता यह भी है कि श्वेतवस्त्रधारी अपराधियो के लिए वकील और न्यायविद् कार्य करते हैं तो निम्नवर्गीय अपराधियो के लिए वही कार्य पेशेवर अपराधी करते है।

मूल्यांकन—सदरलैण्ड के विभेदक साहचर्य सिद्धान्त मे निम्न दोष एवं सीमायें देखी जा सकती हैं। ऐसा देखा गया है कि बहुत से व्यापारी और व्यवसायी अनेक अनैतिक युक्तिकरणों, अवैध पद्धतियों एवं गैर कानूनी प्रविधियो की जानकारी रखते हुए भी बेईमानी क्यो नही करते हैं। एक मत यह भी है कि व्यापार मे वो ही लोग टिक पाते हैं जो अवैधता सम्बन्धी जानकारी रखते है और व्यवहार मे लाते है। लेकिन कुछ व्यापारी प्रचलित सामाजिक मूल्यों के प्रति अपने विश्वास और धारणा के कारण अवैध कार्य नहीं करते हैं।

क्वीने (Quinney) का अध्ययन—क्वीने ने खुदरा औसत विक्रेताओं का अध्ययन किया। उन्होने विभिन्न सम्पर्कों को विभिन्न अभिमुखीकरण की संज्ञा दी और औसत विक्रेताओं को निम्न तीन श्रेणियो मे बाँटा—(i) व्यापार औसत विक्रेता, (ii) व्यावसायी औसत विक्रेता, (iii) व्यवसायी व्यापार औसत विक्रेता आदि। आपने अपने अध्ययन मे पाया कि व्यापार अभिमुखी औसत विक्रेता सर्वदा धन से सम्बन्धित लाभ प्राप्त करना अपना उद्देश्य मानते थे। दूसरी ओर व्यवसायी औसत विक्रेता व्यापार के व्यवसायी नियमो का पालन करने मे रुचिशील थे। पहले और दूसरे औसत विक्रेताओ मे तुलना करने से स्पष्ट होता है कि व्यापार अभिमुखी औसत विक्रेता कानून का अधिक उल्लंघन करते है इससे निष्कर्ष निकलता है कि सदरलैण्ड का विभेदक साहचर्य का सिद्धान्त सभी प्रकार के श्वेत वस्त्रधारी अपराधियो का वर्णन एव व्याख्या नहीं करता है।

योगदान (Contribution)—सदरलैण्ड के द्वारा श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा के प्रतिपादन से पूर्व इस ओर किसी भी अपराधशास्त्री का ध्यान नहीं गया। आपसे पहले अपराधशास्त्री चोरी, डकैती, लूटपाट, हत्या आदि परम्परागत अपराधों के अध्ययनों तक ही सीमित थे। सदरलैण्ड की इस नवीन अवधारणा 'श्वेतवस्त्रधारी अपराध' के प्रतिपादन और विकास के बाद ही अपराधशास्त्रियो का ध्यान उच्च वर्ग के अपराधियों और व्यवसायी अपराधियो के क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन की ओर आकर्षित हुए। निष्कर्षतः यह कहा जाता है कि सदरलैण्ड ने अपराधशास्त्र मे इस अवधारणा को प्रतिपादित करके

उल्लेखनीय योगदान किया है। इस योगदान की कुछ सीमायें और कमियाँ हैं, जो निम्नलिखित हैं—

आलोचनाएँ (Criticism)—सदरलैण्ड द्वारा प्रतिपादित श्वेतवस्त्रधारी अपराध की धारणा की आलोचना काल्डवेल, न्यूमैन, जार्ज बोल्ड, वाल्टर रेकलेस, टैप्पन आदि ने की है। **काल्डवेल** के अनुसार यह वैधानिक शब्द नहीं है। इस अवधारणा के द्वारा यह तो स्पष्ट हो जाता है कि श्वेतवस्त्रधारी अपराध क्या है? लेकिन यह विस्तृत व्याख्या नहीं करता है। इन्होंने यह भी लिखा है कि यह अवधारणा सामाजिक और आर्थिक स्तर के अपराध को स्पष्ट करता है लेकिन इससे सम्बन्धित वर्ग की सदस्यता को निश्चित करने के मापदण्ड प्रदान नहीं किए गए हैं अतः श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा के द्वारा अपराध की सुनिश्चित मात्रा को नहीं जाना जा सकता है।

न्यूमैन ने श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि कुछ ऐसे व्यवसाय हैं जो श्वेतवस्त्रधारी व्यवसाय नहीं हैं और उच्च वर्ग के नहीं हैं। लेकिन उनमें व्यावसायिक अपराध देखे जा सकते हैं। जैसे दूध में पानी मिलाना, किसान का पैदावार में बेईमानी करना, कम तौलना, घर के उपकरणों को अनावश्यक खराबी बताकर पैसा ऐंठना आदि। न्यूमैन का कहना है कि ऐसे व्यवसायों को भी ऐसे अपराधों में रखा जाना चाहिए।

जार्ज बोल्ड ने लिखा है कि श्वेतवस्त्रधारी अपराध की कोई भी कानूनी और औपचारिक परिभाषा उपलब्ध नहीं होने के कारण यह अवधारणा विवादास्पद, अस्पष्ट और शंकायुक्त है।

वाल्टर रेक्लेस ने कहा है कि श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा में अपराधशास्त्र से सम्बन्धित कोई भी विशिष्ट तत्व या लक्षण विद्यमान नहीं है।

टेटपन ने लिखा है कि अपराधशास्त्रियों के बीच इस अवधारणा के सम्बन्ध में सहमति नहीं है। इसकी कोई कानूनी परिभाषा नहीं है। इसलिए इस अवधारणा को त्याग देना चाहिए। निष्कर्षतः क्वीने का सुझाव है कि श्वेतवस्त्रधारी अपराध के स्थान पर 'व्यावसायिक अपराध' संज्ञा अधिक उपयुक्त रहेगी।

अवधारणा की उपयोगिता (Utility of Concept)—सदरलैण्ड की श्वेतवस्त्रधारी अपराध की अवधारणा का प्रयोग भारतवर्ष में अनेक अपराधियों को पकड़ने, दण्ड देने आदि के लिए किया जा सकता है। इस अवधारणा का प्रयोग व्यवहार के द्वारा तस्करी, नकली दवाइयों का उत्पादन, बीमा, धोखाधड़ी, गबन, काला बाजारी, आयकर में चोरी, सरकारी, अर्द्ध सरकारी और गैर सरकारी कारनामे, घूसखोरी, गुप्त-सचय, झूठे विज्ञापन आदि से सम्बन्धित अपराधियों को पकड़ने में किया जा सकता है। इसका प्रयोग व्यापारियों, राजनीतिज्ञों, अभियंताओं, वकीलों, डॉक्टरों आदि को पकड़ने के लिए भी किया जा सकता है। ऐसे अपराधियों को पकड़कर कठोर दण्ड एवं भारी-से-भारी जुर्माना लगाकर समाज से इस अपराध का उन्मूलन कर देना चाहिए।

❑

अध्याय-20

भ्रष्टाचार
(Corruption)

जैसे-जैसे देश विकासमान हो रहा है, वैसे-वैसे अनेक समस्याएँ सामने आती जा रही हैं। प्राचीन समय में देश छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था। सभी मे आमने-सामने के सम्बन्ध कायम थे। इस पारस्परिक घनिष्ठता के परिणामस्वरूप में कोई गम्भीर समस्याएँ भी न थीं क्योंकि उस समय अधिकारियों के अधिकार-क्षेत्र सीमित थे। राजनैतिक पद उच्च वर्ग के लोगों के हाथ में थे। अन्य लोगों के पास सर्वोच्च सत्ता न होने के कारण वे लोग पथ-भ्रष्ट न थे अतः कुछ लोग ही समस्याओं से ग्रसित थे। आज स्थिति बदल चुकी है। हर व्यक्ति उच्च पद प्राप्त करना चाहता है, अधिकाधिक धन प्राप्त करना चाहता है और जब सामाजिक नियमों पर चलकर व्यक्ति को लाभ की प्राप्ति नहीं होती तो वह समाजविरोधी रास्ते अपनाता है—इस प्रकार सामाजिक नियमों व आचरण का चेतन रूप में उल्लंघन करना ही भ्रष्टाचार कहलाता है। भ्रष्टाचार वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए व व्यक्तिगत लाभ के लिए दूसरों के हितों की परवाह न करता हुआ अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है। रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, मिलावट, चीजों के निर्माण मे घटिया सामान का प्रयोग करना व पक्षपात करना आदि अनेक उदाहरण ऐसे हैं, जो व्यक्ति को अपने मार्ग से गिरा देते हैं, उसे पथ-भ्रष्ट कर देते हैं, इसी का नाम भ्रष्टाचार है।

वर्तमान समय में भ्रष्टाचार हमारे व्यवहार का एक अंग बन गया है। देश के प्रशासनिक अधिकारी व सत्ताधारी व्यक्तियों के व्यवहार, विचार एवं कार्यक्रमों में यह समा गया है। जो नेता लोग स्वच्छ प्रशासन, राष्ट्रीय चरित्र, सामाजिक समानता या समाजवाद व देश भक्ति आदि के नारे लगाते हैं, भाषणों में इसकी दुहाई देते हैं, बड़े-बड़े नेताओं के पद-चिन्हों पर चलने का आग्रह करते हैं, वे सब बाह्याडम्बर मात्र हैं, ये लोग न तो इस भ्रष्टाचार जैसी भयावह समस्या के प्रति जागरूक है, न स्वय इससे विमुक्त ही हैं। आज स्थिति यह हो गई है कि भ्रष्टचार को रोकना भारतीयों की नियति मे ही नहीं रह गया है। ऐसा नहीं है कि भ्रष्टाचार आज की ही समस्या है। प्राचीन समय में भी भ्रष्टाचार विद्यमान था, यद्यपि उसका रूप भिन्न था—'उत्कोच' के उदाहरण प्राचीन समय में खूब मिलते हैं किन्तु आज विभिन्न स्तरों पर इसका उन्मुक्त बोलबाला है। भ्रष्टाचार आज की निकृष्ट समस्या है। इसे पूर्णरूप से जानने के लिए 'भ्रष्टाचार' शब्द का अर्थ, परिभाषा आदि पर विचार करना आवश्यक है।

भ्रष्टाचार का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Corruption)

भ्रष्टाचार के अनेक रूप समाज में व्याप्त हैं और सभी वर्ग, जैसे—राजनीतिज्ञ, अधिकारी वर्ग, पुलिसकर्मी, व्यापारी वर्ग, उद्योगपति व अन्य नागरिक आदि इसमें सम्मिलित

हैं जो व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से कानून का उल्लंघन करते हैं अथवा भ्रष्ट साधनों से जीवन व्यतीत करते हैं।

भ्रष्टाचार का शाब्दिक अर्थ—भ्रष्ट + आचार अथवा आचरण अर्थात् आचरण से गिरा हुआ है। गलत साधनों से जीवनयापन करना भ्रष्टाचार है।

1. **भ्रष्टाचार विरोधी समिति, 1962** के अनुसार, "शब्द के व्यापक अर्थ में, एक सार्वजनिक पद अथवा जन-जीवन मे उपलब्ध एक विशेष स्थिति के साथ सलग्न शक्ति तथा प्रभाव का अनुचित स्वार्थपूर्ण प्रयोग ही भ्रष्टाचार है।"

2. **रॉबर्ट सी. ब्रुक्स** के अनुसार, "कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए जानबूझकर प्रदत्त कर्त्तव्य का पालन न करना राजनैतिक भ्रष्टाचार है। भ्रष्टाचार सदैव कभी किसी स्पष्ट अथवा अभीष्ट लाभ के लिए कानून एवं समाज के विरोध में किया जाने वाला कार्य है।"

3. **पी. एस. मुहार** के शब्दों में, "भ्रष्टाचार कई रूप धारण कर सकता है। उसका आशय राजनैतिक या अन्य प्रकार के किसी अनुचित प्रभाव का उपयोग सार्वजनिक कार्यतंत्र अधिकारी पर करना मात्र भी हो सकता है अथवा यह कुछ अदृष्ट पारिवारिक या जातिगत बन्धनों का परिणाम भी हो सकता है और यह कुछ आर्थिक प्रलोभनों के कारण भी हो सकता है। इसका स्वरूप कोई भी हो सकता है, किन्तु इसका आवश्यक तत्त्व उचित या साधारण प्रक्रिया को बाहरी ओर से प्रभावित करने का प्रयास होता है। इसका परिणाम अल्प होता है, भले ही यह प्रमुख सुधार कार्य-साधन या पृथक्करण की दिशा मे ही क्यो न हो।"

4. **जे. पी. मान्टीरो** के अनुसार, भारतीय समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार की परिभाषा निम्न है, "भ्रष्टाचार वह कार्य है जिसमें अधिकारसम्पन्न व्यक्ति अपने पद, स्तर या प्रभाव का प्रयोग अनुचित लाभ की प्राप्ति के लिए अनुपयुक्त एवं स्वार्थपूर्ण तरीके से करता है।"

5. **फ्रीमैन एवं जोंस** के शब्दों मे, "वे समस्य कार्य जो लोकसेवकों, प्रशासनिक कर्मचारियो तथा आम नागरिको की ईमानदारी एवं सत्य-निष्ठा को नष्ट करते हैं और प्रभुता एवं अधिकारसम्पन्न व्यक्तियों को अपने सम्मान, कर्त्तव्य-परायणता तथा निष्ठापूर्वक दायित्व निभाने की भावना को त्याग कर घूस एवं अन्य प्रकार के अनुचित लाभो को प्राप्त करने का अवसर या प्रेरणा प्रदान करते हैं, भ्रष्टाचार के अन्तर्गत आते हैं।"

बृजमोहन ने अपनी कृति "इन्डियाज सोशियल प्रोब्लम्स" मे भ्रष्टाचार में अग्रलिखित तत्त्वो को सम्मिलित किया है—

(1) भ्रष्टाचार में व्यक्ति किसी-न-किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है अत: इसमें स्वार्थ-पूर्ति के लिए लघु मार्ग अपनाया जाता है।

(2) इसमें रिश्वत दी जाती है जो नकद या वस्तु के रूप में होती है।

(3) इसमे अयोग्य के प्रति पक्षपात और योग्य के प्रति अन्याय होता है इससे समाज को अन्तत: हानि पहुँचती है।

(4) भ्रष्टाचार में पैसा उद्देश्य भी है और साधन भी।

(5) यह लेन-देन के सिद्धान्त पर आधारित है।

(6) भ्रष्टाचार में कानून की अवहेलना की जाती है। कभी-कभी कानून के विपरीत न होने पर भी न्याय एवं नैतिकता के विरोध में आचरण भ्रष्टाचार होता है।

भारत में भ्रष्टाचार के कारण
(Causes of Corruption in India)

भ्रष्टाचार के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. मूल्यों में परिवर्तन (Change in Values)—वर्तमान भारत में, विशेष रूप से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, व्यवहार करने के मूल्यों में अनेक परिवर्तन आए हैं। इन परिवर्तनों मे एक परिवर्तन भ्रष्टाचार के प्रति भी आया है। पहिले भ्रष्टाचार को पाप समझा जाता था लेकिन अब इसे समाज इतना बुरा नहीं समझता है जितना कि पहिले समझता था। आजकल आर्थिक समृद्धि सर्वोपरि मूल्य है। भ्रष्टाचार के वर्तमान स्वरूप का प्रमुख कारण समाज का आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण है। समाज में उसकी प्रतिष्ठा तथा सम्मान है जिसके पास अपार धन है। समाज के लोग इस बात पर ध्यान नहीं देते कि यह धन आया कहाँ से है। सांस्कृतिक मूल्य और संस्थागत साधन कोई नहीं देखता। एक ही उद्देश्य है—अधिक-से-अधिक धन-लाभ—जो भ्रष्टाचार को बढ़ावा देता है।

2. मुद्रा-अर्थव्यवस्था का प्रसारण (Expansion of Cash Economic System)—जब से अर्थव्यवस्था मे नकद मुद्रा द्वारा विनिमय होने लगा है तब से लोगों को लेन-देन करना सरल हो गया है। भ्रष्ट लोग अनुचित तरीकों से जितना चाहे धन एकत्र कर सकते हैं तथा उसे निजी स्तर पर सरलता से गुप्त रख सकते हैं। कागजी मुद्रा और बैंक व्यवस्था ने भ्रष्टाचार को जितना बढ़ाया है उतना और किसी ने नहीं बढ़ाया है। पहिले धन को सुरक्षित रखना कठिन था, अब सरल हो गया है।

3. प्रजातान्त्रिक सरकार की विकृत व्यवस्था (Distorted System of Democratic Government)—प्रजातन्त्र मे सरकार अस्थाई होती है। चुनाव जीत जाने पर सरकार बना ली जाती है। हार जाने पर दूसरी सरकार आ जाती है। चुनाव में बहुत धन खर्च होता है। कर्मचारी स्थाई होते हैं। चुने हुए जनता के प्रतिनिधि अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं—सरकारी कर्मचारी उनकी तुलना में कम महत्त्वपूर्ण। अपना प्रभाव दिखाने के लिए काम ठीक से नहीं करते हैं। जनता काम करवाने के लिए भ्रष्ट साधन अपनाती है। उससे भ्रष्टाचार फैलता है। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में कौन किसके प्रति आज्ञाकारी है, यह कहना अनिश्चित होता है। इससे शासनतन्त्र मे भ्रष्टाचार फैल जाता है। इसी कारण एकतंत्रीय सरकार की तुलना में प्रजातान्त्रिक सरकार में भ्रष्टाचार अधिक पाया जाता है।

4. राजनीति का विस्तृत क्षेत्र (Expanded Area of Politics)—विद्वानों का कहना है कि जब शासन का कार्य-क्षेत्र छोटा समाज होता है तो भ्रष्टाचार कम या नहीं के बराबर होता है लेकिन जब शासन व्यवस्था का कार्य क्षेत्र विस्तृत या विशाल होता है तो भ्रष्टाचार उसी अनुपात में बढ जाता है जो निम्न प्रकार से होता है—छोटे समुदाय में लोग कम होते हैं। एक-दूसरे को जानते है। सभी को समुदाय तथा व्यक्तियो की आवश्यकताओं तथा इच्छाओं का ज्ञान होता है। समस्या आने पर सभी सामूहिक रूप से विचार-विमर्श करते हैं। समाधान भी मिलकर करते हैं। सरकार तथा कर्मचारियों और अधिकारियो को वही कार्य करना होता है जो सबकी सामूहिक इच्छा के अनुसार निश्चित किया जाता है।

अब राजनैतिक कार्य बहुत बढ़ गए हैं। जनसंख्या बहुत अधिक हो गई है। लोगों की इच्छाएँ और आवश्यकतायें भी बहुत अधिक हो गई हैं। नियम और कानून-कायदे काफी बन

गये हैं। व्यक्ति के पास समय नहीं है कि वह कार्यों को धीरजपूर्वक सम्पन्न होने दे। ऐसी स्थिति में भ्रष्ट साधन अपनाकर काम करवाये जाते हैं। सरकारी तन्त्र कुछ लोगों के हाथ में है। उच्च अधिकारी, मन्त्री, सांसद आदि अपने प्रभाव से स्वार्थ पूर्ण करके मनमाना धन प्राप्त कर लेते हैं। सरकार द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं का दुरुपयोग कुछ लोग करते हैं। जनसाधारण उससे वंचित रह जाता है। यह सब भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं।

5. व्यापारियों और राजनीतिज्ञों की साँठगाँठ (Manipulation of *Businessmen and Politicians)*—*व्यापारी और बड़े-बड़े नेता परस्पर मिलजुल कर धन* कमाते हैं। समाज के प्रतिनिधियों, जैसे—मन्त्री, मुख्यमन्त्री, प्रधानमन्त्री आदि के हाथ में देश की सत्ता होती है। चुनाव में ये लोग बड़े-बड़े व्यापारियों से चन्दा माँगते हैं। उसके बदले में भ्रष्ट साधनों से नेता लोग व्यापारियों को लाभ पहुँचाते हैं। यह पापपूर्ण चक्र भ्रष्टाचार को निरन्तर बढ़ाता तथा फैलाता है। जितने अधिक चुनाव होंगे उतना ही अधिक भ्रष्टाचार फैलेगा। व्यापारी जितना अधिक नेताओं को चन्दा देगा, भ्रष्टाचार उतना ही अधिक फैलेगा।

6. भ्रष्टाचार के नियन्त्रण का अभाव (Lack of Control on Corruption)—भ्रष्टाचार को रोकने तथा नियंत्रण का कोई संगठन ऐसा नहीं है जो वास्तव में भ्रष्टाचार का उन्मूलन करे। *अगर कोई ईमानदार कर्मचारी अथवा अधिकारी है तो उसे* ईमानदारी से काम नहीं करने दिया जाता है। उसका स्थानान्तरण कर दिया जाता है अथवा झूठा अपराध लगा कर निलम्बित कर दिया जाता है। सरकार ने भ्रष्टाचार को नियन्त्रित करने के जितने संगठन बनाये हैं वे एक से बढ़कर एक भ्रष्टाचार के संगठन बन गए हैं। अब तो पुलिसकर्मी कहते हैं हम क्या बेईमानी करते हैं, इससे कहीं अधिक तो आयकर विभाग, कस्टम विभाग, एक्साइज विभाग आदि करते हैं। किसको क्या क्या कहा जाए। एक विद्वान का कहना है—गरीबी भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है। भ्रष्टाचार गरीबी को दूर नहीं होने देता है। इस प्रकार भारत कभी गरीबी और भ्रष्टाचार से छुटकारा नहीं पा सकेगा।

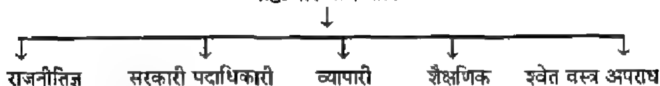
7. गुन्नार मिर्डल ने भ्रष्टाचार के निम्न कारण बताए हैं—

1. व्यक्ति परिवार, नातेदारी तथा जाति के हितों का ध्यान रखता है और सामुदायिक हितों को अनदेखा कर देता है तो भ्रष्टाचार फैलता है। भाई-भतीजावाद भ्रष्टाचार को बढावा देते हैं।
2. जब देश उपनिवेशवाद से स्वराज्य प्राप्त करता है तो धन प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा के कारण भ्रष्टाचार पनपता है।
3. प्रशासकों द्वारा निर्णय का अधिकार प्राप्त होना तथा उनका दुरुपयोग भ्रष्टाचार को फैलाता है।
4. कम-वेतन से भरण-पोषण नहीं होने के कारण कर्मचारी भ्रष्ट साधनों से धन एकत्र करते हैं।
5. भ्रष्टाचार एक पापपूर्ण चक्र है जो भ्रष्टाचार को जन्म देता है। प्रत्येक छोटे अधिकारी को अपने से बड़े अधिकारी को रिश्वत (घूँस) देनी पड़ती है तब काम निकल पाते हैं।

भ्रष्टाचार के अन्य कारण—चरित्र तथा नैतिकता का पतन, अशिक्षा, संग्रहवृत्ति का विस्तार, बेरोजगारी, निर्धनता, प्रशासकीय ज्ञान का अभाव, विकास के असमान अवसर आदि हैं।

भारत में भ्रष्टाचार के प्रकार (Types of Corruption in India)—भारत में पाये गये विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचारों को विद्वानों ने प्रमुख रूप से निम्न पाँच प्रकारों से वर्गीकृत किया है। यह वर्गीकरण भ्रष्टाचार करने वाले के आधार पर किया गया है, जो निम्न प्रकार से है—

भ्रष्टाचार के प्रकार



(1) राजनैतिक भ्रष्टाचार (Political Corruption)—भारत में राजनैतिक भ्रष्टाचार के अन्तर्गत वे भ्रष्टाचार रखे गए हैं जो राजनीतिक दल तथा उनके नेता करते हैं। दलों तथा नेताओं द्वारा मत प्राप्त करने के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करते हैं। उद्योगपतियों एवं व्यापारियों से चन्दा लेना, बदले में परमिट देना, राजनैतिक संरक्षण प्रदान करना, वस्तुओं का संग्रह करने की छूट देना, मूल्य वृद्धि करने की छूट देना आदि हैं। दूसरी ओर सरकारी कर्मचारियो के चयन मे कम योग्य प्रतियोगी को प्राथमिकता देना, स्थानान्तरण करना, निलम्बित करना तथा भ्रष्ट तरीकों को प्रोत्साहन देना पड़ता है, तभी वे सत्ता में बने रहते हैं।

(2) सरकारी पदाधिकारी और भ्रष्टाचार (Corruption and Government Officers)—भारत में पदाधिकारी भी अनेक प्रकार से भ्रष्टाचार मे लिप्त हैं। मुख्य रूप से ये अधिकारी ठेका देने, पदो पर चयन करने, परमिट देने, अधीनस्थ कर्मचारियों का स्थानान्तरण करने जैसे भ्रष्टाचार करते हैं। इन लोगों द्वारा किस प्रकार का भ्रष्टाचार किया जाएगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि अधिकारी किस पद तथा विभाग मे है तथा वहाँ पर किस प्रकार के कार्य तथा निर्णय लिए जाते हैं। पुलिस विभाग, आयकर विभाग, कस्टम विभाग, सीमान्त क्षेत्र पर तैनात सुरक्षा कर्मी, बैंक आदि भिन्न-भिन्न विभाग हैं, इनमे भ्रष्टाचार के साधन, विधियों तथा मात्रा का भी अन्तर मिलता है।

(3) व्यापार में भ्रष्टाचार (Corruption in Business)—भारत के व्यापारिक क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार का कोई आदि-अन्त या ओर-छोर नहीं है। व्यापार मे भ्रष्टाचार के तरीके, साधन, स्तर, मात्रा, प्रकार का पार पाना कठिन है। मिलावट करना, कम तोलना, वस्तुओ का संग्रह करना, उत्सवो, त्यौहारों आदि मे कृत्रिम कमी पैदा करना, मूल्य वृद्धि करना, चोरी-छिपे माल को अधिक मुनाफे में बेचना, मिलावट करना, कालाबाजारी करना, आय छिपाना, कर की चोरी करना, झूठे परमिट प्राप्त करके कालाबाजारी करना, राजनैतिक नेताओ, सरकारी पदाधिकारियो को रिश्वत देकर काले धन्धे करना आदि कुछ उदाहरण हैं जो व्यापारी वर्ग करता है।

(4) शैक्षणिक भ्रष्टाचार (Educational Corruption)—भारत की शिक्षण संस्थाओ मे भी विभिन्न प्रकार से भ्रष्टाचार व्याप्त है, जैसे—ट्यूशन करना तथा कक्षा मे नहीं

पढ़ाना, प्रश्न-पत्र परीक्षा से पहिले परीक्षार्थियों को पैसे लेकर बाँटना, परीक्षा कक्ष में नकल करने देना, अंक बढ़ाना, उत्तर-पुस्तिकाओं के ऊपर के कवर बदल देना, पूरे वेतन पर शिक्षकों से हस्ताक्षर करवा कर कम वेतन देना आदि उदाहरण हैं।

(5) श्वेत-वस्त्र अपराध और भ्रष्टाचार (White-Collar Crime and Corruption)—सर्वप्रथम सदरलैण्ड ने अपने एक लेख तथा पुस्तक मे श्वेत-वस्त्र अपराधियों पर प्रकाश डाला तथा बताया कि इनके अपराध गम्भीर होते हुए भी ये पकड़े नहीं जाते हैं। ये कानून तोड़ते हैं तथा कानून की परिभाषा अपने स्वार्थ के अनुसार करते तथा करवा लेते हैं। इनके द्वारा किए गए अपराध निम्न प्रकार के होते हैं—पेटेण्ट, ट्रेड मार्क और कापी राइट का उल्लंघन, व्यापार में प्रतिरोध, विज्ञापन मे त्रुटिपूर्ण प्रतिनिधित्व, श्रमिको से अनुचित कार्य, वित्तीय मामलों में हेरा-फेरी, ट्रस्ट-धोखा, युद्ध के समय लगाये गये प्रतिबन्धो को तोड़ना आदि। ये लोग भी बड़े व्यापारियों के समान अपराध योजनाबद्ध विधि से करते हैं। श्वेत-वस्त्र अपराधों के अन्य उदाहरण—गुप्त संचय, मुनाफाखोरी, आर्थिक नियमो का उल्लंघन, अनाचार, चुनाव-अपराध आदि हैं। ये सब अपराध भ्रष्टाचार के वे प्रकार तथा उदाहरण हैं जो श्वेत-वस्त्रधारी करते हैं। भारत में इस प्रकार के भ्रष्टाचारों की कमी नहीं है।

भ्रष्टाचार के उदाहरण
(Examples of Corruption)

आज के समय में भ्रष्टाचार सर्वत्र व्याप्त है जिसमें राजनैतिक भ्रष्टाचार सर्वोपरि है। आज हमारे अधिकांश नेता आकण्ठ भ्रष्टाचार मे निमग्न हैं। जहाँ कुछ समय पूर्व बोफोर्स घोटाले का मुद्दा था वहीं आज अनेक मामले भ्रष्टाचार से सम्बन्धित प्रकाश में आ रहे हैं। शेयर घोटाला, हवाला काण्ड, आवास घोटाला, चीनी घोटाला, दूरसंचार घोटाला, पशुपालन घोटाला, बैंक घोटाला, झारखण्ड घोटाला, सेण्टकिट्स व मण्डी हाउस, जालसाजी का मामला—ये सभी मामले आज के समय के महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं, क्योंकि इन सभी मामलों मे देश के कर्णधार शीर्षस्थ नेता पूर्णत: लिप्त हैं। जन अभियोग निराकरण राज्यमंत्री के अनुसार केन्द्रीय जाँच ब्यूरो के यूरिया, आवासन, पशुपालन और बैंक घोटालों से सम्बन्धित 69 नए मामले दर्ज किए गए हैं। जिनकी जाँच की जा रही है। सरकारी जानकारी के अनुसार 64 मामलों में पहले से ही खोज की जा रही है। 44 मामले पशुपालन से सम्बन्धित, 17 मामले आवासन से सम्बन्धित हैं। केन्द्रीय जाँच ब्यूरो ने कुल 816 मामले दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता, मद्रास मे जनवरी, 1995 से जून, 1996 तक दर्ज किए गए हैं। इनमे से 216 केवल दिल्ली से सम्बन्धित हैं—यह तो केवल चार महानगरों की स्थिति है। बिहार, कर्नाटक, सिक्किम आदि की स्थिति अलग है। बिहार के पशुपालन घोटाले मे सार्वजनिक कोष के लगभग 750 करोड़ रुपए गबन का मामला है और महीनों की कार्यवाही के पश्चात् केवल 50-60 करोड़ के घपलों की जाँच ही सी.बी.आई. द्वारा हो पाई है। सभी मामलो में देश को आगे ले जाने वाले कर्णधार ही जिम्मेदार हैं—आज तो यह पहचानना भी असम्भव लगता है कि सत्ता से जुड़ा कौनसा नेता ऐसा है जो घोटालों से पूर्णत: मुक्त है। इसके मूल मे हमारी विकृत शासन-व्यवस्था, दूषित चुनाव प्रणाली, बीमार विधि एव न्याय प्रणाली हैं जिसके कारण भ्रष्टाचार में लिप्त लोगों पर कठोर और त्वरित कार्यवाही करना प्राय: सम्भव नहीं होता।

ये तो राजनैतिक भ्रष्टाचार की बात है इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्र भी, जैसे— ऑफिस, रेलवे, कचहरी, पुलिस, शिक्षा, तहसील यहाँ तक कि तीर्थस्थान में भी भ्रष्टाचार में पूर्णतः व्याप्त है। आज नोटरी रुपया लेकर गलत बिल और झूठे सर्टीफिकेट बना देता है, डॉक्टर मरीजों को अस्पताल के बजाय प्राइवेट देखना पसन्द करता है। ऑफिस में एक स्थान से दूसरे स्थान पर फाइल बिना रिश्वत के आगे नहीं खिसकती। शिक्षा विभाग में भी चाहे मूल्यांकन की बात हो, परीक्षा की बात हो अथवा प्रशासन सम्बन्धी प्रकरण हो, सभी येन-केन-प्रकारेण भ्रष्टाचार का आश्रय लेकर अपना काम निकलवा लेते हैं। पोस्ट ऑफिस, रेलवे, टेलिग्राफ आदि सभी विभागों को इसने पूरी गिरफ्त में ले रखा है। इसका सर्वाधिक प्रभाव निम्न मध्यम वर्ग पर पड़ता है। जिन्हें अपना काम निकलवाने में अति कठिनाई का सामना करना पड़ता है। क्योंकि उनके पास रिश्वत के लिए रुपए नहीं होते।

देखा जाए तो भ्रष्टाचार का जन्म सामाजिक व्यवस्था के दोष से हुआ है। यह कोई व्यक्तिगत समस्या नहीं है। अतः यदि समाज से भ्रष्टाचार को हटाना है तो समाज-व्यवस्था को सुदृढ़ करना होगा। आज समाज की व्यवस्था इस प्रकार की है कि जिनके पास रुपया नहीं है वे चोरी, कत्ल, लूट या नम्बर दो के माध्यम से धन अर्जित करते हैं क्योंकि समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति का आकलन आज धन से ही किया जाता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ कहीं से भी भ्रष्टाचार की शिकायतें मिलें तत्काल न्यायाधीशों का पैनल बनाकर उनकी जाँच करवाई जाए और दोषी पाए जाने वाले लोगों के साथ अभियुक्त जैसा आचरण किया जाए। साथ ही उच्च पदासीन नेताओं को अपनी सम्पत्ति की घोषणा करना अनिवार्य कर दिया जाए। इसके लिए समस्त नागरिकों को एकजुट होना होगा तथा सरकार पर दबाव डालकर व आवश्यकता पड़ने पर न्यायपालिका के सहयोग से ऐसे कानून बनाए जाएँ जो भ्रष्ट नेताओं को सत्ता में आने के लिए रोकते हों। सी बी आई ने इस दिशा में एक अच्छा कदम उठाया है। देश को प्रेस, जागरूक नगरपालिका प्रयासरत रहे तो भ्रष्टाचार के विरुद्ध वातावरण बनाया जा सकता है।

कानूनी व्यवस्था (Legal System)—नागरिक अधिकार रक्षा कानून, 1955, के अनुसार तीन प्रकार के व्यक्ति भ्रष्ट या अमान्य माने गए हैं—(1) प्रथम वे जिन्हें धर्म, जाति, वंश, भाषा आदि के आधार पर वैमनस्य फैलाने के निमित्त दोषी पाया गया हो, (2) दूसरे वे व्यक्ति जिन्हें किसी आपराधिक मामले में दोषी पाए जाने पर दो या दो से अधिक वर्ष की सजा दी गई हो, और (3) तृतीय वे व्यक्ति जिन्हें चुनाव के दौरान भ्रष्ट चुनावी आचरणों के लिए सजा सुनाई गई हो। सजा की तारीख से पहली श्रेणी के व्यक्ति छः साल के लिए, दूसरी श्रेणी के पाँच साल के लिए, और तीसरी श्रेणी के व्यक्ति छः साल के लिए आयोग्य होते हैं। इस कानून के अनुसार किसी भी व्यक्ति को जिसके विरुद्ध किसी प्रकार का संगीन मुकदमा चल रहा है किसी भी सार्वजनिक पद पर आसीन होने या किसी भी चुनाव में खड़े होने से तब तक वंचित कर देना चाहिए जब तक कि वह स्वयं को आरोपों से मुक्त नहीं कर लेता। इस नियम का सख्ती से पालन करने पर भ्रष्टाचार से किसी सीमा तक छुटकारा पाया जा सकता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भ्रष्टाचार उन्मूलन की सबसे पहली आवश्यकता हमारी प्रशासनिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करने की है और इस कार्य के लिए जन-जागृति के लिए व्यापक अभियान छेड़ना आवश्यक है। जनता अपनी जिम्मेदारी

समझकर स्वच्छ छवि के लोगो को ही जन-प्रतिनिधि के रूप में चुने। केन्द्रीय जाँच ब्यूरो को भी अपनी कार्य-प्रणाली में तीव्रता व निष्पक्षता लानी होगी तथा न्यायपालिका को भी अपना रुख और कड़ा करना पड़ेगा तभी भ्रष्टाचार की काली छाया कम हो सकेगी।

भ्रष्टाचार के निवारण के उपाय एवं सुझाव
(Measures and Suggestions to Solve Corruption)

भारत मे भ्रष्टाचार एक विषम समस्या है। इसको दूर करने के लिए समाजशास्त्रियों, अपराधशास्त्रियों, प्रशासकों तथा विद्वानों ने अपने मत समय-समय पर व्यक्त किये हैं। उनके विचारो के आधार पर भ्रष्टाचार निवारण के विभिन्न उपायों तथा सुझावों को अग्रलिखित रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं—

(1) आदर्श राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं का चयन (Selection of Ideal Political Workers)—भ्रष्टाचार को रोकने तथा समाप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि जनता ईमानदार, निष्पक्ष, मेहनती और देश तथा प्रजा के प्रति निष्ठावान राजनैतिक कार्यकर्त्ताओ को ही अपना मत दे तथा विभिन्न क्षेत्रो मे प्रतिनिधित्व के लिए भेजे। यह सर्वविदित है कि सभी प्रकार की सरकारों में संसदीय सरकार सर्वश्रेष्ठ तभी है जब उसमे ईमानदार सदस्य ही हों। राजनैतिक कार्यकर्त्ता अपने पद, शक्ति, प्रभाव तथा स्थिति का उपयोग अपने निजी स्वार्थ तथा लाभ के लिए नहीं करें। अगर वे भ्रष्ट होंगे तो भ्रष्टाचार देश से कभी नही मिट सकता। देश से भ्रष्टाचार तभी समाप्त किया जा सकता है तथा साफी-सुथरी परम्परा को केवल तभी स्थापित करना सम्भव है जब राज्य तथा केन्द्रीय सरकार के सदस्य, मन्त्रिगण तथा अन्य पदेन सदस्य ईमानदारी का आदर्श प्रस्तुत करे। उनके द्वारा निष्पक्ष प्रशासन देने से ही भ्रष्टाचार का उन्मूलन हो सकता है।

(2) ईमानदार सरकारी कर्मचारी (Honest Government Servants)—भ्रष्टाचार के निराकरण के लिए सरकारी तन्त्र मे ईमानदार और निष्पक्ष कर्मचारियों तथा अधिकारियो का होना अत्यन्त आवश्यक है। अनेक राजनीतिक विद्वानो ने बताया है कि *संसदीय प्रणाली मे मन्त्रिगण अधिकारियो के निर्णयो को मानने के लिए बाध्य होते है।* इसलिए इन विभिन्न क्षेत्रों में नियुक्त सरकारी कर्मचारियो का ईमानदार होना आवश्यक है तभी भ्रष्टाचार का निवारण हो सकता है। सरकारी कर्मचारियों के निम्न तीन प्रकारो की विवेचना करना आवश्यक है—पुलिस कर्मचारी, न्यायाधीश तथा अन्य कर्मचारी।

2.1. **पुलिस कर्मचारी** (Police Servants)—पुलिस कर्मचारियों पर समाज की व्यवस्था बनाए रखने, चोरों को पकड़ने, अपराधों का पता लगाने, उनसे जनता की रक्षा करने, शान्ति बनाए रखने आदि अनेक महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ तथा उत्तरदायित्व होते हैं। समाज में से भ्रष्टाचार को मिटाने तथा भविष्य में नहीं होने देने के लिए पुलिस कर्मियों का ईमानदार, मेहनती, प्रशिक्षित और होशियार होना आवश्यक है। पुलिस कर्मचारी ईमानदार हों तो समाज में पूर्ण नियन्त्रण रखना सरल हो जाए तथा भ्रष्टाचारी को पकड़ना तथा दण्ड देना सम्भव हो जाए। इस प्रकार भ्रष्टाचार को मिटाया जा सकता है।

2.2. **न्यायालय** (Courts)—पुलिस कर्मचारी केवल भ्रष्टाचारी को पकड़ सकते हैं। प्रमाण एकत्र कर सकते हैं। परन्तु अपराध निश्चित करना तथा दण्ड देने का कार्य न्यायालय तथा न्यायाधीश का है। न्यायालय का ईमानदार, पक्षपात रहित तथा न्यायप्रिय होना आवश्यक है। अगर वहाँ पर न्याय नहीं होगा तो पुलिस कर्मचारी कुछ नहीं कर सकते।

2.3 **सरकारी कर्मचारी (Government Servants)**—भ्रष्टाचार के केन्द्र तो कई सरकारी कार्यालय तथा विभाग हैं। जब तक इनके अधिकारी तथा कर्मचारी ईमानदार नहीं होंगे तब तक भ्रष्टाचार का निवारण नहीं हो सकता है। आय-कर, बिक्री-कर, सार्वजनिक निर्माण विभाग, टिकिट चेकर आदि अनेक उदाहरण हैं जहाँ भ्रष्टाचार फैला हुआ है। इससे राज्य की आय कम होती है। जनता का शोषण होता है। समाज के विकास के लिए आवश्यक है कि इनमे ईमानदारी स्थापित की जाए। भ्रष्ट कर्मचारियों पर कानूनी कार्यवाही की जाए। ईमानदार कर्मचारियों की नियुक्ति की जाए तभी इस क्षेत्र में भ्रष्टाचार समाप्त हो सकता है।

3. **व्यापारियों में ईमानदारी (Honesty in Businessmen)**—सबसे अधिक भ्रष्टाचार व्यापारी वर्ग फैलाता है। पुलिस कर्मचारी, न्यायालय, सरकारी विभागों में भ्रष्टाचार व्यापारी वर्ग ही घूँस देकर फैलाते हैं। इनको शिक्षा द्वारा ईमानदार बनाया जाए। भ्रष्ट, बेईमान, कालाबाजारी करने वाले व्यापारियो को पकड़ना चाहिए, उनको कड़ा दण्ड देकर समाज में से भ्रष्टाचार का उन्मूलन करना चाहिए। व्यापारियो द्वारा भ्रष्टाचार के तरीको—झूठी फर्मों, लाभों पर कर नहीं देना, लेखा पुस्तको मे हेरा-फेरी करना, अचल सम्पत्ति का मूल्यांकन कम करना आदि पर विशेष जाँच विभाग की स्थापना की जाए तथा देखा जाए कि काम ईमानदारी से हो रहा है या नहीं।

4. **वैधानिक उपाय (Judicial Measures)**—सन् 1947 के भारतीय दण्ड संहिता तथा भ्रष्टाचार निवारण कानून में भ्रष्टाचार तथा आपराधिक दुर्व्यवहार से सम्बन्धित मौलिक नियमों का प्रावधान है परन्तु इसके द्वारा केवल सरकारी कर्मचारियों पर ही कार्यवाही की जा सकती है। मन्त्रियो, सांसदों, सचिवों और स्थानीय सस्थाओं के भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम बनाने चाहिए। भ्रष्टाचार निवारण समिति, 1964 में भी ऐसे विचार व्यक्त किये गये हैं। सभी प्रकार के भ्रष्टाचारों को वैधानिक प्रावधानो के द्वारा नियन्त्रित करना चाहिए।

5. **सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन (Change in Social Values)**—पिछले वर्षों में भारतीय समाजों में भ्रष्टाचार में लिप्त व्यक्तियो, व्यापारियों, मन्त्रियों, प्रशासकों, अधिकारियों आदि को हेय दृष्टि से नहीं देख कर उन्हे सम्मान दिया जाता है। आजकल धन को महत्त्व दिया जाता है। इस मूल्य को बदला जाए। उसी व्यक्ति को सम्मान देना चाहिए जो कानून का पालन करे। ऐसा व्यक्ति चाहे गरीब हो अथवा अमीर। समाज में मूल्यों का पुन: चुनाव किया जाए तथा उन्हें पुन:स्थापित किया जाये तथा लोगों को सिखाए जाएँ। भ्रष्टाचार-विरोधी वातावरण बनाया जाए।

6. **जनकल्याण के प्रति जागृति (Awakening Towards Public-Welfare)**—समाज में जन-कल्याण की भावना जागृत करनी चाहिए। भ्रष्टाचार की हानियों से अवगत करना चाहिए। गरीब तथा अमीर को ईमानदारी की शिक्षा देनी चाहिए। लोगों को सत्य, ईमानदारी के आदर्शों का पालन करने के प्रति जागृत करना चाहिए। भौतिक लक्ष्य का महत्त्व कम करना चाहिए। नैतिकता पर चलने वाले को समाज में सम्मान देना चाहिए। नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकना चाहिए। इस प्रकार से समाज में भ्रष्टाचार को रोकने के प्रयास शिक्षा तथा सरकार की शक्ति के माध्यम से करना चाहिए। लोगों में जन-कल्याण के लिए नैतिक गुणों तथा व्यावहारिक आदर्शों को पुन:स्थापित करके स्वच्छ चरित्र का निर्माण करना चाहिए।

7. अन्य उपाय (Other Measures)—बेरोजगारी को दूर किया जाए। निर्धनता निवारण अभियान चलाये जाएँ। मन्त्रियो, सांसदों तथा विधायकों के विरुद्ध भ्रष्टाचार की शिकायतें सुनने के लिए आयोग की स्थापना की जाए। भ्रष्ट लोगों को सार्वजनिक रूप से दण्ड दिया जाए तथा निन्दा की जाए। जो भी व्यक्ति भ्रष्टाचार की सूचना दे उसका नाम गुप्त रखा जाए तथा सुरक्षा प्रदान की जाए। व्यापारियों द्वारा राजनैतिक दलों को चन्दा देने पर रोक लगाई जाए।

8. भारत सरकार द्वारा किये गये प्रयास (Measures Takes by Indian Government)—8.1 द्वितीय युद्ध के बाद ब्रितानिया सरकार ने पाया कि अनेक सरकारी और गैर-सरकारी लोगों ने भ्रष्ट तरीकों से धन कमाया है उनसे निपटने के लिए सन् 1941 में विशिष्ट पुलिस संस्थापन का गठन किया गया।

8.2 सन् 1947 में भ्रष्टाचार निवारण कानून भ्रष्ट अपराधियों पर कार्यवाही करने के लिए पारित किया गया। इस कानून के अध्ययन तथा सुझाव के लिए सन् 1949 में बख्शी टेक चन्द समिति गठित की गई जिसके सुझाव से इसमें संशोधन किया गया।

8.3. अगस्त, 1955 मे एक प्रशासन सतर्कता प्रभाग खोला गया तथा अन्य विभागों, मन्त्रालयों मे भी सतर्कता इकाइयाँ खोली गईं। इनका कार्य मन्त्रालयों, विभागो तथा अनेक इकाइयों को निर्देश, प्रेरणा तथा सहयोग प्रदान करना था।

8.4. भ्रष्टाचार निवारण समिति, 1964 ने भ्रष्टाचार के लिए अनेक सुझाव दिये थे उनमें से महत्त्वपूर्ण सुझाव निम्नांकित हैं—

1. सतर्कता विभाग खोले जाएँ।

2. मन्त्रियो के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपो की सुनवाई की व्यवस्था राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक सदस्यीय समिति के द्वारा हो।

3 विधान सभा एवं लोकसभा के सदस्यों के लिए एक आचरण संहिता तैयार की जाए। इस संहिता का उल्लंघन पाया जाए तो उस पर कार्यवाही विशेषाधिकार समिति के द्वारा करवाई जाए।

4. न्यायपालिका के क्षेत्र में भ्रष्टाचार के निवारण के लिए सर्वोच्च न्यायालय के मार्ग-दर्शन मे सभी उच्च न्यायालयों में सतर्कता आयोग की स्थापना की जाए।

उपर्युक्त उपायों तथा सुझावो को व्यवहार में लाकर भारत में से भ्रष्टाचार को जल्दी समाप्त किया जा सकता है। भ्रष्टाचार एक विकट सामाजिक समस्या है जो देश की प्रगति मे बाधक है जिसका निवारण तुरन्त करना चाहिए।

❑

अध्याय-21

अपराध और अपराधियों के परिवर्तित पार्श्वदृश्य

(Changing Profile of Crime and Criminals)

विगत वर्षों में भारतीय समाज में अनेक विकास भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र राष्ट्र है। यहाँ पर अनेक धर्म, संस्कृति, भाषा और प्रजातियों, समुदायों के लोग निवास करते हैं। भारत मे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि परिवेश के साथ-साथ अपराध और अपराधियो के प्रकारों और रूपों में परिवर्तन आया है जिसका इस अध्याय मे अध्ययन किया गया है।

सभी समाजो की कुछ जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ और परम्पराए आदि होती हैं जो समाज को संगठित एवं व्यवस्थित रखती हैं। प्रत्येक समाज की विशिष्ट मान्यताएँ और परम्पराएँ होती हैं जो समय, स्थान एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी होती रहती हैं। समाज के नियमों का उल्लंघन, असामाजिक एवं अनैतिक कार्य—अपराध कहलाते हैं। अपराध विचलनकारी एवं अनैतिक व्यवहार होते हैं जिनका निर्णय समाज द्वारा किया जाता है। अपराध सभी समाजों में होते रहते हैं। अपराधो के विभिन्न प्रकार और उनकी संख्या समाज के विकास और जटिलता के साथ-साथ बढ़ती जाती है। अमेरिका, भारत की तुलना में अधिक विकसित है और वहाँ पर भारत की तुलना मे अपराधों के प्रकार, संख्या और आवृत्तियाँ भी अधिक हैं। अपराध एक सार्वभौमिक तथ्य है। इसको समझने के लिए आवश्यक है कि इसके अर्थ को सामाजिक, वैधानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए। अपराध एक सर्वव्यापी अवधारणा होते हुए भी देशकाल, परिस्थिति एवं विकास के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की कही जा सकती है। अपराध को समझने के लिए आवश्यक है कि इसकी परिभाषा और अर्थ का अध्ययन किया जाए—

अपराध और अपराधी का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Crime and Criminals)—अपराध एक सर्वव्यापी तथ्य है। अलग-अलग समाजों में इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। कहीं यह धर्म और नैतिकता से सम्बन्धित है, तो कहीं राजकीय नियमों और कानूनो से सम्बन्धित है। फिर भी अपराध समाज-विरोधी कार्यों अथवा विचलनपूर्ण व्यवहारों का ही दूसरा नाम है। अपराध को अनेक विद्वानों ने सामाजिक, वैधानिक एवं मनोवैज्ञानिक अवधारणाओ के आधार पर परिभाषित किया है। अपराध और अपराधी के अर्थ और परिभाषाओं के सविस्तार विवेचना के लिए अध्याय-17 देखिए।

अपराध और अपराधियों के वर्गीकरण (Classification of Crime and Criminals)—अपराध और अपराधियो के परिवर्तित रूपों का अध्ययन करने से पूर्व हम इसके विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करेगे, जो निम्नलिखित हैं—

(1) अपराध का वर्गीकरण
(Classification of Crime)

अपराध मानव व्यवहार के परिणाम होते हैं और मानव व्यवहारों में विभिन्नता पाई जाती है। परिणामस्वरूप अपराध भी विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। अनेक विद्वानों ने अपराधो को अलग-अलग रूपों में वर्गीकृत किया है जिसे निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) सदरलैण्ड का वर्गीकरण—इन्होंने अपराधों की गम्भीरता के आधार पर इनके दो प्रमुख प्रकार माने हैं—

1. साधारण अपराध (Misdemeanours)—ये वे अपराध हैं जिनके लिए अपराधी को अधिक दण्ड न देकर चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है अथवा स्थानीय कारागार में बन्दी बनाकर रख दिया जाता है। मारपीट करना, चोरी करना इसी श्रेणी के अपराध हैं।

2. गम्भीर अपराध (Felonies)—इसमें राजद्रोह, डकैती, अपहरण जैसे बड़े व जघन्य अपराधो को लिया जाता है जिनके लिए आजीवन कारावास अथवा मृत्युदण्ड तक की सजा दी जा सकती है।

आलोचना (Criticism)

सदरलैण्ड का उपर्युक्त वर्गीकरण अधिक व्यावहारिक एवं मान्य नहीं है। **टैपन** और **जेम्स स्टीफेन** ने इसकी आलोचना की है। इनका मानना है कि —(i) एक ही अपराध एक देश के लिए सामान्य अपराध हो सकता है और दूसरा देश उसे गम्भीर अपराध की श्रेणी में रख सकता है, (ii) साथ ही सामान्य माने जाने वाले अपराध भी कभी-कभी गम्भीर परिणाम वाले हो सकते हैं, और (iii) इस वर्गीकरण में गम्भीर अपराध करने वालों को सम्मान की दृष्टि से अधिक खतरनाक व सामान्य अपराध करने वालों को कम भयंकर माना जाता है किन्तु सामान्य अपराधी कभी भीषण अपराध कर सकता है और गम्भीर अपराधी सामान्य अपराध कर सकता है—इसके कोई निश्चित नियम नहीं हैं।

(2) हप्पन ने 'क्राइम जस्टिस एण्ड करेक्शन' मे उपर्युक्त दो प्रकारों के अतिरिक्त एक और प्रकार अपराधों का बताया है जो सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से अत्यन्त खतरनाक नही होते है। इनमें मनोरोग सम्बन्धी समस्याये और औषधिक समस्याये आती हैं जिनका उपचार सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से किया जा सकता है।

(3) लेमर्ट ने 'सोशियल प्रॉब्लम्स' में अपराधो को तीन भागों में विभाजित किया है—(1) परिस्थितिजन्य, (2) नियोजित, और (3) विश्वासघातक।

1. परिस्थितिजन्य अपराध (Situational Crime)—जब व्यक्ति की परिस्थितियाँ इस प्रकार की हो जाती हैं कि विवश होकर वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है, उसे

नैतिकता, सामाजिकता का विवेक नहीं रहता तो वह कितना भी भयंकर अपराध कर बैठता है—इस प्रकार परिस्थिति से बाध्य होकर किये जाने वाले अपराध परिस्थितिमूलक अपराध हैं।

2. **नियोजित अपराध** (Planned Crime)—जब अपराध की पूर्व योजना बना ली जाती है। स्थान, समय व अपराध का तरीका आदि सब पूर्व-सुविचारित होता है तो उन्हे नियोजित अपराध कहा जाता है। बैंकों की डकैती आदि के अपराध पूर्व-नियोजित होते हैं।

3. **विश्वासघातक अपराध** (Crime Against Trust)—इनमें उन अपराधों को लिया जा सकता है, जो किसी को धोखा देकर किये जाते है अर्थात् जब किसी व्यक्ति पर विश्वास किया जाता है और वह व्यक्ति विश्वास का लाभ उठाकर विश्वास करने वाले व्यक्ति को धोखा दे देता है, तब उसे विश्वासघातक अपराध कहा जाता है।

(4) बोजर का वर्गीकरण—बोजर ने चार प्रकार के अपराध बताये हैं जो अपराधी-उद्देश्य को ध्यान मे रखकर बताये गये हैं—आर्थिक, यौन-सम्बन्धी, राजनैतिक और विविध।

1. **आर्थिक अपराध**—इस प्रकार के अपराध धन-सम्पत्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से किये जाते हैं।

2. **यौन-सम्बन्धी अपराध**—ये अपराध यौन-सम्बन्धो की संतृप्ति के उद्देश्य से किये जाते हैं।

3. **राजनैतिक अपराध**—इन अपराधो का उद्देश्य राजनैतिक क्षेत्र में लाभ प्राप्त करना होता है।

4. **विविध अपराध**—इन अपराधों को प्रतिशोध की भावना से किया जाता है अर्थात् बदला लेना इन अपराधो का उद्देश्य होता है।

(5) क्लीनार्ड एवं क्वीने का वर्गीकरण—क्लीनार्ड एवं क्वीने ने 8 प्रकार के अपराधो की चर्चा की है—हिंसात्मक, सम्पत्ति सम्बन्धी, व्यावसायिक, राजनैतिक, सार्वजनिक व्यवस्था सम्बन्धी, परम्परागत, संगठित और पेशेवर अपराध।

1. **हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध** (Violent Personal Crime)—इनमें हत्या जैसे गम्भीर अपराधो को लिया जाता है जिनकी समाज द्वारा कटु आलोचना की जाती है और कठोर दण्ड की भी व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती है।

2. **सम्पत्ति सम्बन्धी आकस्मिक अपराध** (Occasional Property Crime)—धन लाभ हेतु जो अपराध किये जाते हैं, वे इसी श्रेणी मे आते हैं। बैंक मे चैक पर झूठे दस्तखत करना, जाली हस्ताक्षर करना, दुकान से सामान चोरी करना आदि इसी प्रकार के अपराध हैं।

3. **व्यावसायिक अपराध** (Occupational Crime)—अपने व्यवसाय में अपराध करना जैसे चीजों मे मिलावट, कालाबाजारी, झूठे विज्ञापन आदि इसी प्रकार के अपराध हैं।

4. **राजनैतिक अपराध** (Political Crime)—राजनैतिक लाभ के लिए जासूसी करना, राजद्रोह करना, तोड़-फोड़ करना जैसे अपराध इस श्रेणी में आते हैं।

5. सार्वजनिक व्यवस्था सम्बन्धी अपराध (Public Order Crime)— आवारागर्दी करना, सड़क के नियमों को तोड़ना, शराब के नशे में चीखना-चिल्लाना आदि को इस कोटि के अपराधो मे सम्मिलित किया जाता है।

6. संगठित अपराध (Organized Crime)—योजनाबद्ध तरीके से संगठन बनाकर अपराध करना—जैसे सोने की तस्करी, अफीम, गांजा आदि का व्यापार करना संगठित अपराध हैं।

7. परम्परागत अपराध (Conventional Crime)—कई जातियो मे कुछ ऐसे अपराध किये जाते हैं जो परम्परा से चले आ रहे है, जैसे—कुछ जातियाँ चोरी करके ही अपनी आजीविका चलाती हैं। डकैती, लूटमार आदि इसी कोटि में आते हैं।

8. पेशेवर अपराध (Professional Crime)—वे अपराध जो व्यवसाय के रूप में मान्य हैं, जैसे—जेब काटना, नकली नोट छापना, उठाईगिरी करना आदि इसी प्रकार के पेशेवर अपराध हैं।

(6) सांख्यिकीय आधार पर वर्गीकरण (Classification on the Basis of Statistics)—सांख्यिकीय आधार पर अपराधों के पाँच प्रकार हैं। सरकार द्वारा इन्हें वर्गीकृत किया गया है।

1. व्यक्ति के विरुद्ध अपराध (Crime against Person)—हत्या, मारपीट, बलात्कार आदि।

2. सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध (Crime against Proparty)—चोरी, डकैती, लूटपाट आदि।

3. सार्वजनिक न्याय और सत्ता के विरुद्ध अपराध (Crime against Univarsal lower Authority)—जैसे गबन करना, धोखा देना आदि।

4. सार्वजनिक व्यवस्था के विरुद्ध अपराध (Crime against Public Order)—जैसे शराब पीना, शोर मचाना, जुआ खेलना आदि।

5. राज्य के विरुद्ध अपराध (Crime against State)—राजद्रोह, जासूसी आदि।

(7) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ क्रिमिनोलॉजी' में **रेमण्ड कार्सिनी** ने अपराधियों की सात कोटियाँ निर्धारित की हे—

1. आकस्मिक अपराधी	2 पारिस्थितिक अपराधी
3. दायित्वहीन अपराधी	4. मनोविक्षिप्त अपराधी
5 मनोविकृत अपराधी	6 वृत्तिक अपराधी
7. मनस्तापी अपराधी।	

(8) भारत में अपराधों के प्रकार (Types of Crime in India)—भारत में तीन प्रकार के अपराध पाये जाते हैं—

(1) वे अपराध जो '*भारतीय दण्ड विधान*' (*Indian Penal Code*) के अन्तर्गत दण्डनीय माने जाते हैं। हत्या मारपीट, चोरी, अशान्ति पैदा करना, विश्वासघात व मानहानि जैसे अपराध इसी प्रकार के अपराध हैं।

(2) दण्ड प्रक्रिया संहिता (Code of Criminal Procedure) द्वारा दण्डनीय अपराध—इन्हें दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(i) शान्ति-भंग सम्बन्धी अपराध, तथा (ii) दुर्व्यवहार सम्बन्धी अपराध।

(3) स्थानीय तथा विशिष्ट विधियों द्वारा दण्डनीय अपराध—इनमें नशाबन्दी जैसे अपराध लिए जा सकते हैं—जैसे नशाबन्दी, राज्य द्वारा लागू होने पर भी लोगों द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है, तो यह अपराध है।

अपराधियों का वर्गीकरण
(Classification of Criminals)

अपराधी-कार्यों के आधार पर अपराधियों के अनेक प्रकार हैं जिन्हे विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग रूप मे वर्गीकृत किया है। कुछ वर्गीकरण निम्नलिखित हैं—

(1) ई. एच. सदरलैण्ड ने दो प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. साधारण अपराधी (Simple Criminal)—वे अपराधी जिनकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं है, तथा किसी निश्चित उद्देश्य से वे राज्य द्वारा दण्डनीय कानूनों का उल्लंघन करते हैं, साधारण अपराधी हैं।

2. श्वेत-वस्त्रधारी अपराधी (White Collar Criminal)—ये अपराधी सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से उच्च होते हैं और व्यवसाय के अन्तर्गत अपराध करते हैं। इन उच्चवर्गीय अपराधियों को सामान्य रूप से अपराधी नहीं जाना जा सकता है।

(2) अलेक्जेण्डर और **स्टाब** ने अपराधियों को दो समूहों में बाँटा है—

1. आकस्मिक अपराधी (Accidental Criminal)—वे अपराधी जो आकस्मिक रूप से एक या अनेक अपराध करते हैं।

2. दीर्घकालिक अपराधी (Cronic Criminal)—जो व्यक्ति जानबूझ कर बार-बार व पेशे के रूप मे अपराध को अपनाते हैं, दीर्घकालिक अपराधी कहलाते हैं। इनके तीन प्रकार हैं—

(i) सामान्य अपराधी (Normal Criminal)—सामाजिक परिस्थितियों के कारण ये अपराधी बनते हैं तथा इनका सामाजीकरण भी त्रुटियुक्त होता है।

(ii) मनस्तापी अपराधी (Neurotic Criminal)—ये मनोवैज्ञानिक कारणों से अपराधी बनते हैं। इड (Id) प्रवृत्तियों के दमन न होने के कारण इनका सामाजीकरण नहीं हो पाता है। अत: इनका व्यक्तित्व संघर्षमय हो जाता है और ये अपराध करते हैं।

(iii) शरीरविकृत अपराधी (Pathological Criminal)—इस कोटि के अपराधी शारीरिक विकलांगता के कारण बनते हैं। ये शारीरिक दोषों से युक्त होते हैं, जिससे इनमें मानसिक हीनता आ जाती है। इसी कारण ये अपराधी कृत्य करते हैं।

(3) डेविड अब्राह्मसेन ने दो प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. क्षणस्थायी अपराधी (Momentary Criminal)—ये असामाजिक मनोवेगों के कारण अपराध करते हैं। ये लोभयुक्त परिस्थितियों के कारण एक या दो बार अपराध करते हैं। ये क्षणिक अपराधी तीन प्रकार के हैं—

(i) परिस्थितिगत अपराधी—ये परिस्थिति विशेष में किसी असामाजिक आवेग के परिणामस्वरूप अपराध करते हैं, किन्तु बाद मे पश्चाताप भी करते हैं।

(ii) संसर्ग-सम्बन्धी अपराधी—ये अपराधी अपने अपराधी परिवार अथवा दोषपूर्ण साथियों आदि से प्रभावित होकर अपराध करते हैं। पर्यावरण में परिवर्तन करने पर इन्हें सुधारा जा सकता है।

(iii) आकस्मिक अपराधी—ये किसी असावधानी के कारण अपराध कर बैठते हैं जिससे उनका मानसिक सन्तुलन खो जाता है। अतः इस प्रकार अपराधी का अपराध उनके व्यक्तित्व पर अधिक आधारित होता है।

2. **दीर्घकालिक अपराधी** (Cronic Criminal)—तीन या उससे अधिक बार अपराध करने वाले दीर्घकालिक अपराधी होते हैं। इसके तीन प्रकार हैं—

(i) तंत्रिकामय पीड़ित अपराधी (Neurotic)—ये अपराधी मनोव्यथा अथवा मानसिक रोग से पीड़ित हैं। किसी अचेतन प्रेरणा के कारण ये अपराध करते हैं। प्रायः लिंगीय इच्छाओं के दमन के कारण उनमें असमायोजन की समस्याये उत्पन्न होती हैं।

(ii) मनोरोगी अपराधी (Psychopathic)—ये अपराधी मानसिक रोग से पीड़ित होने के कारण अपराध कर देते हैं। नैराश्य, स्नेह से वंचना, संवेगो आदि से प्रभावित होकर ये असामाजिक व्यवहार कर बैठते हैं।

(iii) मनोविकृत अपराधी (Psychotic)—ये मानसिक रूप से विक्षिप्त होते हैं। अतः कानून की दृष्टि मे इन्हे अपराधी नहीं माना जाता है।

(4) हैण्डर्सन ने तीन प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. वे, जो स्वभाव से अपराधी नहीं हैं अर्थात् आदतन अपराधी नहीं हैं।

2 वे, जो ऊपरी तौर पर अपराध करते हैं।

3. वे, जिनकी प्रकृति और आदत ही अपराध करने की हो गई है।

(5) रूथकेवन ने अपराधियो के वर्गीकरण में तीन आधारों को माना है— (1) किये गये अपराधों की संख्या, (2) अपराध का प्रकार, और (3) अपराधी का व्यक्तित्व। इन तीनों आधारो पर अपराधियो को 6 प्रकार का बताया गया है—

1. **पेशेवर अपराधी**—जिनका पेशा ही अपराध करना है। धनोपार्जन ही ये अपराध द्वारा करते हैं और सदैव सम्पर्क भी अपराधियों तक ही सीमित रखते हैं।

2. **वे अपराधी जो व्यवस्थित अपराध करते हैं**—इनके अपराधो मे व्यापार जैसा सगठन मिलता है और ये संगठित अपराध करते हैं।

3. वे अपराधी जो अनपराधी समूहो मे रहते हैं।

4. **अभ्यस्त अपराधी** अथवा बारम्बार अपराध करने वाले अपराधी।

5. किसी मनोवैज्ञानिक आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए अपराध करने वाले अपराधी अथवा मानसिक रूप से हीन अपराधी।

6. **द्वेष-रहित अपराधी**—ये समाज के कानून को तो मानते हैं किन्तु कुछ अवसरो पर कानून का उल्लंघन कर देते हैं।

(6) गिबंस ने दो आधारों को प्रमुखता दी है—

(1) परिभाषीय माप और (2) पृष्ठभूमीय माप।

1. **परिभाषीय माप** (Definitional Dimensions)—इसके अन्तर्गत पाँच तत्वों को लिया गया है—(i) अपराध की प्रकृति, (ii) जिस स्थिति में अपराध किया जाता है वह अन्य व्यक्तियों से सम्पर्क की स्थिति, (iii) स्वयं के प्रति अपराधी की धारणा, (iv) अपराधी जीवन मे अपराध करने की पदगति और (v) समाज और पुलिस जैसे अभिकरणों के प्रति धारणा।

2. **पृष्ठभूमीय माप** (Back-ground Dimensions)—इनके अन्तर्गत चार तत्वों को समाहित किया गया है—

(i) सामाजिक वर्ग, (ii) पारिवारिक पृष्ठभूमि, (iii) मित्रों के साथ सम्पर्क एवं (iv) पुलिस, न्यायालय और कारागर आदि से सम्पर्क।
इनके आधार पर गिबंस ने 15 प्रकार के वयस्क अपराधी और 9 प्रकार के बाल अपराधी बताए हैं।

वयस्क अपराधी—जैसे पेशेवर चोर, अर्द्ध पेशेवर चोर, सम्पत्ति सम्बन्धी अपराधी, हिंसातुर कामातुर अपराधी, अहिंसातुर कामातुर अपराधी आदि का उल्लेख किया है और बालापराधियों मे उपद्रवी गिरोह अपराधी, संघर्ष गिरोह अपराधी, मादक पदार्थों का सेवन करने वाले आदि अपराधियों को लिया है।

(7) लोम्ब्रासो ने चार प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. **जन्मजात अपराधी** (Born Criminal)—जो व्यक्ति जन्म से ही कुछ शारीरिक व मानसिक विशेषताएँ लेकर आते हैं जो आगे उन्हे अपराध करने को बाध्य करती हैं, वे जन्मजात अपराधी होते हैं।

2. **पागल अपराधी** (Insane Criminal)—जो व्यक्ति मानसिक रूप से किसी बीमारी से ग्रसित होते हैं और मानसिक असन्तुलन के कारण अपराध करते हैं, वे पागल अपराधी होते हैं।

3. **कामुक अपराधी** (Criminal by Passion)—वे अपराधी अपनी वासनाओं के वशीभूत होकर अपराध करते हैं।

4. **आकस्मिक अपराधी** (Occasional Criminal)—वे व्यक्ति जो परिस्थितिवश अपराध कर बैठते हैं। लोम्ब्रोसो इन्हे तीन प्रकार का बताते हैं—

(i) **नकली अपराधी** (Pseudo Criminal)—ये आत्मसम्मान की रक्षा के लिए अथवा वातावरण के दबाव मे आकर अपराध कर बैठते हैं।

(ii) **आदतन अपराधी** (Habitual Criminal)—ये जन्मजात तो अपराधी नहीं है किन्तु प्रतिकूल वातावरण के परिणामस्वरूप अपराध कर लेते हैं।

(iii) **अपराधीसम** (Criminaloid)—ये वे अपराधी हैं जो जन्मजात अपराधी और ईमानदार व्यक्ति के बीच के होते हैं।

(8) लिण्डस्मिथ और डुनहेम ने दो प्रकार के अपराधी बताए हैं—

1. **व्यक्तिगत अपराधी** (Individual Criminal)—जो व्यक्तिगत कारणों से अपराध करते हैं, वे व्यक्तिगत अपराधी कहलाते हैं।

2. सामाजिक अपराधी (Social Criminal)—जब अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर व्यक्ति अपराध करता है, उसे सामाजिक अपराधी कहा जाता है।

उन्होंने एक तीसरा प्रकार और माना है जिसे वे **अभ्यस्त-परिस्थितिगत** (Habitual-Situational) अपराधी कहते हैं।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त गेरीफेलो, रेकलेस, सेठना, हैबलॉक ऐलिस, हैण्डरसन तथा क्लिनार्ड आदि अनेक विद्वानों ने अपराधियों के प्रकारो पर प्रकाश डाला है, जो उपर्युक्त सभी प्रकारों से मिलते-जुलते रूप में ही है। सार रूप में यह कहा जा सकता है कि अपराधी व्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से समाज अथवा कानून के नियमों का उल्लंघन अवश्य करता है।

अपराध और अपराधियों के परिवर्तित पाश्र्वदृश्य (रूप)
(Changing Profile of Crime and Criminals)

हर युग में स्वीकृत व्यवहारों के नियमों को तोड़ने सम्बन्धी अपराध होते रहे हैं। विश्व के अनेक देशों में स्वीकृत व्यवहारों को तोड़ने की घटनाएँ असहनीय हो गई हैं। अन्य राष्ट्रो की तुलना में भारत की स्थिति ठीक है लेकि अब भारत में भी जन-धन की हानि और उत्पीड़न शोचनीय एवं गम्भीर स्थिति में पहुँच गया है। 1989 में किशोर और वयस्कों के मिलाकर लगभ 54 लाख मामले पंजीकृत किए गए थे। जनसंख्या की वृद्धि के अनुसार अपराधों को देखें तो पिछले दशकों में जहाँ जनसंख्या मे वृद्धि लगभग 25 प्रतिशत हुई है, वहीं अपराधों में 45 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई। वर्तमान मे व्यक्ति की हत्या, महिलाओं से बलात्कार, दंगे, अपहरण, डकैती, सैंध लगाना, चोरी आदि की दर काफी बढ गई है। औसतन प्रत्येक 7 मिनट में एक हत्या, पाँच मिनिट में दंगा, एक दिन मे 47 लोगो का अपहरण और 27 महिलाओं से बलात्कार औसतन होता है। प्रतिदिन 35 मकानो से अधिक में सैंध लगाई जा रही है और प्रत्येक वर्ष कई अरब रुपयों की सम्पत्ति चोरी मे चली जाती है। चोरी की घटनाएँ तो अनगिनत हैं। भारतीय दण्ड सहिता के अन्तर्गत 1989 मे पुलिस ने लगभ 23 लाख लोगों को गिरफ्तार किया था।

भारतीय दण्ड सहिता के अनुसार हत्या, बलात्कार, अपहरण, दगे, डकैती, सैंध लगाना, धोखाधड़ी जैसे मामले अपराध माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त स्थानीय और विशिष्ट कानूनों के अनुसार मद्य निषेध कानून, जुआ निषेध कानून, आबकारी कानून, भारतीय रेलवे कानून, अनैतिक व्यापार निरोध कानून, मादक पदार्थ निषेध कानून आदि का उल्लघन भी अपराध के अन्तर्गत आता है। इन उपर्युक्त कानूनो के उल्लंघन करने पर पुलिस ने 63 लाख गिरफ्तारियाँ कीं, जिनमे 36 लाख किशोर (27,777 लड़के, 11,615 लड़कियाँ) थे।

आलोच्य वर्ष मे प्रति लाख जनसंख्या में अपराध की 662 4 घटनाएँ घटीं। इनमे 3 82 प्रतिशत महिलाओं का था। 18 से 30 वर्ष की आय वर्ग के 50 प्रतिशत अपराधी थे। 55 प्रतिशत किशोर अपराध निरक्षर थे। दो-तिहाई अपराधियो के परिवारो की मासिक्क आय 500 रुपये से कम थी। केव 4 प्रतिशत अपराधियों के परिवार की मासिक आय 2000 रुपये

या इससे अधिक थी। उपर्युक्त आँकडे मात्र वे हैं जिनकी सूचना प्राप्त होती है लेकिन ऐसे अनेक अपराध भी होते हैं जिनकी सूचना पुलिस तक निम्न कारणों से नहीं पहुँच पाती है।

पुलिस में अपराधी रिपोर्ट दर्ज नहीं कराने के कारण (Causes of not Informing Crime Report in Police)—1 थाने का दूर होना, (2) अपराध का मामूली होना, (3) क्षतिग्रस्त को अपराधी द्वारा परेशान होने का भय, (4) पुलिस मुकदमेबाजी अदालतो आदि मे अविश्वास का होना, (5) क्षतिग्रस्त अपराध को लज्जा के कारण उजागर नहीं करना (बलात्कार), (6) अपराधी मामलों को आपस मे ले-देकर (समाप्त कर देना) आदि।

परिस्थिति एवं अपराध (Enviornmental and Crime)—कुछ अपराधशास्त्रियों की मान्यता है कि अपेक्षतया कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में अपराध अधिक होते और पनपते हैं, जैसे—शारीरिक विकलागता, मानसिक कमजोरी एवं असन्तुलन, भावनात्मक असुरक्षा, उत्तम शिक्षा का अभाव, माता-पिता का अनुचित व्यवहार, निर्धनता, अपराधियोंसे मित्रता, गदी बस्तियाँ एव अपराध को प्रोत्साहित करने वाला वातावरण। इन उपर्युक्त परिस्थितियों मे अपराधी होने की सम्भावना अधिक है। ये व्यक्ति को अपराध करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं लेकिन अच्छे वातावरण में भी व्यक्ति अपराधी बनते देखे गये हैं।

पक्षपातपूर्ण गिरफ्तारी और सजा (Biased Arrest and Punishment)—अधिकाशत: लोग निर्धन होते हैं जो गिरफ्तार होते हैं और सजा पाते हैं। पुलिस और अदालत में उनकी जमानत देने और बचाने वाला कोई नहीं होता। कानून तोड़ने पर उन्हे अमीरों की तुलना में अधिक यातनाएँ भुगतनी पडती हैं। पुलिस तथा कानूका पालन करने वाली एजेन्सियाँ उनके साथ कठोर व्यवहार करती हैं जिनके पास आवश्यक ससाधन नहीं होते हैं। इसके विपरीत साधन-सम्पन्न या अमीरो के प्रति इन एजेन्सियो का व्यवहार सामान्य होता है। अपराधियों के सम्बन्ध में देखा गया है कि भिन्न-भिन्न आर्थिक स्तर के दो व्यक्ति एक ही प्रकार का अपराध करते हैं तो उसमे गरीब व्यक्ति के गिरफ्तार होने और दण्ड पाने की सम्भावना अधिक होती है और धनी की कम।

अपराधो के स्वरूपो और प्रकारो का सम्बन्ध आर्थिक स्तर के साथ सीधा व प्रत्यक्ष है। गरीबी निश्चित प्रकार के समाज विरोधी अपराधो को करने के लिए प्रेरित करती है। व्यक्ति के तनावपूर्ण एवं असन्तोषजनक व्यवहार का प्रमुख कारण गरीबी है। गरीबी निम्न परिस्थितियो मे व्यक्ति को रहने के लिए बाध्य करती है जिसके परिणामस्वरूप अपराध करने की सम्भावना अधिक होती है।

(1) कुपोषण, (2) पेट भर भोजन का अभाव, (3) खराब स्वास्थ्य, (4) लालच, (5) गंदे मुहल्ले मे निवास-झुग्गी-झोंपडियों, तग चालो मे निवास, (6) अतर्मन पर अभावों और भावात्मक असुरक्षा का होना आदि। निर्धन व्यक्ति के लिए परिवार की अत्यन्त आवश्यक आवश्यकताओं, जैसे—भोजन, वस्त्र, आवास, स्वास्थ्य सुविधाएँ, बच्चो की शिक्षा आदि की व्यवस्था न कर पाना है।

गन्दी बस्तियाँ और अपराध (Slum Areas and Crime)—नगरों और महानगरो में आवास की समस्या गम्भीर है। सन् 2001 की जनगणनानुसार देश में कुल गन्दी बस्तियो

की जनसंख्या 40.3 मिलियन है। इन समाज के अलग-थलग बसी गन्दी बस्तियों में जीवन अस्त-व्यस्त होने के कारण अपराध की दर ऊँची मिलती है। इन गन्दी बस्तियों में रहने वाले लोग सर्वदा रोजी-रोटी कमाने के बोझ से दबे रहते हैं। ये लोग आसपास बसी बहुमंजिली इमारतों और उनमें विद्यमान सुविधाओं को धनी लोगों द्वारा उपयोग करते देखते हैं। ये गरीब लोग सोचते हैं कि उनके लिए ईमानदारी से ये सुविधाएँ पाना सम्भव नहीं है। उनमें कुंठा, तनाव पनपते हैं, काम के प्रति उपेक्षा की भावना विकसित हो जाती है तथा अपराध करना उनके लिए जीवन का मान्य तरीका बन जाता है। गलत तरीके से पैसा कमाने वाले चरित्रहीन लोगों के सम्पर्क में ये लोग आ जाते हैं और उनका अनुकरण करके, पैसे के लालच में अपराधिक गतिविधियों में पड़ जाते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि नगरों और महानगरों में जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि होगी, आवास की समस्या बद से बदतर होती जाएगी, वैसे-वैसे गन्दी बस्तियों की सख्या और जनसंख्या में वृद्धि होगी और गरीबों द्वारा अपराध के प्रकार और प्रतिशत में वृद्धि होगी।

जनसंचार के माध्यम और अपराध (Media of Communication and Crime)—विगत वर्षों से देखा गया है कि जनसंचार के माध्यम, जैसे—दूरदर्शन, चलचित्र, आकाशवाणी, समाचार पत्र, फिल्मी पत्रिकाएँ, कॉमिक्स आदि अपराध के तरीके और अपराधों के प्रति आकर्षण को प्रचारित और आकर्षित करते हैं। बच्चों और किशोरों में विभिन्न प्रकार के अपराधो में वृद्धि का कारण इन संचार माध्यमों को बताया जा रहा है चलचित्रो और दूरदर्शन में मारपीट, धोखाधड़ी, अपहरण, खूनखराबा, हत्या, आगजनी, बलात्कार, सैक्स के अपराध आदि विस्तार सर्वरोचक तरीकों से प्रस्तुत किये जाते हैं जिनका प्रभाव बच्चों और किशोरों के मन पर अति शीघ्र व स्थायित्व का बन पड़ता है। समाचार पत्रो में अपराधों को सनसनीखेज रूप में प्रस्तुत किया जाता है। संचार माध्यमों में अपराधो के विवरण को तो सविस्तार प्रस्तुत किया जाता है जिससे अपराधी को अधिक सुरिक्षत और निष्कलंक साबित किया जाता है तथा कानून और व्यवस्था को प्रभावहीन दिखाया जाता है। चलचित्रों और दूरदर्शन में अपराधियों का जीवन आकर्षक सुख-सुविधाओं युक्त व सम्पन्न दिखाया जाता है। अन्त मे अपराधी को दंडित सिद्ध किया जाता है। वर्तमान मे सचार माध्यमों द्वारा गलत तरीकों से सुख-सुविधाएँ प्राप्त करने की ओर प्रोत्साहित किया जाता है। दूरदर्शन अपने आप में गलत नहीं है। लेकिन इसमें जो अपराधिक गतिविधियाँ—हिंसा, डकैती, हत्या, चोरी, अपहरण, तस्करी, श्वेत वस्त्र अपराध, बलात्कार, सैक्स भड़काने वाले दृश्य दिखाये जाते हैं वे नवीन अपराधों को जन्म देते हैं।

भारतवर्ष मे सन् 2001 की जनगणनानुसार साक्षरता 65 38 प्रतिशत है किन्तु पत्र-पत्रिकाओं, समाचार पत्रों, पुस्तकों आदि को पढ़ने वालों की सख्या नगण्य है। तुलनात्मक दृष्टि से आकाशवाणी चलचित्र और दूरदर्शन का प्रभाव समाचार पत्र-पत्रिकाओ की तुलना मे बहुत अधिक है। इसलिए अपराधों के प्रकारो और प्रतिशत की वृद्धि मे प्रथम प्रकार के सचार माध्यम का प्रभाव अधिक पड़ रहा है। भारत एक लोकतांत्रिक देश है इसलिए सचार माध्यमों पर निरंकुश नियंत्रण करना सम्भव नहीं है। इसलिए अपराधों के प्रेरणा-स्रोतो का प्रभाव अत्यधिक है।

मादक द्रव्य व्यसन और अपराध (Drug Addiction and Crime)—मादक द्रव्य व्यसन से कानून और व्यवस्था तथा राष्ट्रीय सुरक्षा को हानि पहुँचती है। इस व्यसन से लोगों का स्वास्थ्य भी खराब होता है। लगभग सभी देशो ने नशीली दवाओं और मादक द्रव्यो के उपयोग को हतोत्साहित किया है और उल्लंघन करने वाले को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था की है। अधिकाश देशों में नशीली दवाओं के उत्पादन विनिमय और उपभोग से सम्बन्धित कानूनों के द्वारा नियंत्रित किया गया है। मादक द्रव्यो और दवाओं के सेवन के प्रभाव से छोटे-मोटे और गम्भीर अपराध होना सामान्य बात है। नशीली दवा के लिए नशेड़ी निःसंकोच चोरी कर बैठता है। अपना और/या अन्यों का सामान बेचने में कोई संकोच नहीं करता। नशेड़ियों द्वारा हत्या जैसे अपने कृत्य हुए भी देखा जा सकता है। मादक द्रव्यों के प्रभाव के कारण नशेड़ी हिंसात्मक अपराध भी कर सकते हैं मादक द्रव्य के प्रयोग से शरीर में ऐसी रसायनिक क्रिया होती है जो व्यक्ति को उग्र बना देती है। मादक द्रव्यों को बेचने वाले अपना जाल फैलाते चले जाते हैं। छोटे-मोटे फेरी वालों और मादक द्रव्य व्यसनियों को दवा पहुँचाते हैं। जो लोग इस व्यसन के आदी होने के लिए इनके जाल में फँस जाते हैं उनको भी ये व्यसनी बना देते हैं। बेचने वाले भी इस व्यसन के आदी बन जाते हैं। इस प्रकार से पहले लोग इस व्यसन के आदी बनते हैं और फिर अपराधी बन जाते हैं। मादक द्रव्यों और दवाओं का गैर-कानूनी व्यवसाय करने वाले कठोर, बेरहम, क्रूर व हिंसक व्यापारी होते हैं। इन्हें अपराधी घोषित करना और पकड़ना कठिन कार्य है। इस व्यवसाय को करने वालों का सम्पर्क अपराध जगत से होता है। शक्ति राजनीतिज्ञों और पैसे वालों तक इनकी पहुँच होती है। इस धन्धे मे जो एक बार फँस जाता है, उसे मृत्यु ही इस व्यवसाय से छुटकारा दे सकती है।

मादक द्रव्यों और दवाओं का व्यवसाय करने वाले क्रूर प्रकृति के होते हैं। ये अपनी गतिविधियो पर किसी प्रकार के नियत्रण को आसानी से निष्फल कर देते हैं। सरकारी नीतियों एवं कानूनो को समाप्त करने के लिए गुप्त कार्यवाहियाँ करते हैं। भूमिगत हो जाते हैं, उत्पादन वाली प्रयोगशालाओं को पुलिस कार्यवाही से पहले ही नष्ट कर देते हैं, नवीन प्रयोगशाला उपयुक्त स्थान में स्थापित कर लेते हैं। अब तो ये चलती-फिरती प्रयोगशालाओ के द्वारा भी नशीली दवाओ का उत्पादन करने लगे हैं। इस व्यवसाय में भ्रष्टाचार, घूसखोरी, हिसा व हत्या जैसे अपराध सामान्य बात है। इस व्यवसाय को करने वाले अपराधी अपने धन्धे में रुकावट डालने वाले को तुरन्त मार डालते हैं। समय-समय पर सरकार द्वारा छापा मारकर मादक द्रव्य और नशीली दवाओं को जब्त किया जाता है। लेकिन चोरी-छिपे इस धन्धे में नशीले पदार्थों के लेन-देन की छापों द्वारा यह मात्रा नगण्य ही है।

नशीली दवाओं के रूप में मदिरा दूसरी नशीली दवाओ की तुलना मे कम खतरनाक नहीं है। मदिरा के व्यसन के कारण व्यक्ति अपराधिक गतिविधियों में फँस जाते हैं। नशा करने वाला व्यक्ति एवं उसका परिवार दोनो ही तबाह हो जाते हैं। अनेक सड़क दुर्घटनाएँ शराब के नशे में वाहन चलाने के कारण होती है जिसमे आये दिन कितने ही लोग अपनी जान गँवा बैठते हैं।

हिंसा, आतंकवाद और अपराध (Violence Terrarism and Crime)—हिसा और आतंकवाद अनेक प्रकार के अपराधो को जन्म देते हैं। हिसा और आतंकवाद अनेक

प्रकार के अपराधों के कारणों की विवेचना करने से पूर्व सर्वप्रथम हिंसा के अर्थ की विवेचना करेगे जो निम्नलिखित हैं—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिंसा को मानवीय घटना कहा गया है। दर्शनशास्त्र के अनुसार हिंसा शक्ति का गैर कानूनी अथवा नाजायज प्रयोग है। हिंसा एक ऐसी घटना है जो आजादी और खुशी का विरोध करती है। एक प्रकार से हिंसा दूसरों की स्वतन्त्रता पर अतिक्रमण है। बल-प्रयोग के द्वारा किसी व्यक्ति अथवा समूह से उनकी इच्छा के विरुद्ध वस्तु को प्राप्त करना हिंसा है। बलात्कार को हिंसा का पूर्व रूप माना गया है। बलात्कार में बल का प्रयोग किया जाता है। शक्तिशाली द्वारा कमजोर व्यक्ति या वर्ग को अधिक हानि पहुँचाये बिना उसके साथ लाभदायक सम्बन्ध स्थापित करना हिंसा का एक आकर्षक रूप भी है। *मैकेन्जी* के अनुसार, "हिंसा व्यक्ति या सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाने या हानि करने के लिए शारीरिक शक्ति का प्रयोग, इस श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले कार्य या आचरण शारीरिक क्षति पहुँचाने के लिए व्यवहार या कार्य या व्यक्तिगत आजादी मे जबरन हस्तक्षेप है।"

हिंसा के निम्न उदाहरण इसके अर्थ को और स्पष्ट करते हैं—वाहन द्वारा किसी की हत्या करना, सार्वजनिक स्थानों (सड़कों) पर प्रदर्शन करना, पुलिस द्वारा हिंसा, स्वयं पर हिंसा, आत्महत्या, राजनैतिक हड़तालों, राजनैतिक हत्याएँ, लघु स्तर पर आतंकवाद आदि।

हिंसा उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव इतिहास, लेकिन विगत वर्षों में आतंकवाद की समस्या के उद्भव और विकास के कारण हिसा अपराध का एक महत्त्वपूर्ण रूप बन गया है। दूरदर्शन समाचार बुलेटिन व समाचार पत्रों व रेडियो प्रसारण में यह बताया जाता है कि किस प्रकार से यातनाओं सहित विमानो का अपहरण किया गया, बैंक डकैती की गई, लोगों को गोलियों से भून दिया गया आदि-आदि हिंसा और आतंकवाद के उदाहरण हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने आतंकवाद की निम्न परिभाषा दी है, "हिंसा या धमकी के वे कार्य जिनका उद्देश्य किसी राज्य या संगठन के हितों को क्षति पहुँचाने या उससे रियायत प्राप्त करने की अभिलाषा हो।" हिंसा को निम्न शब्दों में भी परिभाषित किया गया है, "आतंकवाद हिंसा की धमकी, हिंसा के व्यक्तिशः कार्य अथवा मुख्य रूप से आतंकित करने के लिए हिंसात्मक अभियान है।" आतंकवादी आतंक या डर को एक हथियार के रूप में प्रयुक्त करते हैं। आतंकवादी हिंसा का उपयोग निम्न उद्देश्यों के लिए करते हैं। आय के असमान वेतन के विरुद्ध लड़ना इनका उद्देश्य होता है लेकिन समाजशास्त्रियों का कहना है कि यह किसी भी प्रकार से डाकुओ से कम नहीं होते हैं और लूट का माल आपस मे बाँट लेते हैं। कुछ आतंकवादी मानसिक रूप से विकृत होने के कारण आतंकवादी गतिविधियो मे लिप्त हो जाते हैं। इसका एक कारण विद्वानो ने व्यक्तिगत कुंठा भी बताया है जिसके कारण ये भोले-भाले लोगों को हत्या करते हैं और इसको मनोरजन समझते हैं। आतकवादियो की गतिविधियाँ मुख्यतया तोड़फोड़, आगजनी, अपहरण, हत्या आदि हैं। हिंसात्मक कार्यो के पीछे इनके राजनैतिक उद्देश्य भी होते हैं। अपने साथी अपराधी को छुड़ाने के लिए यात्रियों सहित विमान अपहरण करके सरकार को आतंकित करते हैं और साथी को छुडाने को बाध्य करते हैं। हिंसात्मक गतिविधियों और अपराधों की कोई सीमा नहीं होती है, किसी भी प्रकार का जघन्य अपराध नि:संकोच करने के लिए ये लोग तत्पर हो जाते हैं। ये लोग विस्मयकारी और नरसहार के तरीको का प्रयोग अपनी बात मानवाने के लिए करते हैं।

यदि इनके हाथ में परमाणु हथियार आ जाए तो ये असंख्य लोगो की हत्या करने मे भी संकोच नहीं करें। आतंकवाद सदैव कानून और व्यवस्था को बिगाडता है, उसे नुकसान पहुँचाता है। आतंकवाद राज्य की जनता को डराता, धमकाता और हतोत्साहित करता है। आतंकवाद एक प्रकार का अपराध है लेकिन न तो ये क्रांतिकारी आन्दोलन है और न ही यह अपने लक्ष्यो को पूर्ण करने मे सफल हुआ है। ये लोग समाज, राष्ट्र और देश के किसी न किसी अंग को कमजोर अवश्य कर देते हैं। इनके द्वारा की गई हत्याओ से राजनैतिक व्यवस्था नहीं बदली है। आतकवादी गतिविधियाँ और कार्य छोटी-मोटी सैनिक कार्यवाही के समान होते हैं। आतंकवादियो को अपराध स्थल तक पहुँचने और भागने के लिए वाहन की आवश्यकता होती है। इनको आतंकवादी गतिविधि करने के लिए पर्याप्त धन, हथियार और पहचान पत्रों की आवश्यकता होती है। आतंकवादी हमला करने से पूर्व लोगो की आदतो और क्रियाकलापो का गहन अध्ययन करते हैं एवं व्यवस्थित योजना बनाते है। यह एक संगठन होता है जिसका एक केन्द्रीय कमांडो होता है। इनके दो प्रकार हो सकते हैं—या तो ये अत्यन्त व्यावसायिक होते हैं अथवा शौकिया होते हैं। इनके द्वारा बनाई गई योजना सभी स्थितियों मे पूर्ण सफल सिद्ध नहीं होती है।

हिंसा और आतंकवाद के नियंत्रण के उपाय (Measures to Control Violence and Terrarism)—आतकवादियो की समस्याओं से निपटने के लिए भारत सरकार ने कानून बनाया है जिसे "आतकवादी और विघटनकारी गतिविधि (निवारण) अधिनियम, 1985" कहा जाता है। आतंकवादियो की हिसात्मक और विघटनकारी अपराधों से निपटने के लिए एवं सामना करने के लिए विशेष प्रावधान रखे गये हैं। इस अधिनियम के द्वारा कानून प्रवर्तनकारी एजेन्सियो को अनेक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिसके द्वारा आतकवादी और हिसात्मक गतिविधियो को समाप्त किया जा सके। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित हैं—(1) यदि कोई व्यक्ति आतकवादी कार्य करता है और किसी की मृत्यु का कारण होता है तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा। (2) आतंकवादियों की अन्य अनेक हिंसात्मक एव विघटनकारी गतिविधियो के लिए न्यूनतम कारावास की अवधि 5 वर्ष है और अधिकतम अवधि आजीवन कारावास की सजा है। आतंककारी पर जुर्माना भी किया जा सकता है। (3) षडयन्त्र रचने के मामलों में अपराधी को कम से कम तीन वर्ष के कारावास से लेकर जुर्माने सहित आजीवन कारावास दिये जाने का प्रावधान है। (4) इस अधिनियम की धारा 5 के द्वारा केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो एव सघ राज्य के क्षेत्रो के प्रशासकों को आतंकवादियों तथा विघटनकारी गतिविधियों से निपटने के लिए व्यापक अधिकार प्रदान किए गए हैं। (5) इस अधिनियम की धारा 6 अधिनियम, 1959, विस्फोटक अधिनियम, 1884 विस्फोट पदार्थ अधिनियम, 1952 के उल्लघन करने पर व्यापक दण्ड की व्यवस्था की गई है। (6) किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी भी प्रकार के इन अधिनियमो का उल्लंघन किए जाने पर 10 वर्ष या आजीवन कारावास या/और जुर्माना या मृत्युदण्ड दिया जा सकता है।

अपराधों के क्षेत्र में हिसा और आतंकवाद के उपर्युक्त विभिन्न रूप आधुनिकतम होने के साथ-साथ घोर नरसहारकारी हैं।

❑

अध्याय-22

मादक द्रव्य व्यसन
(Drug Addiction)

मानव एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्राणी होने के कारण अनेक समस्याओं, तनावों, कुंठाओं, विषादों और चिन्ताओं आदि से घिरा रहता है। इन चिन्ताओं से विमुक्ति के कुछ मार्ग समाज-सम्मत हैं, तो कुछ अन्य असामाजिक मार्ग हैं। समाज-सम्मत मार्ग व्यक्ति को उसकी वास्तविकता से परिचित कराते हैं और उसका उचित मार्ग-दर्शन करते हैं, किन्तु इनका मार्ग दुष्कर व दुस्साध्य होता है, दूसरी ओर चिन्ताओं और तनावों से क्षणिकमुक्ति असामाजिक-पथ का अनुसरण करने से भी व्यक्ति को मिल जाती है। इनमें मादक द्रव्यों को लिया जा सकता है, ये मादक द्रव्य कुछ समय के लिए व्यक्ति के मानसिक तनाव को कम कर देते हैं; चिन्ता, विषाद, कष्ट और यहाँ तक कि व्यक्ति की मनोदशा को भी परिवर्तित कर देते हैं जिससे अस्थाई शान्ति, उल्लास, आनन्द मिलता है।

अनेक वर्षो से इन मादक द्रव्यो का उपयोग व्यक्तियों द्वारा किया जा रहा है—गाँजा, चरस, अफीम, कोकीन और भाँग आदि अनेक प्रकार के मादक पौधो के पत्ते औषधि के रूप मे भी काम में आते हैं। ऋग्वेद में 'सोमरस' का वर्णन अनेक स्थलो पर मिलता है। मुस्लिम शासनकाल से पूर्व भी भाँग का वर्णन मिलता है, अफीम, गाँजा, चरस आदि का सेवन उस समय आनन्द, उन्माद, उल्लास और मानसिक व शारीरिक सुख के लिए किया जाता था। बौद्धकाल के जातक ग्रन्थों मे भी इनका परिचय मिलता है किन्तु यह सर्वथा सत्य है कि सभी युगों में मादक द्रव्यो के प्रचलित होने के उपरान्त भी भारतीय सस्कृति में इन्हें कभी स्वीकारा नहीं गया, सदैव इनकी अवहेलना ही की गई है क्योंकि इनके अनेक दुष्प्रभाव हैं जो व्यक्ति को निष्क्रिय कर देते हैं। मादक द्रव्यों के दुष्प्रभाव, कारण व दुरुपयोग आदि जानने के पूर्व मादक द्रव्यों का अर्थ व परिभाषा जानना आवश्यक है।

मादक द्रव्य का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Drugs)—मादक द्रव्य अँग्रेजी के "ड्रग्स" शब्द का रूपान्तरण है जो नशीली दवा को द्योतित करता है। वास्तव में मादक द्रव्य एक ऐसा रसायनिक पदार्थ है जो व्यक्ति के कार्यों और प्रक्रियाओ को प्रभावित करता है। अँग्रेजी मे इसे संवेदन मंदक औषधि (नारकोटिक ड्रग्स) भी कहा जा सकता है। हिन्दी में ड्रग्स का अर्थ औषधि है जो चिकित्सक द्वारा किसी रोग के निदान के लिए निर्दिष्ट की जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो मादक द्रव्य या 'ड्रग्स' एक ऐसा रसायनिक पदार्थ है जो व्यक्ति के मस्तिष्क एव स्नायुमण्डल को प्रभावित करता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से आदत-निर्माण के लिए इसका उपयोग किया जाता है। सारांशत: देखा जाए तो मादक द्रव्य एक ऐसा रसायनिक पदार्थ है जो व्यक्ति के मनोमस्तिष्क और चेतना को प्रभावित करता है और व्यक्ति और समाज दोनो के लिए हानिकारक है।

मादक द्रव्य के साथ 'दुरुपयोग' अथवा 'एब्यूज' शब्द जुड़ा है जिसका अर्थ है—उस मादक द्रव्य का सेवन जो शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से हानिकर है। 'मादक द्रव्यों का दुरुपयोग' से ही मिलता-जुलता एक शब्द है। 'मादक द्रव्यो का व्यसन' अथवा 'ड्रग एडिक्शन'। इसका अर्थ है—उन्माद की वह अवस्था जो किसी नशीली औषधि के निरन्तर प्रयोग से उत्पन्न होती है। 'व्यसन' शब्द वास्तव मे 'शारीरिक निर्भरता' की स्थिति को इंगित करता है जिसका अर्थ है कि शरीर-संचालन के लिए मादक द्रव्यों का नियमित प्रयोग किया जाए, अन्यथा शरीर-संचालन बाधित हो जाएगा। मुख्य रूप से इसके निम्न लक्षण हैं—(i) मादक द्रव्यो के सेवन की उत्कृष्ट इच्छा और हर सम्भव साधन द्वारा उन्हे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय, (ii) इन द्रव्यों की खुराक निरन्तर बढ़ाने की प्रवृत्ति, और (iii) इन द्रव्यों के प्रभाव के फलस्वरूप मानसिक अथवा शारीरिक निर्भरता।

इस तरह 'व्यसन' शब्द मुख्यत: शारीरिक-निर्भरता को इंगित करता है, जबकि 'दुरुपयोग' अनुचित पदार्थों के सेवन को दर्शाता है जिसका प्रयोग शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से हानिकर होता है। शराब, हशीश, कोकीन, एल एस डी., हेरोइन व गाँजा आदि का सेवन करना शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अहितकर है क्योंकि इनके अनेक दुष्परिणाम होते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 'मादक द्रव्यों के दुरुपयोग' को विश्वव्यापी समस्या माना है और इसे नियंत्रित करने के लिए युद्ध स्तर का अभियान चलाया है। अब इसे सामाजिक समस्या का रूप दिया गया है इस कारण इस समस्या के नियंत्रण और निराकरण के पूर्ण प्रयास किए जा रहे हैं। अब आगे इन मादक द्रव्यों के विषय में विस्तार से जानकारी प्राप्त की जाएगी।

मादक द्रव्यों के प्रकार एवं प्रभाव (Types and Effects of Drugs)— मादक द्रव्यों को मुख्य रूप से निम्नलिखित विभागों मे रखा जा सकता है—

चार्ट—1

मादक द्रव्यों के प्रकार एवं प्रभाव

	1	2	3	4
प्रकार →	उत्तेजक	निश्चेतक	अवसादक	मायिक
प्रभाव → (लक्षण)	निद्रा दूर भगाना, उदासी दूर भगाना शारीरिक ऊर्जा-वृद्धि, स्नायुमण्डल क्रियाशील	उनींदा बनाना, चिन्ता समाप्त, उदासी दूर, प्रसन्नचित्त दिखना, भूख नहीं लगना	सोने की इच्छा होना, अशक्त-सा अनुभव करना, केन्द्रीय स्नायुमण्डल प्रभावित, शान्तिदायक, पीड़ाशामक	वास्तविकता से दूर जाना, दिन में स्वप्न देखना
पदार्थ →	कोकीन एम्फीटामाइन मैथेड्रीन डेक्सीड्रीन कैफीन	मार्फीन से निर्मित हेरोइन	बारबिच्युरेट्स नेम्बुटाल, सिकोनाल, सेन्डोरिल	एल एस.डी.

1. उत्तेजक मादक द्रव्य (Stimulant Drugs)—कोकीन एम्फीटामाइन, मैथेड्रीन-डेक्सीड्रीन एवं कैफीन आदि को उत्तेजक पदार्थों की कोटि में रखा जाता है क्योंकि ये द्रव्य निद्रा को दूर भगाते हैं, उदासी को दूर करते हैं, शारीरिक ऊर्जा की वृद्धि करते हैं, स्नायुमण्डल को क्रियाशील बनाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है व्यक्ति सक्रिय, चुस्त व फुर्तीला हो गया है, चित्त प्रसन्न हो गया है। इस प्रकार ये मादक द्रव्य थकान को कम करके शरीर में स्फूर्ति लाते हैं। किन्तु इनके सेवन की मात्रा यदि कम है तभी ये व्यक्ति को सक्रिय रखते हैं। यदि इनके सेवन की मात्रा में वृद्धि कर दी जाती है तो इनका प्रभाव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भयावह हो जाता है—इन पदार्थों का सेवन प्रायः मौखिक अथवा इजेक्शन द्वारा किया जाता है जिसे अकस्मात् बन्द कर देने से मानसिक अवसाद उत्पन्न हो जाता है।

2. निश्चेतक मादक द्रव्य (Narcotic Drugs)—अफीम, बारबिच्युरेट्स, भाँग, चरस, हेरोइन आदि मादक द्रव्यों को निश्चेतक मादक द्रव्य कहा जाता है। ये द्रव्य प्रायः अफीम के ही रूप हैं और पौधों से प्राप्त होते हैं। भाँग, गाँजा और चरस आदि का सेवन व्यक्ति को उनींदा बना देता है, चिन्ता समाप्त हो जाती है, उदासी और विषाद दूर होता है और व्यक्ति प्रसन्नचित्त दिखाई देता है। हेरोइन जो मार्फीन से निर्मित है—सफेद पाउडर के रूप में मिलता है, इसे व्यक्ति तरल द्रव्य के रूप में इंजेक्शन के द्वारा लेता है अथवा कश के रूप में भी सेवन करता है। अफीम, गाँजा, चरस आदि को व्यक्ति नाक से ऊपर की ओर खींचता है अथवा चिलम का सहारा लेकर इनका सेवन करता है। इन सभी द्रव्यों के प्रभाव से व्यक्ति को भूख नहीं लगती है और अफीम जैसा प्रभाव व्यक्ति पर डालते हैं।

3. अवसादक मादक द्रव्य (Depressants)—शान्तिदायक अथवा पीड़ाशामक मादक द्रव्य इस कोटि में आते हैं जिनके प्रभाव से व्यक्ति सोने की इच्छा करता है। ये व्यक्ति के केन्द्रीय स्नायुमण्डल पर इस प्रकार का प्रभाव डालते हैं कि वह अशक्त-सा अनुभव करता है। बारबिच्युरेट्स (नेम्बुटाल, सिकोनाल, सोडियम एमिटाल और सेनोरिल आदि) मादक द्रव्य इसी प्रकार के प्रभावकारी हैं। इनके सेवन से व्यक्ति आलसी, चिड़चिड़ा और उदासीन हो जाता है क्योंकि ये पदार्थ व्यक्ति की माँसपेशियों की क्रियागति को कम कर देते हैं। अनेक बार शल्य चिकित्सा के पूर्व और बाद में इनका प्रयोग रोगी को आराम देने की दृष्टि से किया जाता है। उच्च-रक्तचाप और मिरगी जैसी बीमारी मे रोगी को आराम देने के लिए इनका प्रयोग होता है किन्तु निर्धारित मात्रा से अधिक खुराक के रूप में इनका प्रयोग भयावह होता है। इस स्थिति मे व्यक्ति असहाय, निष्क्रिय और शिथिल हो जाता है।

4. भ्रान्तिजनक अथवा मायिक मादक द्रव्य (Hallocinogens)—इन मादक द्रव्यो में एल एस डी. प्रमुख हैं जिसके प्रयोग से व्यक्ति वास्तविकता से दूर चला जाता है, दिन में स्वप्न देखने लगता है। एल.एस.डी इतना शक्तिशाली रसायनिक द्रव्य है कि नमक के दाने के बराबर इसकी मात्रा भी व्यक्ति के स्नायुमण्डल में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है, मानसिक रूप से व्यक्ति प्रभावित हो जाता है। इसे मौखिक रूप से पाउडर के रूप में लिया जाता है अथवा तरल पदार्थ के रूप में भी इसका सेवन किया जाता है। इसका असर 8-10 घण्टे तक रहता है और आदत पड़ जाने के बाद इसे न लेने से व्यक्ति मानसिक तौर पर असंयमित हो जाता है, गहरे अवसाद में डूब जाता है और हर सम्भव स्तर पर उसे प्राप्त करना चाहता है। इस मादक द्रव्य में आदत डालने वाले गुण प्रचुर मात्रा में हैं।

इन सबके अतिरिक्त शराब और निकोटीन भी मादक द्रव्यों की श्रेणी में आते है, जिनका प्रयोग बहुतायत से किया जाता है।

शराब—यह एक ऐसी आदत बन जाती है कि व्यक्ति उसे लेने के लिए विवश हो जाता है। कुछ लोग थकान और मन की उदासी को दूर करने के लिये लेते हैं तो कुछ स्वयं को मुक्त अनुभव करने के लिए अथवा उत्साह, उमंग और उत्तेजना के रूप में इसे ग्रहण करते हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि तनाव शान्त होता है, निर्णय-क्षमता मन्द हो जाती है। यह पीड़ाशामक होती है, विवेक का क्षय होता है। इसके सेवन के परिणामस्वरूप हृदय-रोग की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं, आँतों को नुकसान पहुँचता है व अनेक शारीरिक रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

निकोटीन (Nicotine)—निकोटीन द्रव्यों में बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू और सिगार आदि को लिया जाता है। इन द्रव्यों का अत्यधिक सेवन व्यक्ति के हृदय, फेफड़े व श्वासनली को प्रभावित करता है जिससे अनेक भयावह बीमारियाँ, जैसे—हृदय-रोग, अस्थमा और कैंसर तक हो जाते हैं। ये पदार्थ केन्द्रीय स्नायुमण्डल में उत्तेजना पैदा करते हैं और व्यक्ति इन पर आश्रित हो जाता है, इसी कारण डॉक्टर इन्हें न लेने की सलाह देते हैं।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त वर्णित सभी मादक द्रव्य व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं क्योंकि ये दुष्परिणामजनक हैं। अनेक शोधों से यह निष्कर्ष निकलता है कि— (i) इन मादक द्रव्यों के सेवन की आदत व्यक्ति को हो जाती है और वे शारीरिक एवं मानसिक रूप से उसे प्रभावित करते हैं, जैसे—भूख न लगना, कार्य क्षमता में कमी, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाना, वजन का कम होना, अपने तक ही सीमित रहना और अनैतिक और असामाजिक कार्य करने लगना, (ii) जब व्यक्ति इन मादक द्रव्यों के सेवन का आदि हो जाता है तो इनका त्यागना दुष्कर हो जाता है और उसके उपचार में भी अनेक कठिनाइयाँ आती हैं क्योंकि व्यक्ति को बेचैनी का अनुभव होता है, पसीना आता है, पेट में दर्द होता है, कमजोरी आ जाती है, सिर-दर्द, रक्तचाप का कम होना, उल्टी आना जैसी अनेक परेशानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस तरह इनके अनेक दुष्प्रभाव व्यक्ति को शारीरिक व मानसिक रूप से सहने होते हैं।

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग के कारण (Causes of Drug Abuse)—प्रश्न यह है कि व्यक्ति इन मादक द्रव्यों का दुरुपयोग क्यो करता है? जे.एच. विल्स, जो इंग्लैंड के प्रसिद्ध मनोचिकित्सक हैं—निम्नलिखित कारण प्रभावी मानते हैं—

(1) मनोवैज्ञानिक कारण (Psychological Cause)—जिन व्यक्तियों का सांवेगिक विकास अपूर्ण होता है; अतिसवेदनशील होते हैं; स्वावलम्बी नहीं हैं; स्वयं को अयोग्य, अकुशल और कमजोर समझते हैं और सुप्त व्यक्तित्व वाले हैं, वे इन मादक द्रव्यों का दुरुपयोग करते हैं क्योंकि ये द्रव्य उनके तनाव, संघर्ष और आलस्य को कम करते हैं, अवसाद को शान्त करते हैं, उनके कौतूहल और आनन्द को जागृत करते हैं और उनकी अनुभूति को तीव्रता प्रदान करते हैं।

(2) सामाजिक कारण (Social Cause)—जिन समाजों में मादक द्रव्यो के सेवन को स्वीकृति प्राप्त है, उसे उच्च प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता है, सांस्कृतिक और धार्मिक स्वीकृति प्राप्त है और इन्हें आध्यात्मिक चिंतन और मनन का उत्प्रेरक माना जाता है वहाँ इनका प्रचलन अधिक है क्योंकि वहाँ मित्रों द्वारा इसे स्वीकार किया जाता है और सामाजिक मूल्यों का प्रतीक माना जाता है।

(3) शारीरिक कारण (Physical Cause)—सुखानुभूति की आकांक्षा, मनोदशा-परिवर्तन, उदासी व विषाद को कम करना और स्वयं में उत्तेजना पैदा करने के लिए भी इन मादक द्रव्यों का दुरुपयोग किया जाता है। ये पदार्थ दुःख-निवारक, निद्रा लाने वाले, काम-भावना को उत्तेजित करने वाले और निराशा की समाप्ति कर अवर्णनीय आनन्द की सृष्टि करते हैं।

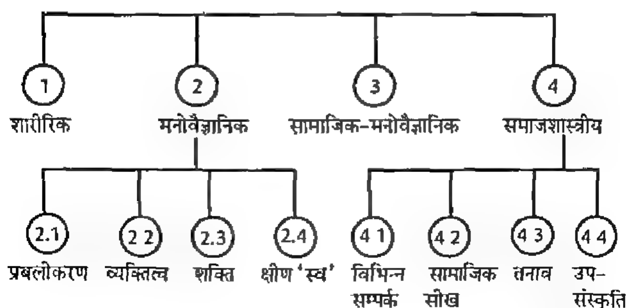
(4) सुगमता से उपलब्ध (Easily available)— इन मादक द्रव्यों के दुरुपयोग का एक कारण यह भी है कि समाज में इनकी उपलब्धि सुगमता से हो जाती है। प्राचीन समय से ही अफीम, गाँजा, चरस, बीड़ी, शराब और मार्फीन जैसे द्रव्य सरलता से व्यक्तियों को उपलब्ध होते रहे हैं। व्यक्तिगत समस्याओं के हल व स्वयं को उत्कृष्ट बनाने के लिए इनका प्रयोग किया जाता है।

वास्तव में इन मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की प्रेरणा के अनेक कारण हो सकते है। इन कारणों को चार समूहों में विभाजित किया जा सकता है, जिन्हे कारण सम्बन्धी सिद्धान्त कहा जाता है।

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग-सिद्धान्त
(Theories of Drug Abuse)

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग से सम्बन्धित वैज्ञानिकों ने चार महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है जो निम्नांकित हैं— (1) शारीरिक सिद्धान्त, (2) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, (3) सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त, और (4) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त।

चार्ट-II
मादक द्रव्यों के दुरुपयोग-सिद्धान्त



(1) शारीरिक सिद्धान्त (Physical Theory)—इस सिद्धान्त को मोरडोन्स, स्लिकवर्थ, रैन्डाल्फ और निर्मविच ने प्रतिपादित किया था। इसे 1910 और 1920 के दशकों मे स्वीकार किया गया था। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि शारीरिक रोगों और दोषों के कारण तथा मादक द्रव्यों के रासायनिक गुणों का शरीर पर अनुकूल प्रभाव पड़ने के कारण

व्यक्ति इनका सेवन करते है। इस सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्री नहीं मानते हैं क्योंकि शारीरिक सिद्धान्त आनुभविक तथ्यों एवं प्रमाणों पर आधारित नहीं है।

(2) मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)—मादक द्रव्यों के दुरुपयोग से सम्बन्धित चार मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हैं जो निम्न प्रकार हैं (चार्ट-I)

2 1 प्रबलीकरण का सिद्धान्त (Theory of Reinforcement)—इसे **अब्राहम विलकर** ने विकसित किया। इस सिद्धान्त के आधार पर प्राणी आनन्द पैदा करने वाली तथा पीड़ा को दूर करने वाली क्रियाओं को दोहराते रहते हैं अर्थात् मादक द्रव्यों की सुखद अनुभूतियाँ उनके उपयोग को बढाती हैं, इन्हें प्रबलीकरण की क्रियाएँ कहा जाता है।

2 2 व्यक्तित्व का सिद्धान्त (Theory of Personality)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक और समर्थक **चेन, नाइट** और **रॉबर्ट फ्रीड बेल्स** हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मादक द्रव्यों के सेवन का कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व सम्बन्धी कुछ विशिष्ट व प्रभेदक लक्षण हैं। यह लक्षण मुख्य रूप से 'आश्रित व्यक्तित्व' का होना है। इस प्रकार के व्यक्ति अपरिपक्व व्यक्तित्व के होते हैं। **रॉबर्ट फ्रीड** बेल्स ने इस सिद्धान्त का विकास किया।

2 3 शक्ति सिद्धान्त (Power Theory)—**डेविड मैक्येलेण्ड** ने शक्ति के सिद्धान्त का विकास किया। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति उन संघर्षों को सुलझाने के लिए मादक द्रव्यों का सेवन करता है, जो समाज द्वारा स्वीकृत शक्ति प्राप्त न कर सकने के कारण उसमें उत्पन्न होते हैं। एक सामान्य रूप से मादक द्रव्यो को सेवन करने वाला व्यक्ति इसके सेवन से सामाजिक शक्ति की सुखद अनुभूति प्राप्त करता है जबकि अत्यधिक मादक द्रव्यों का सेवन करने वाला व्यक्ति शक्ति की आवश्यकता के कारण आदत से मजबूर होकर उनका सेवन करता है।

2 4 क्षीण 'स्व' का सिद्धान्त (Weakened 'Self' Theory)— **स्टैन्टन पीले** ने मादक द्रव्यो के सेवन के लिए वह स्थिति उत्तरदायी मानी है जिसमें व्यक्ति के कार्य निष्पन्न करने तथा समाज के साथ निपटने के लिए शक्ति-चेतना नहीं पाई जाती और व्यक्ति बाह्य सहारे के साथ प्राश्रयता का सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव करता है।

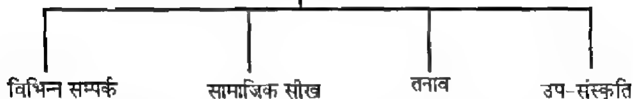
उपर्युक्त सभी सिद्धान्त अपूर्ण माने जाते हैं क्योंकि— (i) ये सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि ये सलक्षण (Syndromes) मादक द्रव्यो के सेवन को ही क्यों उत्पन्न करते हैं किसी अन्य व्यवहार को क्यों नहीं, (ii) ये सिद्धान्त व्यक्तित्व के उन लक्षणों की पहचान में असफल रहे हैं जो केवल मादक द्रव्यो के सेवन करने वालों मे ही पाए जाते हैं, (iii) जो व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण मादक द्रव्यो के सेवन करने वालो मे पाए जाते हैं, वे वास्तव में कारण न होकर उसके परिणाम भी हो सकते हैं।

(3) सामाजिक-मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Socio-Psychological Theory)—इसमे **नामांकन का सिद्धान्त** (Labelling Theory) विकसित किया गया है। **हावर्ड बेकर** और **एरिक्सन** ने इस सिद्धान्त मे स्पष्ट किया है कि कोई व्यक्ति मादक द्रव्यों के सेवन करने वाले का लेबल लग जाने के दबाव के कारण ही दुरुपयोगी बन जाता है। अर्थात् सामाजिक नियमो से विचलन उन व्यक्तियों की क्रियाओ मे नहीं होता जिन्हे 'विचल व्यक्ति' के रूप मे पहचाना जाता है, परन्तु यह विचलन देखने वालो की आँखों मे होता है तथा उस विधि मे होता है, जिसके द्वारा किसी एक विशेष व्यक्ति की क्रियाओ का मूल्यांकन किया जाता है।

इस सिद्धान्त का दोष यह है, कि व्यक्ति मादक द्रव्यो का सेवन करना प्रारम्भ ही क्यो करते हैं? यह इस बात का स्पष्टीकरण नहीं करता।

(4) समाजशास्त्रीय सिद्धान्त (Sociological Theory)—यह सिद्धान्त मादक द्रव्यों के दुरुपयोग के कारण सामाजिक परिस्थितियों एव सामाजिक व्यवस्था में खोजता है। इनके अनुसार सामाजिक कारक व्यक्ति को मादक द्रव्यों का व्यसनी बनाते हैं। इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रकार अग्र हैं—

चार्ट-III



4.1 **विभिन्न सम्पर्क सिद्धान्त** (*Theory of Varied Contact*)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक **सदरलैण्ड** हैं। आपकी मान्यता है कि व्यक्ति जब मादक द्रव्य सेवन करने वालो के सम्पर्क में आता है, उनके साथ रहता है, उठता-बैठता है तो धीरे-धीरे वह भी मादक द्रव्यों का सेवन करने लग जाता है। ऐसा छोटे एवं घनिष्ठ समूहों में विशेष रूप से होना सम्भव है।

4.2 **सामाजिक सीख का सिद्धान्त** (Theory of Social Learning)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक **एकर्स** और **बर्जेस** हैं। यह सिद्धान्त दो सिद्धान्तों—विभिन्न सम्पर्क सिद्धान्त और प्रबलीकरण सिद्धान्त—का विस्तृत रूप है। प्रबलीकरण की प्रक्रिया मादक द्रव्यों की सुखद अनुभूतियाँ उसके उपयोग मे वृद्धि करती हैं। यह एक प्रकार से प्रतिबद्ध सीखना है। सामाजिक सीख का सिद्धान्त सीखने की प्रक्रिया में कार्य करने वाले बलयुक्तकर्त्ता जोर देने वालों के सामाजिक स्रोतों की भी भूमिका मानता है, जो मादक द्रव्यो के सेवन के पक्ष में होते हैं वे प्रबलीकरण करते हैं और नए व्यक्ति को सेवन करने के लिए जोर डालते हैं। व्यक्ति सेवन करने से सुख की अनुभूति करता है और धीरे-धीरे व्यसनी बन जाता है। यही सामाजिक सीख का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त ये स्पष्ट नहीं करता कि व्यक्ति ऐसे लोगों से सम्पर्क बढ़ाता ही क्यों है?

4 3. **तनाव सिद्धान्त** (Strain Theory)—इस सिद्धान्त के समर्थक **मर्टन** हैं। आपके अनुसार दबाव या तनाव का कारण लक्ष्यों और साधनो के बीच विसगति है। जब व्यक्ति अपनी सस्कृति द्वारा मान्य लक्ष्यो को संस्था या समाज द्वारा मान्य साधनों से पूर्ण नहीं कर पाता है तो वह हताश हो जाता है और परेशान होकर मादक द्रव्यो का सेवन करना प्रारम्भ कर देता है आगे चलकर वह व्यसनी बन जाता है। मर्टन ऐसे हताश, असफल, नाकामयाबो को पलायनवादी की संज्ञा देता है।

4 4 **उप-संस्कृति का सिद्धान्त** (Theory of Sub-Culture)—व्यक्ति समाज मे व्यवहार करता है। इस व्यवहार का मूल्यांकन बाहरी समूह करता है कि व्यवहार समाज-सम्मत है अथवा समाज-विरोधी (विचलित) है। विचलन का निर्णय थोपा जाता है। एक

समूह किसी व्यवहार को समाज-सम्मत मानता है तो दूसरा समूह विचलित या समाज विरोधी। जब व्यक्ति देखता है कि जो लोग मादक द्रव्यों का सेवन करना बुरा बताते हैं, वे स्वयं उनका सेवन करते हैं तो वह ऐसे लोगों को पाखण्डी मानता है। व्यक्ति ऐसे झूठे मूल्यों का विरोध करता है तथा मादक द्रव्यों का सेवन प्रारम्भ कर देता है। इस प्रकार से दो उप-सम्कृतियों के मूल्यों मे संघर्ष के परिणामस्वरूप लोग मादक द्रव्यों के व्यसनी बन जाते हैं। यही उप-सस्कृति का सिद्धान्त है।

मादक द्रव्यों के दुरुपयोग सम्बन्धी तथ्य (Facts related to Drug Abuse)

भारत में मादक द्रव्यों का सेवन सभी प्रकार के समाजों (जनजातियों, ग्रामों, कस्बों, नगरों तथा महानगरों) में होता रहा है। प्रश्न यह उठता है कि इन विभिन्न समाजों में मादक द्रव्यों के दुरुपयोग करने वालों की संख्या कितनी है? इन तथ्यों को एकत्र करने के लिए समय-समय पर अनेक अध्ययन होते रहते हैं। यहाँ पर हम मादक द्रव्यों के दुरुपयोग करने वालों की वास्तविक स्थिति को जानने का प्रयास करेंगे। भारत मे मादक द्रव्यों के दुरुपयोग के प्रचलन को समाजशास्त्रियों ने अध्ययन की सुविधा के लिए चार भागों में वर्गीकृत किया है। ये हैं—(1) ग्रामों, (2) नगरों, (3) औद्योगिक श्रमिकों, तथा (4) विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों के प्रचलन का अध्ययन।

(1) ग्रामों में मादक द्रव्यों का दुरुपयोग (Drug Abuse in Villages)—ग्रामवासियों में मादक द्रव्यों के दुरुपयोग सम्बन्धी अध्ययन 1971 से 1979 के बीच के ही उपलब्ध हैं। इनमें उल्लेखनीय अध्ययन देव, जिन्दल, गुरमीत सिंह, सेठी, मोहन त्रिवेदी, प्रभाकर, शर्मा आदि के हैं। इनके ग्रामीण क्षेत्रों में मादक द्रव्यों के दुरुपयोग सम्बन्धी निष्कर्षों में पाया गया कि ग्रामीणों में शराब का दुरुपयोग सर्वाधिक है। दूसरे स्थान पर तम्बाकू और अफीम का सेवन मिलता है। ग्रामीणों मे चरस और गाँजे का व्यसन 1.0–2.0 प्रतिशत के लगभग मिलता है।

(2) नगरों में मादक द्रव्यों का दुरुपयोग (Drug Abuse in Cities)— अप्रैल, 1994 की पत्रिका 'द वीक' के अनुसार भारत में सबसे अधिक मादक द्रव्यों का सेवन करने वाला शहर कलकत्ता है। **केन्द्रीय कल्याण मंत्रालय** ने 1989 में कलकत्ता को छोड़कर अन्य 33 शहरों और कस्बों मे मादक द्रव्यों के दुरुपयोग, रोकथाम आदि पर अनुसन्धान करवाया था। उस अध्ययन के कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत हैं। व्यसनियों की संख्या बम्बई मे 1,54,800 थी। कानपुर में 15–60 वर्ष के आयु समूह में 5,90,291 व्यक्तियों में से 34,768 मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले पाए गए। इनमें हेरोइन, ब्राउन शुगर तथा स्मैक का सर्वाधिक दुरुपयोग पाया गया। मद्रास मे ब्राउन शुगर और गाँजे का दुरुपयोग अधिक प्रचलित पाया गया। गोवा में चरस और गाँजा का दुरुपयोग सर्वाधिक था। बैंगलोर मे कच्ची बस्तियों व निम्न सामाजिक-आर्थिक क्षेत्रों में रहने वालों में चरस, गाँजा और हेरोइन का दुरुपयोग अधिक पाया गया था। ये आँकड़े 7 साल पहले के हैं। पिछले वर्षों में हेरोइन की उपलब्धि काफी बढ़ गई है तथा इसका सेवन भी बढ़ा है। अन्तर्राष्ट्रीय नारकोटिक्स कन्ट्रोल बोर्ड ने एक संयुक्त राष्ट्रीय सर्वेक्षण प्रतिवेदन 1991 में प्रकाशित किया था, उसके अनुसार मादक द्रव्यों का सेवन कुछ विकसित देशों में घटा है लेकिन विकासशील देशों मे इसका दुरुपयोग बढ़ा है।

भारत में मादक द्रव्यो के सेवन के बढ़ने का प्रमुख कारण इसका बर्मा, लाओस व थाइलैण्ड तथा पाकिस्तान, अफगानिस्तान व ईरान के बीच स्थित होना है। इन देशों में भारत के माध्यम से पश्चिमी देशों को मादक द्रव्यों की तस्करी होती है। पहले भारत केवल वाहकनली था परन्तु पिछले वर्षों से यह एक बड़ा उपभोक्ता-केन्द्र भी बनता जा रहा है।

(3) औद्योगिक श्रमिकों में मादक द्रव्यों का दुरुपयोग (Drug Abuse in Industrial Labourers)—औद्योगिक श्रमिकों में मादक द्रव्यो के सेवन के सम्बन्ध में **ग्रन्ग्राडे** और **गुप्ता** ने दिल्ली के 4000 औद्योगिक श्रमिको के 1970 के अध्ययन के आधार पर निम्न निष्कर्ष दिए हैं। उन्होने लिखा है कि अधिकतर श्रमिक मादक द्रव्यो का सेवन सीधे ही प्रारम्भ कर देते हैं। चिकित्सक के नुसखे के बिना ही सेवन प्रारम्भ कर देते हैं। श्रमिकों में मादक द्रव्यों के दुरुपयोग के कारणो में—मित्र-समूहो का दबाव, शिक्षा का निम्न स्तर, उप-सस्कृति आदि प्रमुख हैं। इन कारणों से सम्बन्धित गन्ग्राडे और गुप्ता ने पाया कि दो-तिहाई औद्योगिक श्रमिको ने इस व्यसन को मित्र-समूहों के दबाव के कारण प्रारम्भ किया। तीन-चौथाई से अधिक श्रमिको ने श्रमिक बनने के बाद ही मादक द्रव्यों का दुरुपयोग शुरू किया। इस अध्ययन मे 20-30 आयु समूह के अधिकतर श्रमिक इस व्यसन मे लिप्त पाए गए। औद्योगिक श्रमिकों में 65% शराब, 18% चरस, 8 0% भाँग, 7 0% गाँजा तथा 2% अफीम का सेवन करने वाले पाये गये। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि श्रमिकों में सर्वाधिक मात्रा शराब का व्यसन करने वालों की होती है।

(4) विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों का दुरुपयोग (Drug Abuse in Students)—विद्यार्थियों में मादक द्रव्यो के सेवन से सम्बन्धित अनेक अध्ययन हुए हैं। सुविधा की दृष्टि से इन अध्ययनो को दो भागो में बाँटा जा सकता है—(1) उच्च माध्यमिक विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों का दुरुपयोग तथा (2) महाविद्यालय व विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो मे मादक द्रव्यों का दुरुपयोग। इन अध्ययनों के निष्कर्ष निम्नलिखित हैं—

4.1. **उच्च माध्यमिक विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों का दुरुपयोग** (Drug Abuse in Higher Secondary Students)—उच्च माध्यमिक कक्षा के विद्यार्थियों में मादक द्रव्यो के दुरुपयोग से सम्बन्धित अध्ययन—**मोहन, सुन्दरम** और **चावला** ने दिल्ली मे 1978 में किया था। इन्होंने 2,000 उच्च माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियो के अध्ययन मे पाया कि 63 0% विद्यार्थी मादक द्रव्यो का दुरुपयोग करते हैं। इनमे 0 2% से 0 4% विद्यार्थी उत्तेजक, तन्द्राकर तथा शामक द्रव्यों का सेवन करते पाए गए। अन्य विद्यार्थी शराब, सिगरेट तथा पीड़ानाशक मादक द्रव्यों का सेवन करते थे। इस अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि 1978 में उच्च माध्यमिक विद्यालय के आधे प्रतिशत से भी कम विद्यार्थी मादक द्रव्यो का सेवन करते थे। परन्तु आज लगभग 18 वर्षों मे मादक द्रव्यो का सेवन इन विद्यार्थियो मे बढ़ा है जिसकी वस्तु स्थिति जानने के लिए समाजशास्त्रियो द्वारा अनुसन्धान किया जाना अत्यावश्यक है।

4 2. **महाविद्यालय/विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में मादक द्रव्यों का दुरुपयोग** (Drug Abuse in College and University Students)—महाविद्यालय/विश्वविद्यालय के विद्यार्थियो मे मादक द्रव्यों के दुरुपयोग से सम्बन्धित अध्ययन दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, पजाब, उत्तर प्रदेश आदि में किए गए हैं। विद्यार्थियो मे मादक द्रव्यो का सेवन तथा दुरुपयोग के एकल, संयुक्त तथा बहु-केन्द्रीय अध्ययन हुए हैं। बहु-केन्द्रीय

अध्ययन केन्द्रीय सरकार के कल्याण मंत्रालय द्वारा करवाया गया था। सभी अध्ययन 1963 से 1994 के बीच हुए हैं। मादक द्रव्यों की छात्रों में बढ़ती प्रवृत्ति को जानने के उद्देश्य से राजस्थान विश्वविद्यालय व उससे सम्बन्धित कॉलेजों का एक सर्वेक्षण किया गया और उसके लिए एक समिति का गठन किया गया। राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा गठित समिति ने अपनी रिपोर्ट 16 2.199 को प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट से निष्कर्ष निकला है कि राजस्थान विश्वविद्यालय एवं जयपुर के विभिन्न कॉलेजों में अध्ययनरत प्रत्येक ग्यारहवाँ विद्यार्थी मादक द्रव्यो का सेवन करता है। रिपोर्ट में यह कहा गया है कि मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले छात्रो में से 92 1 प्रतिशत छात्र है और 7 9 प्रतिशत छात्राएँ हैं। नशा करने वालो मे 71 11 प्रतिशत छत्र छात्रावासों मे रहते हैं तथा 28 प्रतिशत छात्र परिवार के साथ रहते हैं। रिपोर्ट मे कहा गया है नशा करने वाले 50 प्रतिशत छात्र 20 वर्ष से कम आयु के हैं जबकि 39 5 प्रतिशत 20 से 25 वर्ष की आयु के हैं। शेष 10 5 प्रतिशत छात्र 25 वर्ष से अधिक आयु के हैं। इन नशा करने वाले छात्रों में 44 8 प्रतिशत विज्ञान संकाय तथा 34.2 प्रतिशत मेडिकल संकाय के हैं। 18.4 ने प्रतिशत छात्र वाणिज्य संकाय के हैं। इन विद्यार्थियों मे से 78 9 प्रतिशत छात्र स्नातक स्तर पर ही मादक द्रव्यो का सेवन करते पाए गए, जबकि 18 4 प्रतिशत ने स्नातकोत्तर स्तर पर नशीले पदार्थों का उपयोग किया।

रिपोर्ट मे यह भी कहा गया है कि 63 1 प्रतिशत छात्र शराब का उपयोग करते हैं, जबकि 26 3 प्रतिशत छात्र शराब के साथ स्मैक, अफीम और भाँग आदि का सेवन करते हैं। चार प्रतिशत छात्र तो प्रतिदिन शराब का सेवन करते हैं—मध्यमवर्गीय परिवारों में नशीले पदार्थों के प्रति अधिक आकर्षण है। समिति के सुझाव हैं कि वर्ष 1995 को 'मादक द्रव्यों के विरुद्ध संघर्ष-वर्ष' घोषित किया जाए।

इन सभी अध्ययनो के आधार पर निम्नांकित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

1 नगरो मे महाविद्यालय एव विश्वविद्यालय के 17.0% से 25 0% विद्यार्थियों मे मादक द्रव्यो के दुरुपयोग का प्रचलन मिलता है। कुछ समाजशास्त्री मादक द्रव्यो के दुरुपयोग मे शराब, सिगरेट तथा पीड़ा-नाशक पदार्थों को अलग करके भी देखते हैं। अगर शराब, सिगरेट तथा पीडा-नाशक औषधियों को निकालकर देखें तो उच्च शिक्षा के विद्यार्थियो मे मादक द्रव्यो का दुरुपयोग 4 0% से 6 0% ही मिलता है।

2 मेडिकल विद्यार्थियो मे गैर-मेडिकल विद्यार्थियों की तुलना में मादक द्रव्यो के सेवन का प्रतिशत अधिक मिला था। मादक द्रव्यो का दुरुपयोग व्यावसायिक विषयो के छात्रो मे अधिक तथा गैर-व्यावसायिक विषयो के छात्रो में कम मिलता है।

3 विद्यार्थियो मे मादक द्रव्यो का सेवन करने वालों में 90% शौकिया (प्रयोगकर्ता) होते है। ये सप्ताह मे एक बार या इससे कम मादक द्रव्यो का सेवन करते हैं। मादक द्रव्यो का नियमित सेवन करने वाले 9 0% तथा 1 0% व्यसनी विद्यार्थी पाए गए। अन्यों की तरह विद्यार्थियो मे भी तीन-चौथाई भाग शराब या शराब और तम्बाकू के सेवन करने वाले पाए गए।

4. 35 0% विद्यार्थी तन्द्राकर द्रव्य, जैसे—हेरोइन, गाँजा, चरस तथा कोकीन, 20 0% पीड़ानाशक पदार्थ, 5.0% से 7% उत्तेजक द्रव्य और 1 0% से भी कम भ्रमोत्पादक पदार्थ का सेवन करने वाले पाए जाते हैं।

5. मादक द्रव्यों का सेवन 60 0% विद्यार्थी अपने मित्र तथा आयु समूह के सुझाव एवं उकसाने के कारण करते हैं। ऐसे विद्यार्थी अप्रतिरोधकारी कहलाते हैं। 5.0% विद्यार्थी ऐसे होते हैं जो ऐसे पदार्थों का सेवन परिवार के सदस्यों या/और अन्य सम्बन्धियों के प्रभाव के कारण करते हैं। 10 0% विद्यार्थी चिकित्सक के सुझाव के कारण मादक द्रव्यों का सेवन करते हैं।

सारांश (Conclusion)—इन विभिन्न सर्वेक्षणो, अनुसन्धानों तथा आँकड़ों से यही निष्कर्ष निकलता है कि सन् 1980 के अन्त तक भारतवर्ष में मादक द्रव्यों का दुरुपयोग विशेष नहीं था। इन द्रव्यों का सेवन 1980 के बाद जैसे-जैसे मादक द्रव्यों की तस्करी बढ़ती गई वैसे-वैसे इन मादक द्रव्यों का दुरुपयोग भी उसी अनुपात मे बढ़ता गया। आज भारत में यह एक जटिल सामाजिक समस्या बन गया है जिसका निवारण तथा रोकथाम अत्यावश्यक है।

विद्यार्थी जब विद्यालय में जाता है तो 'पुशर' या नशीले द्रव्य बेचने वाला उससे सम्पर्क करता है। माता-पिता को अपनी सन्तानों को 'पुशर' से सतर्क रहने को कहना चाहिए। शिक्षकों से मिलकर 'पुशर' को पकड़वाना चाहिए तथा विद्यार्थियों की 'पुशर' से सुरक्षा करवानी चाहिए।

माता-पिता तथा अभिभावको को बालकों की आदतों के प्रति सतर्क रहना चाहिए। बालक में निम्न लक्षण मादक द्रव्यो के सेवन के कारण पैदा होते हैं जिनको देखने पर माता-पिता तथा अभिभावकों को सतर्कता से छानबीन करनी चाहिए तथा उपचार के लिए कदम उठाने चाहिए।

विद्यार्थी में मादक द्रव्यों के सेवन से पैदा होने वाले लक्षण
(Symptoms Developed in Drug Abuse Students)

1. विद्यार्थी की दिनचर्या में अनियमितता का होना, जैसे—सोने और जागने में बदलाव आना, (2) शौच, मंजन, स्नान आदि समय पर नहीं करना, (3) भूख कम लगना, (4) चाल-ढाल का बदल जाना, (5) बोलने में हकलाना या तुतलाना, (6) आँखों का लाल रहना, बुझी-बुझी-सी रहना, आँखों के नीचे सूजन का आ जाना, (7) शरीर पर ताजे इंजेक्शन के निशानों का होना, (8) इजेक्शन की सिरिन्ज, पाउडर आदि का घर मे होना, (9) सनक का बढ़ना, विचारो मे तारतम्य का न होना, (10) परीक्षा मे कम अक आना, (11) गृहकार्य में मन का नहीं लगना, पढ़ाई मे रुचि का कम होना, (12) स्वभाव में परिवर्तन होना, खेलकूद में कम भाग लेना, (13) कक्षा में उपस्थिति का कम होना, (14) पुराने मित्रों को छोड़कर अचानक नए मित्रो को बनाना, (15) घर से सामान गायब होना। ये कुछ प्रमुख लक्षण हैं जो कम या अधिक मात्रा में विद्यार्थी में मादक द्रव्यो के सेवन के उपरान्त पैदा होते हैं। माता-पिता तथा अभिभावको को इनका गहराई से अध्ययन करके अपने बालक का उपचार करवाना चहिए।

शिक्षकों की भूमिका (Role of Teachers)—माता-पिता तथा परिवार के बाद बालको और युवाओ का समय शिक्षको के साथ और विद्यालय/महाविद्यालय मे व्यतीत होता है। 'पुशर' बालकों और युवाओं से शिक्षण संस्थाओ मे सम्पर्क करते हैं। उन्हे मुफ्त मादक द्रव्य देते हैं। बाद मे जब लत/आदत पड़ जाती है तब वे 'पुशर' विद्यार्थियों का परिचय मादक द्रव्य बेचने वाले एजेन्टो से करवा देते हैं। जब लतखोर 10–15 हो जाते हैं तो उनका

एक गिरोह बन जाता है। आगे चलकर ये गिरोह अन्य भोले-भाले लड़कों को अपने चंगुल मे फँसाते रहते हैं। यह सारा का सारा कार्य शिक्षण संस्थाओं के प्रांगण मे होता है। इस सारी प्रक्रिया को रोकने तथा न होने देने में शिक्षक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक वर्ग पुशर, मादक द्रव्यों और एजेन्टो का ध्यान रखें। उन्हें विद्यार्थियों से सम्पर्क नहीं करने दे। सस्था के प्रांगण में गिरोह के प्रवेश को रोके। शिक्षक विद्यार्थियों को इन मादक द्रव्यों के प्रभाव से बचाने में अहम् भूमिका निभा सकते हैं। शिक्षको का कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियो से मादक द्रव्यो के प्रकार, प्रभाव तथा हानियों की चर्चा करें तथा सुरक्षा प्रदान करें।

भारत में मादक द्रव्यों की तस्करी (Drug Trafficking in India)—भारत में मादक द्रव्यो की तस्करी की समस्या 1980 के दशक से निरन्तर बढ़ती जा रही है। 1990 के दशक से तो यह एक जटिल समस्या बन गई है। विश्व में सबसे अधिक हेरोइन की मात्रा सन् 1988 मे भारत मे 3,000 किलो के लगभग पकड़ी गई थी। भारत में सन् 1987 में 2,929 किलो, 1988 मे 3,100 किलो, 1989 में 4,855 किलो और 1990 में 1,427 किलो अफीम पकड़ी गई थी। इसी प्रकार हशीश 1987 में 14,786 किलो, 1988 में 17,523 किलो, 1989 मे 8,000 किलो तथा 1990 मे 5,000 किलो पकड़ी गई थी। भारत मे विशेष रूप से हेरोइन और हशीश की तस्करी मध्य-पूर्वी देशो से पश्चिमी देशों को होती है। मादक द्रव्यो की तस्करी के कारण दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि महानगर मादक द्रव्यों के दुरुपयोग तथा व्यसन से बहुत अधिक प्रभावित हो रहे हैं। पहले तस्कर भारत में हेरोइन लगभग 70,000 रुपये प्रतिकिलो के भाव से खरीदकर विश्व बाजार मे 3 लाख 90 हजार के भाव में बेचते थे। मई 1995 में राजस्थान के जैसलमेर जिले से सटे भारत-पाक सीमा-क्षेत्र सुरक्षा बल ने 52 किलो हेरोइन बरामद की जिसका मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में 52 करोड़ रुपए अर्थात् एक करोड़ रुपए प्रतिकिलो आँका गया था। स्थानीय पुलिस, कस्टम तथा अन्य सूचना एजेंसियो के अनुसार पिछले दो वर्षों मे हेरोइन की इतनी बड़ी बरामदगी पहली बार हुई है।

हेरोइन की जो मात्रा हर वर्ष पकड़ी जाती है उससे भी यही स्पष्ट होता है कि इसकी तस्करी निरन्तर बढ़ती रही है। 1988 में जब्त की गई हेरोइन की मात्रा 1983 मे पकडी गई मात्रा से 18 गुणा अधिक थी। भारत मे करोडों रुपयों का मादक द्रव्यो का लेन-देन होता है।

विद्वानो का मत है कि इसमे जो लाभ होता है उसका उपयोग मुख्य रूप से प्रजातन्त्रीय प्रणाली को विफल तथा नष्ट करने के लिए किया जाता है। भारत सरकार के सामने मादक द्रव्यों का दुरुपयोग व्यसन तथा तस्करी की जटिल समस्याएँ हैं जिनको वह हल करना चाहती है।

मादक द्रव्यों से सम्बन्धित समस्याएँ एवं उपचार (Problems and Remedies related to Drug Abuse)—मादक द्रव्यो से सम्बन्धित समस्याएँ और उपाय मुख्यत: तीन हैं—(1) मादक द्रव्यों की तस्करी की रोकथाम, (2) मादक द्रव्यों के दुरुपयोग पर नियत्रण, एवं (3) व्यसनियो के उपचार।

I. मादक द्रव्यों की तस्करी की रोकथाम के उपाय (Measures to Combat Drug-Trafficking)—भारत सरकार ने देश मे मादक द्रव्यों की तस्करी की रोकथाम के लिए समय-समय पर अनेक प्रयास किए हैं। पश्चिम के कुछ देशों मे मादक द्रव्यों के सेवन

को काफी पहले से एक घातक सामाजिक समस्या घोषित किया गया था, लेकिन भारत में इसे पिछले कुछ वर्षों से ही सामाजिक समस्या माना जाने लगा है तथा इसकी रोकथाम के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं। भारत सरकार ने 1985 में मादक द्रव्यों की तस्करी की रोकथाम तथा व्यसनियों से सम्बन्धित कानून बनाया था। इसे 'द नारकोटिक ड्रग्स एवं साइकोट्रोपिक सब्सटेंसिज एक्ट, 1985' (The Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act, 1985) कहते हैं। यह कानून 14, नवम्बर, 1985 को लागू किया गया। इस कानून के द्वारा मादक द्रव्यों की तस्करी को घोर अपराध घोषित कर दिया गया है तथा इस कानून के उल्लंघन करने वाले को 10 वर्ष से लेकर 20 वर्ष तक का कठोर कारावास तथा एक से लेकर दो लाख रुपयों तक का जुर्माना किया जा सकता है। दुबारा तस्करी के जुर्म में पकड़े जाने पर 15 वर्ष से लेकर 30 वर्ष तक का कठोर कारावास तथा 1 5 लाख रुपयो से लेकर तीन लाख रुपयों तक का जुर्माना किया जा सकता है। इस कानून के अन्तर्गत न्यायालयों को यह अधिकार भी दिया गया है कि वे निर्धारित जुर्माने से अधिक जुर्माना कारण स्पष्ट करके कर सकते हैं।

II. मादक द्रव्यों के दुरुपयोग पर नियंत्रण (Control on Drug Abuse)—मादक द्रव्यों का दुरुपयोग अनेक प्रकार से होता है। इनके दुरुपयोग को रोकने के लिए समाजशास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों ने अनेक उपाय बताए हैं, जिसमें मुख्य हैं चिकित्सकों के दृष्टिकोण को परिवर्तित कराना; लोगों को प्रचार और प्रसार माध्यमों द्वारा एवं शिक्षा द्वारा मादक द्रव्यों की हानियों से परिचित करना; मादक द्रव्यों के व्यापारियों, तस्करों, षड्यंत्रकारियों आदि को पकड़ना तथा दण्ड देना आदि हैं। इन उपायो का हम विस्तारपरक अध्ययन करेंगे जो निम्नलिखित है—

1. मादक द्रव्यों के व्यापारियों और तस्करों की रोकथाम (Control on Businessmen and Trafficking of Drugs)—मादक द्रव्यों के दुरुपयोग पर नियंत्रण का सर्वोत्तम उपाय यही है कि सरकार कठोरता से इन पदार्थों के व्यापारियों, तस्करों और षड्यंत्रकारियों आदि को पकड़ने तथा रोकथाम के लिए कड़े-से-कड़े नियम बनाए तथा उन्हे कड़ाई से लागू करे। यदि कोई पुलिस कार्यकर्त्ता तथा सरकारी तंत्र के लोग मादक द्रव्य बेचने वालों के साथ मिल जाते हैं तो उन्हें भी कड़े-से-कड़ा दण्ड देने का प्रावधान, प्रतिरोधक कानून तथा दण्ड की व्यवस्था करे। अगर सरकार मादक द्रव्यों के क्रय-विक्रय को पूर्ण रूप से समाप्त करने में सफलता प्राप्त कर ले तो यह समस्या पूर्ण रूप से नियंत्रित हो सकती है। इसमें जनता का सहयोग भी आवश्यक है। सरकार मादक द्रव्यों के पत्यर्पण करने वालों को गिरफ्तार करे, मादक द्रव्य सेवन विरोधी अभियान चलाए तथा युवाओं मे नशे के प्रचलन को कानून द्वारा रोके।

2. चिकित्सक के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना (To Change the Attitudes of Doctors)—मादक द्रव्यों का प्रसार और प्रचार करने मे चिकित्सकों की भी प्रमुख भूमिका देखी जा सकती है। मादक द्रव्यों का उपयोग अनेक बीमारियो के उपचार में औषधि के रूप में चिकित्सक करते हैं तथा सलाह देते हैं। चिकित्सक को इन द्रव्यों के उपयोग तथा परामर्श में सतर्कता बरतनी चाहिए। उन्हें मादक द्रव्यों के दुरुपयोग को ध्यान में रखकर विशेष

परिस्थिति तथा बीमारी में ही इनका औषधि के रूप में उपयोग करना चाहिए। चिकित्सक इन मादक द्रव्यों से बनी औषधियों को सेवन करने का परामर्श जनसाधारण को देते रहते हैं। एक बार औषधि-पत्र मिल जाने के बाद रोगी जब भी पीड़ा से पीड़ित होता है तो वह मादक द्रव्यों से बनी उसी औषधि का असीमित मात्रा में प्रयोग करता रहता है जो आगे चलकर व्यसन बन जाता है। अत: मादक द्रव्यों के दुरुपयोग को नियन्त्रित करने के लिए चिकित्सकों को अपने दृष्टिकोण को परिवर्तित करना होगा तथा विशेष परिस्थितियों मे ही मादक द्रव्यों से बनी औषधियो को लेने की सलाह देनी चाहिए। इस सम्बन्ध में निश्चित नीति निर्धारित भी करनी होगी जिससे इन औषधियों के रूप मे मादक द्रव्यों का दुरुपयोग नियन्त्रित किया जा सके।

3. मादक द्रव्यों के दुष्परिणामों की शिक्षा द्वारा रोकथाम (Control by giving Education of Evil-effects of Drugs)—मादक द्रव्यो के दुरुपयोग पर नियन्त्रण करने की एक प्रभावशाली और व्यावहारिक विधि शिक्षा देना है। जो लोग इसके व्यसन में पड़ सकते हैं तथा जो पड़ गए हैं, इन दोनों वर्गों को मादक द्रव्यो के दुष्परिणाम शिक्षा द्वारा बताए जाने चाहिए। मादक द्रव्यो का सेवन करने वाले वास्तविक और सम्भावित जनसंख्या के प्रमुख क्षेत्र कच्ची बस्तियों के लोग, औद्योगिक श्रमिक; विभिन्न वाहनों के चालक, जैसे—ट्रक, मोटरकार तथा रिक्शा चालक, युवा छात्र जो माता-पिताओं से दूर तथा छात्रावासों मे निवास करने वाले होते हैं। इन लोगों को मादक द्रव्यो के दुष्परिणामों से विभिन्न माध्यमों से अवगत करवाना चाहिए। चल-चित्र, पोस्टरों, दूरदर्शन के कार्यक्रमों, आकाशवाणी, पाठ्यक्रम मे विषय के रूप मे रखकर औपचारिक, अनौपचारिक तथा गैर-औपचारिक शिक्षा द्वारा लोगों को मादक द्रव्यों की हानियों से अवगत करवाना चाहिए। सामाजीकरण की प्रक्रिया की प्रभावशाली एजेन्सियों, जैसे—परिवार, पड़ौस, मित्र-मण्डली, शिक्षक, पाठशाला, पुस्तके आदि भी मादक द्रव्यो के दुष्परिणाम से सुरक्षा प्रदान कर सकती हैं। माता-पिता, भाई-बहिन आदि भी इसमे प्रमुख भूमिका निभा सकते हैं।

4. माता-पिता द्वारा रोकथाम (Control by Parents)—मादक द्रव्यो के दुरुपयोग पर नियंत्रण मे माता-पिता भी प्रभावशाली भूमिका निभा सकते हैं ऐसी समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मनोविज्ञानिकों आदि की मान्यता है। इनका कहना है कि व्यक्ति अनेक कारकों के प्रभाव के फलस्वरूप मादक द्रव्यों के व्यसन में पड़ता है। उनमें प्रमुख कारक माता-पिता द्वारा अपनी सन्तानो को स्नेह न दे पाना, माता-पिता का आपसी झगड़ा, विवाह-विच्छेद आदि हैं। विद्वानों की मान्यता है कि माता-पिता तथा परिवार के सदस्यो को परस्पर स्नेह तथा सामंजस्यपूर्ण वातावरण बनाए रखना चाहिए। परिवार मे झगड़े, मनमुटाव, पारस्परिक कलह, चिड़चिड़ापन, तनावपूर्ण वातावरण, डाँट-फटकार आदि के वातावरण मे बच्चे तथा अन्य बड़े सदस्य मादक द्रव्यों के सेवन की ओर अधिक सरलता से अग्रसर होते हैं। माता-पिता तथा भाई-बहन बच्चे के अधिक निकट होते हैं। बच्चे के असामाजिक तथा विपथगामी व्यवहार को देखकर कारणों का पता लगा सकते हैं। अगर कारण मादक द्रव्य का सेवन है तो उसे समय रहते रोक सकते हैं। सामाजिक पर्यावरण को स्नेहपूर्ण बना कर भी उसे व्यसन की

स्थिति से बचा सकते हैं। विद्वानों की मान्यता है कि माता-पिता मादक द्रव्य के व्यसन की रोकथाम के लिए प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं।

5. अनुवर्त्ती अध्ययन (Follow-up Programme)—सामान्यतया ऐसा देखा गया है कि व्यक्तियों का निर्विषीकरण योजना के द्वारा उपचार किए जाने के बाद पुनः मादक द्रव्यों के व्यसन में पड़ जाते हैं। इसलिए मादक द्रव्य के दुरुपयोग पर नियंत्रण के लिए आवश्यक है कि व्यसनी के उपचार अर्थात् निर्विषीकरण के बाद उसका ध्यान रखना चहिए। उसका अध्ययन करना चाहिए कि उसकी क्या स्थिति है। ऐसे निर्विषीकरण उपचार वाले व्यक्ति को पुनः व्यसनी बनने से रोकने के लिए अनुवर्त्ती अध्ययन अत्यावश्यक है। अनुवर्त्ती अध्ययन के द्वारा यह ज्ञात करना होगा कि कहीं पूर्व व्यसनी पुनः उन कारणो का शिकार तो नहीं हो रहा है जो उसे पुनः व्यसनी बनाने के लिए प्रेरित करें, जैसे—तनाव की स्थिति, ढहता आत्मविश्वास, स्नायविक उत्तेजना आदि का होना।

III. व्यसनियों के उपचार (Treatment of Addicts)—मादक द्रव्यों से सम्बन्धित समस्याओं में से तीसरी जटिल सामाजिक समस्या व्यसनियों के उपचार की है। व्यसनियों को पहिचान कर ढूँढ़ निकालना, उनका उपचार करना, उत्तर-रक्षा करना, परिवार और समाज में पुनःस्थापन करना आदि समस्याओ के समाधान के लिए अनेक प्रकार से प्रयास किए जाते रहे हैं। व्यसनियो के उपचार के लिए कानून द्वारा प्रावधान करना; निर्विषीकरण, अथवा व्यसन-रहितता योजना चलाना, स्वैच्छिक संगठनों तथा परामर्श और मार्गदर्शन केन्द्रों द्वारा मादक द्रव्यों के व्यसन के घातक प्रभाव बता कर समस्या को कम करने के प्रयास भी किए गए हैं, जो निम्नलिखित प्रकार हैं—

3.1 **कानून में व्यसनियों से सम्बन्धित प्रावधान** (Provision in law related of Addicts)—**द नारकोटिक ड्रग्स एण्ड साइकोट्रापिक सब्सटंसिज एक्ट, 1985** मे व्यसनियों की रोकथाम के लिए कुछ प्रावधानों की व्यवस्था की गई है। इस कानून के द्वारा कोई भी व्यक्ति निजी उपयोग के लिए नारकोटिक दवा (ड्रग) या मनोचिकित्सीय द्रव्य को थोड़ी-सी मात्रा में भी अवैध रूप में नहीं रख सकता है। अगर रखता है तो इस कानून के द्वारा ऐसे व्यक्ति को एक साल का कारावास या जुर्माना अथवा दोनो दण्ड दिया जाने का प्रावधान है। इस कानून के अन्तर्गत न्यायालय को यह भी अधिकार है कि वह व्यसनी को उपचार (निर्विषीकरण या व्यसन रहितता) के लिए छोड़ सकती है। व्यसनी का उपचार, केवल सरकार द्वारा मान्य संस्था में करवाना अनिवार्य है।

3 2 **व्यसनियों का उपचार** (Treatment of Addicts)—इस कानून के अन्तर्गत सरकार से यह अपेक्षा की जाती है कि वह व्यसनियों के उपचार, शिक्षा, उत्तर-रक्षा, पुनःस्थापन आदि के लिए नीति निर्धारित करे, सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों की स्थापना करे, ऐसे संगठनो को वित्तीय सहायता प्रदान करे, सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियों के कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था करे। परन्तु भारत मे व्यसनरहितता योजनाएँ सफल नहीं हो रही हैं।

3.3 **व्यसन उन्मूलन योजनाएँ** (Addiction-eradication Programme)—मई, 1993 के तथ्यों से स्पष्ट होता है कि 1993 के प्रारम्भ तक भारत मे ऐसे कुल 254 केन्द्र स्थापित हुए थे। वर्तमान (1999–2000) मे इस योजना के अन्तर्गत 370 केन्द्रों को सहायता दी जा रही है। इन केन्द्रों का कार्य व्यसनियो की पहिचान करना, उनका निर्विषीकरण करना या उपचार करना, शिक्षित करना, उत्तर-रक्षा, पुनःस्थापन तथा पुनःएकीकरण होता है। भारत सरकार के कल्याण मंत्रालय ने मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की रोकथाम के लिए अनेक कार्य किए हैं, उनमे स्वैच्छिक कार्यवाही करने के लिए नीति विकसित की है जिसके द्वारा मादक द्रव्यों की रोकथाम के लिए चेतना पैदा करना है। सरकार केन्द्रों को परामर्श तथा निर्विषीकरण की सुविधाओ के लिए अनुदान भी देती है। सरकारी और गैर-सरकारी संगठनों के कार्यकर्त्ताओं को मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की रोकथाम के लिए सामाजिक रक्षा राष्ट्रीय संस्थान प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। देश के विभिन्न शहरो में परामर्श केन्द्र स्थापित करता है। जिनका कार्य केन्द्र के उपचार के स्रोतों के सम्बन्ध में जानकारी देना तथा एकत्र करना, ज्ञान का प्रसार करना, पुनःस्थापन के कार्यो को करने वाले सगठनों के साथ समन्वय तथा सामजस्य स्थापित करना आदि हैं। कुछ राज्य सरकारो ने भी विश्वविद्यालय स्तर के छात्रो तथा छात्रावासियो के लिए योजनाएँ बनाई है जिनका कार्य विद्यार्थियो मे शराब तथा मादक द्रव्यों के दुरुपयोग के विरुद्ध विशेष सतर्कता पैदा करना है। कई केन्द्र व्यक्तिगत तथा सामूहिक चिकित्सा के लिए सभी प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं उनमे मनोवैज्ञानिक सहायता प्रदान करना भी सम्मिलित है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मादक द्रव्यों के दुरुपयोग की रोकथाम के अनेक प्रयास सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियो द्वारा किये जा रहे हैं जिनके प्रसार और प्रचार का विस्तार होना आवश्यक है।



अध्याय-23

आत्महत्या
(Suicide)

समाज से सम्बन्धित अनेक गम्भीर समस्याएँ हैं उनमें से एक समस्या आत्महत्या है। आत्महत्या स्वयं के द्वारा स्वयं को जानबूझ कर नष्ट करने की क्रिया है। सर्वप्रथम दुर्खीम ने आत्महत्या की समाजशास्त्रीय परिभाषा, व्याख्या, प्रकार, कारण आदि की विवेचना की थी। आपकी मान्यता है कि आत्महत्या की वैज्ञानिक एवं वास्तविक व्याख्या वैयक्तिक जैविक कारणों जैसे—वंशानुक्रमण, निर्धनता, प्रेम में असफलता, निराशा, मानसिक कारण आदि के आधार पर नहीं की जा सकती है *क्योंकि आत्महत्या एक सामाजिक घटना है* इसलिए इसके कारकों की खोज भी समाज में ही की जानी चाहिए। मनुष्य से अधिक शक्तिशाली शक्ति जो स्वयं मनुष्य के लिए उपयोगी और लाभदायक है और नैतिक आधार पर मनुष्य को अनुशासित भी करती है, वह केवल समाज है। समाज व्यक्ति का प्रेरणा-स्रोत है अतः जब कोई व्यक्ति आत्महत्या करने के लिए विवश होता है तो उस समय भी समाज ही दुःखी व्यक्ति की चेतना में उपस्थित रहता है। यह समाज है जो व्यक्ति की एकाकी क्रिया को संचालित एवं नियन्त्रित करता है। समाज मे कुछ ऐसी शक्तियाँ हैं जो व्यक्ति को आत्महत्या के लिए प्रेरित करती हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धान की व्यावहारिक उपयोगिता को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और आत्महत्या व अन्य वैयक्तिक कारणों की उत्पत्ति को सामाजिक जीवन की परिस्थितियों में मानते हैं और उनका उपचार भी सामाजिक जीवन में ही सम्भव मानते हैं। यहाँ आत्महत्या की परिभाषा, विशेषताएँ, कारण, प्रकार आदि की विवेचना करेंगे।

आत्महत्या की परिभाषा एवं अर्थ
(Definition and Meaning of Suicide)

दुर्खीम ने अपनी कृति *आत्महत्या (सुसाइड)* में आत्महत्या को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—*"'आत्महत्या' शब्द मृत्यु की उन समस्त घटनाओं के लिये प्रयुक्त किया जाता है, जो स्वयं मरने वाले की सकारात्मक अथवा नकारात्मक क्रिया का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष परिणाम होती है, जिसके भावी परिणाम को वह (मरने वाला व्यक्ति) जानता है।"* इस परिभाषा के आधार पर आत्महत्या से सम्बन्धित कुछ विशेषताएँ उभर कर आती हैं जो निम्नलिखित हो सकती हैं—

आत्महत्या की विशेषताएँ (Characteristics of Suicide)—*(1) क्रिया का परिणाम (Result of Action)—ऐसी मृत्यु को ही आत्महत्या की श्रेणी में रखा जायेगा जो मरने वाले व्यक्ति की क्रिया का परिणाम होती है।* अर्थात् क्रिया और परिणाम में कार्यकारण

सम्बन्ध होता है भले ही यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष। **क्रिया-सकारात्मक भी हो सकती है और नकारात्मक भी हो सकती है।**

(2) सकारात्मक और नकारात्मक क्रिया (Positive and Negative Action)—*सकारात्मक क्रिया से तात्पर्य इस प्रकार के कार्य से होता है, जो स्पष्ट रूप से मृत्यु का कारण हो, जबकि नकारात्मक क्रिया में मृत्यु का कारण अस्पष्ट रहता है।* उदाहरणार्थ—यदि कोई देशभक्त दुश्मन के हाथो मे जाने के पूर्व स्वयं आत्महत्या कर लेता है अथवा कुण्ठित व्यक्ति जीवन से निराश होकर आत्महत्या कर लेता है। प्रथम आत्महत्या के उदाहरण में कारण स्पष्ट है, जबकि दूसरे में मृत्यु का कारण अस्पष्ट है। दूसरे शब्दों में, प्रथम में क्रिया सकारात्मक है और दूसरे मे क्रिया नकारात्मक है।

(3) तार्किक क्रिया (Logical Action)—आत्महत्या की एक विशेषता यह है कि यह तार्किक क्रिया है अर्थात् *व्यक्ति आत्महत्या सोच-समझकर व इच्छापूर्वक करता है और अपनी क्रिया के परिणाम को भी जानता है।* उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति डूबने की इच्छा से पानी में गिरता है तो यह आत्महत्या का उदाहरण है किन्तु वह व्यक्ति अनजाने या धोखे से पानी में गिरकर डूब जाता है तो यह दुर्खीम के मत में आत्महत्या नहीं है। कहने का आशय यह है कि वही मृत्यु आत्महत्या की श्रेणी में आयेगी, जिसमें व्यक्ति क्रिया के परिणाम को जानते हुए भी आत्महत्या करता है। इसी कारण दुर्खीम ने बलिदानों को भी आत्महत्या में सम्मिलित किया है।

(4) क्रिया के परिणाम से अवगत (Acquainted with Consequences of Action)—आत्महत्या की एक विशेषता यह है कि *यदि व्यक्ति अपनी क्रिया के विषय में पहले से ही अवगत है और उसके उपरान्त भी वह अपने कार्यों को यथावत् करता रहता है तो यह भी आत्महत्या ही कहलायेगी।* अर्थात् यदि व्यक्ति किसी क्रिया के परिणाम के विषय में पहले ही जानता है और फिर भी वह उसी घातक क्रिया को करता रहता है तो यह आत्महत्या ही है। उदाहरणार्थ—दुर्खीम के मत में यदि कोई विद्वान् अपने अध्ययन के प्रति अत्यधिक सचेष्ट रहने के कारण अपने भोजन की उपेक्षा करता है और अति-परिश्रम के कारण मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो यह भी आत्महत्या ही है क्योंकि अत्यधिक परिश्रम एवं भोजन की उपेक्षा ने उसे इतना अधिक थका दिया कि वह जीवित न रह सका और उसकी मृत्यु हो गई।

(5) सामाजिक तथ्य (Social Fact)—आत्महत्या की एक विशेषता यह है कि **आत्महत्या एक सामाजिक तथ्य है।** दुर्खीम का मानना है कि आत्महत्या व्यक्तिगत-मनोवैज्ञानिक नहीं है, अपितु यह एक ऐसा तथ्य है, जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और जिसकी पृथक् प्रकृति है जो सामाजिक है। यह कोई व्यक्तिगत अथवा अचानक होने वाली घटना नहीं है। इसका उदाहरण देते हुए दुर्खीम की मान्यता है कि समाजों में होने वाली आत्महत्याओ की वार्षिक दर में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है। यह तो समाज की दशाओं से सम्बन्धित है। यह व्यक्तियों की आकस्मिक क्रियाओं से सम्बन्धित नहीं है, बल्कि देश के राष्ट्रीय स्वभाव से सम्बन्धित है।

दुर्खीम ने *आत्महत्या के अन्तर्गत उन्हीं तथ्यों को स्वीकार किया है जिनके कोई सामाजिक परिणाम अवश्य होते हैं।* व्यक्तिगत दशाएँ भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को आत्महत्या के लिए प्रेरित कर सकती हैं किन्तु ये किसी बड़े समूह में आत्महत्या की प्रवृत्ति

को जन्म नहीं देतीं अर्थात् उनके कोई सामाजिक परिणाम नहीं होते हैं। अतः उन्हे मनोविज्ञान से सम्बन्धित माना जायेगा, समाजशास्त्र से उनका सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जब आत्महत्या के कारण समूह को प्रभावित करते हैं तभी उनका अध्ययन समाजशास्त्र से सम्बन्धित होता है और समाजशास्त्रियों को इसका अध्ययन करना चाहिए।

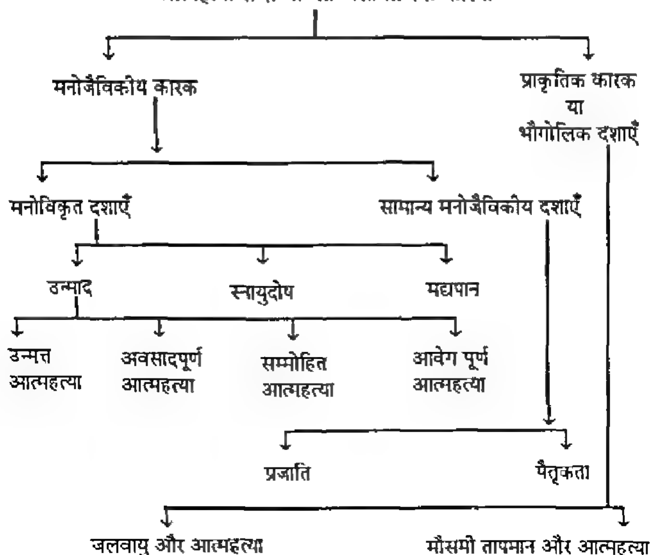
आत्महत्या से सम्बन्धित असामाजिक कारक
(Non-Social Factors Related to Suicide)

दुर्खीम ने आत्महत्या से सम्बन्धित कुछ असामाजिक कारकों पर भी प्रकाश डाला है जिसमें उन्होंने *'मनोजैविकीय और प्राकृतिक'* दो कारकों पर आधारित सिद्धान्तो की विवेचना की है और बताया है कि शारीरिक और मानसिक स्थितियाँ भी व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती हैं—इनको विस्तार से निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है।

दुर्खीम ने असामाजिक कारकों को दो प्रकार का माना है—

(1) मनोजैविकीय कारक एवं (2) प्राकृतिक कारक।

मनोजैविकीय कारकों के दो प्रकार हैं—मनोविकृत दशाएँ और (2) सामान्य मनोजैविकीय दशाएँ। अब सर्वप्रथम मनोजैकीय कारकों के प्रथम प्रकार, मनोविकृत दशाओं का वर्णन किया जा रहा है—



(1) मनोजैविकीय कारक
(Psybilogical Factors)

1.1 मनोविकृत अवस्थाएँ और आत्महत्या (Psychopathic States and Suicide)—दुर्खीम के मत में 'मनोविकृत अवस्थाएँ' आत्महत्या के असामाजिक कारक हैं क्योंकि आत्महत्या को प्राय: मनोवैज्ञानिक एवं जैविकीय कारको के आधार पर ही देखा जाता है किन्तु कुछ विद्वानों के मत में 'प्राकृतिक पर्यावरण' भी आत्महत्याओं के लिए उत्तरदायी है। दुर्खीम का मानना है कि सम्भव है कुछ व्यक्तियों की शारीरिक और मानसिक स्थिति प्रत्यक्ष रूप से उन्हे आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती हो अथवा यह भी हो सकता है कि जलवायु, तापमान आदि पर्यावरण सम्बन्धी तत्त्व भी अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करते हों, किन्तु दुर्खीम के मत में मनोवैज्ञानिक व प्राकृतिक स्थितियों में आत्महत्या की वास्तविक प्रेरक शक्ति नहीं होती। वह प्रेरक शक्ति तो सामाजिक दशाओं में ही होती है। दुर्खीम ने 'मनोजैविकीय' कारकों में मानसिक विकृतियो और सामान्य जैविकीय कारकों का आत्महत्या के साथ सम्बन्धों को स्थापित करने वाले सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है, जो अग्रलिखित है।

1.1.1. उन्माद और आत्महत्या (Insanity and Suicide)—दुर्खीम के मत में उन्माद या पागलपन एक बीमारी है। इस रोग की मात्रा भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होती है। उन्माद को मानसिक अलगाव (Mental Alienation) कहा जा सकता है। दुर्खीम ने आत्महत्या को उन्माद का परिणाम मानने वाले विद्वानों के सिद्धान्तो का परीक्षण किया। इनमे दो सिद्धान्त प्रमुख हैं—(1) एस्क्विरोल ने कहा है, *"आत्महत्या मानसिक अलगाव की सभी विशेषताओं को प्रकट करती है। एक व्यक्ति उन्माद की अवस्था में ही आत्महत्या का प्रयास करता है और आत्महत्या करने वाले मानसिक अलगाव के रोगी होते हैं।"* जबकि (2) वार्डिन ने *आत्महत्या को ही विशेष प्रकार का उन्माद कहा है।* वार्डिन के अनुसार प्रत्येक आत्महत्या एक उन्माद है और प्रत्येक आत्महत्या करने वाला उन्मादी अथवा पागल है। दुर्खीम ने दोनो का परीक्षण किया है, जो निम्न है—

(i) आत्महत्या एक उन्माद (Suicide as Insanity)—दुर्खीम ने वार्डिन के कथन "आत्महत्या एक उन्माद" का परीक्षण करके बताया कि यदि आत्महत्या उन्माद का ही एक स्वरूप है तो यह एक ऐसा विशेष उन्माद है जो केवल एक क्रिया से ही सम्बन्धित है, क्योंकि शेष समस्त क्रियाओं में आत्महत्या करने वाला व्यक्ति सामान्य दिखाई देता है। अन्य समस्त क्रियाओं में सामान्य व्यवहार रखने वाला व्यक्ति यदि किसी एक विशेष क्रिया में असामान्य प्रदर्शित करता है तो इस प्रकार के रोग को 'एक-विषयी उन्माद' कहा जाता है अर्थात् दुर्खीम के मत में, *"एक-विषयोन्मादी वह रोगी है जिसका मस्तिष्क एक को छोड़कर शेष समस्त पक्षों में पूर्णतया स्वस्थ है। उसमें स्पष्ट रूप से स्थित केवल एक दोष होता है।"* उदाहरण के लिए, सब प्रकार से स्वस्थ दिखाई देने वाला व्यक्ति अपने सभी सामान्य व्यवहारों को करता हुआ यदि चोरी करने में विशेष आनन्द की प्राप्ति करता है और बिना किसी विशेष कारण के चोरी करने में विशेष रूप से प्रवृत्त हो जाता है तो उस व्यक्ति को *"एक-विषयोन्मादी"* (Monomaniac) कहा जायेगा। वार्डिन आदि के मत में आत्महत्या भी एक ही विशिष्ट उन्माद है जिसमें व्यक्ति के मन में स्वयं को समाप्त करने की इच्छा जागृत हो जाती है। इस प्रकार *'एक-विषयोन्माद'* एक ऐसा प्रबल संवेग है जो इतना तीव्र व

प्रबल होता है कि किसी विशेष क्षण में मस्तिष्क इस संवेग के अधीन होकर क्रिया कर देता है। किन्तु दुर्खीम इस मत का खण्डन करते हुए तर्क देते हैं कि 'एक-विषयोन्माद' का रोगी अत्यधिक शिथिल और निराश रहता है और उसमें विचार और क्रिया के बीच का सन्तुलन समाप्त हो जाता है। उस व्यक्ति की सम्पूर्ण बौद्धिकता ही उससे प्रभावित हो जाती है और एक से अधिक संवेग उसे प्रभावित करते हैं, केवल एक संवेग ही नहीं। इस प्रकार एक पक्ष में भी पागलपन या उन्माद तभी दिखाई देता है जब सम्पूर्ण मानसिक जीवन उन्माद से प्रभावित हो। अत: 'एक-विषयोन्माद' कोई रोग है ही नहीं इस दृष्टि से आत्महत्या भी 'एक-विषयोन्मादी' नहीं हो सकती।

उन्माद के परिणाम के रूप में आत्महत्या (Suicide as a Result of Insanity)—यह सिद्धान्त उन्माद के परिणाम को आत्महत्या मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्महत्या करने वाले व्यक्ति उन्मादी होते हैं। मानसिक अलगाव आत्महत्या का प्रमुख कारण है। **एस्क्विरोल** इस मत के समर्थक हैं। दुर्खीम इस सिद्धान्त को भी अस्वीकार करते हैं। उनके मत में कुछ उन्मादी व्यक्तियो के द्वारा आत्महत्या कर लेने के आधार पर ही इसे सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता इसके लिए विशेष अध्ययन व परीक्षण करने आवश्यक हैं। अतः इस मत का भी खण्डन करते हुए दुर्खीम ने पागलपन अथवा उन्माद से सम्बन्धित आत्महत्याओं को निम्नलिखित चार प्रकार का बताया है।

उन्माद से सम्बन्धित आत्महत्याएँ—ये निम्नलिखित चार प्रकार की हैं—

(i) **उन्मत्त आत्महत्या** (Hallucination Suicide)—इस प्रकार की आत्महत्या मतिभ्रम अथवा विभ्राति के कारण होती है। रोगी किसी काल्पनिक भय या अपमान से बचने के लिए आत्महत्या कर लेता है। कभी-कभी व्यक्ति ऐसा अनुभव करता है कि कोई रहस्यात्मक शक्ति या मायावी शक्ति उसे मरने की आज्ञा दे रही है और आदेश के पालनार्थ वह आत्महत्या कर लेता है। वास्तव में इस प्रकार की आत्महत्या उन्माद के रोग के कारण होती है। विभिन्न प्रकार की भावनाएँ रोगी के मस्तिष्क को प्रभावित करती रहती हैं। इसी विचार शृंखला में आत्महत्या का विचार भी आता है, यदि आत्महत्या का विचार एक बार मे सफल नहीं हो पाता तो व्यक्ति पुनः उस विचार को ही त्याग देता है। इस प्रकार उन्माद की स्थिति में की जाने वाली आत्महत्या उन्माद का ही परिणाम है। **वार्डिन** ने एक व्यक्ति के विषय में बताया है कि वह उसी रोग के वशीभूत होकर आत्महत्या करने के लिए पानी में उतरा—पानी कम होने के कारण गहरे पानी की खोज करने लगा। तभी एक कस्टम अधिकारी ने उसे तुरन्त नदी से बाहर आने की धमकी दी अन्यथा वह उसे गोली मार देगा। बस, वह व्यक्ति तुरन्त बाहर निकला और उसने आत्महत्या का विचार ही त्याग दिया। विचार-परिवर्तन का यह बड़ा सटीक दृष्टांत है।

(ii) **अवसादपूर्ण आत्महत्या** (Melancholy Suicide)—अत्यधिक निराश, शोक अथवा दु:ख इस प्रकार की आत्महत्या का कारण होता है। रोगी स्वयं को सबसे अलग समझने लगता है, जीवन अन्धकारपूर्ण लगता है, किसी प्रकार की खुशी उसे प्रभावित नहीं करती। मन में बड़ा कष्ट अनुभव होता है—इस प्रकार के लक्षण वाले व्यक्ति बड़ी चतुराई से, शान्ति व विचारपूर्वक आत्महत्या करते हैं—आत्महत्या करने मे शीघ्रता नहीं करते। इनका रोग स्थाई होता है। दुर्खीम ने **फेल्रेट** द्वारा प्रस्तुत एक लड़की का उदाहरण दिया है जो चौदह वर्ष तक अपने गाँव मे रहने के बाद पढ़ने गई। वह वहाँ पर बड़ी उदास व खिन्न रहने लगी

और मरने की इच्छा से नदी मे डूबने को चल दी—किन्तु 'आत्महत्या एक अपराध है।' यह पता लगने के बाद वह रुक गई और पुनः एक वर्ष बाद उसने आत्महत्या करने के कई प्रयास किए।

(iii) सम्मोहित अथवा बाध्यता-मनोग्रस्ति आत्महत्या (Obsessive Suicide)—इस प्रकार की आत्महत्या मे रोगी के मन पर हर समय आत्महत्या का विचार छाया रहता है। मृत्यु की इच्छा से उसका मस्तिष्क सम्मोहित रहता है। मरने का कोई कारण सम्मुख न होने पर भी मरने की इच्छा व्यक्ति को प्रेरित करती रहती है। वह इस इच्छा को दबाने की कोशिश भी करता है और अत्यधिक दुःखी रहता है। अन्त मे वह आत्महत्या कर लेता है। ब्रियरे डी बिसमांट ने एक ऐसे रोगी का उदाहरण दिया है जो शारीरिक, मानसिक व पारस्परिक स्थितियों से प्रसन्न होते हुए भी मृत्यु के विचार से निरन्तर ग्रसित रहता था।

(iv) आवेगपूर्ण अथवा स्वचालित आत्महत्या (Impulsive or Automatic Suicide)—इस प्रकार की आत्महत्या का कोई वास्तविक अथवा काल्पनिक कारण नहीं होता है। इसमें मृत्यु का विचार अचानक एक आवेग के रूप में रोगी के मन में उत्पन्न हो जाता है और इस इच्छा की पूर्ति के लिए तुरन्त ही वह आत्महत्या कर लेता है। यह सब कुछ ही पलो मे घट जाता है। किसी कब्र के समीप से गुजरने पर, तलवार या चाकू आदि को देखने पर अचानक ही व्यक्ति आत्महत्या की तीव्र इच्छा कर लेता है और आत्महत्या कर भी लेता है।

उपर्युक्त चारो प्रकार की आत्महत्याएँ बिना किसी वास्तविक प्रेरणा के होती हैं। दुर्खीम का मानना है कि अनेकों आत्महत्याएँ इस प्रकार की होती हैं जो उपर्युक्त में से किसी प्रकार में सम्मिलित नहीं होतीं। अधिकाश आत्महत्या के साथ वास्तविक प्रेरणाओं का सम्बन्ध होता है। अतः उन्माद ही आत्महत्या का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता।

2. स्नायुदोष और आत्महत्या (Neurasthania and Suicide)—स्नायुदोष अथवा नाडी-दौर्बल्य भी एक मानसिक रोग है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमे व्यक्ति न तो पूर्णतया मनोविकृत होता है और न ही पूर्णतया सन्तुलित। दुर्खीम इसे उन्माद का प्रारम्भिक स्वरूप कहते हैं जिसमे सामान्य-सी घटनाओ पर ही रोगी उत्तेजित हो उठता है। सामान्य-सी बात पर अत्यधिक कष्ट का अनुभव करना तथा सामान्य घटना को अति आनन्ददायी मानना अर्थात् हर्ष और विषाद की अस्थिर उत्तेजनाएँ व्यक्ति के मानसिक सन्तुलन को विकृत कर देती हैं और रोगी अपने जीवन मे बडी परेशानी का अनुभव करता है, अन्त मे परेशान होकर आत्महत्या कर लेता है।

उन्माद और स्नायुदोष के सिद्धान्तों की आलोचना (Criticism of the theories of Insanity and Neurasthania)—दुर्खीम ने स्नायुदोष को आत्महत्या का मूल कारण नहीं माना है। उनके मत मे स्नायुरोग आत्महत्या का कारण तभी बन सकता है, जब सामाजिक परिस्थितियाँ उसमे विशेष रूप से सहायक रही हों। दुर्खीम के मत में आत्महत्या की घटनाओं, स्नायुदोष या मनोविकृति के रोगियों की सख्या के अनुपात में यदि समानता पाई जाए तभी मनोविकृति का आत्महत्या का कारण माना जा सकता है। साथ ही सामाजिक परिस्थितियों के अभाव में भी मनोविकृति की सख्या के अनुरूप आत्महत्या की दर घटती अथवा बढ़ती रहती है। तभी इन दोनों में सह-सम्बन्ध माना जा सकता है, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। दुर्खीम ने धार्मिक भिन्नता, लैंगिक भिन्नता, आयु भिन्नता और देश-काल

व परिस्थिति की भिन्नता के आधार पर आँकड़े एकत्र करके परीक्षण किया है और यह सिद्ध किया है कि आत्महत्या और उन्माद अथवा स्नायुदोष में कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। दुर्खीम के मत में उन्मादी दोष से प्रभावित स्त्रियाँ अधिक होती हैं। कॉच और मायर (Koch and Mayer) ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए बताया है कि ग्यारह देशो के अध्ययन के आधार पर 1000 पुरुषों में 1.18 एवं 1000 स्त्रियों में 1 30 व्यक्ति उन्मादी अथवा स्नायुदोष से पीड़ित रहते हैं, किन्तु दुर्खीम ने 12 देशों के आँकड़े एकत्र करके प्रमाणित किया है कि आत्महत्या प्रमुखतया पुरुषों की क्रिया है। स्त्रियों और पुरुषों में आत्महत्या का अनुपात 1: 4 है। निष्कर्ष निकलता है कि उन्माद अथवा स्नायुदोष आत्महत्या का मुख्य कारण नहीं है। दुर्खीम ने धर्म, आयु एवं कालक्रम के अनुसार परीक्षण करके भी इसकी पुष्टि की है। अतः दुर्खीम के मतानुसार, *"स्नायुदोष स्वयं में एक बहुत सामान्य मनोभूमि है, जो किसी विशेष क्रिया को जन्म नहीं देती है, वरन् परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न स्वरूपों मे प्रकट हो सकती है।"*

3. मद्यपान और आत्महत्या (Alcoholism and Suicide)—कुछ विद्वानों द्वारा मद्यपान को आत्महत्या का कारण माना गया है, परन्तु दुर्खीम ने मद्यपान के अपराधियो की संख्या और आत्महत्या की व्याख्या का तुलनात्मक अध्ययन करके स्पष्ट किया है कि मद्यपान और आत्महत्या में कोई गुण-सम्बन्ध नहीं है। दुर्खीम ने जर्मनी और फ्रांस में इस प्रकार के अध्ययन किए हैं। उसने पोजेन (Posen) नामक प्रान्त का भी अध्ययन किया और बताया कि वहाँ सबसे कम आत्महत्याएँ होती हैं, जबकि सर्वाधिक शराब पीने का वहाँ प्रचलन है। जर्मनी के दक्षिण प्रान्त में लोग सबसे कम शराब पीते हैं, और आत्महत्या की दर भी वहाँ कम है। अतः आत्महत्या का कारण मद्यपान नहीं माना जा सकता।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम के विचार में आत्महत्या की व्याख्या मद्यपान की मनोविकृति के परिणामस्वरूप नहीं की जा सकती। न तो आत्महत्या स्वय उन्माद का स्वरूप है और न ही मद्यपान की मनोवृत्ति आत्महत्या के लिए उत्तरदायी है। यद्यपि यह सम्भव है कि मद्यपान से उन्मत्त हो सकेगा किन्तु केवल मद्यपान ही प्रमुख कारण नही है। दुर्खीम के मत में, *"वास्तव में समान परिस्थितियो में उन्मक्त व्यक्ति स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा आत्महत्या के प्रति अधिक झुकता है, परन्तु ऐसा वह अनिवार्य रूप से अपनी दशा के कारण नहीं करता है। उसकी वह शक्ति अन्य कारकों के प्रभाव के माध्यम से ही क्रियाशील होती है जिनकी खोज की जानी चाहिए।"*

1.2. सामान्य मनोजैविकीय कारक और आत्महत्या (General Psycho-Biological Factor and Suicide)—आत्महत्या के असामाजिक कारकों मे मानसिक रोग के अतिरिक्त दूसरे कारक सामान्य मनोजैविकीय भी महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। आत्महत्या मानसिक व्याधियो का ही परिणाम नहीं हो सकती, बल्कि आत्महत्या के लिए उत्तरदायी कारक मनोजैविकीय भी हो सकते हैं, जिनमें प्रजाति और पैतृकता भी माने जा सकते हैं, क्योंकि मनुष्य की शारीरिक और मानसिक स्थिति उसको आत्महत्या करने के लिए प्रेरित करती है अत: वे लक्षण मनोजैविकीय हो सकते हैं। मनोजैविकीय कारक निम्नलिखित दो प्रकार के हैं—(1) प्रजाति और (2) पैतृकता। इनको क्रम से इस रूप मे देखा जा सकता है—

(i) **प्रजाति और आत्महत्या** (Race and Suicide)—प्रजाति को आत्महत्या का कारण मानने के पूर्व इसका अर्थ जानना आवश्यक है।

प्रजाति का अर्थ (Meaning of the Race)—**दुर्खीम** के अनुसार, "आधुनिक अर्थ मे प्रजाति उन व्यक्तियों का समूह है, जो सामान्य शारीरिक लक्षणों से युक्त हैं। ये सामान्य लक्षण यौन-संसर्ग के आधार पर पैतृकता से प्राप्त होते हैं।"

क्वाटरेफेन, प्रिचर्ड और ब्रोका आदि मनीषियों की प्रजाति सम्बन्धी परिभाषाओं के आधार पर **दुर्खीम** *ने प्रजाति की दो प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं—*

(1) प्रजाति उन व्यक्तियों का समूह है, जो एक-दूसरे के समान हैं, तथा

(2) प्रजाति से सम्बन्धित ये समानताएँ पैतृकता पर आधारित होती है।

दुर्खीम ने इन विशेषताओं के आधार पर प्रजाति को राष्ट्रीयता का समानार्थक बताया है। इस प्रकार विभिन्न राष्ट्रों के लोग भी पैतृक समानता रखते हैं क्योंकि वे बहुत समय से परस्पर घनिष्ठतया सम्बन्धित है। परस्पर सम्पर्क के कारण विभिन्न प्रजातियों के व्यक्ति इस प्रकार एक-दूसरे से मिल गए हैं कि अब कोई भी प्रजाति शुद्ध नहीं रह गई है। अतः आधुनिक समय मे प्रजाति किसी निश्चित तथ्य का प्रतीक नही रह गई है अथवा यह कहा जा सकता है कि प्रजाति और राष्ट्रीयता दोनो समान हैं।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम ने **मोरसेलि** द्वारा बताई गई चार प्रजातियों का अध्ययन किया है—(1) जर्मन प्रजाति प्ररूप, (2) कैल्टो प्रजाति प्ररूप, (3) स्लाव प्ररूप और (4) यूराल प्रजाति प्ररूप। दुर्खीम ने पहले तीन प्रजाति समूहो का आत्महत्या की दर के आधार पर वर्गीकरण किया है और निष्कर्ष निकाला है कि प्रजातीय लक्षणो के आधार पर आत्महत्या के सम्बन्ध को स्थापित नहीं किया जा सकता। आत्महत्या की दर का अन्तर राष्ट्रीता के कारण होता है, न कि प्रजाति के कारण। दुर्खीम प्रजाति और आत्महत्या के सम्बन्ध को अस्वीकार करते हैं और आत्महत्या मे कमी अथवा अधिकता का कारण **लोगों की बाह्य परिस्थिति में अन्तर** का आना मानते हैं। दुर्खीम ने कद के आधार पर अध्ययन किया और पाया कि यदि किसी प्रजाति में ऊँचे कद वाले लोगों की तुलना में नीचे कद वाले लोग कम या अधिक आत्महत्या करते हैं तो विभिन्न क्षेत्रों मे आत्महत्या की दर का कारण उन क्षेत्रो की सभ्यता, भौगोलिक पर्यावरण एव इनकी सामाजिक परिस्थितियो का अन्तर माना जा सकता है। इस प्रकार दुर्खीम के मत में प्रजाति आत्महत्या का कारक नहीं है।

(ii) **पैतृकता और आत्महत्या** (Heredity and Suicide)—कुछ वैज्ञानिक पैतृकता को आत्महत्या का कारण मानते हैं। पैतृक-आत्महत्या से तात्पर्य यह है कि आत्महत्या करने वालो के बच्चे भी इसलिए आत्महत्या करते हैं, क्योंकि उनके माता-पिता के आत्महत्या के लक्षण उनमे भी पैतृकता से आ जाते हैं। **गाल** तथा **एस्क्विरोल** आदि विद्वानों ने अपने इस तथ्य की पुष्टि मे कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। **गाल** के अनुसार पेरिस के एक धनी जमींदार ने आत्महत्या की और उसके सात बच्चे थे जो सभी आत्महत्या करके ही मृत्यु को प्राप्त हुए। एस्क्विरोल ने भी ऐसा ही उदाहरण दिया है—एक व्यापारी के भी पाँच बच्चो में से चार ने आत्महत्या की और पाँचवे ने कई बार आत्महत्या का प्रयास किया।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम के मत में पैतृकता को आत्महत्या का कारण मानना ठीक नहीं है क्योंकि आत्महत्या के गुणो का हस्तान्तरण नहीं होता है। दुर्खीम का मानना है कि यदि पैतृकता ही आत्महत्या की प्रवृत्ति का आधार है तो स्त्री-पुरुष एवं प्रत्येक

आयु के लोगों पर समान रूप से इसका प्रभाव पड़ना चाहिए किन्तु उन्होंने *आयु और लिंग* से सम्बन्धित आँकड़े प्रस्तुत करके इन दोनो के सम्बन्ध के सिद्धान्त का खण्डन किया है। आत्महत्या एक *संक्रामक घटना* है। उन्मादी अथवा स्नायुदोष का रोगी अपने परिवार वालों की आत्महत्या का स्मरण करके वैसा कर सकता है, किन्तु इसका कारण मानसिक दुर्बलता के कारण संक्रामक आक्रमण है, पैतृकता नहीं। एक अस्पताल मे 15 रोगियों ने एक अन्धेरे स्थान पर फाँसी लगाकर एक के बाद एक करके आत्महत्या की और जब वह फाँसी का फन्दा वहाँ से हटा लिया गया तो आत्महत्या भी नही हुई। इससे निष्कर्ष निकलता है कि न तो प्रजातीय लक्षण और न ही पैतृकता आत्महत्या का कारण है, बल्कि मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ भी सामाजिक परिस्थितियों के सन्दर्भ मे ही आत्महत्या के लिए उत्तरदायी होती हैं।

(2) प्राकृतिक या भौगोलिक दशाएँ और आत्महत्या
(Natural or Geographical Conditions and Suicide)

प्राकृतिक पर्यावरण भी विशेष प्रकार के रोगों को जन्म देता है। अत: प्राकृतिक दशाओं के प्रभाव से भी आत्महत्याएँ हो सकती हैं। इनमें जलवायु और तापमान आत्महत्या का कारण हो सकता है। दुर्खीम के मत मे भौगोलिक दशाएँ स्वयं में आत्महत्या के लिये उत्तरदायी नहीं है, किन्तु इन भौगोलिक अथवा प्राकृतिक कारको का प्रभाव सामाजिक दशाओं पर पड़ता है और ये सामाजिक दशाएँ व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिये प्रेरित करती हैं। इन प्राकृतिक अथवा भौगोलिक दशाओं मे जलवायु और तापमान को लिया गया है, जिसकी व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है—

1. जलवायु और आत्महत्या (Climate and Suicide)—**मौरसिल** ने आत्महत्या के लिए जलवायु को कारक माना है। उनके अनुसार 47° तथा 57° अक्षाश और 20° तथा 40° देशान्तरों के बीच का क्षेत्र आत्महत्या के लिये सर्वाधिक अनुकूल होता है। इस क्षेत्र मे अधिकतर समशीतोष्ण जलवायु पाई जाती है, जो आत्महत्या के लिये उत्तरदायी है। इस प्रकार मौरसिल आत्महत्या के लिये समशीतोष्ण जलवायु को सर्वाधिक उपयुक्त मानते हैं, किन्तु दुर्खीम इस विचार से सहमत नहीं हैं। वे इस तथ्य का खण्डन करते हैं।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम की मान्यता है कि आत्महत्याएँ सभी प्रकार की जलवायु में होती हैं। भारत में भी जहाँ बहुत गर्मी पड़ती है, किसी समय अधिक आत्महत्याएँ होती रही हैं। इटली में जब रोमन साम्राज्य यूरोप की सभ्यता का केन्द्र था, तब वहाँ बहुत आत्महत्याएँ होती थीं। अत: समशीतोष्ण जलवायु आत्महत्या की दर का कारण नहीं है, अपितु इसमें *विकसित होने वाली विशिष्ट सभ्यता और उसका वितरण ही आत्महत्या* का कारण हो सकता है। उनका कहना है, *"लोगों मे आत्महत्या की प्रवृत्ति के कारण की खोज जलवायु के रहस्यात्मक प्रभाव में नहीं, बल्कि इस सभ्यता की प्रकृति में, विभिन्न देशों मे इसके वितरण की पद्धति में की जानी चाहिये।"*

दुर्खीम के मत मे आत्महत्या की दर में कमी अथवा वृद्धि वास्तव मे सामाजिक कारको का परिणाम है। उन्होने बताया कि सन् 1870 तक इटली के उत्तरी भाग मे अधिक *आत्महत्याएँ होती थीं*, परन्तु इसके पश्चात् *केन्द्रीय भाग में अधिक आत्महत्याएँ होने लगीं*, फिर दक्षिणी भाग में आत्महत्या की दर बढ गई। बाद मे उत्तरी केन्द्रीय क्षेत्रो का अन्तर कम होकर पुन: एकबार केन्द्रीय क्षेत्र मे ही सर्वाधिक आत्महत्याएँ होने लगीं। इस समस्त

परिवर्तन का कारण जलवायु नहीं, वरन् सन् 1870 में रोम की विजय के बाद इटली की राजधानी का केन्द्रीय भाग मे आ जाना था, जिसके फलस्वरूप सभी वैज्ञानिक, औद्योगिक और कलात्मक क्रियाएँ इस क्षेत्र में आ गईं और आत्महत्या की दरों में वृद्धि हो गई। इस प्रकार आत्महत्या का कारण जलवायु न होकर सामाजिक है।

2. मौसमी तापमान और आत्महत्या (Seasonal Temperature and Suicide)—प्राय: मौसम को भी आत्महत्या का कारण माना जाता है और यह सोचा जाता है कि जब आकाश मे अन्धेरा हो, तापमान बहुत कम हो, नमी अधिक हो, प्राकृतिक वातावरण में निराशा प्रतीत होती हो तो इस निराशापूर्ण वातावरण में मनुष्य के मन में विषाद उत्पन्न हो जाता है, जो उसे जीवन के प्रति उदासीन बना देता है। मॉण्टेस्क्यू के मत में ठण्डे और कुहावृत देश आत्महत्या के अनुकूल होते हैं। अत: पतझड़ के मौसम मे अधिक आत्महत्याएँ होनी चाहिए, परन्तु दुर्खीम इस विचार से सहमत नहीं है। उनका कहना है कि, *"अधिकतम आत्महत्या न तो सर्दियों में होती हैं और न पतझड़ में, बल्कि मधुर मौसम में होती हैं। जब प्रकृति सर्वाधिक मुस्कराती है और तापमान सर्वाधिक सौम्य होता है। मनुष्य जीवन को तब त्यागना पसन्द करता है, जब वह सबसे कम कठिन होता है।"* गर्मियों में अधिक आत्महत्याएँ की जाती हैं। दुर्खीम के मत में गर्मी और सर्दी की आत्महत्याओं का अनुपात 6 : 4 है।

आलोचना (Criticism)—दुर्खीम ने सात प्रमुख राज्यो मे ग्रीष्म, बसन्त, पतझड़ और शीत ऋतुओ मे होने वाली आत्महत्याओं का अध्ययन किया है और बताया है कि प्रत्येक देश मे विभिन्न ऋतुओं मे सर्वाधिक संख्या मे आत्महत्याएँ ग्रीष्म ऋतु में और सबके कम शीत ऋतु में होती हैं। फिर भी दुर्खीम आत्महत्या का कारण गरमी को नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि यदि गर्मी आत्महत्या का कारण है तो गरम देशो में अधिक आत्महत्याएँ होनी चाहिये, परन्तु यूरोप के दक्षिणी भागो मे आत्महत्याएँ उत्तरी देशों की तुलना में कम हैं। अत: *थर्मामीटर के परिवर्तन और आत्महत्या मे परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।*

आत्महत्या का वास्तविक आधार सामाजिक क्रिया है
(The Real basis of Suicide is Social Activity)

सामाजिक क्रिया मे होने वाले परिवर्तन ही आत्महत्या के लिए उत्तरदायी हैं। *तापमान, मौसम और महीनो के अनुसार सामाजिक क्रिया की मात्रा एवं गति में परिवर्तन होता रहता है।* जब दिन लम्बे होते हैं तो आत्महत्या अधिक होती है और दिन जब छोटे होने लगते हैं तो आत्महत्या की दर कम होती जाती है। दुर्खीम के मत मे आत्महत्या और दिन की लम्बाई का कुछ सम्बन्ध है। मुख्यत: आत्महत्याएँ दिन में ही होती हैं अत: दिन की लम्बाई के बढ़ने के साथ-साथ आत्महत्या की मात्रा मे परिवर्तन हो जाता है, किन्तु दिन मे आत्महत्या अधिक होने का कारण तापमान नहीं है, बल्कि इसका कारण यह है कि दिन में सामाजिक जीवन अधिक सक्रिय हो जाता है। इस तीव्रता और गहनता के कारण ही आत्महत्याएँ दिन में अधिक होती हैं। प्रात: व दोपहर के बाद सामाजिक क्रियाएँ अधिक होती हैं। इस कारण आत्महत्या भी इन्हीं समयों में होती है। रात्रि विश्राम का काल होता है। अत: जीवन इस समय निष्क्रिय हो जाता है और तब आत्महत्याएँ भी कम होती हैं।

दुर्खीम इस मान्यता को सप्ताह के आधार पर भी लेते हैं। ग्युरी (Guerry) ने जो सप्ताह सम्बन्धी विवरण दिया है उसके आधार पर दुर्खीम ने निष्कर्ष निकाला है कि शुक्रवार को अच्छा दिन नहीं समझा जाता, क्योंकि इस दिन व्यापारिक जीवन में शिथिलता आ जाती है, सामाजिक क्रिया भी शिथिल हो जाती है। शनिवार की शाम तक यह शिथिलता बढ़कर, रविवार को पूर्णतया बढ़ जाती है और क्रियाएँ रुक जाती हैं। अत: रविवार को आत्महत्याएँ कम होती हैं, किन्तु रविवार को स्त्रियों को सक्रियता बढ़ जाती है अत: स्त्रियों में आत्महत्याएँ उस दिन अधिक होती हैं।

मौसम के अनुसार भी आत्महत्याएँ घटती-बढ़ती है। सर्दी के दिनों में सामाजिक जीवन निष्क्रिय हो जाता है, बसन्त के समय में सक्रियता बढ़ जाती है। अन्त:क्रिया तेज हो जाती है और जून और जुलाई में आत्महत्याओं की संख्या में और भी वृद्धि हो जाती है क्योकि इस मौसम में गाँवो मे सक्रियता बढ़ जाती है। अगस्त में सामाजिक क्रिया कम होने से आत्महत्याएँ भी कम होती हैं।

अत: दुर्खीम के मत में—*आत्महत्या का घटना-बढ़ना भौगोलिक परिवर्तनों पर निर्भर नहीं हैं, वरन् सामाजिक क्रिया की तीव्रता एवं मंदता पर निर्भर करता है। यद्यपि सामाजिक क्रिया की ये दशाएँ भौगोलिक दशाओं से ही प्रभावित होती हैं।*

अनुकरण और आत्महत्या
(Imitation and Suicide)

अनुकरण को एक मानसिक प्रक्रिया कहा जाता है जो व्यक्ति को दूसरो के समान क्रिया के लिए प्रवृत्त करती है।

अनुकरण को **तीन अर्थों** मे प्रयुक्त किया जाता है—

(1) अनुकरण का एक अर्थ तो यह होता है—जिसमें किसी समान कारण से प्रभावित होकर किसी सामाजिक समूह के लोग एक संगठित चेतना के रूप में समान रूप से सोचते या अनुभव करते हैं।

(2) इसका दूसरा अर्थ वह प्रेरणा है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में प्रचलित विचारों, प्रथाओ अथवा क्रियाओ के अनुरूप व्यवहार करता है।

(3) अनुकरण का तीसरा अर्थ वह है, जिसमें किसी देखी हुई अथवा जानी हुई घटना अथवा क्रिया को व्यक्ति स्वयं करता है।

दुर्खीम ने तीसरे अर्थ को स्वीकार किया है जिसमे किसी क्रिया को देखकर व्यक्ति स्वयं उसी प्रकार की क्रिया करता है—जैसे—हँसते व्यक्ति को देखकर स्वयं हँस देना, रोते को देखकर रो देना आदि अनुकरण के उदाहरण हैं जिसमे अनुकरण के लिए ही अनुकरण किया जाता है। यह एक यान्त्रिक प्रवृत्ति है और मूल क्रिया की प्रतिध्वनि है जिसका कोई बाह्य कारण नहीं होता। इस रूप में अनुकरण एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है और यदि व्यक्ति इसी अनुकरण के आधार पर आत्महत्या कर लेता है तो आत्महत्या का आधार मनोवैज्ञानिक और असामाजिक भी हो सकता है—इसके लिए अनुकरण के सिद्धान्त की परीक्षा ली जा सकती है।

अनुकरण सिद्धान्त का परीक्षण
(Examination of Imitation Theory)

अनुकरण के सिद्धान्त का निम्नलिखित आधारों पर परीक्षण किया जा सकता है—

(i) आत्महत्या की संक्रामक प्रवृत्ति—अनुकरण को संक्रामक प्रकृति वाला माना जाता है—अर्थात् सक्रामक रोग के समान अनुकरण व्यक्तियों में फैलता है। पाइनेल ने इसके अनेक उदाहरण दिये हैं, जैसे—स्टेम्पस् के एक पुजारी ने आत्महत्या की तो कुछ दिन पश्चात् अन्य लोगों ने भी आत्महत्याएँ कीं। जेरूशलम के आक्रमण के समय अनेक यहूदियों ने आत्महत्या करली। इस आधार पर पाइनेल आत्महत्या को संक्रामक रोग के समान मानते हैं, किन्तु दुर्खीम इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। उनका मानना है कि संक्रामक रोग सामूहिक रूप में फैलता है और एक से दूसरे को लगता है, किन्तु आत्महत्या की प्रकृति उस प्रकार की नहीं है, यह तो सामाजिक परिस्थिति मे उत्पन्न सामूहिक मन:स्थिति का परिणाम होती है।

(ii) आत्महत्या का भौगोलिक वितरण और अनुकरण (Geographical Distribution of Suicide and Imitation)—दुर्खीम के मत मे अनुकरण का प्रभाव तभी समझा जा सकता है, जब यह पता लग जाये कि किस क्षेत्र का अनुकरण हो रहा है। यदि आत्महत्या का कारण अनुकरण की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है तो एक क्षेत्र मे होने वाली आत्महत्याओ की दर बढ़नी चाहिये, भले ही उनका सामाजिक पर्यावरण अलग रहा हो। अनुकरण-केन्द्र की स्थापना करने के लिये दुर्खीम ने तीन मापदण्डों का निर्धारण किया है—

(1) उस क्षेत्र मे अन्य क्षेत्रो की तुलना मे आत्महत्या की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होनी चाहिये।

(2) इन क्षेत्रो की ओर आस-पास के लोगो का ध्यान निरन्तर बना रहना चाहिये।

(3) इस केन्द्र के निकटतम स्थान मे आत्महत्या का अधिक अनुकरण होना चाहिये फिर प्रभाव कम होता जाना चाहिये।

दुर्खीम ने अनेक प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि आत्महत्या के अनुकरण मे कोई निश्चित केन्द्र नहीं है। यदि किन्हीं क्षेत्रों में आत्महत्या की दर में निकटता आती है तो उसका कारण सामाजिक हो सकता है। इस प्रकार दुर्खीम यहाँ भी सामाजिक कारणों को महत्त्व देते हैं।

पाल ने अपने अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि आत्महत्या उन्हीं लोगो के द्वारा की जाती है जिनमे इस प्रकार की प्रवृत्ति पहले से ही विद्यमान होती है। दुर्खीम ने भी आत्महत्या की सक्रामक-प्रकृति के विचार को अस्वीकृत किया है और यह माना है कि अनुकरण आत्महत्या का मौलिक कारण नहीं है। यह केवल उस अवस्था को प्रकट करता है, जो इस क्रिया का वास्तविक संचालक कारक है। *निष्कर्षत: आत्महत्या अनुकरण का परिणाम नहीं है।*

आत्महत्या के प्रकार (Durkheim Types of Suicide)—जैसा कि पूर्व पृष्ठों के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि आत्महत्या की प्रवृत्ति को मनोजैविकीय अथवा

प्राकृतिक पर्यावरण के आधार पर स्पष्ट रूप से नहीं समझा जा सकता है, अपितु यह एक सामाजिक घटना है, जिसका प्रकटीकरण व्यक्तिगत रूप मे होता है। विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक कारण आत्महत्याओं के लिये उत्तरदायी होते हैं। आत्महत्याओं की विशेषता की समानता एवं भिन्नता के आधार पर दुर्खीम ने उनके प्रकारों का निर्धारण किया है। उनके मत में आत्महत्या के प्रकारों का वर्गीकरण उनको उत्पन्न करने वाले सामाजिक कारकों के वर्गीकरण के आधार पर किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से जितने प्रकार के सामाजिक कारक होंगे उतनी ही प्रकार की आत्महत्याएँ होंगी। दुर्खीम आत्महत्या के प्रकारों में धर्म, परिवार, राजनीति, व्यवसाय आदि सामाजिक तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अब आगे के पृष्ठों में आत्महत्या के प्रकारों पर प्रकाश डाला जायेगा। दुर्खीम ने प्रमुख रूप से तीन प्रकार की आत्महत्याओं का वर्णन किया है, जो इस प्रकार हैं—

1. अहंवादी आत्महत्या,
2. परार्थवादी आत्महत्या, तथा
3. आदर्शहीन आत्महत्या।

(1) अहंवादी आत्महत्या (Egoistic Suicide)

दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक परिस्थितियाँ विशिष्ट भावात्मक स्थितियों को जन्म देती हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्ति आत्महत्या करता है। अहंवादी आत्महत्या का मूल कारण सामाजिक समूहो मे विघटन का होना है। दुर्खीम का कहना है कि व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन में जब असन्तुलन हो जाता है और व्यक्ति स्वयं को समाज के साथ आबद्धित नहीं पाता है तो *अतिशय वैयक्तिकता* (Intense Individualization) की स्थिति आ जाती है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि यदि कोई विशिष्ट सामाजिक समूह संगठित है, उसके सदस्यों की समूह के साथ एकात्मकता है, वे समूह के आदर्शों के अनुरूप आचरण करते हैं व सामूहिक जीवन के प्रति लगाव रखते हैं, तो उसके सदस्यों में परस्पर व समूह के प्रति प्रेम व रुचि बनी रहती है, किन्तु यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि समूह के सदस्य सामूहिक गतिविधियों के प्रति उदासीन हो जायें, उसमें रुचि लेना छोड़ दें, उसके प्रति आकर्षण न रखें, तो सामाजिक समूह विखण्डित हो जाते हैं। उनमे असंगठन व विघटन की स्थिति हो जाती है और फिर उस समूह के व्यक्तियों का निजी जीवन के प्रति भी लगाव व झुकाव नहीं रहता, उस स्थिति में अधिक आत्महत्याएँ होती हैं।

दुर्खीम के मत में जब सामाजिक समूहों में एकीकरण होता है तो आत्महत्या की दर कम होती है और सामाजिक समूहों में विघटन होने पर आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। जब समूह में एकीकरण का अभाव हो जाता है तो व्यक्ति समाज से अलग हटकर केवल अपने आप पर निर्भर हो जाता है अर्थात् समूह जितना दुर्बल होता है, व्यक्ति उस पर उतना ही कम आश्रित रहता है और स्वयं पर उतना ही अधिक निर्भर रहता है, ऐसी स्थिति में वह अपने निजी हितों की पूर्ति में सहायक होने वाले आचरणों का ही पालन करता है। अतः दुर्खीम का मानना है, *"यदि हम इस अवस्था को, जिसमें व्यक्तिगत अहम् की शक्ति सामाजिक अहम्*

की तुलना में अधिक बढ़ जाती है, अहम्वाद कहने के लिये सहमत हों तो हम अतिशय व्यक्तिवाद से उत्पन्न होने वाली आत्महत्या के विशिष्ट प्रकार को 'अहम्वादी आत्महत्या' कह सकते हैं।"

सामूहिक शक्ति की प्रबलता के कारण व्यक्ति सामाजिक कर्त्तव्यों को भली-भाँति निभाता है व नियमों की पालना करता है इससे सामूहिक एकीकरण बना रहता है किन्तु इसके अभाव में वह स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छानुसार आचरण करता है और अपना भाग्य निर्माता भी स्वयं बन जाता है और इसी से अपने जीवन को समाप्त करने का भी उसको अधिकार हो जाता है। संगठित समूहों में जो भावनाएँ व विचार सामूहिक शक्ति पर निर्भर करते हैं, उनमें परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होता है और सामान्य भावनाओं व लक्ष्यों के आधार पर जीवन के प्रति व्यक्ति का जो लगाव होता है, वह असंगठित सामाजिक समूहों में नहीं पाया जाता। असंगठित समूह के सदस्य जीवन की कठिनाइयों को चुपचाप, अकेले रहकर सहन करने में सक्षम नहीं हो पाते। परिणामस्वरूप आत्महत्या कर लेते हैं क्योंकि उनका इनका कोई लक्ष्य नहीं रह पाता, उनको जीवन असह्य लगने लगता है। अतः यह कहा जा सकता है कि *अतिशय व्यक्तिवादिता आत्महत्या का कारण है।*

अहंवादी आत्महत्या का समाज से सम्बन्ध (Relation of Egoistic Suicide with Society)—दुर्खीम ने समाज और जीवन में सम्बन्ध स्थापित किया है। उनका मानना है कि सभ्य मनुष्य की क्रियाएँ सामूहिक जीवन से उत्पन्न होती हैं और इन क्रियाओं का उद्देश्य भी सामूहिक होता है। व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में ये क्रियाएँ समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। जितना अधिक व्यक्ति समाज से संबद्ध रहता है, वह उतना ही अधिक सामाजिक क्रियाओं में भाग लेता है और समाज से जितनी पृथक्ता होती है, जीवन के प्रति भी व्यक्ति का लगाव उतना ही कम हो जाता है। अर्थात् समाज ही व्यक्ति के जीवन का स्रोत है। मनुष्य में जीवन के प्रति संदेह या अलगाव उत्पन्न करने के कारण प्रमुखतया धार्मिक विश्वासों के प्रति सन्देह का होना, स्वयं अपने जीवन के प्रति सन्देह का होना तथा अपने परिवार और समुदाय से पृथक्ता का बढ़ना है। सामाजिक पक्ष के तिरोहित होते ही व्यक्ति अस्थिर प्रकृति का, उद्देश्य-विहीन और रिक्त हो जाता है, वह सोचता है कि अब उसका जीवित रहना व्यर्थ है। इस प्रकार असंगठन, असन्तुलन, एकीकरण का अभाव, जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण आदि व्यक्ति की सामाजिक पृथकता के परिणाम हैं। जब व्यक्ति का अहम् उसे समाज से अलग कर देता है तो वह स्वयं को लक्ष्यविहीन मानकर आत्महत्या कर लेता है।

दुर्खीम के मत में इसे 'अहंवादी आत्महत्या' इसलिए कहा गया है, क्योंकि वैयक्तिकता, अहम् और सामाजिक पृथक्ता आत्महत्या के जन्मदाता हैं। इस प्रकार दुर्खीम के मत में अहंवादी आत्महत्या सामाजिक सगठन के अभाव मे होती है। व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाले मुख्यतया तीन सामाजिक समूह हैं— (1) धार्मिक समूह, (2) परिवार और (3) राजनैतिक समूह। दुर्खीम ने तीनों समूहो की संगठनात्मक स्थिति के आधार पर अहम्वादी आत्महत्या के कारणों की व्याख्या की है। तीनों का अभाव आत्महत्या की दरों में वृद्धि का कारण होता है। इस सम्बन्ध में तीन निष्कर्ष भी प्रस्तुत किये हैं—

(क) आत्महत्या धार्मिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है।

(ख) आत्महत्या पारिवारिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है।

(ग) आत्महत्या राजनैतिक समाज के एकीकरण की मात्रा के साथ विपरीत दिशा में विचरण करती है।

इन तीनों की व्याख्या निम्नांकित पंक्तियों मे की जा सकती है—

(1) धर्म और अहंवादी आत्महत्या (Religion and Egoistic Suicide)—दुर्खीम ने यूरोप के विभिन्न धर्मों के अनुयायियों के आँकड़ों को प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि जिन धार्मिक समूहों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक होती है व एकीकरण कम होता है वहाँ आत्महत्याएँ अधिक होती हैं और जिन धार्मिक संगठनों में व्यक्तिगत निर्णय की स्वतन्त्रता कम होती है, वहाँ एकीकरण की मात्रा अधिक होती हैं, वहाँ आत्महत्याएँ कम होती हैं। इसे प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक धर्म का उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। *प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय* में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक होने से एकीकरण की मात्रा कम होती है। अतः आत्महत्याएँ वहाँ अधिक होती हैं, जबकि कैथोलिक सम्प्रदाय में प्रोटेस्टेण्ट की तुलना मे एकीकरण की अधिकता होती है। इस कारण आत्महत्याएँ वहाँ कम होती हैं, अतः दुर्खीम ने निष्कर्ष दिया है, *"बिना किसी अपवाद के सब जगह अन्य धर्मावलम्बियों की तुलना में प्रोटेस्टेण्ट अधिक आत्महत्या करते हैं।"* दुर्खीम ने बताया है कि यहूदियों में भी आत्महत्या की प्रवृत्ति प्रोटेस्टेण्टों से कम होती है। प्रोटेस्टेण्टों और कैथोलिक दोनों ही नैतिक आधार पर आत्महत्या को दण्डनीय मानते हैं तथा इसे पाप कर्म मानते हैं फिर भी इन दोनों में आत्महत्या का अन्तर है, इसका कारण यह है कि प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय परम्परा और रूढ़ियों की मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता, वह नवीन विश्वासों व मान्यताओं को स्वीकार करता है जबकि कैथोलिक सम्प्रदाय प्राचीन विश्वासों, मान्यताओं से बँधा हुआ है। यह सम्प्रदाय रूढ़िवादी है, इसमें तर्क और परीक्षण के लिए कोई स्थान नहीं है।

दुर्खीम के अनुसार—*कैथोलिक चर्च की तुलना में प्रोटेस्टेण्ट चर्च कम दृढ़ता के साथ संगठित है जिसके परिणामस्वरूप प्रोटेस्टेण्ट लोग अधिक आत्महत्याएँ करते हैं।*

यहूदी लोगों के प्रति अन्य लोगों के मन में सामान्य विरोध है इससे वे अपना पृथक् जीवन जीते हैं, हर यहूदी के आचार-विचार समान हैं। उनमें न व्यक्तिगत भिन्नता है, न ही वे व्यक्तिगत निर्णय लेते हैं। उनमे धार्मिक सुदृढ़ता और नियन्त्रण अधिक है, इसलिए उनमें आत्महत्या की दर कम होती है।

दुर्खीम ने फ्रांस, जर्मनी, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क व स्पेन आदि देशो से संकलित आँकड़ो के आधार पर यह निष्कर्ष दिया है कि *प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय में शिक्षा का प्रसार अधिक है।* इसलिए उनमें कैथोलिको की तुलना में आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्र निर्णय का आधार ज्ञान और शिक्षा है और शिक्षा से सामान्य विश्वास कमजोर हो जाते हैं। अतः शिक्षा और ज्ञान या बौद्धिक क्रिया—उच्च व्यवसाय और

सम्पन्न वर्ग को भी जन्म देती है। मौरसेलि ने बताया है कि *शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में विद्यमान लोगों में आत्महत्या की दर सबसे अधिक थी। स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना में कम आत्महत्याएँ करती हैं क्योंकि वे पुरुषों से कम पढ़ी-लिखी होती हैं।* उच्च वर्ग के व्यक्ति भी अधिक आत्महत्या करते हैं।

शिक्षित लोग अधिक आत्महत्या करते हैं इसका कारण यह हो सकता है कि शिक्षा परम्परागत विश्वासो को शिथिल बना देती है और नैतिक व्यक्तिवाद को जन्म देती है। शिक्षा का प्रसार बौद्धिक विचारो की स्वतन्त्रता को जन्म देता है जिसके कारण धार्मिक समाज का संगठन कमजोर हो जाता है, उनकी एकता विखंडित हो जाती है और *यही कमजोरी या विखंडन वास्तव में अहंवादी आत्महत्या का वास्तविक कारण है।*

दुर्खीम का कहना है, "मस्तिष्क की ये सामूहिक अवस्थाएँ जितनी अधिक और मजबूत होती हैं, धार्मिक समुदाय का संगठन उतना ही अधिक सुदृढ़ होता है और उतना ही अधिक उसका संरक्षणात्मक मूल्य होता है।"

अन्त में यह कहा जा सकता है कि अहंवादी आत्महत्या धर्म से सम्बन्धित है अर्थात् (1) जहाँ धार्मिक समाज मे एकीकरण की मात्रा अधिक होती है व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कम होती है वहाँ आत्महत्या की दर कम होती है और जहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक होती है और एकीकरण की मात्रा कम होती है वहाँ आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। (2) साथ ही शिक्षा व ज्ञान की अधिकता से आत्महत्या की दरों में वृद्धि होती है, तथा (3) उच्च वर्गों मे आत्महत्याएँ अधिक होती हैं।

(2) परिवार और अहंवादी आत्महत्या—समाज का संगठन और एकीकरण व्यक्तियों को जीवित रहने की प्रेरणा देता है। जो परिवार जितना अधिक संगठित होता है उसमे आत्महत्या की दर उतनी ही कम होती है और विघटित परिवार, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने निजी अहम् पर जीता है, वहाँ आत्महत्या की दर ऊँची होती है। दुर्खीम ने विभिन्न देशों के आँकडे एकत्र करके अध्ययन किया है, जिसमें उन्होने वैवाहिक स्थिति, आयु व लिंग आदि के साथ आत्महत्या के सम्बन्ध को स्थापित किया है।

विवाहित व्यक्तियो की तुलना मे अविवाहित व्यक्ति अधिक आत्महत्या करते हैं। अविवाहित व्यक्ति सुविधापूर्ण जीवन जीते है, उनकी जिम्मेदारियाँ भी कम होती हैं। परिणामस्वरूप आत्महत्या करने मे भी उन्हे कोई हिचक नहीं होती। साथ ही 16 वर्ष से कम आयु के अविवाहित कम आत्महत्या करते हैं इसका कारण उनकी अपरिपक्वता या अवयस्कता हो सकता है। दुर्खीम ने *वैवाहिक स्थिति और आत्महत्या के सह-सम्बन्ध के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष दिये हैं—*

(i) शीघ्र विवाह विशेषकर, पुरुषो के शीघ्र विवाह से आत्महत्या की दर बढ़ जाती है।

(ii) 20 वर्ष के बाद अविवाहित व्यक्तियों की तुलना में विवाहित (पुरुष और स्त्री) व्यक्तियों में आत्महत्या की दरों मे कमी आने लगती है।

उपर्युक्त निष्कर्षों से स्पष्ट होता है कि विवाहित पुरुषों मे आत्महत्या की दर कम होती है। इसके दो कारण हो सकते हैं—(1) पारिवारिक वातावरण का प्रभाव और (2)

जीवन-साथी का चुनाव। दुर्खीम का मानना है कि पारिवारिक पर्यावरण अधिक प्रभावपूर्ण कारण है। स्त्रियों की तुलना में पुरुषो को विवाह का लाभ अधिक होता है। पारिवारिक जीवन स्त्री और पुरुष की नैतिक रचना पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालता है। मौरसेलि ने विधवा स्त्रियों के सम्बन्ध में भी आँकड़े प्रस्तुत किये हैं और बताया है कि विधवा स्त्रियाँ अधिक आत्महत्या करती हैं क्योंकि विधुरो की तुलना में उनकी स्थिति अधिक दयनीय होती है। उनके समक्ष अनेक नैतिक व आर्थिक कठिनाइयाँ होती हैं। दुर्खीम का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका मानना है कि विधवाएँ पुनर्विवाह के प्रति अनिच्छा रखती हैं जबकि विधुर पुनर्विवाह में अधिक रुचि रखते हैं—यदि वैधव्यता स्त्रियों के लिए कष्टदायी होती तो उनमें भी स्वाभाविक रूप से पुनर्विवाह के प्रति रुचि होनी चाहिए थी अतः वैवाहिक चुनाव का सिद्धान्त पुरुष और स्त्रियों दोनों पर लागू नहीं होता, वास्तव में विवाहित पुरुषों में आत्महत्या की दर कम होने का कारण परिवार है जिसमें माता-पिता व बच्चे सम्मिलित रहते हैं।

आत्महत्या की दर तब कम हो जाती है, जब परिवार में सदस्यो की संख्या बढ़ जाती है। इस प्रकार पारिवारिक समूह आत्महत्या को रोकने मे सहायक होते हैं। दुर्खीम का मानना है कि मनुष्यों का मूल्य सम्पत्ति के आधार पर नही आँका जा सकता। अतः परिवार के आकार का बढ़ना मनुष्यों की जीने की इच्छा को बढ़ाता है न कि मुसीबत को पैदा करता है। जब परिवार के सदस्य सम्मिलित होकर पारिवारिक गतिविधियो मे निरन्तर भागीदार रहते हैं तो आत्महत्या से बचाव होता रहता है। परिवार जितनी अधिक दृढ़ता के साथ संगठित होगा, आत्महत्याएँ उतनी हो कम होंगी। निष्कर्षतः **परिवार आत्महत्या के विरुद्ध एक शक्तिशाली सुरक्षा है।** इस प्रकार आत्महत्या पारिवारिक संगठन की मात्रा के साथ विपरीत दिशा मे विचरण करती है।

(ii) **राजनैतिक समाज और आत्महत्या** (Political Society and Suicide)—संगठन की एकता का आत्महत्या के साथ सम्बन्ध राजनीति के स्तर पर भी देखा जा सकता है। दुर्खीम के विचार मे प्रारम्भिक अवस्था मे प्रत्येक समाज में बहुत कम आत्महत्याएँ होती हैं, किन्तु जैसे-जैसे समाज विकसित होता जाता है, उसमे असंगठन बढ़ता जाता है और उसमे आत्महत्या की दर भी बढ़ती जाती है। दुर्खीम ने इस सम्बन्ध मे यूनान और रोम के समाजों के आधार पर इस कथन की पुष्टि की है। फ्रांस में क्रान्ति के समय सामाजिक अव्यवस्था हो गई थी, सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था, उस समय वहाँ अचानक आत्महत्या की दरो में वृद्धि हो गई थी। राजनैतिक उथल-पुथल आत्महत्या की दरो में वृद्धि कर देती है किन्तु **मौरसेलि** इस बात को नहीं मानते, उन्होंने इस तथ्य से सम्बन्धित अध्ययन के परिणामों को प्रस्तुत किया है कि आत्महत्या राजनैतिक उथल-पुथल का कारण नहीं है।

इस सम्बन्ध में दुर्खीम का मानना है कि सभी राजनैतिक संकट एक-सा प्रभाव नहीं छोड़ते। आत्महत्याओ की दर केवल ऐसी संकटपूर्ण घटनाओं में कम होती है जो भावनाओ को उत्तेजित करती हैं। किसी समुदाय के एकीकरण की मात्रा आत्महत्या की दर को निश्चित करती है। राजनैतिक संकट जन-मानस को उत्तेजित करते हैं और उस समय व्यक्ति संकटों से अपने आपको सुरक्षित करने के लिए और अधिक संगठित हो जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप आत्महत्याएँ कम होती हैं। इस प्रकार आत्महत्या की दर का कारण केवल

क्रान्ति अथवा संकट नहीं है। राजनैतिक संकट तो आत्महत्याओं की दरों में कमी करते हैं। दुर्खीम कहते हैं, *"बड़े-बड़े सामाजिक उपद्रव और बड़े-बड़े प्रसिद्ध युद्ध सामूहिक भावनाओं को जाग्रत करते हैं, दलगत भावना और देशभक्ति, राजनैतिक और राष्ट्रीय आस्था—दोनों को उत्तेजित करते हैं और एक ही लक्ष्य की दिशा में एकाग्रतापूर्ण क्रिया अस्थाई रूप से ही सही, समाज में अधिक दृढ़ एकीकरण उत्पन्न कर देती है।"* निष्कर्षतः संकट से उत्पन्न एकीकरण की दृढ़ता के कारण आत्महत्या की दर को कम करने पर इसका सीधा प्रभाव पड़ता है।

(2) परार्थवादी आत्महत्या (Altruistic Suicide)

जिस प्रकार जब मनुष्य समाज से पृथक् हो जाता है, तो उसे अपने अन्दर आत्महत्या का सामना करने की शक्ति का कम अनुभव होता है, उसी भाँति जब सामाजिक एकीकरण अत्यधिक सुदृढ़ हो जाता है और व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का कोई मूल्य ही नहीं दिखाई देता, केवल समाज उसकी प्रत्येक क्रिया को यंत्र की भाँति निर्देशित करता रहता है उसके व्यक्तिगत हित, रुचियाँ या विचार पूर्णरूप से अचेतन होकर सामूहिक विचार और सामूहिक रुचि व हितों का अनुसरण करते हैं तो ऐसी स्थिति में होने वाली आत्महत्याओं को दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या कहा है। इस प्रकार परार्थवादी आत्महत्या प्रथम प्रकार की अहम्‌वादी आत्महत्या का विपरीत रूप है। परार्थवादी आत्महत्या उस स्थिति में की जाती है जब व्यक्ति और समाज परस्पर इतनी घनिष्ठता से सम्बद्ध हो जाते हैं कि समाज या समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व को पूर्णतया मूल्यहीन कर देते हैं, वह जो कुछ क्रियाएँ करता है सब कुछ समाज या समूह की दृष्टि से करता है, वह केवल समूह का सदस्य रह जाता है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, उसे समूह के लिए अपने आपको त्यागना भी पड़ सकता है, ऐसी स्थिति में दुर्खीम के मतानुसार, आत्महत्या ही एक विकल्प रह जाता है, जिसे परार्थवादी आत्महत्या कहा गया है।

दुर्खीम ने इस प्रकार की आत्महत्या के अनेक उदाहरण दिये हैं—भारत में संन्यासी प्राणायाम करके समाधिस्थ हो जाया करते थे। सती प्रथा के अन्तर्गत स्त्रियाँ पति की मृत्यु के उपरान्त स्वयं भी उसकी चिन्ता मे जलकर मर जाया करती थीं। गाँव में किसी मुखिया की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुयायी भी आत्महत्या कर लेते थे। डेनमार्क के सैनिक वृद्धावस्था अथवा रोग के कारण चारपाई पर मरना अपमानजनक मानकर, उससे पूर्व ही आत्महत्या कर लेते थे। दुर्खीम के मत में भारतवर्ष तो परार्थवादी आत्महत्या का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहाँ की संस्कृति में एक निश्चित आयु प्राप्त कर लेने के पश्चात् और अपने कर्त्तव्यों से मुक्ति पा लेने के बाद व्यक्ति प्राणायाम करके समाधिस्थ हो जाता था। बुद्ध को निर्वाण प्राप्ति के लिए आत्मदाह की स्वीकृति दी गई थी। बार्थ ने अपनी कृति **'भारत के धर्म'** में लिखा है कि दक्षिण भारत के जैनियों में भूखे रहकर धार्मिक आत्महत्याएँ करने का प्रचलन था। बनारस में **'काशी करवट'** की क्रिया प्रसिद्ध है जिसमें साधक मुक्ति पाने के उद्देश्य से आरे पर अपने शरीर को रख देता था और टुकड़े कट-कटकर गंगा की लहरों मे समा जाते थे। यद्यपि दुर्खीम ने **'काशी करवट'** की चर्चा नहीं की किन्तु उन्होने गंगा के जल में आत्महत्या करके

मुक्ति पाने की क्रिया के विषय में लिखा है। जापान अमिदा आदि स्थानों पर आत्मबलि की प्रथा है। 'बलि-प्रथा' भी परार्थवादी आत्महत्या ही है, हर समाज में यह प्रथा प्रचलित है। भीलों में शिव के समक्ष 'बलि' दी जाती है। इन सभी उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि परार्थवादी आत्महत्या बहुत पहले से प्रचलित है जिसमें व्यक्ति अपने स्वत्व को भुलाकर समाज अथवा ईश्वर के समक्ष स्वयं को विलीन करके उसी में एकाकार हो जाता है।

दुर्खीम ने उस अवस्था को 'परार्थवादी अवस्था' कहा है जिसमें व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का पूर्ण अभाव होता है, सामूहिक पर्यावरण सामाजिक हित से प्रेरित होता है तथा सामाजिक संगठनों की अतिशय दृढ़ता होती है। इस अवस्था से उत्पन्न होने वाली आत्महत्याएँ ही परार्थवादी आत्महत्याएँ हैं। चूँकि इन आत्महत्याओं में **कर्त्तव्य** को प्रमुखता दी जाती है अतः इन्हें **कर्त्तव्य प्रधान परार्थवादी आत्महत्या** कहा जायेगा। दुर्खीम का मानना है कि *परार्थवादी मनोवृत्ति में अवैयक्तिकता अपने चरमोत्कर्ष पर होती है, परार्थवाद उग्र हो जाता है।*

दुर्खीम इस प्रकार की आत्महत्या में शहीदों को भी सम्मिलित करते हैं। उन्हें आत्महत्या की इच्छा करने में बलिदान का सुख मिलता है अतः समाज बलिदानों को महत्त्व देता है। दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्याओं को तीन भागों में बाँटा है—

(अ) कर्त्तव्य प्रधान परार्थवादी आत्महत्या (Duty-promiment Altruistic Suicide)—इसमें व्यक्ति समाज के आदेश के सम्मुख नतमस्तक होकर, सामाजिक कर्त्तव्य को अनिवार्य समझकर आत्महत्या करने के लिए प्रेरित होता है।

(ब) वैकल्पिक परार्थवादी आत्महत्या—इस प्रकार की आत्महत्या में व्यक्ति बाध्य होकर आत्महत्या नहीं करता, वरन् समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के उद्देश्य से आत्महत्या करता है।

(स) उग्र या तीव्र परार्थवादी आत्महत्या—इसमें सामाजिक पर्यावरण व्यक्ति को मानवेतर शक्ति के समक्ष स्वत्वहीन कर देता है। वह एक महान् व्यक्तित्व में अपने को विलीन करने के लिए आत्महत्या करता है।

अहम्वादी और परार्थवादी आत्महत्या में अन्तर (Distinction Between Egoistic and Altruistic Suicides)—अहम्वादी आत्महत्या और परार्थवादी आत्महत्या में निम्नलिखित अन्तर हो सकता है—

(1) अहंवादी आत्महत्या में समाज व्यक्ति को आत्महत्या करने के लिए बाध्य नहीं करता, अपितु समाज से अलगाव व्यक्ति को इतना अधिक निराश बना देता है कि मरने के अतिरिक्त वह और कुछ कर ही नहीं पाता। जबकि परार्थवादी आत्महत्या में समाज प्रत्यक्षतः ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर देता है, जो व्यक्ति को स्वयं को समाप्त करने के लिए बाध्य कर देती हैं। अर्थात् आत्महत्या उसके लिए कर्त्तव्य बन जाती है।

(2) अहंवादी आत्महत्या का प्रमुख कारण अतिशय वैयक्तिकता है, जबकि परार्थवादी आत्महत्या का मूल कारण अतिन्यून वैयक्तिकता है।

(3) अहम्वादी आत्महत्या इसलिए की जाती है क्योंकि समाज ने व्यक्ति को सामाजिक जीवन से पलायन कर जाने की छूट दे दी है। वह समाज की चिन्ता न करके,

अपनी स्वतंत्र इच्छा का अनुगमन कर सकता है। जबकि परार्थवादी आत्महत्या में समाज पूर्ण रूप से व्यक्ति को अपने चंगुल में ले लेता है, उसे अपना दास बना देता है।

(4) अहम्वादी आत्महत्या में व्यक्ति इसलिए निराश और दु:खी होता है क्योंकि उसे अपने अतिरिक्त संसार मे और कुछ भी दिखाई नहीं देता है। जबकि परार्थवादी आत्महत्या में व्यक्ति इसलिए निराशा और दु:खी होता है क्योंकि उसे अपने व्यक्तित्व में कुछ भी सत्य दिखाई नहीं देता है बल्कि समाज ही उसके लिए सब कुछ होता है।

(5) अहंवादी आत्महत्या में क्रियाशीलता का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, व्यक्ति मे मानसिक बोझ और व्याकुलता छा जाती है, जबकि परार्थवादी आत्महत्या व्यक्ति तीव्र उत्साह और शक्ति के साथ इस जीवन-लीला को समाप्त कर सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की ओर उन्मुख हो जाता है।

(6) अहम्वादी आत्महत्या में नैतिक चेतना का अभाव होता है, जबकि परार्थवादी आत्महत्या नैतिक चेतना से सम्बन्धित होती है, उसमे त्याग और समर्पण की भावना रहती है।

(7) दुर्खीम ने दोनों की मन:स्थिति का विश्लेषण इस प्रकार किया है, "एक जीवन से इसलिए पृथक् है, क्योंकि ऐसा कोई लक्ष्य न देखकर, जिससे वह अपने को सम्बन्धित कर सके, वह स्वयं को व्यर्थ और उद्देश्यहीन अनुभव करता है, दूसरा इसलिए क्योंकि उसके सामने लक्ष्य होता है, परन्तु वह इस जीवन के बाहर कहीं होता है, जिसे प्राप्त करने में यह जीवन उसे एक बाधा प्रतीत होती है।" इसमें प्रथम स्थिति अहम्वादी की है और दूसरी परार्थवादी की।

सैनिक जीवन और परार्थवादी आत्महत्या (Military-life and Altruistic Suicide)—दुर्खीम ने परार्थवादी आत्महत्या का सम्बन्ध विशेष रूप से सैनिक जीवन से जोडा है। अनेक देशो के आँकडो के आधार पर उन्होने यह सिद्ध किया है कि नागरिको की तुलना मे सैनिको में आत्महत्याओ की प्रवृति अधिक पाई जाती है। दोनों की आत्महत्या की दर की तुलना करके दुर्खीम ने यह सिद्ध किया है कि सेवा की अवधि बढने के साथ आत्महत्या की दर बढ जाती है।

दुर्खीम सैनिकों मे आत्महत्या की प्रवृत्ति की अधिकता के निम्न कारण नहीं मानते है—(1) सैनिक अधिकारियो के अविवाहित होने को इसका कारण नहीं मानते हैं, (2) मद्यपान को इसका कारण नहीं मानते हैं, (3) सैनिक जीवन के साथ अनुकूलन की कठिनता को भी वे आत्महत्या का कारण नहीं मानते हैं, (4) उनके मत मे सैनिक जीवन की कठोरता और अनुशासन भी आत्महत्या का कारण नहीं है।

दुर्खीम के मत मे वे सैनिक आत्महत्या करते है जिनकी रुचि इस सेवा में अधिक होती है व जो जीवन के लिए सर्वाधिक योग्य होते हैं। अत: *सैनिको में आत्महत्या का कारण उनकी सामाजिक दशाओ में खोजा जाना चाहिये, जिनमें वे रहते हैं और जिनके प्रभाव से उनकी मानसिक स्थितियों का निर्माण होता है।* दुर्खीम के मत मे सैनिकों का प्रथम गुण **अवैयक्तिकता** है। वे केवल अधिकारियों के आदेश का पालन करते हैं, सोच-विचार या तर्क-वितर्क के लिए वहाँ कोई गुँजाइश नहीं होती। अनुशासन उनके लिए सर्वोपरि है। सेवा

में स्वतन्त्र क्रिया का अवसर सबसे कम होता है और अवैयक्तिकता की स्थिति अधिक होती है इसी कारण सैनिकों में परार्थवादी आत्महत्या की दर अधिक होती है। सेना के अधिकारी में भी यद्यपि समर्पण का भाव अधिक होता है किन्तु उसमें वैयक्तिकता अधिक होती है, अपने जीवन को वह अधिक मूल्यवान समझता है अतः उसमें बलिदान करने की प्रवृत्ति कम होती है। इसी कारण *अधिकारियों में अराजपत्रित अधिकारियों की तुलना में परार्थवादी आत्महत्या की प्रवृत्ति कम होती है। दुर्खीम का मानना है कि नागरिकों में अतिशय व्यक्तिवाद के कारण आत्महत्याएँ होती है और सैनिकों में परार्थवाद के कारण। सैनिको में परार्थवादी आत्महत्या का मुख्य कारण सामाजिक पर्यावरण है।*

अन्ततः परार्थवादी आत्महत्या उन क्रियाओं में व्यक्त होती है जिनकी प्रशंसा की जाती है, जिनके प्रति आदर व्यक्त किया जाता है। इसी कारण लोग इसे आत्महत्या न मानकर त्याग और बलिदान मानते हैं क्योंकि इनमे ईश्वर की प्राप्ति की भावना, निर्वाण की प्राप्ति, धर्मानुराग, आदर्श प्रेम व सामाजिक अपमान से बचाव आदि का भाव-निहित होता है, *किन्तु दुर्खीम का मानना है कि चूँकि ये बलिदान त्याग और विरक्ति की भावना से किए जाते हैं, अतः इन्हे परार्थवादी आत्महत्या कहना ही उचित है।*

(3) आदर्शहीन आत्महत्या
(Anomic Suicide)

प्रत्येक समाज मे मनुष्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए कुछ विशिष्ट साधन या पद्धतियाँ विद्यमान हैं। प्रत्येक समाज के कुछ सामाजिक नियम होते हैं, प्रथाएँ व कानून होते हैं जो व्यवहार-नियन्त्रण के आधार-तत्त्व है। इन नियमों का पालन जब तक समाज भली-भाँति करता रहता है, तब तक समाज में व्यवस्था और एकरूपता विद्यमान रहती है, परन्तु जब सब लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपने तरीके से करने लगते हैं, सामाजिक नियमों में शिथिलता आने लगती है तो समाज मे अव्यवस्था फैल जाती है, इससे समाज पर अनेक संकट आ जाते हैं। समाज की ऐसी अवस्था, जिसमें समाज के सदस्यों के समक्ष कोई आदर्श नियम नहीं होते हैं, सामूहिक एकरूपता समाप्त हो जाती है, समाज के सदस्य दिशाहीन होकर मनमाना व्यवहार करने लगते हैं, समाज की उस स्थिति को दुर्खीम ने 'आदर्शहीनता' की स्थिति कहा है। इस *आदर्शहीन सामाजिक अवस्था के परिणामस्वरूप जो आत्महत्या की जाती है, दुर्खीम उन्हे 'आदर्शहीन आत्महत्या' कहते हैं।*

(i) आर्थिक संकट और आत्महत्या (Economic Crisis and Suicide)— प्रायः यह देखा गया है कि *आर्थिक सकटों की स्थिति में आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ जाती है।* अनेक अध्ययनो के आधार पर यह निष्कर्ष निकला है कि आर्थिक व व्यापारिक हानि अथवा दिवालियापन व्यक्ति को आत्महत्या के लिए प्रेरित करते हैं। इस व्याख्या को दुर्खीम स्वीकार नहीं करते हैं कि *निर्धनता की वृद्धि आत्महत्या की दर में वृद्धि करती है।* उनका मानना है कि यदि निर्धनता आत्महत्या की प्रेरणा देती है तो सुविधाएँ बढने से आत्महत्या की दर कम होनी चाहिए, किन्तु अनेक अध्ययनों के आधार पर यह सत्य प्रतीत नहीं होता। उन्होने सन् 1870 से 1889 तक की अवधि में रोम की आर्थिक प्रगति की व्याख्या करते हुए कहा कि जब आर्थिक क्रिया तीव्र हो जाती है, व्यापार बढता है, औद्योगिक उन्नति होती है, तो लोगो का जीवन अधिक सुविधापूर्ण हो जाता है, ऐसी स्थिति में आत्महत्याएँ भी बढ़ जाती हैं।

वास्तव में आर्थिक परेशानी आत्महत्या को प्रेरित नहीं करती, बल्कि उसे सुरक्षा प्रदान करती है।

आर्थिक संकट और आर्थिक सम्पन्नता दोनों ही असामान्य अवस्थाएँ हैं अथवा संक्रांति के काल हैं। प्रत्येक संक्रांति काल में सामूहिक व्यवस्था में उथल-पुथल हो जाती है। अधिक सम्पन्नता अथवा अधिक विपन्नता दोनों ही स्थितियाँ आदर्शहीनता को जन्म देती हैं जो आत्महत्या को प्रेरित करती हैं। जब आदर्श समाप्त हो जाते हैं। सामाजिक दशाएँ असामान्य हो जाती हैं, तब उस वातावरण से प्रेरित आत्महत्याएँ दुर्खीम के मतानुसार आदर्शहीन आत्महत्याएँ हैं।

जब व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं और साधनों के अनुरूप होती हैं तो व्यक्ति सुखी रहता है। यदि आवश्यकताएँ साधनों की तुलना में बढ़ जाती हैं तो प्राणी को कष्ट का अनुभव होता है। अतः दुर्खीम का मानना है कि इच्छाओ को सीमित रखना चाहिए, किन्तु व्यक्ति का उन पर नियन्त्रण नहीं रहता अतः समाज को इस कार्य में सहायता करनी चाहिए, जिससे व्यक्ति का सामंजस्य स्थिति के साथ बना रहे। समाज ही एक ऐसी नैतिक शक्ति है जो व्यक्ति से श्रेष्ठ है, और व्यक्ति उसकी सत्ता को स्वीकार करता है। जब व्यक्ति को अपनी स्थिति से सन्तोष हो जायेगा तो उसके मन मे सुख व शान्ति हो जायेगी, किन्तु यह अनुशासन तभी लाभदायक हो सकेगा जब व्यक्ति इसे न्यायसंगत समझें। जबरदस्ती से लादा गया अनुशासन तो व्यक्ति मे असन्तोष उत्पन्न करेगा। आकांक्षाओं पर व्यक्ति का नियन्त्रण न रहने से असन्तोष की वृद्धि होती है, परिणामस्वरूप आत्महत्याओं में भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत निर्धनता व्यक्ति की इच्छाओं को सीमित कर देती है अतः वह व्यक्ति को आत्महत्या के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करती है। दुर्खीम निर्धनता को प्रभावकारी बताते हुए कहते हैं, *"यह (निर्धनता) वास्तव में आत्मसंयम की शिक्षा का सर्वोत्तम साधन हैं। निरन्तर अनुशासन के लिए बाध्य करते हुए यह व्यक्ति को शान्ति से सामूहिक अनुशासन को स्वीकारने के लिए तैयार करती है, जबकि सम्पन्नता, व्यक्ति को प्रोत्साहित करते हुए सदैव विद्रोह की भावना को जागृत कर सकती है जो अनैतिकता का स्रोत है।"* क्योंकि निम्न वर्ग के मनुष्यो की इच्छाएँ सीमित होती हैं जबकि सम्पन्न व्यक्तियों की इच्छाएँ असीमित होती हैं और उन्हे पूरा करने के लिए वह निरन्तर भागता रहता है इससे उसे निराशाएँ घेर लेती हैं जो आत्महत्या की ओर ले जाती हैं। *अतः आदर्शहीन आत्महत्या नियन्त्रणहीनता और उससे उत्पन्न पीड़ा का परिणाम है।*

(ii) वैवाहिक जीवन और आदर्शहीन आत्महत्या (Marital-life and Nomuless Suicide)—दुर्खीम के अनुसार वैवाहिक जीवन मे भी आदर्शहीनता की स्थिति आ जाती है। आपके अनुसार निम्न परिस्थितियों मे आत्महत्या की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं—

(अ) वैधव्य (Widowhood)—जब पति या पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाती है तो परिवार में आदर्शहीनता आ जाती है। वैधव्यपूर्ण जीवन नई परिस्थितियों के साथ अनुकूलन नहीं कर पाता और आत्महत्या की ओर उन्मुख हो जाता है।

(ब) विवाह-विच्छेद (Divorce)—बर्टिलन ने विवाह-विच्छेद का आत्महत्या के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया है लेकिन दुर्खीम का कहना है कि विवाह-विच्छेद ही *आत्महत्या का कारण नहीं है वास्तव मे असन्तुलित पारिवारिक जीवन ही विवाह-विच्छेद* और आत्महत्या की प्रेरणा देता है।

(4) घातक आत्महत्या
(Fatalistic Suicide)

उपर्युक्त तीन प्रकार की आत्महत्याओं का वर्णन करने के उपरान्त दुर्खीम के मत मे कुछ ऐसी आत्महत्याएँ हैं जो उपर्युक्त की कोटि में नहीं आतीं। निम्नलिखित आत्महत्याओं को इसमें सम्मिलित किया जा सकता है।

विवाह (Marriage)—विशेष रूप से एक-विवाह के आदर्श के कारण नवयुवक पति और नि:सन्तान विवाहित स्त्री को आंतरिक कुण्ठा का शिकार होना पड़ता है। एक-विवाह का बन्धन पुरुष की काम-प्रवृत्ति को सीमित कर देता है जो उसे आत्महत्या की ओर प्रेरित कर देता है। उसी भाँति सन्तानहीन विवाहित स्त्री माँ बनना चाहती है परन्तु एक-विवाह का बन्धन उसे अन्य व्यक्ति तक जाने नहीं देता (उस स्थिति में जब विवाहित पुरुष इस कार्य मे असमर्थ हो), तब निराश होकर वह आत्महत्या की ओर उन्मुख हो उठती है। मालिक के अत्याचार से पीड़ित मजदूर भी आत्महत्या की ओर प्रवृत्त हो सकते हैं। उपर्युक्त स्थितियों में व्यक्ति को आत्महत्या की ओर प्रेरित करने वाले प्रमुख तत्त्व—*(1) अत्यधिक नियन्त्रण, (2) अत्यधिक आदर्शवादिता एवं (3) कठोर नियम-बद्धता हैं।*

अत्यधिक कठोर नियन्त्रण, आदर्शवादिता एवं नियमबद्धता व्यक्ति को कुंठित बना देती है, वह उनसे स्वतन्त्र होना चाहता है और जब उससे बाहर आने का कोई मार्ग नहीं सूझता तो व्यक्ति आत्महत्या की ओर अग्रसित होता है। दुर्खीम इस प्रकार की आत्महत्या को 'घातक आत्महत्या' कहते हैं। उनका कथन है, *"यह आत्महत्या अतिशय नियन्त्रण के कारण उन व्यक्तियों के द्वारा की जाती है, जिनके भविष्य दमनकारी अनुशासन के द्वारा निर्दयतापूर्वक अवरुद्ध कर दिए गए हैं, और जिनकी कामनाओं का गला उग्रता से दबा दिया गया है।"*

व्यावहारिक निष्कर्ष
(Practical Conclusions)

दुर्खीम ने आत्महत्या की समस्या के व्यावहारिक निष्कर्षों पर विचार किया है। आधुनिक समाजों को आत्महत्या को असामान्य और व्याधिकीय तथ्य मानकर उसे रोकने का प्रयास करना चाहिए अथवा उसे सामाजिक तथ्य समझकर चलते रहने देना चाहिए? इस सम्बन्ध में दुर्खीम ने अपने निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं—

आत्महत्या एक व्याधिकीय प्रघटना (Suicide is a Pathological Phenomenon)—प्रत्येक समाज में आत्महत्या के तीनों प्रकारों (अहंवादी, परार्थवादी और आदर्शहीन) में से कोई-न-कोई थोड़ी बहुत मात्रा मे हर समय विद्यमान रहता है। ये तीनों एक सामूहिक विषाद को जन्म देते हैं। दुर्खीम के मत में अबाध आनन्द ही सामान्यता का लक्षण नहीं है। मनुष्य बिल्कुल शोकहीन होकर जीवन का आनन्द नहीं ले सकता। दुर्खीम का कहना है कि, *"अत्यधिक हर्षपूर्ण नैतिकता अमर्यादित नैतिकता है।"* (Too cheerful Morality is a loose Morality) सामाजिक जीवन में आशा और निराशा दोनों ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। अधिक धर्मपरायण समाजों में आदिम समाजों की तुलना मे आनन्द कम होता है, चिन्ताएँ अधिक होती हैं। यह चिन्ता एक सामूहिक मिजाज के रूप में विद्यमान

रहती है, जिसकी अभिव्यक्ति समाज के कुछ व्यक्तियों के माध्यम से होनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियों में आत्महत्या का विचार शीघ्र पनपता है।

दुर्खीम के मत में आत्महत्या सार्वभौमिक, सार्वकालीन घटना होते हुए भी निरपेक्ष रूप से सामान्य तथ्य नहीं कही जा सकती। आत्महत्या उन व्याधिकीय दशाओं का परिणाम है जो प्रगति के साथ-साथ बढ़ती हैं, परन्तु यह उसकी आवश्यक दशा नहीं है। आधुनिक युग की व्याधिकीय सामाजिक दशाएँ ही वास्तव में आत्महत्या की वृद्धि का मुख्य स्रोत हैं।

आत्महत्या के निराकरण के उपाय (Solutions for Eradicating Suicide)

दुर्खीम ने आत्महत्या के निराकरण के कतिपय सुझाव दर्शाए हैं—

(1) दुर्खीम का मत है कि आत्महत्या करने वाले को कठोरता से दण्डित करने के स्थान पर नैतिक दण्ड दिया जाना चाहिए। आत्महत्यारे को अन्तिम संस्कार से वंचित करके नागरिक, राजनैतिक और पारिवारिक अधिकार छीनकर आत्महत्याओं को कम किया जा सकता।

(2) मौरसेलि और फ्रैंक आदि के मत में आत्महत्या की दर को कम करने का सर्वोत्तम साधन शिक्षा हो सकती है। परन्तु दुर्खीम का मानना है कि शिक्षा स्वयं समाज के जीवन से सम्बन्धित होती है। यदि समाज का वातावरण दूषित है, तो स्कूल का कृत्रिम वातावरण इसमें सुधार नहीं कर सकता। अतः शिक्षा में सुधार के लिए समाज को सुधारना आवश्यक है। क्योंकि शिक्षा समाज का प्रतिरूप है।

(3) आत्महत्या को कम करने के लिए दुर्खीम के मत में सामाजिक समूहों की पर्याप्त निरन्तरता की पुनर्स्थापना करना है जिससे वे व्यक्ति पर पहले जैसा नियन्त्रण रख सकें और उनमें स्वयं वह करने को बन्धा हुआ अनुभव करें। किन्तु दुर्खीम के मत में यह कार्य न तो राजनैतिक संस्था कर सकती है और न धर्म, क्योंकि आधुनिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने इन्हें कमजोर बना दिया है। परिवार भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा नहीं सकता। *इसमें तो केवल व्यावसायिक समूह का निगम सहायक हो सकता है*, व उन्हें प्रभावित कर सकता है। दुर्खीम ने आत्महत्याओं की वृद्धि का कारण सामूहिक जीवन में उत्पन्न होने वाले दोषों को बताया है, जिन्हें दूर करके ही नैतिक शक्ति की प्रगति की जा सकती है।

निष्कर्षतः आत्महत्याओं को रोकने के लिए स्थानीय समूहों का पुनर्निर्माण करना आवश्यक है जो स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी केन्द्रीय राजसत्ता के अधीन हों जिसे दुर्खीम ने विकेन्द्रीकरण कहा है। संक्षेप में आत्महत्या के निराकरण के उपायों में दुर्खीम विकेन्द्रीकरण को आवश्यक मानते हैं।

समालोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation)—'आत्महत्या' को दुर्खीम की एक अनुपम कृति माना जा सकता है जो सैद्धान्तिक और पद्धतिशास्त्रीय मान्यताओं पर आधारित है। इस कृति में सैद्धान्तिक रूप से वह सिद्ध करना चाहते थे कि सामाजिक तथ्य वैयक्तिक चेतना से ऊपर एक पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। उन्होंने आत्महत्या जैसे व्यक्तिगत तथ्य को भी सामाजिक तथ्य के रूप में प्रमाणित करने का प्रयास किया, किन्तु दुर्खीम की इस कृति की भी कुछ विद्वानों द्वारा समालोचना की गई।

स्टेनमेटज ने लिखा है, "मैं जो आँकड़े एकत्र करने मे सफल हुआ हूँ, उनसे यह प्रतीत होता है कि सभ्य लोगों की तुलना में वन्य मनुष्यों मे आत्महत्या अधिक होती है।"

जिलबोर्ग ने एक लेख में लिखा है, "आत्महत्या के सांख्यिकीय आँकडे जिस रूप में आज संकलित किए गए हैं, बहुत कम विश्वसनीय हैं।" जिलबोर्ग के अनुसार आत्महत्या इतनी पुरानी घटना है, जितनी मानव जाति। दुर्खीम के द्वारा यूरोपियन और अमेरिकन समाज के सांख्यिकीय आँकड़ों का भण्डार प्रस्तुत किए जाने के बाद भी यह कहना सरल है कि अनेक आत्महत्याओ का रिकॉर्ड कोष के बाहर था और अनेक आत्महत्याओं का रिकॉर्ड था ही नहीं।

अत: आत्महत्या की व्याख्या केवल आँकड़ों के आधार पर करना उतना सरल नहीं था, जितना दुर्खीम ने अनुभव किया था। जिलबोर्ग ने दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत 'सभ्यता के विकास' और 'आत्महत्या की वृद्धि' को भी पक्षपातपूर्ण निष्कर्ष मानकर अमान्य सिद्ध किया है। उनका कहना है, "जहाँ तक आत्महत्या का सम्बन्ध है, आज का मनुष्य अपने पूर्वजों से वास्तव में कम है।"

हैरीवान्स के अनुसार, "आत्महत्या के सिद्धान्त में दुर्खीम ने व्यक्तिगत प्रेरणा और सास्कृतिक कारकों को कोई महत्त्व नहीं दिया है जो आत्महत्या करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करते हैं।"

दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धान्त के लिए कहा गया है कि इसमे मानव की जैविकीय प्रेरणाओ की उपेक्षा की गई है, इस कारण उनकी विवेचना सन्देहास्पद हो गई है। स्वयं इसके अनुवादक 'जार्ज सिम्पसन' ने भी लिखा है कि "दुर्खीम प्रेरणा-विश्लेषण और सवेगात्मक जीवन की मौलिक विशेषताओं की व्याख्या से सम्बन्धित आधुनिक विकास से अनभिज्ञ थे।" किन्तु उन्होने मनोव्याधिकीय तत्त्वों को आत्महत्या की प्रेरणा का आधार बताया है, अतः उपर्युक्त आरोप तर्कसंगत नहीं माना जा सकता।

रेमण्ड एरन ने "*मनोवैज्ञानिक-पृष्ठभूमि-समाजशास्त्रीय निर्धारण*" सूत्र को दुर्खीम के विश्लेषण का मुख्य आधार बताया। इसके उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि दुर्खीम द्वारा वर्णित आत्महत्या की व्याख्या में सामूहिक चेतना एव एक प्रत्यक्ष वास्तविकता के रूप में आवश्यक रूप से समाज का विश्लेषण किया गया।

वार्नेस ने कहा है कि दुर्खीम ने सामाजिक कारकों की प्रधानता सिद्ध करने के प्रयत्न में अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कारकों की अवहेलना करने के दोष का स्वयं को भागी बना लिया है, "आत्महत्या के सिद्धान्त मे उसने व्यक्तिगत प्रेरणा तथा सांस्कृतिक कारको को कोई महत्त्व नहीं दिया है, जो व्यक्ति को आत्महत्या करने को प्रेरित करते हैं।"

दुर्खीम की इस रूप मे समालोचना की जाती है कि अनुभव-सिद्ध और तथ्यात्मक समाजशास्त्र की स्थापना करने की लगन में उन्होने सामाजिक घटनाओ को अमूर्त प्रकृति को समझते हुए भी उन्हे गणनात्मक बनाने का प्रयास किया है और इस प्रयास के कारण वह अपने विषय की सम्पूर्णता की व्याख्या करने का दावा करने मे अक्षम रहे हैं।

रहती है, जिसकी अभिव्यक्ति समाज के कुछ व्यक्तियों के माध्यम से होनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियो में आत्महत्या का विचार शीघ्र पनपता है।

दुर्खीम के मत मे आत्महत्या सार्वभौमिक, सार्वकालीन घटना होते हुए भी निरपेक्ष रूप से सामान्य तथ्य नहीं कही जा सकती। आत्महत्या उन व्याधिकीय दशाओं का परिणाम है जो प्रगति के साथ-साथ बढ़ती हैं, परन्तु यह उसकी आवश्यक दशा नहीं है। आधुनिक युग की व्याधिकीय सामाजिक दशाएँ ही वास्तव मे आत्महत्या की वृद्धि का मुख्य स्रोत हैं।

आत्महत्या के निराकरण के उपाय (Solutions for Eradicating Suicide)

दुर्खीम ने आत्महत्या के निराकरण के कतिपय सुझाव दर्शाए हैं—

(1) दुर्खीम का मत है कि आत्महत्या करने वाले को कठोरता से दण्डित करने के स्थान पर नैतिक दण्ड दिया जाना चाहिए। आत्महत्यारे को अन्तिम संस्कार से वंचित करके नागरिक, राजनैतिक और पारिवारिक अधिकार छीनकर आत्महत्याओं को कम किया जा सकता।

(2) मौरसेलि और फ्रेंक आदि के मत मे आत्महत्या की दर को कम करने का सर्वोत्तम साधन शिक्षा हो सकती है। परन्तु दुर्खीम का मानना है कि शिक्षा स्वयं समाज के जीवन से सम्बन्धित होती है। यदि समाज का वातावरण दूषित है, तो स्कूल का कृत्रिम वातावरण इसमे सुधार नहीं कर सकता। अतः शिक्षा में सुधार के लिए समाज को सुधारना आवश्यक है। क्योंकि शिक्षा समाज का प्रतिरूप है।

(3) आत्महत्या को कम करने के लिए दुर्खीम के मत मे सामाजिक समूहों को पर्याप्त निरन्तरता की पुनर्स्थापना करना है जिससे वे व्यक्ति पर पहले जैसा नियन्त्रण रख सके और उनमें स्वयं वह अपने को बन्धा हुआ अनुभव करे। किन्तु दुर्खीम के मत मे यह कार्य न तो राजनैतिक संस्था कर सकती है और न धर्म, क्योंकि आधुनिक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने इन्हे कमजोर बना दिया है। परिवार भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा नही सकता। *इसमें तो केवल व्यावसायिक समूह का निगम सहायक हो सकता है,* व उन्हे प्रभावित कर सकता है। दुर्खीम ने आत्महत्याओं की वृद्धि का कारण सामूहिक जीवन मे उत्पन्न होने वाले दोषों को बताया है, जिन्हें दूर करके ही नैतिक शक्ति को प्रगति की जा सकती है।

निष्कर्षतः आत्महत्याओं को रोकने के लिए स्थानीय समूहो का पुनर्निर्माण कराना आवश्यक है जो स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी केन्द्रीय राजसत्ता के अधीन हो जिसे दुर्खीम ने **विकेन्द्रीकरण** कहा है। सक्षेप मे आत्महत्या के निराकरण के उपायों में दुर्खीम विकेन्द्रीकरण को आवश्यक मानते हैं।

समालोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation)—'आत्महत्या' को दुर्खीम की एक अनुपम कृति माना जा सकता है जो सैद्धान्तिक और पद्धतिशास्त्रीय मान्यताओ पर आधारित है। इस कृति मे सैद्धान्तिक रूप से वह सिद्ध करना चाहते थे कि सामाजिक तथ्य वैयक्तिक चेतना से ऊपर एक पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। उन्होने आत्महत्या जैसे व्यक्तिगत तथ्य को भी सामाजिक तथ्य के रूप में प्रमाणित करने का प्रयास किया, किन्तु दुर्खीम की इस कृति की भी कुछ विद्वानों *द्वारा समालोचना की गई।*

स्टेनमेटज ने लिखा है, "मैं जो आँकड़े एकत्र करने में सफल हुआ हूँ, उनसे यह प्रतीत होता है कि सभ्य लोगों की तुलना में वन्य मनुष्यों में आत्महत्या अधिक होती है।"

जिलबोर्ग ने एक लेख में लिखा है, "आत्महत्या के सांख्यिकीय आँकडे जिस रूप में आज संकलित किए गए हैं, बहुत कम विश्वसनीय हैं।" जिलबोर्ग के अनुसार आत्महत्या इतनी पुरानी घटना है, जितनी मानव जाति। दुर्खीम के द्वारा यूरोपियन और अमेरिकन समाज के सांख्यिकीय आँकड़ो का भण्डार प्रस्तुत किए जाने के बाद भी यह कहना सरल है कि अनेक आत्महत्याओं का रिकॉर्ड कोष के बाहर था और अनेक आत्महत्याओं का रिकॉर्ड था ही नहीं।

अत: आत्महत्या की व्याख्या केवल आँकड़ों के आधार पर करना उतना सरल नही था, जितना दुर्खीम ने अनुभव किया था। जिलबोर्ग ने दुर्खीम द्वारा प्रस्तुत 'सभ्यता के विकास' और 'आत्महत्या की वृद्धि' को भी पक्षपातपूर्ण निष्कर्ष मानकर अमान्य सिद्ध किया है। उनका कहना है, "जहाँ तक आत्महत्या का सम्बन्ध है, आज का मनुष्य अपने पूर्वजों से वास्तव मे कम है।"

हैरीवान्स के अनुसार, "आत्महत्या के सिद्धान्त में दुर्खीम ने व्यक्तिगत प्रेरणा और सांस्कृतिक कारकों को कोई महत्त्व नहीं दिया है जो आत्महत्या करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करते हैं।"

दुर्खीम के आत्महत्या के सिद्धान्त के लिए कहा गया है कि इसमें मानव की जैविकीय प्रेरणाओं की उपेक्षा की गई है, इस कारण उनकी विवेचना सन्देहास्पद हो गई है। स्वयं इसके अनुवादक 'जार्ज सिम्पसन' ने भी लिखा है कि "दुर्खीम प्रेरणा-विश्लेषण और संवेगात्मक जीवन की मौलिक विशेषताओं की व्याख्या से सम्बन्धित आधुनिक विकास से अनभिज्ञ थे।" किन्तु उन्होंने मनोव्याधिकीय तत्त्वों को आत्महत्या की प्रेरणा का आधार बताया है, अत: उपर्युक्त आरोप तर्कसंगत नहीं माना जा सकता।

रेमण्ड एरन ने "*मनोवैज्ञानिक-पृष्ठभूमि-समाजशास्त्रीय निर्धारण*" सूत्र को दुर्खीम के विश्लेषण का मुख्य आधार बताया। इसके उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि दुर्खीम द्वारा वर्णित आत्महत्या की व्याख्या मे सामूहिक चेतना एवं एक प्रत्यक्ष वास्तविकता के रूप में आवश्यक रूप से समाज का विश्लेषण किया गया।

बार्नेस ने कहा है कि दुर्खीम ने सामाजिक कारकों की प्रधानता सिद्ध करने के प्रयत्न मे अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कारको की अवहेलना करने के दोष का स्वयं को भागी बना लिया है, "आत्महत्या के सिद्धान्त में उसने व्यक्तिगत प्रेरणा तथा सांस्कृतिक कारकों को कोई महत्त्व नहीं दिया है, जो व्यक्ति को आत्महत्या करने को प्रेरित करते हैं।"

दुर्खीम की इस रूप में समालोचना की जाती है कि अनुभव-सिद्ध और तथ्यात्मक समाजशास्त्र की स्थापना करने की लगन में उन्होने सामाजिक घटनाओ की अमूर्त प्रकृति को समझते हुए भी उन्हे गणनात्मक बनाने का प्रयास किया है और इस प्रयास के कारण वह अपने विषय की सम्पूर्णता की व्याख्या करने का दावा करने में अक्षम रहे हैं।

इस कृति के विषय मे यह भी कहा जाता है कि यद्यपि आधुनिक समाज के नैतिक अभाव की चर्चा करना उपयुक्त है किन्तु आत्महत्या की सामाजिकता को सिद्ध करने के लिए समाज की प्रकृति, सामूहिक चेतना आदि अवधारणाओं की जो व्याख्या की गई है वह भाषा शैली और स्पष्टीकरण के वैशिष्ट्य गाम्भीर्य आदि के उपरान्त भी उपयोगी नहीं सिद्ध हो सकी है।

दुर्खीम का यह ग्रन्थ इन उपर्युक्त समालोचनाओं के उपरान्त भी न केवल आत्महत्या को विवेचना करता है, अपितु समाजशास्त्र की अनेक समस्याओं पर भी प्रकाश डालता है। **बीरस्टेट** का यह कथन है, "यह एक वास्तविकता है कि दुर्खीम का यह ग्रन्थ केवल आत्महत्या का अध्ययन नहीं, यह हमारा तथा उन समाजों का भी अध्ययन है जिनमें हम रहते हैं। यदि यह केवल आत्महत्या के विषय में है तो यह इस घटना के अध्ययन में प्रथम श्रेणी रखेगा। किन्तु यह ग्रन्थ मनुष्य और समाज के सम्बन्ध मे और उसके पारस्परिक सम्बन्धों के विषय मे भी है और इसीलिए समाजशास्त्र के इतिहास में एक शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप मे इसका और भी ऊँचा स्थान है।" निष्कर्षतः यह ग्रन्थ समाजशास्त्रियों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। आधुनिकता में सभ्यता और प्रगति के व्याधिकीय परिणामों की ओर संकेत करके व्यावसायिक संगठनो के विकास के द्वारा सामूहिक जीवन का नियन्त्रण करके उन समस्याओं के व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करता है।



अध्याय-24

परिप्रेक्ष्य : सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक

(Perspectives : Socio-Cultural, Political and Economic)

किसी भी तथ्य अथवा घटना के अनेक लक्षण एवं प्रभाव होते हैं। ये लक्षण एवं प्रभाव बहुत विस्तृत एवं व्यापक होते हैं। इसलिए किसी एक विषय या विज्ञान के द्वारा इनका अध्ययन करना सम्भव नहीं है। एक ही घटना के अनेक पक्ष होते हैं। विभिन्न पक्षों का अवलोकन तथा विश्लेषण करने के लिए उन्हे निश्चित सीमा में बाँधना आवश्यक होता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए घटना के विभिन्न दृष्टिकोणों या परिप्रेक्ष्यों का वर्गीकरण किया गया है। प्रत्येक परिप्रेक्ष्य को एक विज्ञान का नाम दिया गया है। उसके अध्ययन की सीमा निश्चित की गई है। सभी विज्ञानों का परिप्रेक्ष्य एवं सन्दर्भ परिधि विशिष्ट एवं सीमित है। किसी भी विज्ञान को समझने के लिए उसके परिप्रेक्ष्य को समझना आवश्यक है।

समाजशास्त्रीय, सांस्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिकी को समझने के लिए आवश्यक है कि हम उनके परिप्रेक्ष्यों को विस्तार से समझें। इंकल्स ने लिखा है कि किसी विज्ञान की विषय-सामग्री के वर्णन मात्र से अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि वह विज्ञान अपनी विषय-सामग्री के सम्बन्ध में कौन-कौनसे प्रश्न पूछता है और उनके उत्तर किस प्रकार से देता है। "सामाजिक विज्ञान किन सब के सम्बन्ध में है?" (What is Social Science all about?) अर्थात् हमें यह खोज करनी है कि वह कौन-सा विशिष्ट परिप्रेक्ष्य (दृष्टिकोण) है जिसके अनुसार विज्ञान सामग्री का अध्ययन करता है? वह उन्हे कैसे देखता है? इसके उपागम क्या हैं? वह अन्वेषण के लिए किन वैज्ञानिक पद्धतियो का उपयोग करता है। वह अपने अन्वेषण से किस प्रकार के निष्कर्षो के क्रम निश्चित करता है? इंकल्स के अनुसार इन उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तरों का लक्ष्य यह स्पष्ट करना है कि विज्ञान का परिप्रेक्ष्य क्या है और उसकी कौन-कौनसी विशेषताएँ हैं?

हमारे सामने प्रश्न यह उठता है कि जब एक ही घटना का अध्ययन विभिन्न विज्ञान करते हैं तो उनमें अन्तर क्या है? वे कौन-सी विशेषताएँ एवं लक्षण हैं जो एक विज्ञान को दूसरे विज्ञान से भिन्न तथा विशिष्ट बनाती हैं? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है कि विभिन्न विज्ञानों के अध्ययन की दृष्टि, परिप्रेक्ष्य तथा सन्दर्भ-परिधि अलग-अलग होती है। एक ही समस्या का अध्ययन विभिन्न विज्ञान करते हैं उस समय उनके देखने की दृष्टि

भिन्न-भिन्न होती है। समाज से सम्बन्धित पहलुओं का अध्ययन करने के लिए विभिन्न विज्ञानों का विकास हुआ है। सामाजिक समस्याओं के आर्थिक तथ्यों तथा घटनाओं के अध्ययन के लिए अर्थशास्त्र विषय की व्यवस्था की गई है। सामाजिक समस्याओं के राजनैतिक तथ्यों तथा घटनाओं का अध्ययन करने के लिए राजनीतिशास्त्र, प्रशासनिक घटनाओं के लिए प्रशासनशास्त्र, सामाजिक व्यवस्था, अव्यवस्था और उसमें होने वाले परिवर्तनों का सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र आदि विषयों का समय-समय पर विकास हुआ है। इन विभिन्न विज्ञानों का परिप्रेक्ष्य अलग-अलग है जो इन्हें एक-दूसरे से भिन्न तथा विशिष्ट विज्ञान बनाता है। हमारे सामने मुख्य उद्देश्य विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य को विस्तार से समझना है। इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण की विस्तार से विवेचना करने से पहिले हम परिप्रेक्ष्य का अर्थ समझने का प्रयास करेंगे, और उसके उपरान्त विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य का विवेचन करेंगे।

परिप्रेक्ष्य का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Perspective)— परिप्रेक्ष्य अंग्रेजी के शब्द 'पर्सपेक्टिव' (Perspective) का हिन्दी रूपान्तर है, जो लेटिन भाषा के 'पर्सपेक्ट' (Perspect) से व्युत्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है 'सीन थ्रू' (Seen through) अर्थात् आद्योपान्त (देखा गया)। सरल भाषा में परिप्रेक्ष्य का अर्थ 'एक ओर से दूसरी ओर तक देखना' अथवा 'द्वारा निरीक्षण' करना है। सामाजिक विज्ञानों में परिप्रेक्ष्य का अर्थ आदि से अन्त तक अन्वेषण या परीक्षण करना है। जब वैज्ञानिक विशिष्ट उद्देश्य के अनुसार किसी तथ्य अथवा घटना का अध्ययन करता है तो वह उसका परिप्रेक्ष्य कहलाता है। परिप्रेक्ष्य क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन करने का दृष्टिकोण है जो किसी विज्ञान को अन्य विज्ञानों से विशिष्ट बनाता है। परिप्रेक्ष्य विचार करने या घटना को समझने तथा व्याख्या करने की दृष्टि है इसलिए इसे अध्ययन का दृष्टिकोण भी कहते हैं।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sociological Perspective)—समाजशास्त्र में परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण एवं सन्दर्भ-परिधि (Frame of reference) शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची अर्थों में किया गया है। इनकी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

थियोडोरसन तथा थियोडोरसन (Theodorson and Theodorson) ने 'ए डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी' में लिखा है, "मूल्य, विश्वास, अभिवृत्ति तथा अर्थ व्यक्ति को सन्दर्भ और दृष्टिकोण प्रदान करते हैं जिनके अनुसार वह परिस्थिति का अवलोकन करता है, परिप्रेक्ष्य कहलाता है।" इनके अनुसार व्यक्ति का परिप्रेक्ष्य उसके सन्दर्भ पर आधारित होता है इन्होंने परिप्रेक्ष्य को और स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है, "परिप्रेक्ष्य में अभिग्रह (कल्पना) होते हैं जो सामान्यतया जान-बूझकर परिभाषित नहीं किये जाते हैं, लेकिन जो व्यक्ति समझता है और अपने अनुभवों की जिस प्रकार व्याख्या करता है, उसे प्रभावित करते हैं।"

थियोडोरसन तथा थियोडोरसन का मानना है कि परिप्रेक्ष्य और सन्दर्भ-परिधि परस्पर घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं तथा परिप्रेक्ष्य का अर्थ जानने के लिए सन्दर्भ-परिधि की जानकारी भी आवश्यक है। इन्होंने सन्दर्भ-परिधि की परिभाषा निम्न दी है—"किसी बिन्दु

के दृष्टिकोण, मानदण्ड अथवा अवधारणाओं की व्यवस्था को लेकर कोई व्यक्ति (अथवा समूह) अपने अनुभव, ज्ञान और व्याख्याओं को संगठित करता है वह सन्दर्भ-परिधि (Frame of reference) कहलाती है।" किसी को मूल्य और सामाजिक प्रतिमान सामाजिक परिस्थिति में उसके अवलोकनों, व्याख्याओं और निर्णयों को प्रभावित करते हैं, सन्दर्भ-परिधि कहलाते हैं।

लुण्डबर्ग ने "फाउण्डेशन्स ऑफ सोशियोलॉजी" में सन्दर्भ-परिधि का वर्णन किया है। इन्होंने लिखा है कि विज्ञानों के वर्गीकरण का आधार वे समस्याएँ हैं जिनके अध्ययन में वे समर्पित हैं। हमारी स्थापित आदतों की व्यवस्था ही सन्दर्भ-परिधि का निर्माण करती है। इन्होंने आदतों की व्यवस्था को समझाते हुए लिखा है कि ये आदतों की व्यवस्थाएँ लोक-भाषा में होती हैं जिन्हें विश्वास, सिद्धान्त अथवा जीवन-दर्शन कहते हैं। परिप्रेक्ष्य अथवा सन्दर्भ-परिधि प्रकृति की देन नहीं है। ये मानव द्वारा निर्मित दृष्टिकोण हैं। मानव ने इनका निर्माण अपनी सुविधा के लिए किया है। परिप्रेक्ष्य प्रतीकात्मक व्यवहार है जो उस संसार की व्याख्या करता है जिसमे मानव रहता है। संसार बहुत बड़ा है। इसमें अनेक वस्तुएँ हैं। अनेक व्यक्ति और समूह इसके सम्पर्क में आते हैं। इससे प्रभावित होकर भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य बनते हैं। ये परिप्रेक्ष्य अथवा दृष्टिकोण इसलिए भिन्न होते हैं क्योंकि वैज्ञानिकों के अनुभव भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

इ. चिनोय ने '*सोशियोलॉजीकल पर्सपैक्टिव*' में लिखा है कि किसी भी विषय का परिप्रेक्ष्य उसमें प्रयोग किये जाने वाली अवधारणाओं से मालूम किया जा सकता है। आपका यह भी कथन है कि 'कोई विषय या विज्ञान क्या है?' इसे समझना है तो उस विषय अथवा विज्ञान के मौलिक प्रत्ययों या अवधारणाओं के आधार पर समझा जा सकता है। इनके अनुसार अगर हम किसी विज्ञान की अवधारणाओं की परिभाषा करते हैं तो उसका अर्थ यह है कि हम उस विज्ञान की प्रकृति तथा परिप्रेक्ष्य की सीमाओं की परिभाषा कर रहे हैं। चिनोय ने निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इस कथन को स्पष्ट किया है—डबलरोटी का अध्ययन और विश्लेषण विभिन्न परिप्रेक्ष्यों के द्वारा किया जा सकता है। आपका कहना है कि प्रत्येक विज्ञान डबलरोटी के किसी एक पक्ष का अध्ययन करने के लिए विशिष्ट एवं सुनिश्चित अवधारणाओं का प्रयोग करेगा। अर्थशास्त्री डबलरोटी का अध्ययन एक उद्योग के रूप मे करेगा। डबलरोटी का उत्पादन, बाजार में माँग, उत्पादन लागत, थोक भाव, क्रय मूल्य, विक्रय मूल्य आदि का अध्ययन करेगा। पोषाहार वैज्ञानिक डबलरोटी का अध्ययन पोषाहार के महत्त्व को ध्यान में रख कर करेगा। वह डबलरोटी का विश्लेषण करके यह ज्ञात करने का प्रयास करेगा कि उसमें वसा, विटामिन, प्रोटीन, लवण आदि कितनी मात्रा मे है। मनोवैज्ञानिक डबलरोटी से सम्बन्धित व्यक्तियों की आदतों का अध्ययन करेगा। एक समाजशास्त्री डबलरोटी का अध्ययन करते समय यह पता लगाने का प्रयास करेगा कि पति-पत्नी के सम्बधों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। अगर पत्नी डबलरोटी को पति के मनपसन्द या स्वाद के अनुसार नहीं सेक पाती है तथा पति नाराज हो जाता है, पति-पत्नी मे झगड़ा हो जाता है, कहा-सुनी हो जाती है तो इससे परिवार की सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाती है। यह सब अन्वेषण करने का दृष्टिकोण समाजशास्त्री का होगा। समाजशास्त्री किसी भी घटना, वस्तु, तथ्य, क्रिया आदि का अध्ययन करते समय एक ही लक्ष्य को ध्यान में

रखता है कि उससे सामाजिक व्यवस्था सगठित रहती है अथवा बिगडती है। समाजशास्त्री का परिप्रेक्ष्य सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अव्यवस्था तथा इनमे होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन करना है। चिनोय का कहना है कि विभिन्न विज्ञानो का परिप्रेक्ष्य विशिष्ट होता है। उनकी भाषा, विशेष रूप से वैज्ञानिक शब्दावली या अवधारणा जो प्रयुक्त होती है, वह भी विशिष्ट होती है। इसलिए अवधारणाओ के द्वारा भी विज्ञान का परिप्रेक्ष्य निश्चित होता है। एक ही घटना का अध्ययन विभिन्न विज्ञान करते हैं, उनकी अवधारणाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं जो उनके विशिष्ट परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित होती हैं।

गुडे तथा हॉट ने परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में चिनोय से मिलते-जुलते विचार 'मेथड्स इन सोशियल रिसर्च' में व्यक्त किये हैं। इन्होने फुटबॉल का उदाहरण देकर विभिन्न विद्वानो के परिप्रेक्ष्यो की व्याख्या की है। उनका कहना है कि किसी भी घटना या वस्तु का भिन्न-भिन्न तरह से अध्ययन किया जा सकता है। एक फुटबॉल का अध्ययन आर्थिक परिधि मे किया जा सकता है कि इस फुटबॉल की माँग और पूर्ति के प्रतिमान क्या हैं? यह रसायनशास्त्र के अनुसन्धान की वस्तु हो सकती है कि यह किन कार्बनिक रसायनो की बनी है। इसमें भार होता है इसलिए भौतिकशास्त्री इसे एक भौतिक वस्तु के रूप में अध्ययन करते समय यह देखेगा कि विभिन्न स्थितियो मे, दबाव की भिन्नता से इसकी गति मे क्या अन्तर आता है? इस फुटबॉल का अध्ययन समाजशास्त्र मे रुचिशील क्रियाओ, जैसे—खेल सचार, समूह सगठन, दो दलो मे प्रतिस्पर्धा, जीतने के लिए प्रयास, मनोरजन, व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समूह तथा समूहो मे परस्पर सम्बन्ध आदि के सन्दर्भ में कर सकते हैं। गुडे और हॉट लिखते हैं कि प्रत्येक विज्ञान घटना के केवल एक पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है न कि उसके सभी पक्षो तथा पहलुओ पर।

गुडे एव हॉट ने इस दृष्टिकोण की विवेचना उपर्युक्त उद्धरित पुस्तक मे अनेक स्थानो पर की है। इनका मानना है कि विज्ञान के परिप्रेक्ष्य को उसकी परिभाषा, अध्ययन का क्षेत्र, प्रकृति सिद्धान्त, तथ्य अवधारणाएँ आदि निश्चित करते हैं। यही वैज्ञानिक सत्य है कि एक ही तथ्य या घटना का अध्ययन विभिन्न विज्ञान अपने विशिष्ट परिप्रेक्ष्य के आधार पर करते हैं तथा ज्ञान की वृद्धि करते हैं।

सामाजिक, सास्कृतिक, राजनैतिक और अर्थशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य एव सामाजिक समस्याएँ
(Social, Cultural, Political and Economic Perspectives and Social Problems)

परिप्रेक्ष्य की उपर्युक्त परिभाषाओ, उदाहरणो एव विद्वानो के विचारो के सन्दर्भ मे सामाजिक सास्कृतिक, राजनैतिक और आर्थिक परिप्रेक्ष्य की विवेचनाएँ सामाजिक समस्याओ के सदर्भ में करेगे जो निम्नलिखित हैं—

(1) सामाजिक परिप्रेक्ष्य एव सामाजिक समस्याएँ
(Social Perspective and Social Problems)

मैकाइवर और पेज ने लिखा है, समाज एक जटिल समग्र है। यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। सामाजिक समस्याएँ और समाज परस्पर एक-दूसरे से धनिष्ठ रूप से

सम्बन्धित हैं। क्योकि सामाजिक समस्याएँ समाज से सम्बन्धित हैं इसलिए सामाजिक समस्याएँ भी परिवर्तनशील हैं। जब समाज परिवर्तित होता है तो सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं और जब सामाजिक समस्याएँ पैदा होती हैं तो समाज मे परिवर्तन होता है। दोनो ही निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं। समाज के विभिन्न घटक या अग जैसे सामाजिक सरचना, मूल्य, आदर्श, सस्थाएँ,श्रेणियाँ, शक्ति, रीतियाँ और कार्यप्रणालियाँ आदि सामाजिक समस्याओ से सम्बन्धित हैं।

मानव एक सामाजिक-सास्कृतिक प्राणी है। वह जन्म के बाद सामाजिकता के गुणो को सीखता है। अपनी भौतिक आवश्यकताओ—भोजन, वस्त्र, आवास, लैंगिक तृष्णा की पूर्ति, स्वय को व्यक्त करने की इच्छा आदि समाज मे रहकर पूर्ण करता है। जब विभिन्न व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया और अन्त क्रिया करते हैं तो उनमे झगडे भी होते हैं, जिससे सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जब व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त लक्ष्यो का ही चयन करता है तथा उनकी पूर्ति भी समाज द्वारा मान्यता प्राप्त साधनो से करता है तो समाज मे व्यवस्था बनी रहती है लेकिन जब इनमे से कोई एक या दोनो का उल्लघन व्यक्ति, समूह या समुदाय करते हैं तो उससे सामाजिक समस्याएँ पैदा होती हैं।

मानव एक उपकरणो का निर्माता, वाहक और दास है। वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सरल, सादा और अधिक परिष्कृत साधनो, उपकरणो, विधियो, कार्य-प्रणालियों आदि की खोज और आविष्कार करता है। उससे समाज की परम्परागत व्यवस्था मे परिवर्तन आता है। इसके कारण पहिली अवस्था और दूसरी अवस्था मे सघर्ष होता है जो अनेक सामाजिक समस्याओ को जन्म देती है। नये आविष्कारो के साथ समाज मे रूपान्तरण होता है जो समाज में समस्याएँ पैदा करता है।

सामाजिक रूपान्तरण और सामाजिक समस्याएँ परस्पर एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित है। समाज के प्रभुसत्ता सम्पन्न लोग परिवर्तन को स्वीकार नहीं करते हैं। वे समाज पर असमान नियन्त्रण बनाये रखने के लिए ऐसी नीतियो एव कार्यप्रणालियो का सहारा लेते हैं कि जिससे उनकी पकड समाज पर बनी रहे। वे एक प्रकार से समाज के शोषक होते हैं तथा कमजोर वर्ग का शोषण करते हैं। इससे समाज में अनेकानेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अगर प्रभुसत्ता सम्पन्न वर्ग दमन नहीं करता है और परिवर्तन की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से चलती रहती है तब भी पुरानी व्यवस्था और नवीन व्यवस्था के बीच के सक्रमण काल मे अनुकूलन और व्यवस्थापन की समस्या की स्थिति तो आती ही है।

सामाजिक वैज्ञानिको ने समाज की गतिक विशेषता की व्याख्या करने के लिए प्रारम्भ मे उद्विकास और प्रगति जैसी अवधारणाओ का प्रयोग किया। क्योकि ये अवधारणाएँ मूल्ययुक्त थीं। इसलिए बाद मे इसके स्थान पर मूल्यमुक्त अवधारणा 'सामाजिक परिवर्तन' का प्रयोग किया जाने लगा। इस अवधारणा को पक्षपातरहित, मूल्यो से स्वतत्र और अधिक निरपेक्ष समझा गया।

अगर सामाजिक समस्याओ के सदर्भ मे सामाजिक परिवर्तन और इससे सम्बन्धित अन्य अवधारणाओ को देखें तो पाएँगे कि सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक समस्याओ के

मध्य सीधा और नकारात्मक सम्बन्ध है। बीसवीं शताब्दी के मध्य मे समाज से सम्बन्धित विकास और आधुनिकीकरण की अवधारणाओ का प्रयोग किया जाने लगा। ये अवधारणाएँ विकसित पूँजीवादी, औद्योगीकृत लोकतात्रिक समाजो से सम्बन्धित थीं। मार्क्सवादियो के एक सम्प्रदाय ने आधुनिकीकरण के स्थान पर क्राति की अवधारणा को प्राथमिकता प्रदान की।

सामाजिक वैज्ञानिको की मान्यता है कि आधुनिकीकरण के कारण विश्व के एक छोटे से भाग मे बहुत अधिक विकास सम्पन्नता, समृद्धि खुशहाली, अत्यधिक उपभोग और उत्पादन हुआ है और दूसरे बडे क्षेत्र या समाजो मे अत्यधिक बेकारी, निर्धनता, कुपोषण, अल्प उत्पादन और वचना की स्थिति पैदा हुई है जिसने अनेक सामाजिक समस्याओ को जन्म दिया है।

क्रान्तिकारी प्रारूप के समर्थको की मान्यता है कि औद्योगिक पूँजीवादी कार्य प्रणाली 'मानव का मानव के द्वारा शोषण' को प्रोत्साहित करती है जिससे सामाजिक असमानताओ का जन्म होता है जो अनेक प्रकार की गम्भीर सामाजिकसमस्याओ का जन्मदाता है। क्रान्ति के द्वारा समाज को परिवर्तन करके मानवो के मध्य विद्यमान शोषण बेकारी कुपोषण, गरीबी आदि असमानताओ को समाप्त किया जा सकता है। अर्थात् सामाजिक समस्याओ को पूर्ण रूप से समाप्त करना है तो क्रान्ति के द्वारा समाज का रूपान्तरण करना होगा। क्रान्ति के द्वारा ही समाज मे समानता लाई जा सकती है और समस्याविहीन वर्गविहीन समाज की स्थापना की जा सकती है।

(2) सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य और सामाजिक समस्याएँ
(Cultural Perspective and Social Problem)

सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण से देखे तो जब अनेक सास्कृतिक क्षेत्रो में परिवर्तन होता है तो सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जब समाज परम्परागत व्यवहार के तरीके, जीवन शैली, स्वीकृत प्रतिमानो एव सस्थाओ से नवीन व्यवहार के तरीको, जीवन शैली, स्वीकृत प्रतिमानो की ओर परिवर्तित होता है तो सक्रमण की अवस्था समाज मे असन्तुलन और अव्यवस्था जैसी समस्याएँ आती हैं। समाज परम्परागत से आधुनिकीकरण की ओर परिवर्तित होता है तो अनेक समस्याएँ सामने लाती हैं। क्योकि परम्परागत समाजो मे सामाजिक सम्बन्धो और समस्याओ मे तालमेल होता है। सभी सास्कृतिक मदो के अनुरूपता पाई जाती है। लघु समाजो जैसे जनजातियो, ग्रामो आदि मे लोकाचारो, जनरीतियो प्रथाओ, रूढियो, जनशक्तियो के द्वारा सामाजिक नियन्त्रण किया जाता है लेकिन जब समाज का आकार जैसे-जैसे लघुस्तरीय से वृहद स्तरीय रूप मे विकसित होता है वैसे-वैसे सामाजिक समस्याओ मे भी वृद्धि होती जाती है। परम्परागत समाजो की प्रमुख विशेषताएँ हैं—जनजातीय या ग्रामीण समाज कृषि अल्प एव न्यून उपकरणो वाली अविकसित उत्पादन प्रणाली, सरल-सादा सामाजिक सगठन विधि एव प्रथा प्रधानता आदि जिससे सामाजिक समस्याएँ न्यून तथा सीमित होती हैं। इसके विपरीत आधुनिक समाजो की प्रमुख विशेषताएँ हैं—नगर महानगर, अकृषि व्यवसाय अधिकतम श्रम विभाजन, उच्चस्तरीय प्रौद्योगिकी, विकसित उत्पादन प्रणाली, जटिल एव सावयवी सामाजिक सरचना एव लोकतात्रिक राजनैतिकव्यवस्था आदि।

जब समाज का सरल से जटिल क्रमिक या क्रान्तिकारी रूपान्तरण होता है तो समाज मे अनेक सामाजिक समस्याएँ पैदा होती हैं। समाज की रूपान्तरण की दोनो अवस्थाओ—पूर्व और पश्चात् का अध्ययन करे तो निम्न तथ्य सामने आते हैं। पूर्व रूपान्तरण की अवस्था मे जो जीवन के तरीके, मूल्य, सामाजिक सम्बन्ध, प्रतिमान, उत्पादन, उपभोग और विनिमय होते हैं वे पश्चात् रूपान्तरण मे बदल जाते हैं और व्यक्तियो को नवीन परिस्थितियो से समायोजन करने मे कठिनाई आती है और इस बीच के काल (पूर्व और पश्चात् की अवस्था) सक्रमणकाल मे अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि समाज मे रूपान्तरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और सास्कृतिक कारको के बीच अव्यवस्था उत्पन्न होती रहती है जो सामाजिक समस्याओ को उत्पन्न भी करती है और उनका समाधान एव नियत्रित भी करती है।

(3) राजनैतिक परिप्रेक्ष्य और सामाजिक समस्याएँ
(Political Perspective and Social Problems)

सामाजिक रूपान्तरण मात्र सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे ही नही होता है, बल्कि राजनैतिक तथा अन्य अनेक क्षेत्रो मे भी होता है। सरल, सादा, छोटे समाजो, जैसे—आखेट समाज, जनजातीय समाज, कृषक समाज आदि मे राजनैतिक व्यवस्था का रूप सरल होता है। राज्यविहीन समाज या इससे कुछ अधिक विकसित अवस्था वाले होते हैं। इनमे कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका जैसे आधुनिक विशेषीकृत सगठन नहीं होते हैं। लेकिन जब इनका सरल से जटिल रूप मे रूपान्तरण होता है तो अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। सक्रमणकाल मे राजनैतिक अनुकूल एव व्यवस्थापन सम्बन्धी कठिनाई के कारण व्यक्ति सघर्ष करते हैं और नई नई समस्याएँ पैदा कर देते हैं। व्यक्तिवादिता का विकास हो जाता है। व्यक्ति की राजनैतिक गतिविधियो मे सहभागिता मे वृद्धि हो जाती है। लोकतत्र स्थापित हो जाता है। मदभेदो मे वृद्धि हो जाती है जो विकसित समाज मे अनेक *राजनैतिक समस्याएँ, जैसे—नृजातिवाद, प्रजातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद जैसी* राजनैतिक समस्याओ को जन्म दे देती हैं।

राजनैतिक असन्तोष एव सघर्ष समाज मे क्रान्ति करके समाज का रूपान्तरण तीव्र गति से कर देते हैं। क्रान्ति के समय और बाद मे काफी समय तक समाज अनेक समस्याओ से सघर्ष करता है *तथा समाज मे सामजस्यता की स्थिति आने मे समय लगता है।* राजनैतिक क्रान्ति पहिले समाज मे असन्तुलन पैदा करती है। क्रान्ति के सफल होने के बाद धीरे-धीरे समाज मे व्यवस्था स्थापित की जाती है। इन दोनो अवस्थाओ के सक्रमण काल में अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं।

राजनैतिक विकास *की अन्तिम अवस्था लोकतत्र अपने राष्ट्र के सभी वयस्क नागरिको* को मतदान का अधिकार प्रदान करता है। सभी को सभी क्षेत्रो मे समानता के अवसर प्रदान करता है। इसके द्वारा समाज में राजनैतिक एव सवैधानिक समानता का कार्यान्वित किया जाता है लेकिन समाज मे विभिन्न समुदाय, जातियाँ, वर्ग, व्यावसायिक समानता के अधिकारो के कारण अपने अपने अधिकारो की माँग करते हैं। उमसे सघर्ष तनाव, झगड़े आदि मे वृद्धि हो जाती है।

(4) आर्थिक परिप्रेक्ष्य और सामाजिक समस्याएँ (Economic Perspective and Social Problems)

समाज परिवर्तनशील है। समाज मे निरन्तर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक आदि क्षेत्रो में रूपान्तरण की प्रक्रिया चलती रहती है। आर्थिक दृष्टिकोण से देखे तो प्रारम्भ मे समाज आखेटक की अवस्था में था। धीरे-धीरे यह अनेक चरणो जैसे चरागाही, कृषक, औद्योगिक, पूँजीवादी अवस्थाओ मे रूपान्तरित होता है लेकिन समाज के प्रभुत्व सम्पन्न लोग एव समूह उत्पादन के साधनो, उत्पादन की शक्तियो तथा उत्पादन के सम्बन्धो पर अपना निरकुश नियत्रण रखना चाहते हैं। वे समाज को परिवर्तित नहीं होने देना चाहते हैं। अपने निजी स्वार्थों की सुरक्षा के लिए दमनकारी रास्ते अपनाते हैं, जिससे समाज मे अनेक आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। साधन सम्पन्न (शोषको) तथा साधनहीन (शोषितो) के मध्य सघर्ष होते हैं आन्दोलन होते हैं, जो आर्थिक समस्याओ के साथ-साथ अनेक सामाजिक समस्याओ को भी जन्म देते हैं।

सामाजिक रूपान्तरण की प्रक्रिया अन्य क्षेत्रो की तरह आर्थिक क्षेत्र मे स्वाभाविक रूप से चलती है। किन्तु अन्य क्षेत्रो के रूपान्तरण के सक्रमण काल के समान ही पुरानी किन्तु आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर नवीन आर्थिक व्यवस्था के विकास के समय भी सक्रमण काल के समय आर्थिक सामजस्य नहीं होने तक समाज को अनेक आर्थिक समस्याओ का सामना करना पडता है।

मार्क्स की मान्यता है कि सामाजिक विकास के कुछ चरणो मे उत्पादन की भौतिक शक्तियो एव उत्पादन के प्रचलित नियमो के बीच सघर्ष होता है। इन सघर्षों के कारण समाज मे विघटन असन्तुलन, शोषण तथा अन्य सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। कभी कभी तो क्रान्ति का कारण भी ये छोटे मोटे सघर्ष होते हैं। आर्थिक क्षेत्र मे आधुनिकाकरण के कारण देश को दो वर्गों मे बाँटा जा सकता है। एक देशो का वह वर्ग जो आर्थिक दृष्टिकोण से विकसित और साधन सम्पन्न है पूँजीवादी है, औद्योगिकीकृत है, ऐसे देश उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी यूरोप है। इसके विपरीत आर्थिक रूप से पिछडे हुए साधनहीन क्षेत्र हैं—एशिया अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका जो पिछडे देश एव क्षेत्र हैं। वे अनेक आर्थिक और अन्य समस्याओ से ग्रसित हैं। पिछडे देशो के आर्थिक पिछडेपन का कारण विकसित देश ही हैं। यह उनको विकसित नहीं होने देते हैं। आधुनिकीकरण के पूँजीवादी ढाँचे ने भी मनुष्य में अलगाव की समस्या पैदा कर दी हैं। व्यक्ति का अस्तित्व खतरे मे है। इसने एक क्षेत्र मे सम्पन्नता तो दूसरे क्षेत्रो में शोषण, गरीबी, बेकारी, अमानवीयता एव अनेक असमानताएँ पैदा कर दी हैं। जिसका उन्मूलन मार्क्सवादी क्रान्ति बताते हैं जो समाज को पहिले विघटन और फिर सगठन की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया है। इससे भी अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। रजनी कोठारी ने लिखा है कि आधुनिकीकरण के कारण रूपान्तरण का यह प्रारूप मानव जाति के एक विस्तृत भाग मे निर्धनता बेकारी और वचना एव एक बहुत छोटे भाग मे अत्यधिक समृद्धि, अत्युपभोग और अत्युत्पाद के लिए उत्तरदायी है।

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्याओ के निराकरण के लिए समस्याओ का अध्ययन सभी परिप्रेक्ष्यो के अनुसार किया जाना चाहिए तथा उसके निवारण की योजना प्राप्त कारको और उनके प्रभावो को ध्यान मे रखकर बनानी चाहिए।

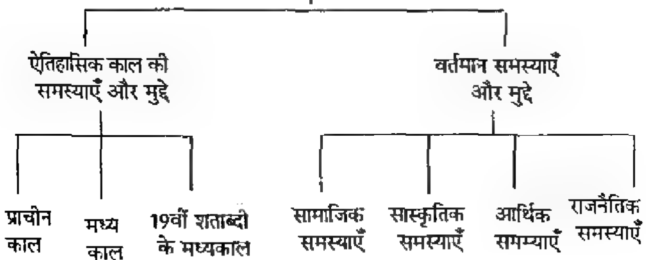
❑

अध्याय-25

भारतीय समाज : मुद्दे और समस्याओं के परिप्रेक्ष्य

(Indian Society : Perspectives of Issues and Problems)

भारतीय समाज की समस्याओं और मुद्दों का अध्ययन करने से पूर्व समस्याओ के परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करना आवश्यक है। समाज की समस्याओ का अध्ययन अनेक परिप्रेक्ष्यो के अनुसार किया जा सकता है। सामाजिक वैज्ञानिको ने समस्याओ का अध्ययन मुख्यत॰ चार परिप्रेक्ष्यो के अनुसार किया है। ये परिप्रेक्ष्य हैं—सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक। इन चारो परिप्रेक्ष्यो की सविस्तार उदाहरण सहित विवेचना पिछले अध्याय मे की जा चुकी है। इस अध्याय मे भारतीय समाज के प्रमुख मुद्दो और समस्याओ का अध्ययन इन्हीं चार परिप्रेक्ष्यो के अनुसार किया जाएगा।



भारतीय समाज का गौरवमय इतिहास अति प्राचीन है, इसलिए वर्तमान काल के भारतीय समाज की समस्याओ को अच्छी तरह से समझने के लिए आवश्यक है कि भारतीय समाज की समस्याओ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी परिचय कर लिया जाए। मैक्स वेबर एव अनेक सामाजिक वैज्ञानिको ने भी लिखा है कि ऐतिहासिक जानकारी के आधार पर वर्तमान समस्याओ को समझना अधिक सरल हो जाता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए भारतीय समाज की प्रमुख समस्याओ एव मुद्दो का अध्ययन निम्न दो भागो मे वर्गीकृत करके निम्नानुसार किया जाएगा।

(1) भारतीय समाज के ऐतिहासिक काल की समस्याएँ और मुद्दे (Problems and Issues of Historical Period of Indian Society)—भारतीय समाज की ऐतिहासिक काल की समस्याओ और मुद्दो से तात्पर्य —प्राचीन, मध्ययुगीन और 19वी शताब्दी के मध्यकाल तक की प्रमुख समस्याएँ और मुद्दो से है। इन कालो की प्रमुख समस्याएँ क्रमबद्ध रूप से इस प्रकार हैं—

वैदिक काल में वैदिक ग्रन्थो के अनुसार भारतीय समाज की प्रमुख समस्या आर्यों और दासो के बीच मे घोर सघर्ष था। इस काल का प्रमुख मुद्दा आर्यों के लिए दास या दस्यु को दबाये रखना एव दासो का उद्देश्य था आर्यो के विरुद्ध सघर्ष करके अपने को स्वतन्त्र करना। इसके अतिरिक्त आर्यों ने सामाजिक वर्गीकरण को बनाये रखने पर विशेष ध्यान रखा था। इस काल मे पशुओ की बलि चढाई जाती थी। जहाँ तक महिलाओ की सामाजिक प्रस्थिति की बात है इस काल मे उनकी स्थिति काफी अच्छी थी।

पशुओ की बलि चढाने की प्रथा के विरुद्ध जैन धर्म और बौद्ध धर्म ने इसका घोर विरोध किया था। अहिसा जैन धर्म के सिद्धान्तो का मूल मत्र था, जिससे उनका आशय प्राणी मात्र के प्रति दया, समानता और उपकार की भावना से था। इन्होने वर्गों का भी विरोध किया था। इन्होने ब्राह्मणो की वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोध किया। किन्तु बाद म महावीर स्वामी के अनुयायी इस जातिभेद को मानने लगे। इस कारण जैन धर्म शूद्रो को नहीं अपना सका। बौद्ध धर्म ने भी अहिसा को प्रमुख मुद्दा बनाया। पशुओ की बलि का विरोध किया। इन्होने यज्ञो मे हिसा का विरोध कर अहिसा को महत्त्व दिया। बौद्ध धर्म ने वैदिक धर्म और ब्राह्मणवाद की बुराइयो को दूर कर भारतीयो को सरल व लोकप्रिय धर्म प्रदान किया। सिक्ख धर्म ने भी सामाजिक समानता पर जोर दिया। नानक का कहना था कि जन्म के आधार पर लोगो को उच्च या निम्न नहीं कहा जा सकता है।

भारतीय समाज का जब इस्लाम धर्म से सम्पर्क हुआ तो उसके अनेक प्रभाव पडे। इनके प्रभाव सगठनात्मक और विघटनात्मक दोनो ही प्रकार के थे। इस्लाम धर्म ने भारतीय समाज में हिन्दू सस्कृति से भिन्न समानता और समतावाद का प्रचार और प्रसार किया लेकिन धीरे धीरे जाति व्यवस्था से प्रभावित होकर इनमे भी स्तरीकरण व्याप्त हो गया। हिन्दुओ में

बाल विवाह की समस्या मुसलमानो से अपनी लडकियो के सतीत्व की रक्षा के कारण उत्पन्न हुई। विधवा-विवाह पर प्रतिबन्ध भी इस्लाम के प्रभाव का परिणाम है। हिन्दुओ मे पर्दा-प्रथा का प्रचलन भी मुसलमानो से सुरक्षा की दृष्टि के कारण हुआ। स्त्रियो की स्वतन्त्रता पर भी रोक इस्लाम के कारण लगाई गई। इसी कारण स्त्रियो को शिक्षा से वचित कर दिया गया। सती-प्रथा का पालन कठोरता से किया जाने लगा। छुआछूत की प्रथा और अधिक कठोर हो गई। समुद्र यात्रा पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में इन सभी समस्याओ मे बहुत कठोरता आती चली गई। विद्वानो की मान्यता है कि भारत के कुछ क्षेत्रो और वर्गो मे धार्मिक विश्वासो ने तम्बाकू, अफीम और गाजा जैसी नशीली आदतो को प्रोत्साहित किया।

मुसलमानो के राज सत्ता पर अधिकार के बाद ब्राह्मणवाद की विजय हो गई। हिन्दू राजा मुसलमानो से पराजित हो गये। हिन्दुओ का नेतृत्व मुसलमानो के हाथ मे जाने के स्थान पर यह पूर्णतया ब्राह्मणो के हाथ मे चला गया। ब्राह्मणवाद दिनो-दिन हिन्दू जनता पर प्रभुत्व जमाता चला गया। इससे हिन्दू समाज मे ब्राह्मणो ने अनेक प्रतिबन्ध लागू कर दिए और वे सामाजिक समस्याएँ बन गई जो आज भी विद्यमान हैं। सार रूप मे ब्राह्मणो ने शास्त्रो मे फेर-बदल करके निम्न आदेश प्रचलित कर दिए—(1) जाति-भेदभाव को अत्यधिक कठोर और क्रूर बना दिया। (2) अन्तर्जातीय विवाह भोज तथा पारस्परिक सम्पर्क वर्जित कर दिए। (3) उपयोगी व्यवसायो मे लगे सुनार, लुहार, धोबी, बुनकर, बढई और बनिया आदि को निम्न जाति घोषित करके उनसे घृणा की जाने लगी। (4) विभिन्न जातियो के मध्य छुआछूत के पालन करने पर जोर डाला गया। (5) कुछ जातियो को अपवित्र घोषित कर दिया गया तथा बहिष्कार किया गया। (6) मुसलमानो ईसाइयो चीनियो, जापानियो आदि को अपवित्र घोषित करके उनसे सम्पर्क पर प्रतिबन्ध लगाया गया। (7) दण्ड विधान मे पक्षपात होने लगा। (8) समुद्र-यात्रा वर्जित घोषित कर दी। ऐसी यात्रा करने वाले को जाति बहिष्कार का दण्ड दिया जाता। ब्राह्मणो ने अपने को भूदेव और भू-पति घोषित किया। राजा प्रजा द्वारा अपनी सेवा करवाने लगे।

ब्रिटिश शासन काल मे ब्राह्मणवाद और अधिक शक्तिशाली हो गया। जाति एव धर्म सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध और कुप्रथाएँ और अधिक प्रभावशाली हो गई। मुसलमान काल और ब्रिटिश शासन काल मे मन्दिर गाँव के प्रशासन एव न्यायालय के केन्द्र तथा जाति व्यवस्था के नियमो के सम्बन्ध मे सर्वोच्च शक्ति सस्थान बन गए। गाँव की पाठशाला मन्दिरो मे चलती थी। मन्दिर सरकारी खजाने का काम भी करते थे। मन्दिर का पुजारी राजस्व पर नियत्रण भी रखता था। मन्दिर ब्राह्मणवाद और जातिवाद के केन्द्र बन गए, अनेक सामाजिक सास्कृतिक, आर्थिक एव राजनैतिक समस्याओ के स्रोत बन गए एव उद्भव विकास और क्रियान्वयन के केन्द्र बन गए। मुसलमान शासको एव ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने वार्षिक आय के कारण मन्दिरो का समर्थन किया। *अगर* मन्दिरो से *आय* नहीं होती तो ये मन्दिर कभी के गिरा दिए गए होते। 1803 मे पुरी के जगन्नाथ मन्दिर से कम्पनी को 1,35 000 रुपये की

आय हुई थी। मुसलमान शासको ने राजाओ स सत्ता छीनकर ब्राह्मणा को समर्थन दिया। इसी प्रकार से अंग्रेजो ने मुसलमानो से सत्ता छीनकर ब्राह्मणो एव हिन्दुओ का समर्थन किया। इसी के कारण ब्राह्मणा ने आज के सन्दर्भ मे अनेक सामाजिक समस्याओ को पाला और पोषा।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक ब्रिटिश शासन पूर्णत स्थापित हो चुका था। समाजशास्त्रियो एव इतिहासकारो के अनुसार 1820 के बाद से इस शासन ने भारत में समाज सुधार की ओर ध्यान दिया। ठगी प्रथा को समाप्त किया। 19वीं शताब्दी मे समाज सुधारको ने सुधार आन्दोलन चलाए जिसके दबाव मे आकर ब्रिटिश सरकार ने सती प्रथा, विधवा पुनर्विवाह, शिक्षा का प्रसार, छुआछूत की समस्याओ मे कुछ सुधारात्मक कदम उठाए। प्रमुख सुधार आन्दोलन निम्न चार हैं—ब्रह्म समाज आर्य समाज, प्रार्थना समाज और रामकृष्ण मिशन।

राजा राममोहन राय के प्रयासो से सती प्रथा को 1829 मे कानूनन समाप्त किया गया। आर्य समाज ने जाति प्रथा के प्रतिबन्धो विशष रूप से छुआछूत की प्रथा को कम करने म उल्लेखनीय कार्य किया। शिक्षा के प्रसार का कार्य भी किया। प्रार्थना समाज ने बम्बई राज्य म सुधारात्मक कार्य किए। रामकृष्ण मिशन ने शिक्षा के प्रसार और प्रचार का उल्लेखनीय कार्य किया।

(2) भारतीय समाज की वर्तमान समस्याएँ और मुद्दे (Present Problem and Issues of Indian Soceity)—वर्तमान भारत की अनेक समस्याएँ तो ऐसी हैं जो विगत शताब्दियो से चली आ रही हैं, जैसे—अस्पृश्यता, पर्दा-प्रथा, विधवा पुनर्विवाह, दहेज, बाल-विवाह जातिगत सदस्यता एव ऊँच-नीचता, अत जाति विवाह, अन्धविश्वास धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिकता क्षेत्रवाद नृजाति-असामजस्यता, धार्मिक असामजस्यता, क्षेत्रीय असामजस्यता आदि। जाति से सम्बन्धित प्रतिबन्ध आज भी ग्रामो मे विद्यमान है। भाग्यवादिता कर्म मे विश्वास पुनर्जन्म का सिद्धान्त आदि के कारण अनेक समस्याओ को समाप्त करना कठिन कार्य हो रहा है।

इन उपर्युक्त वर्णित समस्याओ को कहा तो सामाजिक समस्याएँ हैं—परन्तु इन समस्याओ को सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक लक्षणो और विशेषताओ की प्रधानता के आधार पर पुन: वर्गीकृत किया जा सकता है। इन उपर्युक्त वर्णित समस्याओं एव वर्तमान की नवीन समस्याओ को ध्यान मे रखते हुए इन्हे निम्न शीर्षको के अन्तर्गत रखकर क्रमबद्ध एव व्यवस्थित अध्ययन किया जा सकता है—

(1) सामाजिक समस्याएँ (Socioal Problems)— भारतीय समाज की प्रमुख सामाजिक समस्याएँ और मुद्दे इस प्रकार हैं—छुआछूत, अनुसूचित जातियो, महिलाओ की समस्याएँ, नशीले पदार्थों का सेवन।

(2) सास्कृतिक समस्याएँ (Cultural Problems)—प्रमुख सास्कृतिक समस्याएँ हैं—भाग्यवाद, विशिष्टतावाद, पितृसत्तात्मकता एव राष्ट्रीय सम्पत्ति के प्रति उपेक्षा।

साम्प्रदायिकता, अनुसूचित जातियो, पिछडे वर्गों की समस्याएँ, बालश्रम की आर जनसख्या विस्फोट की समस्याएँ।

(3) आर्थिक समस्याएँ (Economic Problems)—निर्धनता, बेरोजगारी आर काला धन।

(4) राजनैतिक समस्याएँ (Political Problems)—भाषावाद, क्षेत्रवाद नृजातिवाद, अपराध, हिसा, आतकवाद।

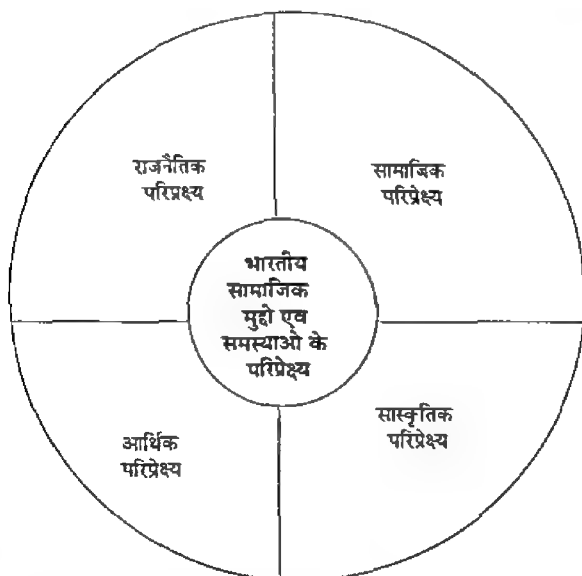
विभिन्न समस्याओ का उपर्युक्त वर्गीकरण मात्र अध्ययन की सुविधा के लिए किया गया है। वास्तविकता तो ये है कि सभी समस्याएँ परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होती हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। अपराध कानूनी समस्या है। परन्तु यह परिवार और समाज से गुथी हुई है और *सामाजिक समस्या भी है। गरीबी और बेरोजगारी आर्थिक समस्या* के साथ-साथ सामाजिक समस्या भी है। साम्प्रदायिकता सामाजिक सास्कृतिक होने के साथ-साथ राजनैतिक और आर्थिक समस्या भी है।

विगत वर्षो मे भारतीय समाज की अनेक समस्याओ, जैसे—सती प्रथा, बाल विवाह, अस्पृश्यता, विधवा पुनर्विवाह के लिए समाज सुधारको ने आन्दोलन किए थे। गाँधी जी ने 1934 से अपना अधिकाश समय हरिजनो, महिलाओ और आदिवासियो के विकास के लिए लगाया। अनेक कार्यक्रम इनके विकास के लिए चलाए। आपने साम्प्रदायिकता छुआछूत एव शराबखोरी के विरुद्ध खूब लिखा एव जीवन के अन्तिम क्षणो तक लडते रहे। भारत मे अनेक राजनैतिक दलो एव गैर सरकारी सस्थाओ ने महिलाओ, अनुसूचित जातिया अनुसूचित जनजातियो, पिछडे वर्गो, दलित लोगो, श्रमिको आदि की सुरक्षा एव हितो के लिए योजनाबद्ध कार्य किए हैं। आन्दोलन भी चलाए हैं। अनेक स्वयसेवी सगठन भी पर्यावरण प्रदूषण, मादक द्रव्यो के सेवन, भ्रूण एव बालिका हत्या, दहेज प्रथा आदि के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं।

विडम्बना तो ये है कि जातीय, क्षेत्रीय, भाषाई, नृजातीय और धार्मिक सगठनों ने अनेक सामाजिक, सास्कृतिक और राजनैतिक समस्याओ को स्थानीय प्रान्तीय और राष्ट्रीय मुद्दे बनाकर देश मे असामजस्य और झगडे पैदा कर दिए हैं। राजनैतिक दलो का तो मानो परम लक्ष्य यही है कि उन्हे कही कोई भी सही समस्या मिल जाती है तो वे तुरन्त उसे मुद्दा बनाकर अशान्ति पैदा कर देते हैं। ऐसे मुद्दो के उदाहरण राम जन्मभूमि का आन्दोलन, विभिन्न जातियो के द्वारा आरक्षण की माँग है। पिछले वर्षो मे केन्द्र सरकार के द्वारा तीन राज्यो—छत्तीसगढ, उत्तरांचल और झारखण्ड की घोषणा क्षेत्रवाद के मुद्दा पर आधारित आन्दोलनो का परिणाम है।

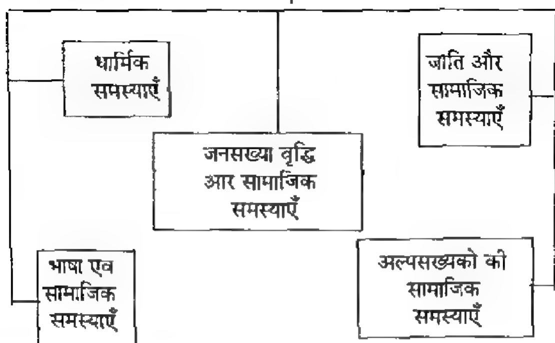
भारतीय समाज मुद्दे और समस्याओ के परिप्रेक्ष्य
(Indian Society Perspectives of Issues and Problems)

समकालीन भारतीय समाज की अनेक समस्याएँ और मुद्दे हैं। सामान्यतया इन सभी समस्याओ को सामाजिक समस्याएँ कहा जाता है परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सामाजिक वैज्ञानिको ने इन समस्याओ को अपने अपने परिप्रेक्ष्य के अनुसार अलग अलग प्रकारो मे वर्गीकृत किया है। मुख्यत भारत की सामाजिक समस्याओ और मुद्दो को चार प्रमुख सामाजिक विचारो के परिप्रेक्ष्य के अनुसार निम्न रूप मे बाँटा जा सकता है—



इनका सविस्तार वर्णन निम्नलिखित है—

(1) सामाजिक परिप्रेक्ष्य भारतीय समाज के मुद्दे एव समस्याएँ (Social Perspective Issues and Problem of Indian Society)—सामाजिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार भारतीय समाज के मुद्दे और समस्याएँ सामाजिक कारको के परिणाम हैं। भारतीय समाज में अनेक विभिन्नताएँ हैं। जिनके कारण सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं और आज भी बनी हुई हैं। इनमे से कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्न हैं—



1.1. धार्मिक समस्याएँ (Religious Problems)—भारतीय जनसख्या की विजातीयता के कारण यहाँ पर धार्मिक समस्याएँ देखी जा सकती हैं। भारत मे साम्प्रदायिक समस्याओ का कारण समाज का बहु धर्मावलम्बी होना है। यहाँ पर विभिन्न धर्मो के बीच सदियो से सघर्ष हो रहा है। पाकिस्तान का निर्माण भी इसी धार्मिक समस्या का परिणाम है। लेकिन आज भी अतर्धार्मिक समूहों की सघर्षमय समस्या विद्यमान है। हिन्दुओ और मुसलमानों के बीच असामजस्यता के कारण ऐतिहासिक उपनिवेशी और राजनैतिक हैं। मुसलमानो का भारत मे आगमन, हिन्दुओ और मुसलमानो के मध्य निरन्तर सघर्ष, ब्रिटिश सरकार के द्वारा साम्प्रदायिक विभाजन और प्रोत्साहन की नीति, राजनैतिक सत्ता के लिए स्पर्धा आदि कारण हैं जिससे यह धार्मिक समस्या राष्ट्रीय मुद्दे का रूप भी ले चुकी है।

सम्प्रदायवाद ने हिन्दू और सिक्खो के सम्बन्धो को भी सघर्षमय बना दिया है तथा उसने आगे चलकर आतकवाद का रूप ले लिया। भारत के सविधान मे धर्मनिरपेक्षता घोषित की गई है लेकिन चुनाव तथा सरकार की साम्प्रदायिक सगठनो के विरुद्ध कठोर निर्णय न लेने की प्रवृत्ति के कारण सम्प्रदायवाद को बढावा मिला है।

1 2. भाषा एवं सामाजिक समस्याएँ (Language and Social Problems)—भारत मे अनेक भाषाएँ हैं जिसके कारण भाषायी समुदायो के मध्य सघर्ष होते रहते हैं। भारत मे राज्यो का पुनर्गठन भाषा के आधार पर होने के कारण भाषायी पहिचान को बल मिला है। आज भारत की राष्ट्रभाषा अपनाने मे यही भिन्नता कठिनाई बनी हुई है। उच्च शिक्षा, प्रशासन एव राष्ट्रीय प्रतियोगिताओ में अंग्रेजी भाषा प्रमुख माध्यम और सम्पर्क भाषा है। इस प्रकार की असामजस्यता के कारण भाषा एक विवाद का राष्ट्रीय मुद्दा बन गया है। इससे अनेक भाषायी तनाव और विवादो ने जन्म ले लिया है।

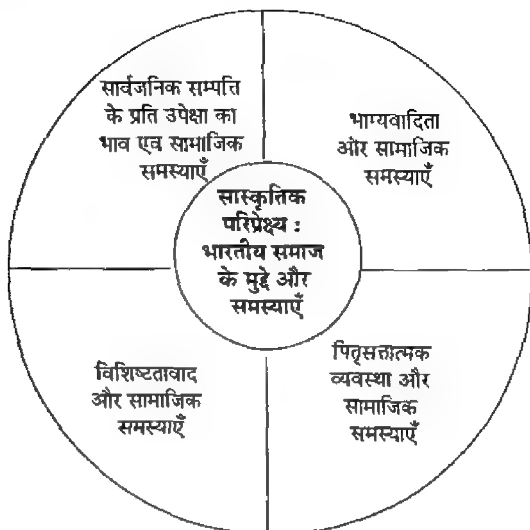
1.3 जनसंख्या वृद्धि और सामाजिक समस्याएँ (Population Growth and Social Problems)—भारत में अनेक सामाजिक समस्याओं का प्रमुख कारक जनसंख्या का विस्फोट है। आज भारत की जनसंख्या एक अरब से अधिक है। विकास एवं कल्याण कार्यक्रमों का लाभ इस जनसंख्या वृद्धि के कारण अनुमान में बिल्कुल निम्न है। इस विस्फोट के कारण निर्धनता बेरोजगारी निरक्षरता कुपोषण भिक्षावृत्ति अपराध वेश्यावृत्ति में वृद्धि हुई है। जनसंख्या की वृद्धि का बोझ राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था पर बहुत बढ़ गया है। इस कारण सरकार ठीक से स्वास्थ्य शिक्षा रोजगार, ग्रामीण एवं नगरीय विकास महिलाओं युवाओं बेरोजगारी अनुसूचित जातियों जनजातियों पिछड़े एवं दलित वर्गों विकलांगों निर्धनों आदि के लिए कल्याणकारी कार्यक्रमों एवं समाज सेवाओं को नहीं चला पा रही है। इन कार्यक्रमों पर जनसंख्या वृद्धि का प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। जनसंख्या वृद्धि के कारण वन सम्पदा समाप्त हो रही है। वृक्ष काटे जा रहे हैं। पर्यावरण की समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। गरीबों के लिए जलाने की लकड़ी की भारी कमी होती जा रही है। पारिस्थितिकीय असन्तुलन बढ़ रहा है।

1.4 जाति और सामाजिक समस्याएँ (Caste and Social Problems)—जाति व्यवस्था के कारण भारत अनेक समूहों में विभाजित हो गया। जाति व्यवस्था के कारण जातियों में परस्पर भेदभाव बढ़ा। जातिवाद का विकास हुआ। जाति के आधार पर चुनाव लड़े जाते हैं। गुटबाजी में वृद्धि हुई। शिक्षा उच्च जातियों के लिए सुरक्षित थी। इससे निम्न जातियों में निरक्षरता सदियों से बनी रही। आज भी जाति बन्धनों के कारण निम्न जातियों के लोग अच्छी शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जाति की सदस्यता विवाह व्यवसाय सामाजिक सम्बन्ध आदि प्रतिबन्धों के कारण हिन्दू समाज की अनेक समस्याओं का मूल कारण जाति व्यवस्था माना जाता है। दहेज पर्दा प्रथा अस्पृश्यता विधवा के विवाह पर रोक बाल विवाह आदि का कारण भी जाति है।

1.5 अल्पसंख्यकों की सामाजिक समस्याएँ (Social Problems of Minorities)—भारतीय समाज की अनेक विषमताओं असमानताओं एवं असामंजस्यताओं के कारण अल्पसंख्यकों की समस्याओं को राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दी गई है। अल्पसंख्यकों के अन्तर्गत दलित वर्ग बंधुआ मजदूर, अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ भी आते हैं जिनकी अपनी विशिष्ट समस्याएँ हैं। इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए राज्य और केन्द्र सरकार ने अनेक वैधानिक प्रावधानों के साथ साथ अनेक विकास कार्यक्रम भी चला रखे हैं।

(2) सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य भारतीय समाज के मुद्दे एवं समस्याएँ (Cultural Perspective Issues and Problems of Indian Society)—भारतीय समाज की निम्न सांस्कृतिक विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्होंने समस्याओं को जन्म भी दिया है और उन्हें बनाए भी रखा है—1 भाग्यवाद 2 पितृसत्तात्मकता 3 विशिष्टतावाद और सार्वजनिक सम्पत्ति के

प्रति उपेक्षा का भाव। सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार भारतीय समाज की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—



2.1 भाग्यवादिता और सामाजिक समस्याएँ (Fatalism and Social Problems)—कर्म और पुनर्जन्म के धार्मिक सिद्धान्त ने भारतवासियो को भाग्यवादी बना रखा है। व्यक्ति इस जन्म मे मिली जाति की सदस्यता, व्यवसाय, धन, दौलत, सुख-दु ख आदि को पिछले जन्मो का फल मानते हैं। असफलता-सफलता आदि को कर्म और भाग्य का फल मानते हैं। सामाजिक वैज्ञानिको की मान्यता है कि भाग्यवादिता एव कर्म का सिद्धान्त, जनसामान्य को शोषण के विरुद्ध प्रतिरोध को नियत्रित करने का एक साधन रहा है। लोगो के अस्पृश्यता, भेदभाव, बधुआ श्रमिक जैसी कुप्रथाओ का पालन ईश्वर का वरदान मानकर किया तथा कभी विरोध नहीं किया। लोग भाग्य मे विश्वास करते हैं और अपने विकास के लिए प्रयास नहीं करते हैं। इस धारणा ने समाज को विकसित नहीं होने दिया।

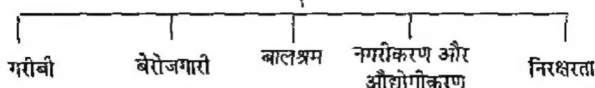
2.2. पितृसत्तात्मक व्यवस्था और सामाजिक समस्या (Patriarchal System and Social Problems)—पितृसत्तात्मक व्यवस्था से तात्पर्य है कि समाज मे सत्ता पुरुष मे निहित होती है। समाज एव परिवार पुरुष प्रधान होता है। भारतीय समाज और परिवार कुछ अपवादो को छोडकर सर्वदा पुरुष-प्रधान रहा है। पुरुष ने नारी का शोषण किया है। नारी

अपने जीवन मे पुत्री, पत्नी और विधवा माता के रूप मे क्रमश पिता, पति आर पुत्रो के सरक्षण मे रहती है। इस व्यवस्था के कारण नारी का स्थान पुरुष से सर्वदा निम्न रहा है। इस व्यवस्था के कारण दहेज प्रथा पर्दा प्रथा बाल विवाह, नारी अशिक्षा, सती प्रथा आदि समस्याओ का जन्म हुआ। इसके अतिरिक्त बालिका वध, बालिका भ्रूण हत्या, बहू के साथ दुर्व्यवहार, पत्नियो को मारना-पीटना, गाली देना, सामाजिक अलगाव, नारी असमानताएँ आदि समस्याएँ इसी प्रथा के कारण व्याप्त हैं।

2 3 विशिष्टतावाद और सामाजिक समस्याएँ (Particularism and Social Problems)—भारत के वर्गों मे जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद, धर्मवाद के कारण विशिष्टतावाद की प्रवृत्ति बहुत मजबूत है। प्रत्येक व्यक्ति की सोच सकीर्ण है। इस लक्षण के कारण व्यक्ति का अपनो के प्रति झुकाव रखता है और दूसरो के प्रति द्वेष रखता है। एक जाति, धर्म क्षेत्र, भाषा वाले अपनो को पचते हैं तथा दूसरो से द्वेष रखते हैं। इससे भाई-भतीजावाद पनपा है। भाषा जाति, क्षेत्र धर्म सम्बन्धो सघर्ष, झगडो आदि का कारण यही विशिष्टतावाद का लक्षण है जिसने अनेक सामाजिक समस्याओ को जन्म दिया है।

2 4 सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रति उपेक्षा का भाव एवं सामाजिक समस्याएँ (Indifferent Feeling Towards Public Property and Social Problems)—ब्रिटिश शासन काल मे भारतवासी सरकारी सम्पत्ति के प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे जो स्वतत्रता प्राप्ति के बाद आज भी विद्यमान है। इन उपेक्षा की भावना के कारण सार्वजनिक वस्तुओ के दुरुपयोग सार्वजनिक निर्माण मे निम्न कोटि का सामान लगाना, बेईमानी करना, भ्रष्टाचार, काला धन, कर चोरी आदि समस्याएँ उत्पन्न हुई और आज सम्पूर्ण देश मे व्याप्त हैं। लोग राष्ट्र की धरोहर को अपनी नहीं मानते हैं। जिस कारण से अनेक सामाजिक समस्याएँ चारो ओर देखी जा सकती हैं।

(3) आर्थिक परिप्रेक्ष्य · भारतीय समाज के मुद्दे एव समस्याएँ (Economic Perspective Issues and Problems of Indian Society)—जब भारतीय समाज को आर्थिक परिप्रेक्ष्य से देखते हैं तो पाते हैं कि भारत कृषि प्रधान देश है। यहाँ की कृषि का बडा भाग मानसून एव वर्षा पर आधारित है। जनसख्या की वृद्धि के कारण कृषि पर दबाव अधिक हो गया है। मजदूर वर्ग की अल्प विकसित कृषि पर अत्यधिक निर्भरता के कारण गरीबी, बेरोजगारी, बाल श्रम, कुपोषण, खराब स्वास्थ्य, वेश्यावृत्ति, भिक्षावृत्ति, अशिक्षा आदि का मूल कारण खराब अर्थव्यवस्था का होना है। यहाँ पर पाँच प्रमुख आर्थिक मुद्दो और समस्याओं की विवेचना की जाएगी जो निम्नानुसार है—



3 1. गरीबी (Poverty)—गरीबी समाज की एक गम्भीर समस्या है। इसके अनेक कारणो मे से आर्थिक कारण प्रमुख है, जैसे—देश का अपर्याप्त विकास, मुद्रा स्फीति पूँजी का अभाव, कार्यकुशलता का अभाव, बेरोजगारी आदि। निर्धनता के अन्य कारण भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित हैं, जैसे—अशिक्षा, जनसख्या की वृद्धि, कुपोषण आदि। अगर समाज की अर्थव्यवस्था अच्छी हो तो गरीबी का प्रश्न ही नहीं उठता है। आर्थिक खुशहाली से ही समाज मे सुख-शान्ति बनी रह सकती है। अनेक प्रकार के अपराध गरीबी के कारण ही होते हैं जो समाज मे अव्यवस्था फैलाते हैं।

भारतीय आर्थिक समीक्षा 2001 2002 के अनुसार देश मे 1973-74 मे 54 9 प्रतिशत जनसख्या गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रही थी। 1999-2000 मे 26 1 प्रतिशत निर्धन पाये गए। 1999 2000 मे ग्रामीण क्षेत्रो मे 27 1 प्रतिशत तथा नगरीय क्षेत्रो मे 23 6 प्रतिशत गरीब हैं। 1999 2000 मे निर्धनो की सख्या 26 करोड है जिनमे से लगभग 75 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रो मे निवास करते हैं। आज निर्धनता का प्रतिशत 1973 74 की तुलना मे आधा हो गया है। लेकिन अभी भी 26 करोड निर्धन देश मे हैं जो कि एक बडी सख्या है तथा इसका दूर करना आवश्यक है।

3 2. बेरोजगारी (Unemployment)—समाज की दूसरी आर्थिक समस्या बेरोजगारी है। बेरोजगारी गरीबी और अशिक्षा की समस्याएँ परस्पर एक-दूसरे से घनिष्टता से सम्बन्धित हैं। अनियोजित उच्च शिक्षा मे वृद्धि से भी शिक्षित बेरोजगारी को बढावा मिला है। भारत मे प्रधान व्यवसाय कृषि का है इसलिए यहाँ पर मौसमी बेरोजगारी की समस्या सबसे जटिल है। कृषि का कार्य वर्ष पर्यन्त नहीं चलता। कुछ उद्योग ऐसे हैं जो कुछ मशीने ही चलती हैं फिर श्रमिक बेरोजगार हो जाता है। चीनी उद्योग अक्टूबर से मई तक चलता है। देश में अनेक रोजगार ऐसे हैं जो उत्पादन के समय तो उपलब्ध होते हैं, बाद मे श्रमिको की छँटनी कर दी जाती है। भारत मे अस्थायी बेरोजगारी भी एक बडी समस्या है। लोग योग्यता प्राप्त करने के उपरान्त भी कुछ समय तक रोजगार नहीं मिलने के कारण बेरोजगारो का सामना करते हैं। देश मे अनेक डॉक्टर, इजीनियर एव प्रशिक्षित शिक्षक कार्य की तलाश मे घूमते हैं। आज (1999 2000) में समग्र भारत मे बेरोजगारो की कुल सख्या 26 58 मिलियन है। ग्रामीण क्षेत्रो एव शहरी क्षेत्रो मे क्रमश 19 50 और 7 11 मिलियन है।

अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिनको अपनी योग्यतानुसार कार्य नहीं मिलता है जो अर्द्ध बेरोजगारी की स्थिति कहलाती है। कम वेतन पर काम करते हैं। भारत मे ऐस अर्द्ध बेरोजगारो की सख्या काफी है। 118346

बेरोजगारी के कारण जीवन स्तर गिरता है, कार्य क्षमता घटती है, राष्ट्रीय आय कम होती है व्यक्ति अपने भोजन, वस्त्र ओर आवास पर ठीक से व्यय नहीं कर पाता है। इससे अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। वह चोरी, बेईमानी भ्रष्टाचार आदि से लिप्त हो जाता है जो समाज मे अव्यवस्था फैलाता है।

3 3 बाल श्रम (Child Labour)—भारत मे बाल श्रम एक गम्भीर आर्थिक समस्या है। सविधान की धारा 14 के अनुसार 14 वर्ष से कम आयु के किसी बालक को फैक्ट्री मे काम करने के लिए नियुक्त किया जाए तो बाल श्रम के अन्तर्गत आता है। बाल श्रम का अर्थ उन स्थितियो से है जिनमे बालको को अमानवीय परिस्थितियो मे परिश्रम करने के लिए बाध्य किया जाता है। अमेरिका की श्रम मत्रालय 1994 की प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार विश्व मे सर्वाधिक बाल श्रमिको की सख्या भारत मे है। 1981 मे बालश्रमिको की सख्या 1 करोड 26 लाख थी जो बढकर 1999-2000 मे 1 करोड 4 लाख हो गई। 2001 मे सगठित, असगठित और घर पर चलाये जाने वाले उद्योगो तथा घरेलू सेवाओ, बाल श्रमिको की सख्या लगभग 6 करोड बताई गई है। बालश्रमिक गम्भीर समस्या इसलिए है क्योंकि हमारे देश मे इनको बधुआ मजदूरो का जीवन जीना पडता है। कूडा कचरा उठाने वाले एव माल की फेरी लगाने वाले निश्चित आँकडे उपलब्ध नहीं हैं। असगठित क्षेत्र के उद्योगो मे इनकी सख्या सर्वाधिक है। उत्तर प्रदेश के कालीन, काँच काँसा उद्योग मे बधुआ बालश्रमिक हैं। दक्षिण भारत का नारियल काजू, बारूद माचिस उद्योगो मे बाल श्रमिको से कार्य लिया जाता है। मध्य भारत के बीडी उद्योग मे और उत्तर-पूर्व के पत्थर खाद्य आहार जैसे उद्योगो मे विशाल मात्रा मे बधुआ बाल श्रमिक हैं। इन बाल श्रमिको का शारीरिक, आर्थिक शोषण किया जाता है। इनका जीवन कष्टमय होता है।

माता-पिता के द्वारा कर्जा न चुकाये जाने की स्थिति मे अपने बच्चो को साहूकारो को बेच दिया जाता है। तमिलनाडु मे पटाखो और माचिस के उद्योग मे 45 हजार बच्चे कार्यरत हैं। दिल्ली मे 60 हजार से अधिक बच्चे चाय के होटलो रेस्तरा आदि में बहुत कम मजदूरी पर कार्यरत हैं। कुल मिलाकर बाल श्रमिको की समस्या गहन है जिसके लिए सरकार ने उनके अधिनियम तो पारित किए हैं लेकिन इनको व्यवहार में लाना अभी शेष है।

3 4 नगरीकरण और औद्योगीकरण Urabanization and Industralization)—आर्थिक दृष्टिकोण से भारत मे नगरीकरण और औद्योगीकरण भी जटिल समस्याएँ हैं। नगरीकरण और औद्योगीकरण के कारण नगरो और औद्योगिक केन्द्रा की जनसख्या मे बहुत वृद्धि हुई है। इस जनसख्या वृद्धि के कारण इन क्षेत्रो मे प्रदूषण बेरोजगारी गरीबी गदी बस्तियो में वृद्धि आदि अनेक समस्याएँ देखी जा सकती हैं। ग्रामो मे गरीबी और बेरोजगारी की समस्या है। इन समस्याओ के कारण ग्रामीण क्षेत्रा से बडी सख्या में ग्रामीण लोग नगरो और औद्योगिक केन्द्रो में जाते हैं। वहाँ पर ग्रामीण लोग निरक्षर होने के

कारण ठीक से अनुकूलन नहीं कर पाते हैं। ये लोग गरीबी, बेरोजगारी, कुपोषण और आवास की समस्या के शिकार हो जाते हैं। कुछ महिलाएँ तो वैश्यावृत्ति को अपनाने के लिए भी बाध्य हो जाती हैं। कुल मिलाकर नगरीकरण और ओद्योगीकरण अनेक आर्थिक समस्याओ को जन्म देता है जिसमे निरक्षरता भी एक बडी समस्या है।

3.5. निरक्षरता (Illiteracy)—आर्थिक ससाधनो के अभाव एव गरीबी के कारण भारत मे अशिक्षा भी एक गम्भीर आर्थिक समस्या है। गरीब जनता दिन-रात श्रम करके भी अपने भोजन की व्यवस्था नहीं कर पाती है। 1999-2000 मे देश की लगभग 26 प्रतिशत जनसख्या निर्धनता रेखा से नीचे जीवनयापन कर रही है। गरीब लोग अपनी सन्तानो को पाठशाला नहीं भेज पाते हैं। भारत मे शिक्षा और आर्थिक व्यवस्था मे कोई सामजस्य और तालमेल नहीं है। इसी कारण जो उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं वो भी आर्थिक प्रणाली में रोजगार नहीं पाते हैं। अच्छे शिक्षित लोग विदेशो मे चले जाते हैं। भारत में अशिक्षा का प्रमुख कारण आर्थिक है।

(4) राजनैतिक परिप्रेक्ष्य : भारतीय समाज के मुद्दे एव समस्याएँ (Political Perspective Issues and Problems of Indian Society)—भारत में स्वतत्रता प्राप्ति से पूर्व अनेक राजनैतिक मुद्दे और समस्याएँ रही हैं। स्वतत्रता प्राप्ति के 56 वर्ष पूर्ण होने के उपरान्त भी पूर्व भी राजनैतिक समस्याएँ तो हल हो नहीं पाई, लेकिन समानता के अधिकारो की सुविधा के कारण अन्य अनेक राजनैतिक समस्याएँ मुँह बाए खडी हैं। भारत मे मुख्यतया राजनैतिक समस्याएँ साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद, जनजातिवाद, नृजातिवाद आदि हैं। इनमें से कुछ राजनैतिक समस्याओ ने राजनैतिक मुद्दो का रूप धारण कर लिया है, जैसे—राम जन्मभूमि का मुद्दा, महिला आरक्षण एव अन्य अनुसूचित जाति, जनजाति, आर्थिक पिछडे वर्ग सम्बन्धी आरक्षण की समस्याएँ भी राष्ट्रीय मुद्दे बन गए हैं। क्षेत्रवाद की समस्याओ ने राष्ट्रीय राजनैतिक मुद्दे का रूप धारण किया और केन्द्र सरकार ने उनमे से कुछ का समाधान तो किया है। इनमे उल्लेखनीय क्षेत्रवादी मुद्दो का परिणाम विगत वर्षों मे झारखण्ड राज्य, उत्तराचल राज्य और छत्तीसगढ राज्य का निर्माण है।

भाषावाद के कारण देश का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया गया। भाषा पर आधारित राज्यो के निर्माण ने भाषावाद को कम करने के स्थान पर प्रोत्साहित किया है जिसका परिणाम है कि आज तक राष्ट्रभाषा हिन्दी सम्पर्क भाषा नहीं बन पाई। उच्च शिक्षा एव विविध राज्यो के बीच भाषा का माध्यम अग्रेजी है।

भारत बहुधर्मावलम्बी देश है। साम्प्रदायिक मनमुटाव सामाजिक समस्या के साथ-साथ राजनैतिक समस्या भी है। देश मे समय-समय पर स्थानीय, प्रान्तीय और राष्ट्रीय साम्प्रदायिक दगे-फसाद होते रहते हैं। इनमे से कुछ धार्मिक झगडे राजनैतिक मुद्दे बन गए हैं। हिन्दू मुसलमान मनमुटाव की तरह हिन्दू सिक्ख मनमुटाव भी राजनैतिक समस्या बन गए हैं। इन्हीं मनमुटावो का परिणाम आतकवाद के रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय केन्द्रीय सरकार के लिए आतकवाद एक गम्भीर राजनैतिक समस्या है जिसका समाधान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक प्रयास विगत वर्षों से किए जा रहे हैं। देश में समय समय पर पचायत चुनाव, विधान सभा के चुनाव और ससद के चुनाव होते रहते हैं। राजनैतिक दल मत प्राप्त करने के उद्देश्य से समय-समय पर अनेक ऐसे प्रयास करते हैं जो राजनैतिक समस्या कहे जा सकते हैं। *विभिन्न जाति सगठन आरक्षण प्राप्त करने के* लिए आन्दोलन करते हैं। ये आन्दोलन विभिन्न दलो के बीच सघर्ष, झगडे, पथराव जैसी समस्या खडी कर देते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय समाज की समस्याएँ और मुद्दे अनेक हैं, ये समस्याएँ मुख्यतः सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक हैं और ये परस्पर सगुम्फित हैं। इनके समाधान के लिए योजनाएँ बनाई जानी चाहिए। योजनाओ का निर्माण करने से पूर्व सभी समस्याओ का राष्ट्रव्यापी अध्ययन किया जाना चाहिए।

❑